पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला
: ११ :

सम्पादक :
पं० दलसुख मालवणिया
डा० मोहनलाल मेहता

जैन साहित्य
का
बृहद् इतिहास

भाग ३

आगमिक व्याख्याएँ

लेखक
डा० मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
एवं
सम्मान्य प्राध्यापक, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जै ना श्र म
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी–५

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५

प्रकाशन-वर्ष :
सन् १९६७

मूल्य :
पन्द्रह रुपये

मुद्रक :
बलदेवदास
संसार प्रेस, संसार लिमिटेड
काशीपुरा, वाराणसी



स्वर्गीय लाला मुनिलाल जी जैन

प्रकाशकीय

जैन साहित्य के बृहद् इतिहास का यह तीसरा भाग है। जैनागमों का व्याख्यात्मक साहित्य इसका विषय है। डा० मोहनलाल मेहता, अध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, इसके लेखक हैं। श्री दलसुखभाई मालवणिया और वे इसके सम्पादक हैं। श्री दलसुखभाई इस समय टोरोंटो यूनिवर्सिटी, केनेडा, मे भारतीय दर्शन के अध्यापन के लिए वार्षिक १५००० डालर वेतन पर नियुक्त होकर गये हुए हैं। इससे पहले वे कई वर्षों से लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, के अध्यक्ष थे। पंडित श्री सुखलालजी के बाद बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में जैन दर्शन वर्षों तक पढ़ाते रहे। जबसे पार्श्वनाथ विद्याश्रम का आरम्भ हुआ, श्री दलसुखभाई इस शोध संस्थान के सखा और सहायक रहे हैं। उनका स्नेह और सहानुभूति आजतक हमे प्राप्त है। केनेडा जाने से पूर्व वे अगले भाग के सम्पादन-कार्य को भी पूरा कर गये है। उनकी विद्वत्ता और योग्यता प्रामाणिक है। डा० मोहनलाल मेहता हिन्दू यूनिवर्सिटी मे सम्मान्य प्राध्यापक हैं। वे एम० ए० की कक्षाओं मे जैन दर्शन का अध्यापन तथा पी-एच० डी० के छात्रों को शोध-निर्देशन भी करते हैं। उन्होंने जैन आचार ग्रंथ भी लिखा है। इस समय जैन संस्कृति पर ग्रथ लिख रहे हैं।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम की स्थापना जुलाई, सन् १९३७ मे हुई थी। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन का सम्बन्ध वाराणसी से घनिष्ठ रहा है। इसी प्रेरणा से वर्तमान शोध संस्थान के नामकरण के समय उनका नाम इस ज्ञान-प्रसारक संस्था के साथ जोड़ना अभीष्ट समझा गया है।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम भारतीय विद्या के अन्तर्गत प्राकृत और जैन विषयो मे शोध-कार्य करने की प्रेरणा लेकर उपस्थित हुआ है। उस शोधफल को प्रकाशित करना भी इसकी प्रवृत्ति है। प्रति वर्ष चार-पाँच रिसर्च स्कॉलर यहाँ पर शोधकार्य करते हैं और अपने-अपने विषय पर थीसिस हिन्दू यूनिवर्सिटी में परीक्षणार्थ पेश करते हैं। अबतक

७ रिसर्च-स्कॉलर पी-एच० डी० हो चुके हैं। प्रत्येक रिसर्च-स्कॉलर को दो वर्ष तक मासिक २००) रुपये छात्रवृत्ति दी जाती है।

स्वतन्त्र शोध और प्रकाशन-कार्य भी बराबर होता है। इस इतिहास की योजना उस कार्य का एक रूप है।

शतावधानी रत्नचंद्र लायब्रेरी शोध संस्थान का अंग है। उसमें शोध के हेतु से ही ग्रंथ-संग्रह होता रहता है। अपने स्कॉलरों के अलावा हिन्दू-यूनिवर्सिटी के अन्य स्कॉलरों और उसके अध्यापकों के लिए भी हमारा संग्रह बड़ा उपयोगी है।

संस्थान की अपनी चार एकड़ जमीन पर १०४×५२ फुट का विशाल लायब्रेरी भवन है। अध्यक्ष के लिए स्वतन्त्र निवास-स्थान है। अन्य कर्मचारियों के लिए भी निवास की व्यवस्था है। रिसर्च-स्कॉलरों के लिए दस क्वार्टरों के होस्टल की नींवे भर चुकी हैं।

संस्थान से जैनविद्या का मासिक 'श्रमण' निकलता है। उसके अधिकांश लेख शोधपूर्ण होते हैं। इस समय यह पत्रिका उन्नीसवें वर्ष में है।

इनका और अन्य आवश्यक प्रवृत्तियों का संचालन श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति करती है। समिति रजिस्टर्ड सोसायटी है। इसको दिया जाने वाला दान इन्कमटेक्स से मुक्त होता है।

इस तीसरे भाग के प्रकाशन का व्यय समिति के सर्वप्रथम और आयुपर्यन्त खजांची स्व० श्री मुनिलालजी के सुपुत्रों—श्री मनोहरलाल जैन, बी० कॉम, श्री रोशनलाल जैन, श्री तिलकचंद जैन और श्री धर्मपाल जैन ने वहन किया है। इन्हीं भाइयों ने पहले भाग के प्रकाशन का खर्च भी दिया था।

रूपमहल
फरीदाबाद
५.१२.६७

हरजसराय जैन
मन्त्री,
श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति
अमृतसर

प्राक्कथन

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३, पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व प्रकाशित दोनों भागों का विद्वज्जनों व अन्य पाठकों ने हृदय से स्वागत किया एतदर्थ संस्थान के उत्साह में वृद्धि हुई है। यह भाग भी विद्वानों व सामान्य पाठकों को पसंद आएगा, ऐसा विश्वास है।

प्रथम भाग में जैन संस्कृति के आधारभूत अंग आगमों का तथा द्वितीय भाग में अंगबाह्य आगमों का सर्वांगीण परिचय प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत भाग में इन सब आगमों के व्याख्यात्मक साहित्य का सांगोपांग परिचय दिया गया है। इन तीन भागों के अध्ययन से पाठकों को समस्त मूल आगमों तथा उनकी विविध व्याख्याओं का पूर्ण परिचय प्राप्त हो सकेगा।

आगमिक व्याख्याएँ पाँच कोटियों में विभक्त की जाती हैं: १. निर्युक्तियाँ, २. भाष्य, ३. चूर्णियाँ, ४. संस्कृत टीकाएँ और ५. लोकभाषाओं मे विरचित व्याख्याएँ। प्रस्तुत भाग में इन पाँचों प्रकार की व्याख्याओं तथा व्याख्याकारों का सुव्यवस्थित परिचय दिया गया है।

अन्य भागों की तरह प्रस्तुत भाग के सम्पादन में भी पूज्य दलसुखभाई का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है एतदर्थ मैं आपका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। ग्रन्थ के मुद्रण के लिए संसार प्रेस का तथा प्रूफ-संशोधन आदि के लिए संस्थान के शोध-सहायक पं० कपिलदेव गिरि का आभार मानता हूँ।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी—५
१५-१२-६७

मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष

प्रस्तुत पुस्तक में

टीकाएँ

आ

ग

मि

क

व्या

ख्या

एँ

प्रास्ताविक

नन्दीचूर्णि
अनुयोगद्वारचूर्णि
आवश्यकचूर्णि
दशवैकालिकचूर्णि (जिनदासकृत)
उत्तराध्ययनचूर्णि
आचारांगचूर्णि
सूत्रकृतांगचूर्णि
जीतकल्प-बृहच्चूर्णि
दशवैकालिकचूर्णि (अगस्त्यसिंहकृत)
निशीथ-विशेषचूर्णि
दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि
बृहत्कल्पचूर्णि
टीकाएँ और टीकाकार
जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य-स्वोपज्ञवृत्ति
हरिभद्रसूरिकृत टीकाएँ
नन्दीवृत्ति
अनुयोगद्वारटीका
दशवैकालिकवृत्ति
प्रज्ञापना-प्रदेशव्याख्या
आवश्यकवृत्ति
कोट्याचार्यविहित विशेषावश्यकभाष्य-विवरण
आचार्य गंधहस्तिकृत शस्त्रपरिज्ञाविवरण
शीलांकाचार्यकृत टीकाएँ
आचारांगविवरण
सूत्रकृतांगविवरण
वादिवेताल शान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययनटीका
द्रोणसूरिविहित ओघनिर्युक्ति-वृत्ति
अभयदेवसूरिकृत टीकाएँ
स्थानांगवृत्ति
समवायांगवृत्ति
व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति

ज्ञाताधर्मकथाविवरण
उपासकदशांगवृत्ति
अन्तकृद्दशावृत्ति
अनुत्तरौपपातिकदशावृत्ति
प्रश्नव्याकरणवृत्ति
विपाकवृत्ति
औपपातिकवृत्ति

मलयगिरिसूरिकृत टीकाएँ
नन्दीवृत्ति
प्रज्ञापनावृत्ति
सूर्यप्रज्ञप्तिविवरण
ज्योतिष्करण्डकवृत्ति
जीवाभिगमविवरण
व्यवहारविवरण
राजप्रश्नीयविवरण
पिण्डनिर्युक्ति-वृत्ति
आवश्यकविवरण
बृहत्कल्प-पीठिकावृत्ति

मलधारी हेमचन्द्रसूरिकृत टीकाएँ
आवश्यकटिप्पण
अनुयोगद्वारवृत्ति
विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति

नेमिचन्द्रसूरिकृत उत्तराध्ययनवृत्ति

श्रीचन्द्रसूरिकृत टीकाएँ
निशीथचूर्णि-दुर्गपदव्याख्या
निरयावलिकावृत्ति
जीतकल्पबृहच्चूर्णि-विषमपदव्याख्या

आचार्य क्षेमकीर्तिकृत बृहत्कल्पवृत्ति
माणिक्यशेखरसूरिकृत आवश्यकनिर्युक्ति-दीपिका
अजितदेवसूरिकृत आचारांगदीपिका
विजयविमलगणिविहित गच्छाचारवृत्ति

प्रास्ताविक

मूल ग्रंथ के रहस्योद्घाटन के लिए उसकी विविध व्याख्याओं का अध्ययन अनिवार्य नहीं तो भी आवश्यक तो है ही। जब तक किसी ग्रन्थ की प्रामाणिक व्याख्या का सूक्ष्म अवलोकन नहीं किया जाता तब तक उस ग्रंथ में रही हुई अनेक महत्त्वपूर्ण बातें अज्ञात ही रह जाती हैं। यह सिद्धान्त जितना वर्तमान कालीन मौलिक ग्रंथों पर लागू होता है उससे कई गुना अधिक प्राचीन भारतीय साहित्य पर लागू होता है। मूल ग्रंथ के रहस्य का उद्घाटन करने के लिए उस पर व्याख्यात्मक साहित्य का निर्माण करना भारतीय ग्रंथकारों की बहुत पुरानी परंपरा है। इस प्रकार के साहित्य से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं। व्याख्याकार को अपनी लेखनी से ग्रंथकार के अभीष्ट अर्थ का विश्लेषण करने में असीम आत्मोल्लास होता है तथा कहीं-कहीं उसे अपनी मान्यता प्रस्तुत करने का अवसर भी मिलता है। दूसरी ओर पाठक को ग्रंथ के गूढार्थ तक पहुँचने के लिए अनावश्यक श्रम नहीं करना पड़ता। इस प्रकार व्याख्याकार का परिश्रम स्व पर उभय के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। व्याख्याकार की आत्मतुष्टि के साथ ही साथ जिज्ञासुओं की तृषा भी शान्त होती है। इसी पवित्र भावना से भारतीय व्याख्याग्रंथों का निर्माण हुआ है। जैन व्याख्याकारों के हृदय भी इसी भावना से भावित रहे हैं।

प्राचीनतम जैन व्याख्यात्मक साहित्य मे आगमिक व्याख्याओं का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन व्याख्याओं को हम पाँच कोटियों में विभक्त करते हैं. १. निर्युक्तियाँ (निज्जुत्ति), २. भाष्य (भास), ३. चूर्णियाँ (चुण्णि), ४. संस्कृत टीकाएँ और ५. लोकभाषाओं में रचित व्याख्याएँ। आगमों के विषयों का संक्षेप मे परिचय देनेवाली संग्रहणियाँ भी काफी प्राचीन हैं। पंचकल्प-महाभाष्य के उल्लेखानुसार संग्रहणियों की रचना आर्य कालक ने की है। पाक्षिक-सूत्र में भी निर्युक्ति एवं संग्रहणी का उल्लेख है।

निर्युक्तियाँ :

निर्युक्तियाँ और भाष्य जैन आगमों की पद्यबद्ध टीकाएँ हैं। ये दोनों प्रकार की टीकाएँ प्राकृत मे हैं। निर्युक्तियों में मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद का व्याख्यान न किया जाकर विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दों का ही व्याख्यान किया गया है।

उपलब्ध निर्युक्तियों के कर्ता आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने निम्नोक्त आगम-ग्रन्थो पर निर्युक्तियाँ लिखी हैं : १. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४. आचारांग, ५. सूत्रकृताङ्ग, ६. दशाश्रुतस्कन्ध, ७. बृहत्कल्प, ८. व्यवहार, ९. सूर्यप्रज्ञप्ति, १०. ऋषिभाषित। इन दस निर्युक्तियों में से सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित की निर्युक्तियाँ अनुपलब्ध हैं। ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति, पंचकल्पनिर्युक्ति और निशीथनिर्युक्ति क्रमशः आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिक-निर्युक्ति, बृहत्कल्पनिर्युक्ति और आचारांगनिर्युक्ति की पूरक हैं। संसक्तनिर्युक्ति बहुत बाद की किसी की रचना है। गोविन्दाचार्यरचित एक अन्य निर्युक्ति (गोविन्दनिर्युक्ति) अनुपलब्ध है।

निर्युक्तियों की व्याख्यान-शैली निक्षेप-पद्धति के रूपमे प्रसिद्ध है। यह व्याख्या-पद्धति बहुत प्राचीन है। इसका अनुयोगद्वार आदि में दर्शन होता है। इस पद्धति मे किसी एक पद के संभवित अनेक अर्थ करने के बाद उनमे से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ ग्रहण किया जाता है। जैन न्याय-शास्त्र मे इस पद्धति का बहुत महत्त्व है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने निर्युक्ति का प्रयोजन बताते हुए इसी पद्धति को निर्युक्ति के लिए उपयुक्त बताया है। दूसरे शब्दों में निक्षेप-पद्धति के आधार पर किये जानेवाले शब्दार्थ के निर्णय—निश्चय का नाम ही निर्युक्ति है। भद्रबाहु ने आवश्यक-निर्युक्ति (गा. ८८) मे स्पष्ट कहा है कि एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु कौन-सा अर्थ किस प्रसङ्ग के लिए उपयुक्त होता है, भगवान् महावीर के उपदेश के समय कौन-सा अर्थ किस शब्द से सम्बद्ध रहा है, आदि बातों को दृष्टि मे रखते हुए सम्यक् रूप से अर्थ-निर्णय करना और उस अर्थ का मूल-सूत्र के शब्दो के साथ सम्बन्ध स्थापित करना—यही निर्युक्ति का प्रयोजन है।

आचार्य भद्रबाहुकृत दस निर्युक्तियों का रचना-क्रम वही है जिस क्रम से ऊपर दस ग्रन्थों के नाम दिये गये हैं। आचार्य ने अपनी सर्व-प्रथम कृति आवश्यक-निर्युक्ति (गा. ८५-६) में निर्युक्ति-रचना का संकल्प करते समय

इसी क्रम से ग्रन्थों की नामावली दी है। निर्युक्तियों में उल्लिखित एक-दूसरी निर्युक्ति के नाम आदि के अध्ययन से भी यही तथ्य प्रतिपादित होता है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु :

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु, छेदसूत्रकार चतुर्दश-पूर्वधर आर्य भद्रबाहु से भिन्न हैं। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने अपनी दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति एवं पंचकल्प-निर्युक्ति के प्रारंभ में छेदसूत्रकार भद्रबाहु को नमस्कार किया है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के सहोदर माने जाते हैं। ये अष्टांग-निमित्त तथा मंत्रविद्या में पारंगत नैमित्तिक भद्रबाहु के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। उपसर्गहरस्तोत्र और भद्रबाहुसंहिता भी इन्हीं की रचनाएँ हैं। वराहमिहिर वि. सं. ५६२ में विद्यमान थे क्योंकि 'पंचसिद्धान्तिका' के अन्त में शक संवत् ४२७ अर्थात् वि. सं. ५६२ का उल्लेख है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु का भी लगभग यही समय है। अतः निर्युक्तियों का रचना-काल वि. सं. ५००–६०० के बीच में मानना युक्तियुक्त है।

आवश्यकनिर्युक्ति :

आवश्यकनिर्युक्ति आचार्य भद्रबाहु की सर्वप्रथम कृति है। यह विषय-वैविध्य की दृष्टि से अन्य निर्युक्तियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस पर जिनभद्र, जिनदासगणि, हरिभद्र, कोट्याचार्य, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, माणिक्यशेखर प्रभृति आचार्यों ने विविध व्याख्याएँ लिखी हैं। आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा-संख्या भिन्न-भिन्न व्याख्याओं में भिन्न-भिन्न रूपों में मिलती है। किसी-किसी व्याख्या में कहीं-कहीं जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य की गाथाएँ निर्युक्ति-गाथाओं में मिली हुई प्रतीत होती हैं। माणिक्यशेखरकृत आवश्यकनिर्युक्ति-दीपिका में निर्युक्ति की १६१५ गाथाएँ हैं। आवश्यकनिर्युक्ति आवश्यक सूत्र के सामायिकादि छः अध्ययनों की सर्वप्रथम (पद्यबद्ध प्राकृत) व्याख्या है। इसके प्रारम्भ में उपोद्घात है जो प्रस्तुत निर्युक्ति का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है। यह अंश एक प्रकार से समस्त निर्युक्तियों की भूमिका है। इसमें ज्ञानपंचक, सामायिक, ऋषभदेव-चरित्र, महावीर-चरित्र, गणधरवाद, आर्यरक्षित-चरित्र, निह्नवमत (सप्त निह्नव) आदि का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। ऋषभदेव के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के वर्णन के साथ ही साथ उस युग से सम्बन्धित आहार, शिल्प, कर्म, ममता, विभूषणा, लेखन, गणित, रूप, लक्षण, मानदण्ड, पोत, व्यवहार, नीति, युद्ध, इषुशास्त्र, उपासना, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, बन्ध,

घात, ताडना, यश, उत्सव, समवाय, मंगल, कौतुक, वस्त्र, गंध, माल्य, अलंकार, चूला, उपनयन, विवाह, दत्ति, मृतक-पूजन, ध्यापन, स्तूप, शब्द, खेलापन और पृच्छन—इन चालीस विषयों का भी निर्देश किया गया है। चौबीस तीर्थंकरों के भिक्षालाभ के प्रसंग से निम्नलिखित नगरों के नाम दिये गये हैं : हस्तिनापुर, अयोध्या, श्रावस्ती, साकेत, विजयपुर, ब्रह्मस्थल, पाटलिखण्ड, पद्मखण्ड, श्रेयःपुर, रिष्टपुर, सिद्धार्थपुर, महापुर, धान्यपुर, वर्धमान, सोमनस, मन्दिर, चक्रपुर, राजपुर, मिथिला, राजगृह, वीरपुर, द्वारवती, कूपकट और कोल्लाकग्राम। धर्मचक्र का वर्णन करते हुए निर्युक्तिकार ने बताया है कि बाहुबलि ने अपने पिता ऋषभदेव की स्मृति में धर्मचक्र की स्थापना की थी।

उपोद्घात के बाद नमस्कार, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रायश्चित्त, ध्यान, प्रत्याख्यान आदि का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है। नमस्कार-प्रकरण में अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के स्वरूप का भी विचार किया गया है। प्रतिक्रमण-प्रकरण मे नागदत्त, महागिरि, स्थूलभद्र, धर्मघोष, सुरेन्द्रदत्त, धन्वन्तरी वैद्य, करकंडु, पुष्पभूति आदि अनेक ऐतिहासिक पुरुषों के उदाहरण भी दिये गये हैं।

दशवैकालिकनिर्युक्ति :

दशवैकालिकनिर्युक्ति मे दश, एक, काल, ओघ, द्रुम, पुष्प, धर्म, मंगल, अहिंसा, संयम, तप, हेतु, उदाहरण, विहंगम, श्रमण, पूर्व, काम, पद, क्षुल्लक, महत्, आचार, कथा, जीव, निकाय, शस्त्र, पिण्ड, एषणा, धान्य, रत्न, स्थावर, द्विपद, चतुष्पद, वाक्य, शुद्धि, प्रणिधि, विनय, सकार, भिक्षु, चूलिका, रति आदि पदों का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया गया है। हेतु और दृष्टान्त के स्वरूप का विवेचन करते हुए निर्युक्तिकार ने अनुमान के निम्नोक्त अवयवों का निर्देश किया है : १. प्रतिज्ञा, २. विभक्ति, ३. हेतु, ४. विभक्ति, ५. विपक्ष, ६. प्रतिषेध, ७. दृष्टान्त, ८. आशंका, ९. तत्प्रतिषेध, १०. निगमन। धान्य तथा रत्न का व्याख्यान करते हुए प्रत्येक की चौबीस जातियाँ बताई हैं। धान्य की जातियाँ इस प्रकार हैं : १. यव, २. गोधूम, ३. शालि, ४. व्रीहि, ५. षष्टिक, ६. कोद्रव, ७. अणुक, ८. कंगु, ९. रालग, १०. तिल, ११. मुद्ग, १२. माष, १३. अतसी, १४. हरिमथ, १५. त्रिपुटक, १६. निष्पाव, १७. सिलिंद, १८. राजमाष, १९. इक्षु, २०. मसूर, २१. तुवरी, २२. कुलत्थ, २३. धान्यक, २४. कलाया। रत्न की चौबीस जातियाँ ये हैं : १. सुवर्ण, २. त्रपु, ३. ताम्र, ४. रजत, ५. लोह,

६. सीसक, ७. हिरण्य, ८. पाषाण, ९. वज्र, १०. मणि, ११. मौक्तिक, १२. प्रवाल, १३. शंख, १४. तिनिश, १५. अगरु, १६. चन्दन, १७. वस्त्र, १८. अमिल, १९. काष्ठ, २०. चर्म, २१. दंत, २२. बाल, २३. गंध, २४. द्रव्यौषध। चतुष्पद प्राणियों के दस भेद आचार्य ने बताये हैं : १. गो, २. महिषी, ३. उष्ट्र, ४. अज, ५. एडक, ६. अश्व, ७. अश्वतर, ८. घोटक, ९. गर्दभ, १०. हस्ती। काम दो प्रकार का है : संप्राप्त और असंप्राप्त। निर्युक्तिकार ने संप्राप्तकाम के चौदह एवं असंप्राप्तकाम के दस भेद किये हैं। संप्राप्तकाम के चौदह भेद ये हैं : १. दृष्टि-संपात, २. संभाषण, ३. हसित, ४. ललित, ५. उपगूहित, ६. दंतनिपात, ७. नखनिपात, ८. चुंबन, ९. आलिंगन, १०. आदान, ११. करण, १२. आसेवन, १३. संग, १४. क्रीड़ा। असंप्राप्तकाम दस प्रकार का है : १. अर्थ, २. चिंता, ३. श्रद्धा, ४. संस्मरण, ५. विक्लवता, ६. लज्जानाश, ७. प्रमाद, ८. उन्माद, ९. तद्भावना, १०. मरण।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति :

इसमें उत्तर, अध्ययन, श्रुत, स्कन्ध, संयोग, गलि, आकीर्ण, परीषह, एकक, चतुष्क, अंग, संयम, प्रमाद, संस्कृत, करण, उरभ्र, कपिल, नमि, बहु, श्रुत, पूजा, प्रवचन, साम, मोक्ष, चरण, विधि, मरण, आदि पदों की निक्षेपपूर्वक व्याख्या की गई है। यत्र-तत्र अनेक शिक्षाप्रद कथानक भी संकलित किये गये हैं। अंग की निर्युक्ति में गंधांग, औषधांग, मद्यांग, आतोद्यांग, शरीरांग और युद्धांग का भेद-प्रभेदपूर्वक विवेचन किया गया है। मरण की व्याख्या में सत्रह प्रकार की मृत्यु का उल्लेख किया गया है।

आचारांगनिर्युक्ति :

इस निर्युक्ति में आचार, वर्ण, वर्णान्तर, चरण, शस्त्र, परिज्ञा, संज्ञा, दिक्, पृथ्वी, वध, अप्, तेजस्, वनस्पति, त्रस, वायु, लोक, विजय, कर्म, शीत, उष्ण, सम्यक्त्व, सार, चर, धूत—विधूनन, विमोक्ष, उपधान, श्रुत, अग्र आदि शब्दों का व्याख्यान किया गया है। प्रारंभ में आचारांग प्रथम अंग क्यों है एवं इसका परिमाण क्या है, इस पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में निर्युक्तिकार ने पंचम चूलिका निशीथ का किसी प्रकार से विवेचन न करते हुए केवल इतना ही निर्देश किया है कि इसकी निर्युक्ति मैं फिर करूँगा। वर्ण और वर्णान्तर का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने सात वर्णों एवं नौ वर्णान्तरों का उल्लेख किया है। एक मनुष्य जाति के सात वर्ण ये हैं : १. क्षत्रिय, २. शूद्र, ३. वैश्य, ४.

-ब्राह्मण, ५. संकरक्षत्रिय, ६. संकरवैश्य, ७. संकरशूद्र। संकरब्राह्मण नाम का कोई वर्ण नहीं है। नौ वर्णान्तर इस प्रकार हैं: १. अम्बष्ठ, २. उग्र, ३. निषाद, ४. अयोगव, ५. मागध, ६. सूत, ७. क्षत्त, ८. विदेह, ९. चाण्डाल।

सूत्रकृतांगनिर्युक्ति :

इसमें आचार्य ने सूत्रकृतांग शब्द का विवेचन करते हुए गाथा, षोडश, पुरुष, विभक्ति, समाधि, मार्ग, ग्रहण, पुण्डरीक, आहार, प्रत्याख्यान, सूत्र, आर्द्र, अलम् आदि पदों का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया है। एक गाथा (११९) में निम्नोक्त ३६३ मतान्तरों का उल्लेख किया है: १८० प्रकार के क्रियावादी, ८४ प्रकार के अक्रियावादी, ६७ प्रकार के अज्ञानवादी और ३२ प्रकार के वैनयिक।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति :

प्रस्तुत निर्युक्ति के प्रारंभ में निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने प्राचीन गोत्रीय, चरम सकलश्रुतज्ञानी तथा दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र के प्रणेता भद्रबाहु स्वामी को नमस्कार किया है। इसमें समाधि, स्थान, शबल, आशातना, गणी, संपदा, चित्त, उपासक, प्रतिमा, पर्युषणा, मोह आदि पदों का निक्षेप-पद्धति से विवेचन किया गया है। पर्युषणा के पर्यायवाची शब्द ये हैं: परिवसना, पर्युषणा, पर्युपशमना, वर्षावास, प्रथम समवसरण, स्थापना, ज्येष्ठग्रह।

बृहत्कल्पनिर्युक्ति :

यह निर्युक्ति भाष्यमिश्रित अवस्था में उपलब्ध है। इसमें ताल, प्रलम्ब, ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, संबाध, घोष, आर्य, उपाश्रय, उपधि, चर्म, मैथुन, कल्प, अधिकरण, वचन, कण्टक, दुर्ग आदि अनेक महत्त्वपूर्ण पदों का व्याख्यान किया गया है। बीच-बीच में दृष्टान्तरूप कथानक भी उद्धृत किये गये हैं।

व्यवहारनिर्युक्ति :

यह निर्युक्ति भी भाष्य में मिल गई है। इसमें साधुओं के आचार-विचार से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण पदों एवं विषयों का संक्षिप्त विवेचन है। एक प्रकार से बृहत्कल्पनिर्युक्ति और व्यवहारनिर्युक्ति परस्पर पूरक हैं।

जैन परम्परागत अनेक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों की सुस्पष्ट व्याख्या सर्वप्रथम आचार्य भद्रबाहु ने अपनी आगमिक निर्युक्तियों में की है। इस दृष्टि से निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु का जैन साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। पीछे के भाष्यकारों एवं टीकाकारों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उपर्युक्त निर्युक्तियों का आधार लेते हुए ही अपनी कृतियों का निर्माण किया है।

भाष्य :

निर्युक्तियों का मुख्य प्रयोजन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या रहा है। इन शब्दों मे छिपे हुए अर्थबाहुल्य को अभिव्यक्त करने का सर्वप्रथम श्रेय भाष्यकारों को है। निर्युक्तियों की भाँति भाष्य भी पद्यबद्ध प्राकृत मे हैं। कुछ भाष्य निर्युक्तियों पर हैं और कुछ केवल मूल सूत्रों पर। निम्नोक्त आगम ग्रन्थों पर भाष्य लिखे गये हैं: १. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४. बृहत्कल्प, ५. पंचकल्प, ६. व्यवहार, ७. निशीथ, ८. जीतकल्प, ९. ओघनिर्युक्ति, १०. पिण्डनिर्युक्ति। आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये। इनमें से विशेषावश्यकभाष्य आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन सामायिक पर है। इसमे ३६०३ गाथाएँ हैं। दशवैकालिकभाष्य मे ६३ गाथाएँ हैं। उत्तराध्ययन भाष्य भी बहुत छोटा है। इसमें ४५ गाथाएँ हैं। बृहत्कल्प पर दो भाष्य हैं। इनमें से लघुभाष्य मे ६४९० गाथाएँ हैं। पंचकल्प-महाभाष्य की गाथा-संख्या २५७४ है। व्यवहारभाष्य में ४६२९ गाथाएँ हैं। निशीथभाष्य में लगभग ६५०० गाथाएँ हैं। जीतकल्पभाष्य मे २६०६ गाथाएँ हैं। ओघनिर्युक्ति पर दो भाष्य हैं। इनमें से लघुभाष्य में ३२२ तथा बृहद्भाष्य मे २५१७ गाथाएँ हैं। पिण्डनिर्युक्तिभाष्य मे केवल ४६ गाथाएँ हैं।

इस विशाल प्राकृत भाष्य-साहित्य का जैन साहित्य में और विशेषकर आगमिक साहित्य में अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। पद्यबद्ध होने के कारण इसके महत्त्व में और भी वृद्धि हो जाती है।

भाष्यकार :

भाष्यकार के रूप में दो आचार्य प्रसिद्ध हैं: जिनभद्रगणि और संघदास गणि। विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पभाष्य आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की कृतियाँ हैं। बृहत्कल्पलघुभाष्य और पंचकल्पमहाभाष्य संघदासगणि की

रचनाएँ हैं। इन दो भाष्यकारों के अतिरिक्त अन्य किसी आगमिक भाष्यकार के नाम का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है। इतना निश्चित है कि इन दो भाष्यकारों के अतिरिक्त कम-से-कम दो भाष्यकार तो और हुए ही हैं जिनमें से एक व्यवहारभाष्य आदि के प्रणेता एवं दूसरे बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य आदि के रचयिता हैं। विद्वानों के अनुमान के अनुसार बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य के प्रणेता बृहत्कल्प-चूर्णिकार तथा बृहत्कल्प-विशेषचूर्णिकार से भी पीछे हुए हैं। ये हरिभद्रसूरि के कुछ पूर्ववर्ती अथवा समकालीन हैं। व्यवहारभाष्य के प्रणेता विशेषावश्यक-भाष्यकार आचार्य जिनभद्र के भी पूर्ववर्ती हैं। संघदासगणि भी आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती ही हैं।

विशेषावश्यकभाष्य के प्रणेता आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का अपनी महत्त्वपूर्ण कृतियों के कारण जैन साहित्य के इतिहास मे एक विशिष्ट स्थान है। ऐसा होते हुए भी उनके जीवन के सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। उनके जन्म, शिष्यत्व आदि के विषय में परस्पर विरोधी उल्लेख मिलते हैं। उनके सम्बन्ध मे एक आश्चर्यजनक उल्लेख यह भी मिलता है कि वे हरिभद्र-सूरि के पट्टधर शिष्य थे, जबकि हरिभद्रसूरि आचार्य जिनभद्र के लगभग सौ वर्ष बाद हुए हैं। आचार्य जिनभद्र वाचनाचार्य के रूप में भी प्रसिद्ध थे एवं उनके कुल का नाम निवृत्तिकुल था। उन्हें अधिकतर क्षमाश्रमण शब्द से ही सम्बोधित किया जाता था। वैसे वादी, क्षमाश्रमण, दिवाकर, वाचक, वाचना-चार्य आदि शब्द एकार्थक भी हैं। विविध उल्लेखों के आधार पर आचार्य जिनभद्र का उत्तरकाल वि० सं० ६५० के आसपास सिद्ध होता है। उन्होंने विशेषावश्यकभाष्य आदि नौ ग्रन्थों का निर्माण किया था। इनमें से सात ग्रन्थ पद्यबद्ध प्राकृत मे हैं। एक ग्रन्थ—अनुयोगद्वारचूर्णि प्राकृत गद्य में है जो जिनदासकृत अनुयोगद्वारचूर्णि तथा हरिभद्रकृत अनुयोगद्वारवृत्ति में अक्षरशः उद्धृत की गई है। उनकी अन्तिम कृति विशेषावश्यकभाष्य-स्वोपज्ञवृत्ति जो कि उनके देहावसान के कारण अपूर्ण ही रह गई थी और जिसे बाद में कोट्टार्य ने पूर्ण की थी, संस्कृत गद्य मे है। उनके एक ग्रन्थ ध्यानशतक के कर्तृत्व के विषय में अभी विद्वानों को सन्देह है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित हो बाद के आचार्यों ने उनका जो वर्णन किया है उससे प्रतीत होता है कि आचार्य जिनभद्र आगमो के अद्वितीय व्याख्याता थे, युगप्रधान पदके धारक थे, श्रुति आदि अन्य शास्त्रों के कुशल विद्वान् थे, विभिन्न दर्शनशास्त्र, लिपिविद्या, गणितशास्त्र, छन्दःशास्त्र, शब्दशास्त्र आदि के अद्वितीय पंडित थे, स्व-पर

सिद्धान्त में निपुण थे, स्वाचार-पालन में प्रवण एवं सर्व जैन-श्रमणों में प्रमुख थे। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इनके लिए भाष्यसुधाम्भोधि, भाष्यपीयूषपाथोधि, भगवान् भाष्यकार, प्रशस्यभाष्यसस्यकाश्यपीकल्प आदि अति सम्मानपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया है। इन सब तथ्यों को देखने से यह सिद्ध होता है कि भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण अपने समय के एक प्रभावशाली आचार्य थे।

बृहत्कल्प-लघुभाष्य तथा पंचकल्प-महाभाष्य के प्रणेता आचार्य संघदासगणि वसुदेवहिंडि—प्रथम खण्ड के प्रणेता आचार्य संघदासगणि से भिन्न हैं। वसुदेव-हिंडिकार संघदासगणि भी विशेषावश्यकभाष्यकार आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं।

विशेषावश्यकभाष्य :

इसमें जैन आगमों के प्रायः समस्त महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा है। इस भाष्य की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जैन मान्यताओं का निरूपण केवल जैन दृष्टि से न किया जाकर इतर भारतीय दार्शनिक मान्यताओं के साथ तुलना, खण्डन, समर्थन आदि करते हुए किया गया है। यही कारण है कि प्रस्तुत भाष्य में दार्शनिक दृष्टिकोण का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैनागमों का रहस्य समझने के लिए विशेषावश्यकभाष्य निःसंदेह एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। इसकी उपयोगिता एवं महत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जिनभद्र के उत्तरवर्ती आगमिक व्याख्याकारों एवं ग्रन्थकारों ने एतद्निरूपित सामग्री के साथ ही साथ इसकी तर्कपद्धति का भी बहुत उदारतापूर्वक उपयोग किया है। यह ग्रन्थ, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आवश्यक सूत्र की व्याख्या के रूप में है। इसमें आवश्यक के प्रथम अध्ययन सामायिक से सम्बन्धित निर्युक्ति-गाथाओं का व्याख्यान है जिसमें निम्नोक्त विषयों का समावेश किया गया है: मंगलरूप ज्ञानपंचक, निरुक्त, निक्षेप, अनुगम, नय, सामायिक की प्राप्ति, सामायिक के बाधक कारण, चारित्रलाभ, प्रवचन, सूत्र, अनुयोग, सामायिक की उत्पत्ति, गणधरवाद, सामायिक का क्षेत्र-काल, अनुयोगों का पृथक्करण, निह्नववाद, सामायिक के विविध द्वार, नमस्कार की उत्पत्ति आदि, 'करेमि भंते' आदि पदों की व्याख्या। ज्ञानपंचक प्रकरण में आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के स्वरूप, क्षेत्र, विषय, स्वामी आदि का विवेचन किया गया है। साथ ही मति और श्रुत के सम्बन्ध, नयन और मन की अप्राप्यकारिता, श्रुत-निश्रित मतिज्ञान के ३३६ भेद, भाषा के स्वरूप, श्रुत के चौदह प्रकार आदि का भी विचार किया गया है। चारित्ररूप सामायिक की प्राप्ति का विचार करते हुए

भाष्यकार ने कर्म की प्रकृति, स्थिति, सम्यक्त्वप्राप्ति आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। कषाय को सामायिक का बाधक बताते हुए कषाय की उत्कृष्टता एवं मंदता से किस प्रकार चारित्र का घात होता है, इस पर विशेष प्रकाश डाला है। चारित्र-प्राप्ति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य ने सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात चारित्र का विस्तार से व्याख्यान किया है। सामायिक चारित्र का उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल, पुरुष, कारण, प्रत्यय, लक्षण, नय, समवतार, अनुमत, किम्, कतिविध, कस्य, कुत्र, केषु, कथम्, कियच्चिर, कति, सान्तर, अविरहित, भव, आकर्ष, स्पर्शन और निरुक्ति—इन छब्बीस द्वारों से वर्णन किया है। इस वर्णन मे सामायिकसम्बन्धी सभी आवश्यक बातो का समावेश हो गया है। तृतीय द्वार निर्गम अर्थात् सामायिक की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने भगवान् महावीर के एकादश गणधरों की चर्चा की है एवं गणधरवाद अर्थात् भगवान् महावीर एवं गणधरो के बीच हुई चर्चा का विस्तार से निरूपण किया है। एकादश गणधरों के नाम ये हैं : १. इंद्रभूति, २. अग्निभूति, ३. वायुभूति, ४. व्यक्त, ५. सुधर्मा, ६. मंडिक, ७. मौर्यपुत्र, ८. अकंपित, ९. अचलभ्राता, १०. मेतार्य, ११. प्रभास। ये पहले वेदानुयायी ब्राह्मण-पंडित थे किन्तु बाद में भगवान् महावीर के मन्तव्यों से प्रभावित होकर उनके शिष्य हो गये थे। यही महावीर के गणधर–प्रमुख शिष्य कहलाते है। इनके साथ महावीर की जिन विषयों पर चर्चा हुई थी। वे क्रमशः इस प्रकार हैं : १. आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व, २. कर्म की सत्ता, ३. आत्मा और देह का भेद, ४. शून्यवाद का निरास, ५. इहलोक और परलोक की विचित्रता, ६. बंध और मोक्ष का स्वरूप, ७. देवों का अस्तित्व, ८. नारकों का अस्तित्व, ९. पुण्य और पाप का स्वरूप, १०. परलोक का अस्तित्व, ११. निर्वाण की सिद्धि। आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिए अधिष्ठातृत्व, संघातपरार्थत्व आदि अनेक हेतु दिये गये हैं। ये हेतु साख्य आदि अन्य दर्शनों में भी उपलब्ध हैं। आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के साथ ही साथ एकात्मवाद का खंडन करते हुए अनेकात्मवाद की भी सिद्धि की गई है। इसी प्रकार जीव को स्वदेहपरिमाण सिद्ध करते हुए यह बताया गया है कि अन्य पदार्थों की भाँति जीव भी नित्यानित्य है तथा विज्ञान भूतधर्म न होकर एक स्वतन्त्र तत्त्व–आत्मतत्त्व का धर्म है। कर्म का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए भी अनेक हेतु दिये गये हैं। कर्म को मूर्त सिद्ध करते हुए कर्म और आत्मा के सम्बन्ध पर भी प्रकाश डाला गया है तथा ईश्वरकर्तृत्व का खंडन किया गया है। आत्मा और देह के भेद की सिद्धि में चार्वाक-

सम्मत भूतवाद का निरास किया गया है एवं इन्द्रियभिन्न आत्मसाधक अनुमान प्रस्तुत करते हुए आत्मा की नित्यता एवं अदृश्यता का प्रतिपादन किया गया है। शून्यवाद के निरास के प्रसंग पर वायु, आकाश आदि तत्त्वों की सिद्धि की गई है तथा भूतों की सजीवता का निरूपण करते हुए हिंसा-अहिंसा के विवेक पर प्रकाश डाला गया है। सुधर्मा का इहलोक और परलोकविषयक संशय दूर करने के लिए कर्म-वैचित्र्य से भव-वैचित्र्य की सिद्धि की गई है एवं कर्मवाद के विरोधी स्वभाववाद का निरास कर कर्मवाद की स्थापना की गई है। मंडिक के संशय का निवारण करने के लिए विविध हेतुओं से बंध और मोक्ष की सिद्धि की गई है तथा मुक्त आत्माओं के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार देव, नारक, पुण्य-पाप, पर-भव और निर्वाण की सत्ता सिद्ध करते हुए जैनदर्शनाभिमत निर्वाण आदि के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। सामायिक के ग्यारहवें द्वार समवतार का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने अनुयोगों—चरणकरणानुयोग धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग, और द्रव्यानुयोग के पृथक्करण की चर्चा की है और बताया है कि आर्य वज्र के बाद होने वाले आर्य रक्षित ने भविष्य में मति–मेधा–धारणा का नाश होना जानकर अनुयोगों का विभाग कर दिया। उस समय तक सब सूत्रों की व्याख्या चारों प्रकार के अनुयोगों से होती थी। आर्य रक्षित ने इन सूत्रों का निश्चित विभाजन कर दिया। चरणकरणानुयोग में कालिक श्रुतरूप ग्यारह अंग, महाकल्पश्रुत और छेदसूत्र रखे। धर्मकथानुयोग में ऋषिभाषितों का समावेश किया। गणितानुयोग में सूर्यप्रज्ञप्ति को रखा। द्रव्यानुयोग में दृष्टिवाद को समाविष्ट किया। इसके बाद उन्होंने पुष्पमित्र को गणिपद पर प्रतिष्ठित किया। इसे गोष्ठामाहिल ने अपना अपमान समझा और वह ईर्ष्यावश संघ से अलग हो अपनी नई मान्यताओं का प्रचार करने लगा। यही गोष्ठामाहिल सप्तम निह्नव के रूप में प्रसिद्ध है। निर्युक्तिकारनिर्दिष्ट सात निह्नवों में शिवभूति बोटिक नामक एक और निह्नव मिलाकर भाष्यकार जिनभद्र ने प्रस्तुत भाष्य में निम्नलिखित आठ निह्नवों की मान्यताओं का वर्णन किया है: १. जमालि, २. तिष्यगुप्त, ३. आषाढभूति, ४. अश्वमित्र, ५. गंग, ६. रोहगुप्त–षडुलूक, ७. गोष्ठामाहिल, ८. शिवभूति। भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के १४ वर्ष बाद प्रथम तथा १६ वर्ष बाद द्वितीय निह्नव हुआ। शेष निह्नव क्रमशः महावीर-निर्वाण के २१४, २२०, २२८, ५४४, ५८४ और ६०९ वर्ष बाद हुए। इनकी मान्यताएँ आठ प्रकार के निह्नववाद के रूप में प्रसिद्ध हैं। अपने अभिनिवेश के कारण

२

आगमिक परंपरा से विरुद्ध तत्त्व प्रतिपादन करनेवाला निह्नव कहलाता है। अभिनिवेशरहित अर्थ-विवाद निह्नववाद की कोटि में नहीं आता क्योंकि इस प्रकार के विवाद का प्रयोजन यथार्थ तत्त्व-निर्णय है, न कि अपने अभिनिवेश का मिथ्या पोषण। निह्नव समस्त जिनप्रवचन को प्रमाणभूत मानता हुआ भी उसके किसी एक अंश का परंपरा से विरुद्ध अर्थ करता है एवं उस अर्थ का जनता में प्रचार करता है। प्रथम निह्नव जमालि ने बहुरत मत का प्रचार किया। इस मत के अनुसार कोई भी क्रिया एक समय में न होकर बहु—अनेक समय में होती है। द्वितीय निह्नव तिष्यगुप्त ने जीवप्रादेशिक मत का प्रचार किया। इस मत के अनुसार जीव का वह चरम प्रदेश जिसके बिना वह जीव नहीं कहलाता और जिसके होने पर ही वह जीव कहलाता है, वास्तव में जीव है। उसके अतिरिक्त अन्य प्रदेश तो उसके अभाव में अजीव ही हैं क्योंकि उसी से वे सब जीवत्व प्राप्त करते हैं। तृतीय निह्नव आषाढभूति ने अव्यक्त मत का प्रचार किया। इस मत के अनुसार किसी की साधुता-असाधुता आदि का निश्चय नहीं हो सकता। अतः किसी को वन्दना-नमस्कार आदि नहीं करना चाहिए। चतुर्थ निह्नव अश्वमित्र ने सामुच्छेदिक मत का प्रचार किया। समुच्छेद का अर्थ है जन्म होते ही सर्वथा नाश हो जाना। सामुच्छेदिक मत इसी सिद्धान्त का समर्थक है। पंचम निह्नव गंग ने द्वैक्रियवाद का प्रचार किया। एक समय में दो क्रियाओं के अनुभव की शक्यता का समर्थन करना द्वैक्रियवाद है। षष्ठ निह्नव रोहगुप्त–षडुलूक ने त्रैराशिक मत का प्रचार किया। इस मत के अनुसार संसार में जीव, अजीव और नोजीव—इस तरह तीन प्रकार की राशियाँ हैं। रोहगुप्त का नाम षडुलूक क्यों रखा गया, इसका समाधान करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि उसका नाम तो रोहगुप्त है किन्तु गोत्र उलूक है। उलूक गोत्रीय रोहगुप्त ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन षट् पदार्थों (वैशेषिक मत) का प्ररूपण किया अतः उसका नाम षट् और उलूक के संयोग से षडुलूक हो गया। सप्तम निह्नव गोष्ठामाहिल ने अबद्धिक मत का प्रचार किया। इस मत के अनुसार जीव और कर्म का बंध नहीं अपितु स्पर्शमात्र होता है। अष्टम निह्नव शिवभूति–बोटिक ने दिगम्बर मत का प्रचार किया। इस मत के अनुसार वस्त्र कषाय का हेतु होने से परिग्रहरूप है अतः त्याज्य है। निह्नववाद के बाद सामायिक के अनुमत आदि शेष द्वारों का वर्णन करते हुए भाष्यकार ने सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति का व्याख्यान प्रारंभ किया है। इसमें नमस्कार का उत्पत्ति, निक्षेप, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम, प्रयोजन और फल—इन ग्यारह द्वारों से विवेचन किया

है। सिद्ध-नमस्कार का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने कर्मस्थिति, समुद्घात, शैलेशी अवस्था, ध्यान आदि के स्वरूप का भी पर्याप्त विवेचन किया है। सिद्ध का उपयोग साकार है अथवा निराकार, इसकी चर्चा करते हुए केवलज्ञान और केवलदर्शन के भेद और अभेद का विचार किया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन क्रमशः होते हैं या युगपद्, इस प्रश्न पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। भाष्यकार ने इस मत का समर्थन किया है कि केवली को भी एक-साथ दो उपयोग नहीं हो सकते अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन भी क्रमशः ही होते हैं, युगपद् नहीं। नमस्कार-भाष्य के बाद 'करेमि भंते' इत्यादि सामायिक-सूत्र के मूल पदों का व्याख्यान है। इस प्रकार प्रस्तुत भाष्य में जैन आचार-विचार के मूलभूत समस्त तत्त्वों का सुव्यवस्थित एवं सुप्ररूपित संग्रह कर लिया है, यह सुस्पष्ट है। इसमें गूढतम दार्शनिक मान्यता से लेकर सूक्ष्मतम आचारविषयक विधि-विधान का संक्षिप्त किन्तु पर्याप्त विवेचन है।

जीतकल्पभाष्य :

प्रस्तुत भाष्य, भाष्यकार जिनभद्र की अपनी ही कृति जीतकल्पसूत्र पर है। इसमें बृहत्कल्प-लघुभाष्य, व्यवहारभाष्य, पञ्चकल्प-महाभाष्य, पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों की अनेक गाथाएँ अक्षरशः उद्धृत हैं। ऐसी स्थिति में इसे एक संग्रह-ग्रन्थ मानना भी संभवतः उचित ही है। इसमें प्रायश्चित्त के विधि-विधान की मुख्यता है। प्रायश्चित्त का शब्दार्थ करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि जो पाप का छेद करता है वह पायच्छित्त—प्रायश्चित्त है अथवा प्रायः जिससे चित्त शुद्ध होता है वह पच्छित्त—प्रायश्चित्त है। जीतकल्पाभिमत जीत-व्यवहार का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत—इन पाँचों प्रकार के व्यवहार का विवेचन किया है। जो व्यवहार आचार्य-परंपरा से प्राप्त हो, उत्तम पुरुषों द्वारा अनुमत हो, बहुश्रुतों द्वारा सेवित हो वह जीत-व्यवहार है। इसका आधार आगमादि नहीं अपितु परंपरा है। प्रायश्चित्त का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने प्रायश्चित्त के अठारह, बत्तीस एवं छत्तीस स्थानों का निरूपण किया है। प्रायश्चित्तदाताओं की योग्यता-अयोग्यता का विचार करते हुए आचार्य ने बताया है कि प्रायश्चित्त देने की योग्यता रखने वाले केवली अथवा चतुर्दशपूर्वधर का वर्तमान युग में अभाव होने पर भी कल्प (बृहत्कल्प), प्रकल्प (निशीथ) तथा व्यवहार के आधार पर प्रायश्चित्तदान की क्रिया सरलतापूर्वक सम्पन्न हो सकती है। चारित्र की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का व्यवहार अनिवार्य है। सापेक्ष प्रायश्चित्तदान से होने वाले लाभ एवं निरपेक्ष

प्रायश्चित्तदान से होनेवाली हानि का विचार करते हुए कहा गया है कि प्रायश्चित्त देते समय दाता के हृदय में दयाभाव रहना चाहिए। जिसे प्रायश्चित्त देना हो उसकी शक्ति-अशक्ति का पूरा ध्यान रखना चाहिए। प्रायश्चित्त के विधान का विशेष निरूपण करते हुए भाष्यकार ने प्रसंगवशात् भक्तपरिज्ञा, इंगिनीमरण तथा पादपोपगमनरूप मारणांतिक साधनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक—इन दस प्रकार के प्रायश्चित्तों का स्वरूप बताते हुए तत्सम्बन्धी अपराध-स्थानों का भी वर्णन किया गया है। प्रतिक्रमण के अपराध-स्थानों का वर्णन करते हुए आचार्य ने अर्हन्नक, धर्मरुचि आदि के उदाहरण भी दिये हैं। अन्त में यह भी बताया है कि अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त का सद्भाव चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहुस्वामी तक ही रहा। तदनन्तर इन दोनों प्रायश्चित्तों का व्यवहार बन्द हो गया।

बृहत्कल्प-लघुभाष्य :

यह भाष्य बृहत्कल्प के मूल सूत्रों पर है। इसमें पीठिका के अतिरिक्त छः उद्देश हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति की दृष्टि से इस भाष्य का विशेष महत्त्व है। जैन श्रमणों के आचार का सूक्ष्म एवं सतर्क विवेचन इस भाष्य की विशेषता है। पीठिका में मंगलवाद, ज्ञानपंचक, अनुयोग, कल्प, व्यवहार आदि पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम उद्देश की व्याख्या में ताल वृक्ष से सम्बन्धित विविध दोष एवं प्रायश्चित्त, टूटे हुए ताल-प्रलम्ब अर्थात् ताल वृक्ष के मूल के ग्रहण से सम्बन्धित अपवाद, निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के देशान्तर-गमन के कारण और उसकी विधि, श्रमणों की रुग्णावस्था के विधि-विधान, वैद्य और उनके प्रकार, दुष्काल आदि के समय श्रमण-श्रमणियों के एक-दूसरे के अवगृहीत क्षेत्र में रहने की विधि, ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, सम्बाध, घोष, अंशिका, पुटभेदन, शंकर आदि पदों का विवेचन, नक्षत्रमास, चंद्रमास, ऋतुमास, आदित्यमास और अभिवर्धितमास का स्वरूप, मासकल्पविहारी साधु-साध्वियों का स्वरूप एवं जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक की क्रियाएँ, समवसरण की रचना, तीर्थङ्कर, गणधर, आहारकशरीरी, अनुत्तरदेव, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की शुभाशुभ कर्म-प्रकृतियाँ, तीर्थङ्कर की एकरूप भाषा का विभिन्न भाषारूपों में परिणमन, आपणगृह, रथ्यामुख, शृङ्गाटक, चतुष्क, चत्वर, अंतरापण आदि पदों का व्याख्यान एवं इन स्थानों पर बने हुए

उपाश्रय में रहनेवाली निर्ग्रन्थियों को लगने वाले दोष, श्रमणों के पाँच प्रकार—आचार्य, उपाध्याय, भिक्षु, स्थविर और क्षुल्लक, श्रमणियों के पाँच प्रकार—प्रवर्तिनी, अभिषेका, भिक्षुणी, स्थविरा और क्षुल्लिका, श्रमण-श्रमणियों के लिए योग्य एवं निर्दोष उपाश्रय, निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के विहार का उपयुक्त काल एवं स्थान, रात्रि भोजन का निषेध आदि विषयों का समावेश है। ग्राम, नगर आदि का स्वरूप बताते हुए भाष्यकार ने बारह प्रकार के ग्रामों का उल्लेख किया है : १. उत्तानकमल्लक, २. अवाङ्मुखमल्लक, ३. सम्पुटकमल्लक, ४. उत्तानकखण्डमल्लक, ५. अवाङ्मुखखण्डमल्लक, ६. सम्पुटकखण्डमल्लक, ७. भित्ति, ८. पडालि, ९. वलभी, १०. अक्षाटक, ११. रुचक, १२. काश्यपक। जिनकल्पिक की चर्चा में बताया गया है कि तीर्थङ्करों अथवा गणधर आदि केवलियों के समय में जिनकल्पिक होते हैं। जिनकल्पिक की सामाचारी का निम्नलिखित २७ द्वारों से वर्णन किया गया है : १. श्रुत, २. संहनन, ३. उपसर्ग, ४. आतंक, ५. वेदना, ६. कतिजन, ७. स्थण्डिल, ८. वसति, ९. कियच्चिर, १०. उच्चार, ११. प्रस्रवण, १२. अवकाश, १३. तृणफलक, १४. संरक्षणता, १५. संस्थापनता, १६. प्राभृतिका, १७. अग्नि, १८. दीप, १९. अवधान, २०. वत्स्यथ, २१. भिक्षाचर्या, २२. पानक, २३. लेपालेप, २४. अलेप, २५. आचाम्ल, २६. प्रतिमा, २७. मासकल्प। स्थविरकल्पिकों की चर्चा करते हुए आचार्य ने बताया है कि स्थविरकल्पिक की प्रव्रज्या, शिक्षा, अर्थग्रहण, अनियतवास और निष्पत्ति जिनकल्पिक के ही समान है। विहार-वर्णन में निम्नोक्त बातों का विशेष विचार किया है : विहार का समय, विहार करने के पूर्व गच्छ के निवास एवं निर्वाहयोग्य क्षेत्र का परीक्षण, उत्सर्ग तथा अपवाद की दृष्टि से योग्य-अयोग्य क्षेत्रप्रत्युपेक्षकों का निर्वाचन, क्षेत्र की प्रतिलेखना के निमित्त गमनागमन की विधि, विहार-मार्ग एवं स्थण्डिलभूमि, जल, विश्रामस्थान, भिक्षा, वसति, सम्भवित उपद्रव आदि की परीक्षा, प्रतिलेखनीय क्षेत्र में प्रवेश करने की विधि, भिक्षाचर्या द्वारा उस क्षेत्र के निवासियों की मनोवृत्ति की परीक्षा, भिक्षा, औषध आदि की सुलभता-दुर्लभता का ज्ञान, विहार करने के पूर्व वसति के स्वामी की अनुमति, विहार करते समय शुभ शकुन दर्शन, विहार के समय आचार्य, बालदीक्षित, वृद्धसाधु आदि का सामान (उपधि) ग्रहण करने की विधि, प्रतिलिखित क्षेत्र में प्रवेश एवं शुभाशुभ शकुनदर्शन, वसति में प्रवेश करने की विधि, वसति में प्रविष्ट होने के बाद आचार्य आदि का जिनचैत्यों के वन्दन के निमित्त गमन, मार्ग में गृह जिनमंदिरों

के दर्शन, स्थापनाकुलों की व्यवस्था, स्थापनाकुलों में जाने योग्य अथवा भेजने योग्य वैयावृत्यकार के गुण-दोष की परीक्षा, स्थापनाकुलों में से विधिपूर्वक उचित द्रव्यों का ग्रहण, एक-दो-तीन गच्छयुक्त वसति से भिक्षाग्रहण करने की विधि। गच्छवासियों—स्थविरकल्पिकों की सामाचारी से सम्बन्धित निम्नोक्त बातों पर भी आचार्य ने प्रकाश डाला है: १. प्रतिलेखना—वस्त्रादि की प्रतिलेखना का काल, प्रतिलेखना के दोष और प्रायश्चित्त, २. निष्क्रमण—उपाश्रयसे बाहर निकलने का समय, ३. प्राभृतिका—गृहस्थ आदि के लिए तैयार किये हुए गृह आदि में रहने-न रहने की विधि, ४. भिक्षा—पिण्ड आदि के ग्रहण का समय, भिक्षासम्बन्धी आवश्यक उपकरण आदि, ५. कल्पकरण—पात्र-धावन की विधि, लेपकृत और अलेपकृत पात्र, पात्र-लेप के लाभ, ६. गच्छशतिकादि—सात प्रकार की सौवीरिणियाँ: (१) आधाकर्मिक, (२) स्वगृहयतिमिश्र, (३) स्वगृह-पाषण्डमिश्र, (४) यावदर्थिकमिश्र, (५) क्रीतकृत, (६) पूतिकर्मिक, (७) आत्मार्थकृत, ७. अनुयान—रथयात्रा का वर्णन एवं तद्विषयक अनेक प्रकार के दोष, ८. पुरःकर्म—भिक्षादान के पूर्व शीतल जल से हस्त आदि धोने से लगने वाले दोष, पुरःकर्म और उदकार्द्रदोष में अन्तर, पुरःकर्मसम्बन्धी प्रायश्चित्त, ९. ग्लान—रुग्ण साधु की सेवा से होने वाली निर्जरा, रुग्ण साधु के लिए पथ्यापथ्य की गवेषणा, चिकित्सा के निमित्त वैद्य के पास जाने-आने की विधि, वैद्य से ग्लान साधु के विषय में बातचीत करने की विधि, ग्लान साधु के लिए उपाश्रय में आये हुए वैद्य के साथ व्यवहार करने की विधि, वैद्य के लिए भोजनादि एवं औषधादि के मूल्य की व्यवस्था, रुग्ण साधु को निर्दयतापूर्वक उपाश्रय आदि में छोड़कर चले जाने वाले आचार्य को लगने वाले दोष एवं उनका प्रायश्चित्त, १०. गच्छप्रतिबद्धयथालंदिक—वाचना आदि कारणों से गच्छ से सम्बन्ध रखनेवाले यथालंदिक कल्पधारियों के साथ वंदना आदि व्यवहार, ११. उपरिदोष—ऋतुबद्ध काल से अतिरिक्त समय में एक क्षेत्र में एक मास से अधिक रहने से लगने वाले दोष, १२. अपवाद—एक मास से अधिक रहने के आपवादिक कारण। आगे आचार्य ने यह भी बताया है कि यदि ग्राम, नगर आदि दुर्ग के अन्दर और बाहर इस प्रकार दो भागों में बसे हुए हों तो अन्दर और बाहर मिलाकर एक क्षेत्र में दो मास तक रहना विहित है। निर्ग्रन्थियों—श्रमणियों—साध्वियों के आचारविषयक विधि-विधानों की चर्चा करते हुए प्रस्तुत भाष्य में निम्न बातों का विचार किया गया है: मासकल्प की मर्यादा, विहार-विधि, समुदाय का गणधर और उसके

गुण, गणधर द्वारा क्षेत्र की प्रतिलेखना, भड़ौंच में बौद्ध श्रावकों द्वारा साध्वियों का अपहरण, साध्वियों के विचरने योग्य क्षेत्र, वसति आदि, विधर्मी आदि की ओर से होने वाले उपद्रवों से रक्षा, भिक्षा के लिए जाने वाली साध्वियों की संख्या, वर्षाऋतु के अतिरिक्त एक स्थान पर रहने की अवधि। स्थविर-कल्प और जिनकल्प इन दोनों अवस्थाओं में कौनसी अवस्था प्रधान है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार ने स्याद्वादी भाषा में लिखा है कि निष्पादक और निष्पन्न इन दो दृष्टियों से दोनों ही प्रधान हैं। स्थविरकल्प सूत्रार्थग्रहण आदि दृष्टियों से जिनकल्प का निष्पादक है, जबकि जिनकल्प ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि दृष्टियों से निष्पन्न है। इस प्रकार दोनो ही अवस्थाएँ महत्त्वपूर्ण एवं प्रधान हैं। इस वक्तव्य को विशेष स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने गुहासिंह, दो स्त्रियों और दो गोवर्गों के उदाहरण भी दिये हैं। श्रमण-श्रमणियों के लिए रात्रि अथवा विकाल में अध्वगमन का निषेध करते हुए भाष्यकार ने अध्व के दो भेद किये हैं: पंथ और मार्ग। जिसके बीच मे ग्राम, नगर आदि कुछ भी न हो वह पन्थ है। जो ग्रामानुग्राम की परम्परा से युक्त हो वह मार्ग है। अपवादरूप से रात्रिगमन की छूट है किन्तु उसके लिए अध्वोपयोगी उपकरणों का संग्रह तथा योग्य सार्थ का सहयोग आवश्यक है। सार्थ पांच प्रकार का है: १. भंडी, २. बहिलक, ३. भारवह, ४. औदरिक, ५. कार्पटिक। इसी प्रकार आचार्य ने आठ प्रकार के सार्थवाहो और आठ प्रकार के आदियात्रिकों—सार्थ-व्यवस्थापकों का भी उल्लेख किया है। श्रमण-श्रमणियों के विहार-योग्य क्षेत्र की चर्चा मे बताया है कि उत्सर्गरूप से विहार के लिए आर्यक्षेत्र ही श्रेष्ठ है। आर्य पद का निम्नोक्त निक्षेपों से व्याख्यान किया गया है: १. नाम, २. स्थापना, ३. द्रव्य, ४. क्षेत्र, ५. जाति, ६. कुल, ७. कर्म, ८. भाषा, ९. शिल्प, १०. ज्ञान, ११. दर्शन, १२. चारित्र। आर्यजातियाँ छः प्रकार की है: १. अम्बष्ठ, २. कलिन्द, ३. वैदेह, ४. विदक, ५. हारित, ६. तन्तुण। आर्यकुल भी छः प्रकार के हैं: १. उग्र, २. भोग, ३. राजन्य, ४. क्षत्रिय, ५. ज्ञात-कौरव, ६. इक्ष्वाकु। द्वितीय उद्देश के भाष्य में निम्नोक्त विषयों का व्याख्यान है: उपाश्रयसम्बन्धी दोष एवं यतनाएँ, सागारिक के आहारादि के त्याग की विधि, दूसरों के यहाँ से आई हुई भोजन-सामग्री के दान की विधि, सागारिक के भाग के पिण्ड का ग्रहण, विशिष्ट व्यक्तियों के निमित्त निर्मित भक्त, उपकरण आदि का अग्रहण, वस्त्रादि उपधि के परिभोग की विधि एवं मर्यादा, रजोहरण-ग्रहण की विधि। वस्त्रादि उपधि के परिभोग की चर्चा में

पांच प्रकार के वस्त्रों का स्वरूप बताया गया है : १. जांगिक, २. भांगिक, ३. सानक, ४. पोतक, ५. तिरीटपट्टक। रजोहरण-ग्रहण की चर्चा में पांच प्रकार के रजोहरणों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है : १. और्णिक, २. औष्ट्रिक, ३. शनक, ४. वच्चकचिप्पक, ५. मुंजचिप्पक। तृतीय उद्देश की व्याख्या में भाष्यकार ने निम्न बातों पर प्रकाश डाला है : निर्ग्रन्थों का निर्ग्रन्थियों के और निर्ग्रन्थियों का निर्ग्रन्थों के उपाश्रय में प्रवेश, निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों द्वारा सलोमादि चर्म का उपयोग, कृत्स्न एवं अकृत्स्न वस्त्र का संग्रह व उपयोग, भिन्न एवं अभिन्न वस्त्र का संग्रह व उपयोग, अवग्रहानन्तक एवं अवग्रहपट्टक का उपयोग, निर्ग्रन्थी द्वारा वस्त्रादिग्रहण, नवदीक्षित श्रमण-श्रमणियों के लिए उपधि की मर्यादा, प्रथम वर्षाऋतु में उपधिग्रहण की विधि, वस्त्रविभाजन की निर्दोष विधि, अभ्युत्थान-वंदन आदि करने का विधान, किसी घर के अन्दर अथवा दो घरों के बीच सोने-बैठने का निषेध, शय्यासंस्तारक की याचना एवं रक्षा, अनुज्ञापित स्थान का त्याग। भिन्न एवं अभिन्न वस्त्र का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने वस्त्र फाड़ने से होने वाली हिंसा-अहिंसा की चर्चा की है। इस चर्चा में निम्नोक्त बातों का विचार किया गया है : द्रव्यहिंसा और भावहिंसा का स्वरूप, हिंसा में रागादि की तीव्रता और तीव्र कर्मबन्ध, रागादि की मंदता और मंद कर्मबन्ध, हिंसक में ज्ञान और अज्ञान के कारण कर्मबन्ध का न्यूनाधिक्य, अधिकरण की विविधता से कर्मबन्ध का वैविध्य, हिंसक की देहादि की शक्ति के कारण कर्मबन्ध की विचित्रता। अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक के उपयोग की चर्चा करते हुए आचार्य ने इस बात का समर्थन किया है कि निर्ग्रन्थों के लिए इन दोनों का उपयोग वर्जित है जबकि निर्ग्रन्थियों के लिए उनका उपयोग अनिवार्य है। इस प्रसंग पर अपूर्ण वस्त्रधारण का निषेध करते हुए भाष्यकार ने निर्ग्रन्थियों के अपहरण आदि की चर्चा की है। गर्भाधान की चर्चा करते हुए बताया गया है कि पुरुष-संसर्ग के अभाव में भी निम्नोक्त पांच कारणों से गर्भाधान हो सकता है : १. दुर्विवृत एवं दुर्निषण्ण स्त्री की योनि में पुरुषनिसृष्ट शुक्रपुद्गल किसी तरह प्रविष्ट हो जाएं, २. स्त्री स्वयं पुत्रकामना से उन्हें अपनी योनि में प्रविष्ट करे, ३. अन्य कोई उसे उसकी योनि में रख दे, ४. वस्त्र-संसर्ग से शुक्रपुद्गल स्त्री-योनि में प्रविष्ट हो जाएं, ५. उदकाचमन से स्त्री के भीतर शुक्रपुद्गल प्रविष्ट हो जाएं। चतुर्थ उद्देश की व्याख्या में निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है: हस्तकर्म, मैथुन और रात्रिभोजन के लिए अनुद्घातिक अर्थात् गुरु प्रायश्चित्त, दुष्ट, प्रमत्त

और अन्योन्यकारक के लिए पारांचिक प्रायश्चित्त, साधर्मिक-स्तैन्य, अन्यधार्मिक-स्तैन्य एवं हस्ताताल के लिए अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त, पंडक, क्लीब और वातिक के लिए प्रव्रज्या का निषेध, अविनीत, विकृतिप्रतिबद्ध और अव्यवशमित कषाय के लिए वाचना का वर्जन, दुष्ट, मूढ एवं व्युद्ग्राहित के लिए उपदेश का निषेध, ग्लान निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों की यतनापूर्वक सेवा-शुश्रूषा, कालातिक्रान्त एवं क्षेत्रातिक्रान्त अशनादि की अकल्प्यता, अकल्प्य अशनादि का निर्दोष उपयोग एवं विसर्जन, अशनादिक की कल्प्यता और अकल्प्यता, गणान्तरोपसम्पदा का ग्रहण और उसकी यथोचित विधि, मृत्युप्राप्त भिक्षुक के शरीर की परिष्ठापना, भिक्षुक का गृहस्थ के साथ अधिकरण—झगड़ा और उसका व्यवशमन, परिहारतप में स्थित भिक्षुक का भक्तपानादि, विविध नदियों को पार करने की मर्यादाएं, विविध ऋतुओं के लिए योग्य उपाश्रय। हस्तकर्म का स्वरूप बताते हुए भाष्यकार ने आठ प्रकार के हस्तकर्म का उल्लेख किया है : छेदन, भेदन, घर्षण, पेषण, अभिघात, स्नेह, काय और क्षार। मैथुन का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने लिखा है कि मैथुनभाव रागादि से रहित नहीं होता अतः उसके लिए किसी प्रकार के अपवाद का विधान नहीं है। पंडक आदि की प्रव्रज्या का निषेध करते हुए आचार्य ने पंडक के सामान्यतया छः लक्षण बताये हैं : १. महिलास्वभाव, २. स्वरभेद, ३. वर्णभेद, ४. महन्मेढ्र, ५. मृदुवाक्, ६. सशब्द-अफेनक मूत्र। इसी प्रसंग पर भाष्यकार ने एक ही जन्म में पुरुष, स्त्री और नपुंसकवेद का अनुभव करने वाले कपिल का दृष्टान्त भी दिया है। पंचम उद्देश की व्याख्या में निम्न विषयों का समावेश है : गच्छसम्बन्धी शास्त्रस्मरण और तद्विषयक व्याघात, क्लेशयुक्त चित्त से गच्छ में रहने अथवा स्वगच्छ को छोड़कर अन्य गच्छ में चले जाने से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, निःशंक तथा सशंक रात्रिभोजन, उद्गार—वमनादिविषयक दोष एवं प्रायश्चित्त, आहार-प्राप्ति के लिए प्रयत्न एवं यतनाएं, निर्ग्रन्थीविषयक विशेष विधि-विधान। षष्ठ उद्देश के भाष्य में श्रमण श्रमणियों से सम्बन्धित निम्न विषयों पर प्रकाश डाला गया है : निर्दोष वचनों का प्रयोग एवं अलीकादि वचनों का अप्रयोग, प्राणातिपात आदि से सम्बन्धित प्रायश्चितों के प्रस्तार—विविध प्रकार, कंटक आदि का उद्धरण, दुर्गम मार्ग का अनालम्बन, क्षिप्तचित्त निर्ग्रन्थी की समुचित चिकित्सा, साधुओं के परिमंथ अर्थात् व्याघात और उनके प्रकार, विविध कल्पस्थितियाँ एवं उनका स्वरूप। भाष्य के अन्त में कल्पाध्ययन शास्त्र के अधिकारी की योग्यताओं का निरूपण है।

बृहत्कल्प-लघुभाष्य का जैन साहित्य के इतिहास में ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के इतिहास में भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें भाष्यकार के समय की एवं अन्यकालीन भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालने वाली सामग्री की प्रचुरता का दर्शन होता है। जैन साधुओं के लिए तो इसका व्यावहारिक महत्त्व है ही।

बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य :

यह भाष्य अपूर्ण ही उपलब्ध है। उपलब्ध भाष्य में पीठिका एवं प्रारंभ के दो उद्देश पूर्ण हैं तथा तृतीय उद्देश अपूर्ण है। इसमें बृहत्कल्प-लघुभाष्य में प्रतिपादित विषयों का ही विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। कहीं-कहीं गाथाओं मे व्यतिक्रम दृष्टिगोचर होता है।

व्यवहारभाष्य :

यह भाष्य भी साधुओं के आचार से सम्बन्धित है। इसमें भी बृहत्कल्प-लघुभाष्य की ही भाँति प्रारभ मे पीठिका है। पीठिका के प्रारम्भ मे व्यवहार, व्यवहारी एवं व्यवहर्तव्य का स्वरूप बताया गया है। व्यवहार मे दोषों की संभावना को दृष्टि मे रखते हुए प्रायश्चित्त का अर्थ, भेद, निमित्त आदि दृष्टियों से व्याख्यान किया गया है। बीच-बीच मे अनेक प्रकार के दृष्टान्त भी दिये गये हैं। पीठिका के बाद सूत्र-स्पर्शिक निर्युक्ति का व्याख्यान प्रारंभ होता है। प्रथम उद्देश की व्याख्या मे भिक्षु, मास, परिहार, स्थान, प्रतिसेवना, आलोचना आदि पदों का निक्षेपपूर्वक विवेचन किया गया है। आधाकर्म आदि से सम्बन्धित अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार के लिए विभिन्न प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। अतिक्रम के लिए मासगुरु, व्यतिक्रम के लिए मासगुरु और काललघु, अतिचार के लिए तपोगुरु और कालगुरु तथा अनाचार के लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त से मूलगुण एवं उत्तरगुण दोनों ही परिशुद्ध होते हैं। इनकी परिशुद्धि से ही चारित्र की शुद्धि होती है। पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा और अभिग्रह उत्तरगुणान्तर्गत हैं। इनके क्रमशः ४२, ८, २५, १२, १२ और ४ भेद हैं। प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष दो प्रकार के होते हैं : निर्गत और वर्तमान। जो प्रायश्चित्त से अतिक्रान्त है वे निर्गत हैं। जो प्रायश्चित्त में विद्यमान है वे वर्तमान हैं। प्रायश्चित्तार्ह अर्थात् प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष चार प्रकार के होते हैं : उभयतर, आत्मतर, परतर और अन्यतर। जो स्वयं तप करता हुआ दूसरों की सेवा भी कर

सकता है वह उभयतर है। जो केवल तप ही कर सकता है वह आत्मतर है। जो केवल सेवा ही कर सकता है वह परतर है। जो तप और सेवा इन दोनों में से किसी एक समय में एक का ही सेवन कर सकता है वह अन्यतर है। शिथिलतावश गच्छ छोड़ कर पुनः गच्छ मे सम्मिलित होने वाले साधु के लिए विविध प्रायश्चित्तों का विधान करते हुए भाष्यकार ने पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द, कुशील, अवसन्न तथा संसक्त के स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। पार्श्वस्थ दो प्रकार के होते हैं : देशतः पार्श्वस्थ और सर्वतः पार्श्वस्थ। सर्वतः पार्श्वस्थ के तीन भेद हैं : पार्श्वस्थ, प्रास्वस्थ और पाशस्थ। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि के पार्श्व अर्थात् समीप—तट पर है वह पार्श्वस्थ है। जो ज्ञानादि के प्रति स्वस्थ भाव रखते हुए भी तद्विषयक उद्यम से दूर रहता है वह प्रास्वस्थ है। जो मिथ्यात्व आदि पाशों में स्थित है वह पाशस्थ है। जो स्वयं परिभ्रष्ट है तथा दूसरों को भी भ्रष्टाचार की शिक्षा देता है वह यथाच्छन्द—इच्छाछन्द है। जो ज्ञानाचार आदि की विराधना करता है वह कुशील है। अवसन्न देशतः और सर्वतः भेद से दो प्रकार का है। आवश्यकादि मे हीनता, अधिकता, विपर्यय आदि करने वाला देशावसन्न है। समय पर संस्तारक आदि का प्रत्युपेक्षण न करने वाला सर्वावसन्न है। जो पार्श्वस्थ आदि का संसर्ग प्राप्त कर उन्हीं के समान हो जाता है वह ससक्त है। साधुओं के विहार की चर्चा करते हुए भाष्यकार ने एकाकी विहार का निषेध किया है तथा तत्सम्बन्धी दोषों का निरूपण किया है। इस प्रसग पर एक वणिक् का दृष्टान्त देते हुए आचार्य ने बताया है कि जहाँ राजा, वैद्य, धनिक, नियतिक और रूपयक्ष—ये पाँच प्रकार के लोग न हों वहाँ धन और जीवन का नाश हुए बिना नहीं रहता। अथवा राजा, युवराज, महत्तरक, अमात्य तथा कुमार से परिगृहीत राज्य गुणविशाल होता है। अपनी उन्नति की कामना वाले व्यक्ति को इसी प्रकार के राज्य में रहना चाहिए। जो उभय योनि (मातृपक्ष तथा पितृपक्ष) से शुद्ध है, प्रजा से आय का केवल दशम भाग ग्रहण करता है, लोकाचार एवं नीतिशास्त्र में निपुण है वही वास्तव में राजा है, शेष राजाभास हैं। जो प्रातःकाल उठकर सर्वप्रथम शरीरशुद्धि आदि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होता है एवं आस्थानिका में जाकर राज्य के सब कार्यों की विचारणा करता है वह युवराज है। जो गम्भीर है, मार्दवयुक्त है, कुशल है, जाति एवं विनयसम्पन्न है तथा युवराज के साथ सब कार्यों का प्रेक्षण करता है वह महत्तरक है। जो व्यवहारकुशल एवं नीतिसम्पन्न है तथा जनपद, राजधानी व राजा का हितचिन्तन करता है वह अमात्य है। जो दुर्दान्त लोगों का दमन

करता हुआ संग्रामनीति में अपनी कुशलता का परिचय देता है वह कुमार है। जो वैद्यकशास्त्र का पंडित है तथा माता-पिता आदि से सम्बन्धित रोगों को निर्मूल कर स्वास्थ्य प्रदान करता है वह वैद्य है। जिसके पास परंपरा से प्राप्त करोड़ों की सम्पत्ति हो वह धनिक है। जिसके यहाँ निम्नलिखित १७ प्रकार के धान्य के भाण्डार भरे हुए हों वह नियतिक है : १. शालि, २. यव, ३. कोद्रव, ४. ब्रीहि, ५. राल्क, ६. तिल, ७. मुद्ग, ८. माष, ९. चावल, १०. चणक, ११. तुवरी, १२. मसुरक, १३. कुलत्थ, १४. गोधूम, १५. निष्पाव, १६. अलसी, १७. सण। जो माठर और कौण्डिन्य की दण्डनीति में कुशल है, किसी से भी लंचा—उत्कोच नहीं लेता तथा किसी प्रकार का पक्षपात नहीं करता वह रूपयक्ष है। रूपयक्ष का शब्दार्थ है मूर्तिमान् धर्मैकनिष्ठ देव। जिस प्रकार राजा आदि के अभाव में धन-जीवन की रक्षा असंभव है उसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गीतार्थ के अभाव में चारित्रधर्म की रक्षा असंभव है। द्वितीय उद्देश की व्याख्या में द्वि, साधर्मिक, विहार आदि पदों का विवेचन है। विविध प्रकार के तपस्वियों एवं रोगियों की सेवा का विधान करते हुए भाष्यकार ने क्षिप्तचित्त तथा दीप्तचित्त साधुओं की सेवा करने की मनोवैज्ञानिक विधि बताई है। व्यक्ति क्षिप्तचित्त क्यों होता है? क्षिप्तचित्त होने के तीन कारण हैं : राग, भय और अपमान। दीप्तचित्त क्षिप्तचित्त से ठीक विरोधी स्वभाव का होता है। क्षिप्तचित्त होने का मुख्य कारण अपमान है जबकि दीप्तचित्त होने का मुख्य कारण सम्मान है। विशिष्ट सम्मान के बाद मद के कारण, लाभमद से मत्त होने पर अथवा दुर्जेय शत्रुओं को जीतने के मद में उन्मत्त होने के कारण व्यक्ति दीप्तचित्त हो जाता है। क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त में एक अन्तर यह है कि क्षिप्तचित्त प्रायः मौन रहता है जबकि दीप्तचित्त अनावश्यक बक बक किया करता है। तृतीय उद्देश के भाष्य में इच्छा, गण आदि शब्दों का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया गया है एवं गणावच्छेदक, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, प्रवर्तिनी आदि पदवियाँ धारण करनेवालों की योग्यताओं का विचार किया गया है। जो एकादशांग-सूत्रार्थधारी हैं, नवम पूर्व के ज्ञाता हैं, कृतयोगी हैं, बहुश्रुत हैं, बह्वागम हैं, सूत्रार्थविशारद हैं, धीर हैं, श्रुतनिघर्ष हैं, महाजन हैं वे ही आचार्य आदि पदवियों के योग्य हैं। चतुर्थ उद्देश की व्याख्या में साधुओं के विहार से सम्बन्धित विधि-विधान है। शीत और उष्णकाल के आठ महीनों में आचार्य तथा उपाध्याय को एक भी अन्य साधु साथ में न होने पर विहार नहीं करना चाहिए। गणावच्छेदक को साथ में कमसे कम

दो साधु होने पर ही विहार करना चाहिए। आचार्य तथा उपाध्याय को कमसे-कम अन्य दो साधु साथ में होने पर ही अलग चातुर्मास करना (वर्षाऋतु में एक स्थान पर रहना) चाहिए। गणावच्छेदक के लिए चातुर्मास मे कम-से-कम तीन अन्य साधुओं का सहवास अनिवार्य है। प्रस्तुत उद्देश की व्याख्या मे निम्नोक्त विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है: जातसमासकल्प, जातअसमासकल्प, अजातसमासकल्प, अजातअसमासकल्प, वर्षाकाल के लिए उपयुक्त स्थान, त्रैवार्षिकस्थापना, गणधरस्थापना, ग्लान की सेवा-शुश्रूषा, अवग्रह वा विभाग, आहारादिविषयक अनुकम्पा इत्यादि। पंचम उद्देश की व्याख्या मे साध्वियों के विहारसम्बन्धी नियमों पर प्रकाश डाला गया है। षष्ठ उद्देश के भाष्य मे साधु-साध्वियों के सम्बन्धियों के यहाँ से आहारादि ग्रहण करने के नियमों का निरूपण किया गया है। सप्तम उद्देश के भाष्य मे अन्य समुदाय से आनेवाले साधु-साध्वियों को अपने समुदाय मे लेने के नियमों पर प्रकाश डाला गया है। जो साधु-साध्वियाँ सांभोगिक हैं अर्थात् एक ही आचार्य के संरक्षण मे रहते हैं उन्हें अपने आचार्य की अनुमति प्राप्त किये बिना अन्य समुदाय से आने वाले साधु-साध्वियों को अपने संघ मे सम्मिलित नहीं करना चाहिए। यदि किसी स्त्री को एक संघ मे दीक्षा लेकर दूसरे संघ की साध्वी बनना हो तो उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिए। उसे जिस संघ मे रहना हो उसी संघ मे दीक्षा ग्रहण करना चाहिए। पुरुष के लिए ऐसा नियम नहीं है। वह कारणवशात् एक संघ मे दीक्षा लेकर दूसरे संघ के आचार्य को अपना गुरु बना सकता है। दीक्षा ग्रहण करने वाले के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए आचार्य ने बताया है कि कुछ लोग अपने देश स्वभाव से ही अनेक दोषों से युक्त होते है। आन्ध्र मे उत्पन्न हुआ हो और अक्रूर हो, महाराष्ट्र मे पैदा हुआ हो और अवाचाल हो, कोशल में पैदा हुआ हो और अदुष्ट हो—ऐसा सौ मे से एक भी मिलना दुर्लभ है। अष्टम उद्देश की व्याख्या मे शयनादि के निमित्त सामग्री जुटाने एवं वापस लौटाने की विधि बताई गई है तथा आहार की मर्यादा पर प्रकाश डाला गया है। कुक्कुटी के अण्डे के बराबर के आठ कौर खाने वाला साधु अल्पाहारी कहलाता है। इसी प्रकार बारह, सोलह, चौबीस, इकतीस और बत्तीस ग्रास ग्रहण करने वाले साधु क्रमशः अपार्धाहारी, अर्धाहारी, प्राप्तावमौदर्य, किञ्चिदवमौदर्य और प्रमाणाहारी कहलाते हैं। नवम उद्देश की व्याख्या मे भाष्यकार ने शय्यातर अर्थात् सागारिक के ज्ञातिक, स्वजन, मित्र आदि आगंतुक लोगों से सम्बन्धित आहार के ग्रहण-अग्रहण के विवेक पर प्रकाश डालते हुए निर्ग्रन्थों की विविध प्रतिमाओं का स्वरूप बताया है। दशम उद्देश से सम्बन्धित

भाष्य में यवमध्यप्रतिमा और वज्रमध्यप्रतिमा का विशेष विवेचन है। साथ ही पाँच प्रकार के व्यवहार, बालदीक्षा की विधि, दस प्रकार की सेवा–वैयावृत्य आदि का भी व्याख्यान किया गया है।

ओघनिर्युक्ति-भाष्य :

ओघनिर्युक्ति-लघुभाष्य में ओघ, पिण्ड, व्रत, श्रमणधर्म, संयम, वैयावृत्य, गुप्ति, तप, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिरोध, प्रतिलेखना, अभिग्रह, अनुयोग, कायोत्सर्ग, औपघातिक, उपकरण आदि विषयों का संक्षिप्त व्याख्यान है। ओघनिर्युक्ति-बृहद्भाष्य में इन्हीं विषयों पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

पिण्डनिर्युक्ति-भाष्य :

इसमें पिण्ड, आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, सूक्ष्मप्राभृतिका, विशोधि, अविशोधि आदि श्रमणधर्मसम्बन्धी विषयों का संक्षिप्त विवेचन है।

पंचकल्प-महाभाष्य :

यह भाष्य पंचकल्पनिर्युक्ति के व्याख्यान के रूप में है। भाष्यकार ने निर्युक्ति की प्रथम गाथा में प्रयुक्त 'भद्रबाहु' पद का अर्थ 'सुन्दर बाहुओं से युक्त' किया है और बताया है कि अन्य भद्रबाहुओं से छेदसूत्रकार भद्रबाहु को पृथक् सिद्ध करने के लिए उनके नाम के साथ प्राचीन गोत्रीय, चरम सकलश्रुतज्ञानी और दशा-कल्प-व्यवहारप्रणेता विशेषण जोड़े गये हैं। प्रस्तुत भाष्य में पाँच प्रकार के कल्प का संक्षिप्त वर्णन है। पाँच प्रकार के कल्प के क्रमशः छः, सात, दस, बीस और बयालीस भेद हैं। प्रथम कल्प–मनुजजीवकल्प छः प्रकार का है : प्रव्राजन, मुंडन, शिक्षण, उपस्थ, भोग और संवसन। जाति, कुल, रूप और विनयसंपन्न व्यक्ति ही प्रव्रज्या के योग्य है। निम्नोक्त बीस प्रकार के व्यक्ति प्रव्रज्या के अयोग्य हैं : १. बाल, २. वृद्ध, ३. नपुंसक, ४. जड, ५. क्लीब, ६. रोगी, ७. स्तेन, ८. राजापकारी, ९. उन्मत्त, १०. अदर्शी, ११. दास, १२. दुष्ट, १३. मूढ़, १४. अज्ञानी, १५. जुंगित, १६. भयभीत, १७. पलायित, १८. निष्कासित, १९. गर्भिणी और २०. बालवत्सा स्त्री। आगे क्षेत्रकल्प की चर्चा करते हुए आचार्य ने साढ़े पच्चीस देशों को आर्यक्षेत्र बताया है जिनमें साधु विचर सकते है। इन आर्य जनपदों एवं उनकी राजधानियों के नाम इस प्रकार हैं : १. मगध और राजगृह, २. अंग और चम्पा, ३. वंग और ताम्रलिप्ति, ४. कलिंग और कांचनपुर, ५. काशी और वाराणसी, ६. कोशल और साकेत, ७. कुरु और गजपुर,

८. कुशावर्त और सौरिक, ९. पांचाल और काम्पिल्य, १०. जंगल और अहिच्छत्रा, ११. सुराष्ट्र और द्वारवती, १२. विदेह और मिथिला, १३. वत्स और कौशांबी, १४. शांडिल्य और नंदीपुर, १५. मलय और भद्दिलपुर, १६. वत्स और वैराट-पुर, १७. वरण और अच्छापुरी, १८. दशार्ण और मृत्तिकावती, १९. चेदि और शौक्तिकावती, २० सिंधु और वीतभय, २१. सौवीर और मथुरा, २२. सुरसेन और पापा, २३. भंग और सामपुरिवट्ट, २४. कुणाल और श्रावस्ती, २५. लाट और कोटिवर्ष, २५½. केकयार्ध और श्वेतांबिका। द्वितीय कल्प के सात भेद हैं : स्थितकल्प, अस्थितकल्प, जिनकल्प, स्थविरकल्प, लिंगकल्प, उपधिकल्प और संभोगकल्प। तृतीयकल्प के दस भेद हैं : कल्प, प्रकल्प, विकल्प, संकल्प, उप-कल्प, अनुकल्प, उत्कल्प, अकल्प, दुष्कल्प और सुकल्प। चतुर्थ कल्प के अन्तर्गत नामकल्प, स्थापनाकल्प, द्रव्यकल्प, क्षेत्रकल्प, कालकल्प, दर्शनकल्प, श्रुतकल्प, अध्ययनकल्प, चारित्रकल्प आदि बीस प्रकार के कल्पों का समावेश है। पंचम कल्प के द्रव्य, भाव, तदुभय, करण, विरमण, सदाधार, निर्वेश, अंतर, नयांतर, स्थित, अस्थित, स्थान आदि दृष्टिकोणों से बयालीस भेद किये गये हैं।

चूर्णियाँ :

जैन आगमों की प्राकृत अथवा संस्कृतमिश्रित प्राकृत व्याख्याएँ चूर्णियाँ कहलाती हैं। इस प्रकार की कुछ चूर्णियाँ आगमेतर साहित्य पर भी हैं। जैन आचार्यों ने निम्नोक्त आगमों पर चूर्णियाँ लिखी हैं : १. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ४. जीवाभिगम, ५. निशीथ, ६. महानिशीथ, ७. व्यवहार, ८. दशाश्रुतस्कन्ध, ९. बृहत्कल्प, १०. पंचकल्प, ११. ओघनिर्युक्ति, १२. जीतकल्प, १३. उत्तराध्ययन, १४. आवश्यक, १५. दशवैकालिक, १६. नन्दी, १७. अनुयोगद्वार, १८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति। निशीथ और जीतकल्प पर दो-दो चूर्णियाँ लिखी गई हैं किन्तु वर्तमान में एक-एक ही उपलब्ध है। अनुयोग-द्वार, बृहत्कल्प एवं दशवैकालिक पर भी दो-दो चूर्णियाँ हैं। जिनदासगणि महत्तर की मानी जाने वाली निम्नांकित चूर्णियों का रचना-क्रम इस प्रकार है : नन्दीचूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि, ओघनिर्युक्तिचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, दशवैकालिक-चूर्णि, उत्तराध्ययनचूर्णि, आचारांगचूर्णि, सूत्रकृतांगचूर्णि और व्याख्याप्रज्ञप्ति-चूर्णि। नन्दीचूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि, जिनदासकृत दशवैकालिकचूर्णि, उत्तरा-ध्ययनचूर्णि, आचारांगचूर्णि, सूत्रकृतांगचूर्णि, निशीथविशेषचूर्णि, दशाश्रुतस्कन्ध-चूर्णि एवं बृहत्कल्पचूर्णि संस्कृतमिश्रित प्राकृत में हैं। आवश्यकचूर्णि, अगस्त्य-सिंहकृत दशवैकालिकचूर्णि एवं जीतकल्पचूर्णि (सिद्धसेनकृत) प्राकृत में हैं।

चूर्णिकार :

चूर्णिकार के रूप में जिनदासगणि महत्तर का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। परम्परा से निम्न चूर्णियाँ जिनदासगणि महत्तर की मानी जाती हैं : निशीथ-विशेषचूर्णि, नन्दीचूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, दशवैकालिकचूर्णि, उत्तराध्ययनचूर्णि, आचारांगचूर्णि, सूत्रकृतांगचूर्णि। उपलब्ध जीतकल्पचूर्णि के कर्ता सिद्धसेनसूरि हैं। बृहत्कल्पचूर्णि प्रलम्बसूरि की कृति है। अनुयोगद्वार की एक चूर्णि (अंगुल पद पर) के कर्ता भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी हैं। यह चूर्णि जिनदासगणिकृत अनुयोगद्वारचूर्णि में अक्षरशः उद्धृत है। दशवैकालिक पर अगस्त्यसिंह ने भी एक चूर्णि लिखी है। इनके अतिरिक्त अन्य चूर्णिकारों के नाम अज्ञात हैं।

प्रसिद्ध चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर के धर्मगुरु का नाम उत्तराध्ययनचूर्णि के अनुसार वाणिज्यकुलीन, कोटिकगणीय, वज्रशाखीय गोपालगणि महत्तर है तथा विद्यागुरु का नाम निशीथ-विशेषचूर्णि के अनुसार प्रद्युम्न क्षमाश्रमण है। जिनदास का समय भाष्यकार आचार्य जिनभद्र और टीकाकार आचार्य हरिभद्र के बीच में है। इसका प्रमाण यह है कि आचार्य जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओं का प्रयोग इनकी चूर्णियों में दृष्टिगोचर होता है तथा इनकी चूर्णियों का पूरा उपयोग आचार्य हरिभद्र की टीकाओं में हुआ दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर का समय वि सं. ६५०-७५० के आसपास मानना चाहिए क्योंकि इनके पूर्ववर्ती आचार्य जिनभद्र वि. स. ६४५-६६० के आसपास तथा इनके उत्तरवर्ती आचार्य हरिभद्र वि. स. ७५७-८२७ के आसपास विद्यमान थे। नन्दीचूर्णि के अन्त में उसका रचना-काल शक संवत् ५९८ उल्लिखित है। इस प्रकार इस उल्लेख के अनुसार भी जिनदास का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित है।

जीतकल्पचूर्णि के कर्ता सिद्धसेनसूरि प्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न हैं। इसका कारण यह है कि सिद्धसेन दिवाकर जीतकल्प सूत्र के प्रणेता आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं जबकि चूर्णिकार सिद्धसेनसूरि आचार्य जिनभद्र के पश्चात्वर्ती हैं। इनका समय वि. स. १२२७ के पूर्व है, पश्चात् नहीं, क्योंकि प्रस्तुत जीतकल्पचूर्णि की एक टीका जिसका नाम विषमपदव्याख्या है, श्रीचन्द्रसूरि ने वि. स. १२२७ में पूर्ण की थी। प्रस्तुत सिद्धसेन संभवतः उपकेशगच्छीय देवगुप्तसूरि के शिष्य एव यशोदेवसूरि के गुरुभाई हैं।

बृहत्कल्पचूर्णिकार प्रलम्बसूरि वि. सं. १३३४ के पूर्व हुए हैं क्योंकि ताड़पत्र पर लिखित प्रस्तुत चूर्णि की एक प्रति का लेखन-समय वि. सं. १३३४ है।

दशवैकालिकचूर्णिकार अगस्त्यसिंह कोटिगणीय वज्रस्वामी की शाखा के एक स्थविर हैं। इनके गुरु का नाम ऋषिगुप्त है। इनका समय अज्ञात है। चूर्णि की भाषा, शैली आदि देखते हुए यह कहा जा सकता है कि चूर्णिकार विशेष प्राचीन नहीं है।

नन्दीचूर्णि :

यह चूर्णि मूल सूत्र का अनुसरण करते हुए लिखी गयी है। इसकी व्याख्यान-शैली संक्षिप्त एवं सारग्राही है। इसमें मुख्यतया ज्ञान के स्वरूप की चर्चा है। अन्त में चूर्णिकार ने 'णिरेणगामेत्तमहासहा जिता ......' आदि शब्दों में अपना परिचय दिया है जो स्पष्ट नहीं है।

अनुयोगद्वारचूर्णि :

जिनदासगणिकृत प्रस्तुत चूर्णि भी मूल सूत्रानुसारी है। इसमें नन्दीचूर्णि का उल्लेख किया गया है। सप्तस्वर, नवरस आदि का भी इसमें सोदाहरण निरूपण किया गया है। अन्त में चूर्णिकार के नाम आदि का कोई उल्लेख नहीं है।

आवश्यकचूर्णि :

यह चूर्णि मुख्यतया निर्युक्त्यनुसारी है। यत्र-तत्र विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओं का भी व्याख्यान किया गया है। भाषा में प्रवाह एवं शैली में ओज है। विषय-विस्तार भी अन्य चूर्णियों की अपेक्षा अधिक है। कथानकों की प्रचुरता भी इसकी एक विशेषता है। इसमें ऐतिहासिक आख्यानों के विशेष दर्शन होते हैं। ओघनिर्युक्तिचूर्णि, गोविंदनिर्युक्ति, वसुदेवहिण्डि आदि अनेक ग्रन्थों का इसमें उल्लेख है। संस्कृत के अनेक श्लोक इसमें उद्धृत हैं। आवश्यक के सामायिक नामक प्रथम अध्ययन की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार ने अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के भवों की चर्चा की है तथा आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के धनसार्थवाह आदि भवों का वर्णन किया है। ऋषभदेव के जन्म, विवाह, अपत्य आदि का वर्णन करते हुए तत्कालीन शिल्प, कर्म, लेख आदि पर भी प्रकाश डाला है। इसी प्रसंग पर आचार्य ने ऋषभदेव के पुत्र भरत की

दिग्विजय-यात्रा का अति रोचक एवं विद्वत्तापूर्ण वर्णन किया है। भरत का राज्याभिषेक, भरत और बाहुबलि का युद्ध, बाहुबलि को केवलज्ञान की प्राप्ति आदि घटनाओं के वर्णन में भी चूर्णिकार ने अपना कौशल दिखाया है। भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित निम्नोक्त घटनाओं का वर्णन भी प्रस्तुत चूर्णि में उपलब्ध है: धैर्य-परीक्षा, विवाह, अपत्य, दान, सम्बोध, लोकान्तिकागमन, इन्द्रागमन, दीक्षा-महोत्सव, उपसर्ग, अभिग्रह-पञ्चक, अच्छंदक-वृत्त, चण्ड-कौशिक-वृत्त, गोशालक-वृत्त, संगमककृत-उपसर्ग, देवीकृत-उपसर्ग, वैशाली आदि में विहार, चन्दनबाला-वृत्त, गोपकृत-शलाकोपसर्ग, केवलोत्पाद, समवसरण, गणधर-दीक्षा। सामायिकसम्बन्धी अन्य विषयों की चर्चा में आनंद, कामदेव, शिवराजर्षि, गगदत्त, इलापुत्र, मेतार्य, कालिकाचार्य, चिलातिपुत्र, धर्मरुचि, तेतलीपुत्र आदि अनेक ऐतिहासिक आख्यानों के दृष्टान्त दिये गये हैं। तृतीय अध्ययन वंदना की व्याख्या में चूर्णिकार ने वद्यावंद्य का विचार करते हुए पाँच प्रकार के श्रमणों को अवन्द्य बताया है: १. आजीवक, २. तापस, ३. परिव्राजक, ४. तच्चणिय (तत्क्षणिक), ५. बोटिक। प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ अध्ययन की चूर्णि में अभयकुमार, श्रेणिक, चेल्लणा, सुलसा, कोणिक, चेटक, उदायी, महा-पद्मनंद, शकटाल, वररुचि, स्थूलभद्र आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बन्धित अनेक कथानकों का संग्रह किया गया है। आगे के अध्ययनों में भी इसी प्रकार विविध विषयों का सदृष्टान्त व्याख्यान किया गया है।

दशवैकालिकचूर्णि (जिनदासकृत):

प्रस्तुत चूर्णि निर्युक्ति का अनुसरण करती है। इसमें आवश्यकचूर्णि का भी उल्लेख है। पंचम अध्ययन से सम्बन्धित चूर्णि में मांसाहार, मद्यपान आदि की भी चर्चा है। चूर्णिकार ने तत्त्वार्थ, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रंथों का नामोल्लेख भी किया है।

उत्तराध्ययनचूर्णि:

यह चूर्णि भी निर्युक्त्यनुसारी है। इसके अंत में चूर्णिकार ने अपना परिचय देते हुए अपने को 'वाणिजकुलसंभूओ, कोडियगणिओ उ वयरसाहीतो। गोवालियमहत्तरओ ····तेसि सीसेण इमं········' अर्थात् वाणिज्यकुलीन, कोटिकगणीय, वज्रशाखीय गोपालगणि महत्तर का शिष्य बताया है। इसमें आचार्य ने अपनी कृति दशवैकालिकचूर्णि का भी उल्लेख किया है।

आचारांगचूर्णि :

यह चूर्णि भी निर्युक्ति का अनुसरण करते हुए लिखी गई है। इसमें यत्र तत्र प्राकृत गाथाएँ एवं संस्कृत श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं। इन उद्धरणों के स्थल-निर्देश की ओर चूर्णिकार ने ध्यान नहीं दिया है।

सूत्रकृतांगचूर्णि :

आचारांगचूर्णि और सूत्रकृतांगचूर्णि की शैली में अत्यधिक साम्य है। इनमें संस्कृत का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है। विषय-विवेचन संक्षिप्त एवं स्पष्ट है। सूत्रकृतांग की चूर्णि भी आचारांग आदि की चूर्णियों की ही भाँति निर्युक्त्यनुसारी है।

जीतकल्प-बृहच्चूर्णि :

सिद्धसेनसूरिप्रणीत प्रस्तुत चूर्णि में एतत्पूर्वकृत एक अन्य चूर्णि का भी उल्लेख है। प्रस्तुत चूर्णि अथ से इति तक प्राकृत में है। इसमें जितनी गाथाएँ एवं गद्यांश उद्धृत हैं, सब प्राकृत में हैं। यह चूर्णि मूल सूत्रानुसारी है। प्रारंभ व अंत में चूर्णिकार ने जीतकल्प सूत्र के प्रणेता आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को सादर नमस्कार किया है।

दशवैकालिकचूर्णि (अगस्त्यसिंहकृत) :

प्रस्तुत चूर्णि भाषा एवं शैली दोनों दृष्टियों से सुगम है। जिनदासकृत दशवैकालिकचूर्णि की भाँति प्रस्तुत चूर्णि भी निर्युक्त्यनुसारी है। चूर्णि के अंत में चूर्णिकार ने अपना पूरा परिचय दिया है। चूर्णिकार का नाम कलश-भवमृगेन्द्र अर्थात् अगस्त्यसिंह है। चूर्णिकार के गुरु का नाम ऋषिगुप्त है। ये कोटिगणीय वज्रस्वामी की शाखा के हैं। प्रस्तुत चूर्णिगत मूल सूत्र-पाठ, जिनदासकृतचूर्णि के मूल सूत्र-पाठ एवं हारिभद्रीय वृत्ति के मूल सूत्र— इन तीनों में कहीं-कहीं थोड़ा-सा अंतर दृष्टिगोचर होता है। यही बात निर्युक्ति-गाथाओं के विषय में भी है। निर्युक्ति की कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं जो हारिभद्रीय वृत्ति में तो उपलब्ध हैं किन्तु दोनों चूर्णियों में नहीं मिलतीं।

निशीथ-विशेषचूर्णि :

जिनदासगणिकृत प्रस्तुत चूर्णि मूल सूत्र, निर्युक्ति एवं भाष्य के विवेचन के रूप में है। इसमें संस्कृत का अल्प प्रयोग है। प्रारम्भ में पीठिका है

जिसमें निशीथ की भूमिका के रूप में तत् सम्बद्ध आवश्यक विषयों का व्याख्यान किया गया है। प्रारंभिक मंगल-गाथाओं में आचार्य ने अपने विद्यागुरु प्रद्युम्न क्षमाश्रमण को भी नमस्कार किया है। इसी प्रसंग पर उन्होंने यह भी बताया है कि निशीथ का दूसरा नाम प्रकल्प भी है। निशीथ का अर्थ है अप्रकाश अर्थात् अंधकार। अप्रकाशित वचनों के निर्णय के लिए निशीथ सूत्र है। प्रथम उद्देश की चूर्णि में हस्तकर्म का विश्लेषण करते हुए आचार्य ने बताया है कि हस्तकर्म दो प्रकार का है: असंक्लिष्ट और संक्लिष्ट। असंक्लिष्ट हस्तकर्म आठ प्रकार का है: छेदन, भेदन, घर्षण, पेषण, अभिघात, स्नेह, काय और क्षार। संक्लिष्ट हस्तकर्म दो प्रकार का है: सनिमित्त और अनिमित्त। सनिमित्त हस्तकर्म तीन प्रकार के कारणों से होता है: शब्द सुनकर, रूप देखकर अथवा पूर्व अनुभूत विषय का स्मरण कर। अंगोपांग का विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने बताया है कि शरीर के तीन भाग हैं: अङ्ग, उपाङ्ग और अङ्गोपाङ्ग। अङ्ग आठ हैं: सिर, उर, उदर, पीठ, दो बाहु और दो ऊरु। कान, नाक, आँखें, जंघाएँ, हाथ और पैर उपांग हैं। नख, बाल, श्मश्रु, अंगुलियाँ, हस्ततल और हस्तोपतल अङ्गोपाङ्ग हैं। दंड, विदंड, लाठी एवं विलट्ठी का भेद आचार्य ने इस प्रकार किया है: दंड तीन हाथ का होता है, विदंड दो हाथ का होता है, लाठी आत्म-प्रमाण होती है, विलट्ठी लाठी से चार अंगुल न्यून होती है। इसी प्रकार द्वितीय उद्देश की व्याख्या में शय्या और संस्तारक का भेद बताते हुए कहा गया है कि शय्या सर्वांगिका अर्थात् पूरे शरीर के बराबर होती है जबकि संस्तारक ढाई हाथ लम्बा ही होता है। उपधि का विवेचन करते हुए आचार्य ने बताया है कि उपधि दो प्रकार की होती है: अवधियुक्त और उपगृहीत। जिनकल्पिकों के लिए बारह प्रकार की, स्थविरकल्पिकों के लिए चौदह प्रकार की एवं आर्याओं—साध्वियों के लिए पच्चीस प्रकार की उपधि अवधियुक्त है। जिनकल्पिक दो प्रकार के हैं: पाणिपात्रभोजी और प्रतिग्रहधारी। इनके पुनः दो-दो भेद हैं: सप्रावरण—सवस्त्र और अप्रावरण—निर्वस्त्र। जिनकल्प में उपधि की आठ कोटियाँ हैं: दो, तीन, चार, पाँच, नव, दस, ग्यारह और बारह (प्रकार की उपधि)। निर्वस्त्र पाणिपात्र की जघन्य उपधि दो प्रकार की है। रजोहरण और मुखवस्त्रिका। वही पाणिपात्र यदि सवस्त्र है तो उसकी जघन्य उपधि तीन प्रकार की होगी: रजोहरण, मुखवस्त्रिका और एक वस्त्र। इस प्रकार उपधि की संख्या क्रमशः बढ़ती जाती है। षष्ठ उद्देश की व्याख्या में साधुओं के मैथुनसम्बन्धी दोषों एवं प्रायश्चित्तों का वर्णन करते हुए चूर्णिकार ने मातृग्राम और मैथुन का

शब्दार्थ इस प्रकार किया है : माता के समान नारियों के वृंद को मातृग्राम कहते हैं। अथवा सामान्य स्त्री-वर्ग को मातृग्राम–माउग्गाम कहना चाहिए, जैसे कि मराठी में स्त्री को माउग्गाम कहते हैं। मिथुनभाव अथवा मिथुनकर्म को मैथुन कहते हैं। मातृग्राम तीन प्रकार का है : दिव्य, मानुष्य और तिर्यक्। इनमें से प्रत्येक के दो भेद हैं : देहयुक्त और प्रतिमायुक्त। देहयुक्त के पुनः दो भेद हैं : सजीव और निर्जीव। प्रतिमायुक्त भी दो प्रकार का है : सन्निहित और असन्निहित। कामियों के प्रेमपत्र-लेखन का विवेचन करते हुए आचार्य ने बताया है कि लेख दो प्रकार का होता है : छन्न—अप्रकाशित और प्रकट—प्रकाशित। छन्न लेख तीन प्रकार का है : लिपिछन्न, भाषाछन्न और अर्थछन्न। सप्तम उद्देश की व्याख्या में कुंडल, गुण, मणि, तुडिय, तिसरिय, वालंभा, पलंबा, हार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, पट्ट, मुकुट आदि आभरणों का स्वरूप बताया गया है। इसी प्रकार आलिंगन, परिष्वजन, चुंबन, छेदन एवं विच्छेदनरूप काम-क्रीडाओं पर भी प्रकाश डाला गया है। अष्टम उद्देश से सम्बन्धित चूर्णि में उद्यान, उद्यानगृह, उद्यानशाला, निर्याण, निर्याणगृह, निर्याणशाला, अट्ट, अट्टालक, चरिका, प्रकार, द्वार, गोपुर, दक, दकमार्ग, दकपथ, दकतीर, दकस्थान, शून्यगृह, शून्यशाला, भिन्नगृह, भिन्नशाला, कूटागार, कोष्ठागार, तृणगृह, तृणशाला, तुषगृह, तुषशाला, छुसगृह, छुसशाला, पर्यायगृह, पर्यायशाला, कर्मान्तगृह, कर्मान्तशाला, महागृह, महाकुल, गोगृह, गोशाला आदि का स्वरूप बताया गया है। नवम उद्देश की चूर्णि मे राजा के अन्तःपुर में मुनिप्रवेश का निषेध करते हुए आचार्य ने तीन प्रकार के अन्तःपुरों का वर्णन किया है : जीर्णान्तःपुर, नवान्तःपुर और कन्यकान्तःपुर। इसी उद्देश मे कोष्ठागार, भाण्डागार, पानागार, क्षीरगृह, गंजशाला, महानसशाला आदि का स्वरूप भी बताया गया है। एकादश उद्देश की व्याख्या में अयोग्य दीक्षा का निषेध करते हुए आचार्य ने ४८ प्रकार के व्यक्तियों को प्रव्रज्या के अयोग्य माना है : १८ प्रकार के पुरुष, २० प्रकार की स्त्रियाँ और १० प्रकार के नपुंसक। इसी प्रसंग पर आचार्य ने १६ प्रकार के रोग एवं ८ प्रकार की व्याधि के नाम गिनाये है। शीघ्र नष्ट होने वाली व्याधि तथा देर से नष्ट होने वाला रोग कहलाता है। पंचदश उद्देश की व्याख्या मे चार प्रकार के आमों का उल्लेख है : उस्सेतिम, ससेतिम, उवक्खड और पलिय। पलिय आम्र पुनः चार प्रकार के हैं : इंधनपलिय, धूमपलिय, गंधपलिय और वृक्षपलिय। षोडश उद्देश की चूर्णि में चूर्णिकार ने पण्यशाला, भंडशाला, कर्मशाला, पचनशाला, इंधनशाला और

व्यधारणशाला का स्वरूप बताया है। इसी उद्देश में जुगुप्सित कुलों से आहारादि के ग्रहण का निषेध करते हुए आचार्य ने बताया है कि जुगुप्सित दो प्रकार के हैं : इत्वरिक और यावत्कथिक। सूतक आदि से युक्त कुल इत्वरिक—कुछ समय के लिए जुगुप्सित हैं। लोहकार, कलाल, चर्मकार आदि यावत्कथिक—जीवनपर्यन्त जुगुप्सित हैं। श्रमणों के लिए आर्यदेश में ही विचरने का विधान करते हुए आचार्य ने आर्यदेश की सीमा इस प्रकार बताई है : पूर्व में मगध, पश्चिम में स्थूणा, उत्तर में कुणाला और दक्षिण में कौशाम्बी। अंतिम उद्देश—बीसवें उद्देश की व्याख्या के अन्त में चूर्णिकार के पूरे नाम—जिनदासगणि महत्तर का उल्लेख किया गया है तथा प्रस्तुत चूर्णि का नाम विशेषनिशीथचूर्णि बताया गया है। प्रस्तुत चूर्णि का जैन आचारशास्त्र के व्याख्याग्रंथों में एक विशिष्ट स्थान है। इसमें आचार के नियमों के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालने वाली सामग्री की भी प्रचुरता है। अन्य व्याख्याग्रंथों की भांति इसमें भी अनेक कथानक उद्धृत किये गये हैं। इनमें धूर्ताख्यान, तरंगवती, मलयवती, मगधसेन, आर्य कालक एवं उनकी भगिनी रूपवती तथा उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल आदि के वृत्तान्त उल्लेखनीय हैं।

दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि :

यह चूर्णि निर्युक्त्यनुसारी है। व्याख्यान की शैली सरल है। मूल सूत्रपाठ तथा चूर्णिसम्मत पाठ में कहीं-कहीं थोड़ा-सा अंतर है। कहीं-कहीं सूत्रों का विपर्यास भी है।

बृहत्कल्पचूर्णि :

यह चूर्णि लघुभाष्य का अनुसरण करते हुए है। इसमें पीठिका तथा छः उद्देश हैं। आचार्य ने कहीं-कहीं दार्शनिक चर्चा भी की है। एक जगह वृक्ष शब्द के छः भाषाओं में पर्याय दिये गये हैं। संस्कृत में जो वृक्ष है वही प्राकृत में रुक्ख, मगध देश में ओदण, लाट में कुर, दमिल में चोर और अन्ध्र में इडाकु नाम से प्रसिद्ध है। इसमें तत्त्वार्थाधिगम, विशेषावश्यकभाष्य, कर्मप्रकृति, महाकल्प, गोविन्दनिर्युक्ति आदि का भी उल्लेख है। चूर्णि के अन्त में चूर्णिकार के नाम आदि का कोई उल्लेख नहीं है।

टीकाएँ और टीकाकार :

जैन आगमों की संस्कृत व्याख्याओं का भी आगमिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के प्रभाव की विशेष वृद्धि होते देख जैन आचार्यों ने भी

अपने प्राचीनतम साहित्य आगम ग्रन्थों पर संस्कृत में टीकाएँ लिखना प्रारंभ किया। इन टीकाओं मे प्राचीन निर्युक्तियों, भाष्यों एवं चूर्णियों की सामग्री का तो उपयोग हुआ ही, साथ ही साथ टीकाकारों ने नये-नये हेतुओं एवं तर्कों द्वारा उस सामग्री को पुष्ट भी किया। आगमिक साहित्य पर प्राचीनतम संस्कृत टीका आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकृत विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति है। यह वृत्ति आचार्य जिनभद्र अपने जीवनकाल में पूर्ण न कर सके। इस अपूर्ण कार्य को कोट्यार्य ने (जो कि कोट्याचार्य से भिन्न हैं) पूर्ण किया। इस दृष्टि से आचार्य जिनभद्र प्राचीनतम आगमिक टीकाकार हैं। भाष्य, चूर्णि और टीका—तीनों प्रकार के व्याख्यात्मक साहित्य में इनका योगदान है। भाष्यकार के रूप मे तो इनकी प्रसिद्धि है ही। अनुयोगद्वार के अंगुल पद पर इनकी एक चूर्णि भी है। टीका के रूप मे इनकी लिखी हुई विशेषावश्यकभाष्य-स्वोपज्ञवृत्ति है ही। टीकाकारों मे हरिभद्रसूरि, शीलांकसूरि, वादिवेताल शान्तिसूरि, अभयदेवसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमे हरिभद्रसूरि प्राचीनतम हैं। कुछ टीकाकारों के नाम अज्ञात भी हैं। ज्ञातनामा टीकाकार ये हैं: जिनभद्रगणि, हरिभद्रसूरि, कोट्याचार्य, कोट्यार्य अथवा कोट्टार्य, जिनभट, शीलांकसूरि, गंधहस्ती, वादिवेताल शान्तिसूरि, अभयदेवसूरि, द्रोणसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, नेमिचन्द्रसूरि अपरनाम देवेन्द्रगणि, श्रीचन्द्रसूरि, श्रीतिलकसूरि, क्षेमकीर्ति, भुवनतुंगसूरि, गुणरत्न, विजयविमल, वानरर्षि, हीरविजयसूरि, शान्तिचन्द्रगणि, जिनहंस, हर्षकुल, लक्ष्मीकल्लोलगणि, दानशेखरसूरि, विनयहंस, नमिसाधु, ज्ञानसागर, सोमसुन्दर, माणिक्यशेखर, शुभवर्धनगणि, धीरसुन्दर, कुलप्रभ, राजवल्लभ, हितरुचि, अजितदेवसूरि, साधुरंग उपाध्याय, नगर्षिगणि, सुमतिकल्लोल, हर्षनन्दन, मेघराज वाचक, भावसागर, पद्मसुन्दरगणि, कस्तूरचन्द्र, हर्षवल्लभ उपाध्याय, विवेकहंस उपाध्याय, ज्ञानविमलसूरि, राजचन्द्र, रत्नप्रभसूरि, समरचन्द्रसूरि, पद्मसागर, जीवविजय, पुण्यसागर, विनयराजगणि, विजयसेनसूरि, हेमचन्द्रगणि, विशालसुन्दर, सौभाग्यसागर, कीर्तिवल्लभ, कमलसंयम उपाध्याय, तपोरत्न वाचक, गुणशेखर, लक्ष्मीवल्लभ, भावविजय, हर्षनंदनगणि, धर्ममंदिर उपाध्याय, उदयसागर, मुनिचन्द्रसूरि, ज्ञानशीलगणि, ब्रह्मर्षि, अजितचन्द्रसूरि, राजशील, उदयविजय, सुमतिसूरि, समयसुन्दर, शान्तिदेवसूरि, सोमविमलसूरि, क्षमारत्न, जयदयाल इत्यादि। इनमें से जिनकी जीवनी आदि के विषय मे कुछ प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है उनका परिचय देते हुए उनकी टीकाओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं। इस परिचय मे प्रकाशित टीकाओं की प्रधानता रहेगी।

जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य-स्वोपज्ञवृत्ति :

भाष्यकार आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकृत प्रस्तुत अपूर्ण वृत्ति कोट्यार्य वादिगणि ने पूर्ण की। जिनभद्र षष्ठ गणधरवाद तक की वृत्ति समाप्त कर दिवंगत हो गए थे। वृत्ति का अवशिष्ट भाग, जैसा कि वृत्ति की उपलब्ध प्रति से स्पष्ट है, कोट्यार्य ने पूर्ण किया। प्रस्तुत वृत्ति अति सरल, स्पष्ट एवं संक्षिप्त है।

हरिभद्रसूरिकृत टीकाएँ :

हरिभद्र का जन्म वीरभूमि मेवाड़ के चित्तौड़ नगर में हुआ था। ये इसी नगर के जितारि राजा के राज-पुरोहित थे। इनके गच्छपति गुरु का नाम जिनभट, दीक्षादाता गुरु का नाम जिनदत्त, धर्मजननी का नाम याकिनी महत्तरा, धर्मकुल का नाम विद्याधरगच्छ एवं सम्प्रदाय का नाम श्वेताम्बर था। इनका समय ईस्वी सन् ७००–७७० अर्थात् वि० सं० ७५७–८२७ है। कहा जाता है कि हरिभद्रसूरि ने १४४४ ग्रन्थों की रचना की थी। इनके लगभग ७५ ग्रन्थ तो अभी भी उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थों को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि आचार्य हरिभद्र एक बहुश्रुत विद्वान् थे। इनकी विद्वत्ता निःसन्देह अद्वितीय थी। इन्होंने नन्दी, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक, प्रज्ञापना, आवश्यक, जीवाभिगम और पिण्डनिर्युक्ति पर टीकाएँ लिखीं। पिण्डनिर्युक्ति की अपूर्ण टीका वीराचार्य ने पूरी की।

नन्दीवृत्ति :

यह टीका प्रायः नन्दीचूर्णि का ही रूपान्तर है। इसमें टीकाकार ने केवलज्ञान और केवलदर्शन का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए उनके यौगपद्य के समर्थन के लिए सिद्धसेन आदि का, क्रमिकत्व के समर्थन के लिए जिनभद्र आदि का एवं अभेद के समर्थन के लिए वृद्धाचार्यों का नामोल्लेख किया है। अत्रोल्लिखित सिद्धसेन सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न कोई अन्य ही आचार्य हो सकते हैं। उनका यह मत दिगम्बरसंमत है क्योंकि दिगम्बर आचार्य केवलज्ञान और केवलदर्शन को युगपद् मानते हैं। सन्मतितर्क के कर्ता सिद्धसेन-दिवाकर तो अभेदवाद के समर्थक अथवा यों कहिए कि प्रवर्तक हैं। टीकाकार ने संभवतः वृद्धाचार्य के रूप में उन्हीं का निर्देश किया है। क्रमिकत्व के समर्थक जिनभद्र आदि को सिद्धान्तवादी कहा गया है। प्रस्तुत टीका का ग्रंथमान २३३६ श्लोकप्रमाण है।

अनुयोगद्वारटीका :

यह टीका अनुयोगद्वारचूर्णि की ही शैली पर है। इसका निर्माण नन्दी-टीका के बाद हुआ है, जैसा कि स्वयं टीकाकार ने प्रस्तुत टीका के प्रारम्भ में निर्देश किया है। इसमें आवश्यकविवरण और नन्दी-विशेषविवरण का भी उल्लेख है।

दशवैकालिकवृत्ति :

यह वृत्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति का अनुसरण करते हुए लिखी गई है। इसमें अनेक प्राकृत कथानक एवं संस्कृत तथा प्राकृत उद्धरण हैं। कहीं-कहीं दार्शनिक दृष्टि का प्रभाव भी दिखाई देता है। पंचम अध्ययन की वृत्ति में आहारविषयक मूल गाथाओं का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार ने अस्थि आदि पदों का मांसपरक एवं फलपरक दोनों प्रकार का अर्थ किया है।

प्रज्ञापना-प्रदेशव्याख्या :

यह वृत्ति प्रज्ञापना सूत्र के पदों पर है। इसमें वृत्तिकार ने आवश्यकटीका और आचार्य वादिमुख्य का नामोल्लेख किया है। वृत्ति संक्षिप्त एवं सरल है। इसमें यत्र तत्र संस्कृत एवं प्राकृत उद्धरण भी हैं।

आवश्यकवृत्ति :

यह वृत्ति आवश्यकनिर्युक्ति पर है। यत्र-तत्र भाष्य गाथाओं का भी उपयोग किया गया है। वृत्ति में आवश्यकचूर्णि का पदानुसरण न करते हुए स्वतंत्र रीति से विषय-विवेचन किया गया है। इस वृत्ति को देखने से प्रतीत होता है कि आवश्यक सूत्र पर आचार्य हरिभद्र ने दो टीकाएं लिखी हैं। उपलब्ध टीका अनुपलब्ध टीका से प्रमाण में छोटी है। प्रस्तुत टीका में वृत्तिकार ने वादिमुख्य-कृत कुछ संस्कृत श्लोक भी उद्धृत किये हैं। कहीं कहीं निर्युक्ति के पाठान्तर भी दिये हैं। इसमें भी दृष्टान्तरूप एवं अन्य कथानक प्राकृत में ही हैं। वृत्ति का नाम शिष्यहिता है। इसका ग्रन्थमान २२००० श्लोकप्रमाण है।

कोट्याचार्यविहित विशेषावश्यकभाष्यविवरण :

कोट्याचार्य ने अपनी प्रस्तुत टीका में आचार्य हरिभद्र अथवा उनकी किसी कृति का कोई उल्लेख नहीं किया है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कोट्याचार्य संभवतः हरिभद्र के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन हैं। प्रस्तुत विवरण में टीकाकार ने आवश्यक की मूलटीका का अनेक बार उल्लेख

किया है। यह मूलटीका उनके पूर्ववर्ती आचार्य जिनभट की है। मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने अपनी कृति विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति में कोट्याचार्य का एक प्राचीन टीकाकार के रूप में उल्लेख किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि कोट्याचार्य काफी पुराने टीकाकार है। शीलांकाचार्य और कोट्याचार्य को एक ही व्यक्ति मानना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। आचार्य शीलांक का समय विक्रम की नवीं-दसवीं शती है जबकि कोट्याचार्य का समय उपर्युक्त दृष्टि से आठवीं शती सिद्ध होता है।

कोट्याचार्यकृत विशेषावश्यकभाष्यविवरण न अति संक्षिप्त है, न अति विस्तृत। इसमें उद्धृत कथानक प्राकृत में हैं। कहीं-कहीं पद्यात्मक कथानक भी है। यत्र-तत्र पाठान्तर भी दिये गये हैं। विवरणकार ने आचार्य जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति का भी उल्लेख किया है। प्रस्तुत विवरण का ग्रंथमान १३७०० श्लोकप्रमाण है।

आचार्य गंधहस्तिकृत शस्त्रपरिज्ञाविवरण :

आचार्य गंधहस्ती ने आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा पर जो विवरण लिखा था वह अनुपलब्ध है। आचार्य शीलांक ने अपनी कृति आचारांगविवरण के प्रारंभ में गंधहस्तिकृत प्रस्तुत विवरण का उल्लेख किया है एवं उसे अति कठिन बताया है। प्रस्तुत गंधहस्ती तथा तत्त्वार्थ-भाष्य पर बृहद्वृत्ति लिखने वाले सिद्धसेन एक ही व्यक्ति हैं। इनके गुरु का नाम भास्वामी है। इनका समय विक्रम की सातवीं और नवीं शती के बीच में कहीं है। इन्होंने अपनी तत्त्वार्थभाष्य-बृहद्वृत्ति में वसुबंधु, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध विद्वानों का उल्लेख किया है जो सातवीं शती के पहले के नहीं है। दूसरी ओर आचार्य शीलांक ने गन्धहस्ती का उल्लेख किया है। शीलांक नवीं शती के टीकाकार हैं।

शीलांकाचार्यकृत टीकाएँ :

आचार्य शीलांक के विषय में कहा जाता है कि इन्होंने प्रथम नौ अंगों पर टीकाएँ लिखी थीं। वर्तमान में इनकी केवल दो टीकाएँ उपलब्ध हैं : आचारांगविवरण और सूत्रकृतांगविवरण। इन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) आदि पर भी टीकाएँ लिखी अवश्य होंगी, जैसा कि अभयदेवसूरिकृत व्याख्या-प्रज्ञप्तिवृत्ति से फलित होता है। आचार्य शीलांक, जिन्हें शीलाचार्य एवं तत्त्वादित्य भी कहा जाता है, विक्रम की नवीं-दसवीं शती में विद्यमान थे।

आचारांगविवरण :

यह विवरण आचारांग के मूलपाठ एवं उसकी निर्युक्ति पर है। विवरण शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं है। इसमें प्रत्येक सम्बद्ध विषय का सुविस्तृत व्याख्यान है। यत्र-तत्र प्राकृत एवं संस्कृत उद्धरण भी हैं। प्रारंभ में आचार्य ने गंधहस्तिकृत शस्त्रपरिज्ञा-विवरण का उल्लेख किया है एवं उसे कठिन बताते हुए आचारांग पर सुबोध विवरण लिखने का संकल्प किया है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के षष्ठ अध्ययन की व्याख्या के अन्त में विवरणकार ने बताया है कि महापरिज्ञा नामक सप्तम अध्ययन का व्यवच्छेद हो जाने के कारण उसका अतिलंघन करके अष्टम अध्ययन का व्याख्यान प्रारंभ किया जाता है। अष्टम अध्ययन के षष्ठ उद्देशक के विवरण में ग्राम, नकर (नगर), खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, आकर, आश्रम, सन्निवेश, नैगम, राजधानी आदि का स्वरूप बताया गया है। काननद्वीप आदि को जलपत्तन एवं मथुरा आदि को स्थलपत्तन कहा गया है। भरुकच्छ, तामलिप्ती आदि द्रोणमुख अर्थात् जल और स्थल के आवागमन के केन्द्र हैं। प्रस्तुत विवरण निर्वृतिकुलीन शीलाचार्य ने गुप्त संवत् ७७२ की भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन वाहरिसाधु की सहायता से गंभूता में पूर्ण किया। विवरण का ग्रंथमान १२००० श्लोकप्रमाण है।

सूत्रकृतांगविवरण :

यह विवरण सूत्रकृतांग के मूलपाठ एवं उसकी निर्युक्ति पर है। विवरण सुबोध है। दार्शनिक दृष्टि की प्रमुखता होते हुए भी विवेचन में क्लिष्टता नहीं आने पाई है। यत्र-तत्र पाठान्तर भी उद्धृत किये गये हैं। विवरण में अनेक श्लोक एवं गाथाएँ उद्धृत की गई हैं किन्तु कहीं पर भी किसी ग्रंथ अथवा ग्रंथकार के नाम का कोई उल्लेख नहीं है। प्रस्तुत टीका का ग्रंथमान १२८५० श्लोकप्रमाण है। यह टीका भी शीलाचार्य ने वाहरिगणि की सहायता से पूरी की है।

वादिवेताल शान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययन टीका :

वादिवेताल शान्तिसूरि का जन्म राधनपुर के पास उण-उन्नतायु नामक गाँव में हुआ था। इनका बाल्यावस्था का नाम भीम था। इन्होंने थारापद्र-गच्छीय विजयसिंहसूरि से दीक्षा ग्रहण की थी। पाटन के भीमराज की सभा में ये कवीन्द्र तथा वादिचक्रवर्ती के रूप में प्रसिद्ध थे। कवि धनपाल के अनुरोध पर शान्तिसूरि मालव-प्रदेश में भी पहुँचे थे तथा भोजराज की सभा के ८४ वादियों को पराजित कर ८४ लाख रुपये प्राप्त किये थे। अपनी सभा के पण्डितों

के लिए शान्तिसूरि को वेताल के समान समझ राजा भोज ने उन्हें वादिवेताल की पदवी प्रदान की थी। इन्होंने महाकवि धनपाल की तिलकमंजरी का भी संशोधन किया था। शान्तिसूरि अपने अन्तिम दिनों में गिरनार में रहे एवं वहाँ २५ दिन का अनशन अर्थात् संथारा किया तथा वि० सं० १०९६ की ज्येष्ठ शुक्ला नवमी को स्वर्गवासी हुए। वादिवेताल शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन-टीका के अतिरिक्त कवि धनपाल की तिलकमंजरी पर भी एक टिप्पण लिखा है। जीवविचारप्रकरण और चैत्यवंदन-महाभाष्य भी इन्हीं की कृतियाँ मानी जाती हैं।

वादिवेताल शान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययन-टीका शिष्यहितावृत्ति कहलाती है। यह पाइअ-टीका के नाम से भी प्रसिद्ध है क्योंकि इसमें प्राकृत कथानकों एवं उद्धरणों की प्रचुरता है। टीका भाषा, शैली आदि सभी दृष्टियों से सफल है। इसमें मूल-सूत्र एवं निर्युक्ति का व्याख्यान है। बीच-बीच में यत्र-तत्र भाष्य-गाथाएँ भी उद्धृत हैं। अनेक स्थानों पर पाठान्तर भी दिये गये हैं। प्रस्तुत टीका में निम्नलिखित ग्रंथों एवं ग्रंथकारों के नाम निर्दिष्ट हैं: विशेषावश्यकभाष्य, उत्तराध्ययनचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, सप्तशतारनयचक्र, निशीथ, बृहदारण्यक, उत्तराध्ययनभाष्य, स्त्रीनिर्वाणसूत्र, महामति (जिनभद्र), भर्तृहरि, वाचक सिद्धसेन, अश्वसेन वाचक, वात्स्यायन, शिवशर्मन्, हारिल वाचक, गंधहस्तिन्, जिनेन्द्रबुद्धि।

द्रोणसूरिविहित ओघनिर्युक्ति-वृत्ति :

द्रोणसूरि अथवा द्रोणाचार्य पाटन-जैनसंघ के प्रमुख अधिकारी थे। ये विक्रम की ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी में विद्यमान थे। इन्होंने ओघनिर्युक्ति (लघुभाष्यसहित) पर वृत्ति लिखी एवं अभयदेवसूरिकृत कई टीकाओं का संशोधन किया।

द्रोणाचार्यकृत ओघनिर्युक्ति-वृत्ति की भाषा सरल एवं शैली सुगम है। आचार्य ने मूल पदों के अर्थ के साथ ही साथ तद्गत विषय का भी शंका-समाधानपूर्वक संक्षिप्त विवेचन किया है। यत्र तत्र प्राकृत एवं संस्कृत उद्धरणों का भी प्रयोग किया गया है। वृत्ति का ग्रंथमान लगभग ७००० श्लोक-प्रमाण है।

अभयदेवसूरिकृत टीकाएँ :

अभयदेवसूरि नवांगीवृत्तिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने निम्नोक्त आगमों पर टीकाएँ लिखी हैं: नौ अंग—१. स्थानांग, २. समवायांग, ३. व्याख्याप्रज्ञप्ति

(भगवती), ४. ज्ञाताधर्मकथा, ५. उपासकदशा, ६. अंतकृद्दशा, ७. अनुत्तरौपपातिक, ८. प्रश्नव्याकरण, ९. विपाक और १०. औपपातिक उपांग। इनके अतिरिक्त प्रज्ञापनातृतीयपदसंग्रहणी, पंचाशकवृत्ति, जयतिहुअणस्तोत्र, पंचनिर्ग्रन्थी और सप्ततिकाभाष्य भी इन्हीं की कृतियाँ हैं। इन सब रचनाओं का ग्रन्थमान लगभग ६०००० श्लोकप्रमाण है। अभयदेवकृत टीकाएँ शब्दार्थप्रधान होते हुए भी वस्तुविवेचन की दृष्टि से भी उपयोगी हैं। इनकी सभी टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

अभयदेवसूरि, जिनका बाल्यकाल का नाम अभयकुमार था, धारानिवासी सेठ धनदेव के पुत्र थे। इन्हें वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने दीक्षित किया था। योग्यता प्राप्त होने पर वर्धमानसूरि के आदेश से इन्हें आचार्यपदवी प्रदान की गई। वर्धमानसूरि के स्वर्गवास के बाद ये धवलक—धोलका नगर मे भी रहे जहाँ इन्हें रक्तविकार की बीमारी हुई जो कुछ समय बाद शान्त हो गई। अभयदेव का जन्म अनुमानतः वि० सं० १०८८, दीक्षा वि० सं० ११०४, विद्याभ्यास वि० सं० ११०४ से १११४, रुग्णावस्था वि० सं० १११४ से १११७, आचार्यपद एवं टीकाओं का प्रारम्भ वि० सं० ११२० और स्वर्गवास वि० सं० ११३५ अथवा ११३९ मे माना जाता है। पट्टावलियों में अभयदेवसूरि का स्वर्गवास कपडवंज में वि० सं० ११३५ तथा मतान्तर से वि० सं० ११३९ में होने का उल्लेख है, जबकि प्रभावक-चरित्र में केवल इतना ही उल्लेख है कि अभयदेवसूरि पाटन मे कर्णराज के राज्य मे स्वर्गवासी हुए। अभयदेवसूरिकृत आगमिक टीकाओं के संशोधन में उस समय पाटन में विराजित आगमिक परम्परा के विशेषज्ञ संघप्रमुख द्रोणाचार्य ने पूर्ण योगदान दिया था। द्रोणाचार्य के इस महान् ऋण को स्वयं अभयदेवसूरि ने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया है।

स्थानांगवृत्ति :

यह टीका स्थानाग के मूल सूत्रों पर है। यह शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं है अपितु इसमें सूत्रसम्बद्ध प्रत्येक विषय का आवश्यक विश्लेषण भी है। दार्शनिक दृष्टि की झलक भी इसमे स्पष्ट दिखाई देती है। वृत्ति मे कुछ संक्षिप्त कथानक भी हैं। वृत्ति के अन्त मे आचार्य ने अपना परिचय देते हुए बताया है कि मैंने यह टीका अजितसिंहाचार्य के अन्तेवासी यशोदेवगणि की सहायता से पूरी की है। अपनी कृतियों को आद्योपान्त पढ कर आवश्यक संशोधन करने वाले द्रोणाचार्य का सादर नामोल्लेख करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि परम्परागत सत्सम्प्रदाय एवं सत्शास्त्रार्थ की हानि हो जाने तथा आगमों की अनेक वाचनाओं एवं

पुस्तकों की अशुद्धियों के कारण प्रस्तुत कार्य में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है और यही कारण है कि इसमें अनेक प्रकार की त्रुटियाँ संभव हैं। विद्वान् पुरुषों को इनका संशोधन कर लेना चाहिए। वृत्ति का ग्रन्थमान १४२५० श्लोक प्रमाण है। रचना का समय वि० सं० ११२० एवं स्थान पाटन है।

समवायांगवृत्ति :

यह वृत्ति समवायांग के मूलपाठ पर है। विवेचन न अति संक्षिप्त है, न अति विस्तृत। यत्र-तत्र पाठान्तर भी उपलब्ध हैं। प्रस्तुत वृत्ति भी वि० सं० ११२० में ही पूर्ण हुई। इसका ग्रन्थमान ३५७५ श्लोकप्रमाण है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति :

यह टीका व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) के मूलपाठ पर है। व्याख्यान शब्दार्थ-प्रधान एवं संक्षिप्त है। यत्र-तत्र उद्धरण भी उपलब्ध हैं। पाठान्तरों एवं व्याख्या-भेदों की भी प्रचुरता है। वृत्ति के प्रारम्भ में आचार्य ने इस बात का निर्देश किया है कि इसी सूत्र की प्राचीन टीका एवं चूर्णि तथा जीवाभिगम आदि की वृत्तियोंकी सहायता से प्रस्तुत विवरण प्रारम्भ किया जाता है। यह प्राचीन टीका संभवतः आचार्य शीलांककृत व्याख्याप्रज्ञप्ति वृत्ति है जो इस समय अनुपलब्ध है। प्रस्तुत वृत्ति के अन्त में अभयदेवसूरि ने अपनी गुरु-परम्परा का संक्षिप्त परिचय देते हुए बताया है कि १८६१६ श्लोकप्रमाण प्रस्तुत टीका पाटन (अणहिल-पाटक) में वि० सं० ११२८ में समाप्त हुई।

ज्ञाताधर्मकथाविवरण :

प्रस्तुत टीका सूत्रस्पर्शी एवं शब्दार्थप्रधान है। प्रत्येक अध्ययन की व्याख्या के अन्त में उससे फलित होनेवाला विशेष अर्थ स्पष्ट किया गया है एवं उसकी पुष्टि के लिए तदर्थगर्भित गाथाएँ भी दी गई हैं। विवरण के अन्त में आचार्य ने अपना परिचय दिया है तथा प्रस्तुत टीका के संशोधन के रूप में निर्वृतककुलीन द्रोणाचार्य का नामोल्लेख किया है। विवरण का ग्रन्थमान ३८०० श्लोक प्रमाण है। ग्रन्थ समाप्ति की तिथि वि० सं० ११२० की विजयादशमी एवं लेखन-समाप्ति का स्थान पाटन है।

उपासकदशांगवृत्ति :

यह वृत्ति भी सूत्रस्पर्शी एवं शब्दार्थ-प्रधान है। कहीं-कहीं व्याख्यान्तर का भी निर्देश है। अनेक जगह ज्ञाताधर्मकथा की व्याख्या से अर्थ समझ लेने की

सूचना दी गई है। वृत्ति का ग्रन्थमान ८१२ श्लोकप्रमाण है : वृत्ति-लेखन के स्थान, समय आदि का कोई उल्लेख नहीं है।

अन्तकृद्दशावृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति भी सूत्रस्पर्शी एवं शब्दार्थ-प्रधान है। इसमें भी अव्याख्यात पदों का अर्थ समझने के लिए अनेक जगह ज्ञाताधर्मकथा की व्याख्या का उल्लेख किया गया है। वृत्ति का ग्रन्थमान ८९९ श्लोक-प्रमाण है।

अनुत्तरौपपातिकदशावृत्ति :

यह वृत्ति भी सूत्रस्पर्शी एवं शब्दार्थग्राही है। वृत्ति का ग्रन्थमान १९२ श्लोक-प्रमाण है।

प्रश्नव्याकरणवृत्ति :

यह वृत्ति भी सूत्रस्पर्शी एवं शब्दार्थ-प्रधान है। इसका ग्रन्थमान ४६०० श्लोक-प्रमाण है। इसे संशोधित करने का श्रेय भी द्रोणाचार्य को ही है। वृत्तिकार ने प्रश्नव्याकरण सूत्र को अति दुरूह ग्रन्थ बताया है।

विपाकवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति भी शब्दार्थ-प्रधान है। इसमे अनेक पारिभाषिक शब्दों का संक्षिप्त एवं सतुलित अर्थ किया गया है। उदाहरण के लिए राष्ट्रकूट—रट्ठकूड—रट्ठउड का अर्थ इस प्रकार है : 'रट्ठउडे' त्ति राष्ट्रकूटो मण्डलोपजीवी राजनियोगिकः। वृत्ति का ग्रन्थमान ९०० श्लोकप्रमाण है।

औपपातिकवृत्ति :

यह वृत्ति भी शब्दार्थ-प्रधान है। इसमे वृत्तिकार ने सूत्रों के अनेक पाठभेद-वाचनाभेद होना स्वीकार किया है। प्रस्तुत वृत्ति में अनेक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक, सामाजिक, प्रशासनसम्बन्धी एवं शास्त्रीय शब्दों की परिभाषाएँ दी गई हैं। यत्र-तत्र पाठान्तरों एवं मतान्तरों का भी उल्लेख किया गया है। इस वृत्ति का संशोधन द्रोणाचार्य ने पाटन मे किया था। वृत्ति का ग्रन्थमान ३१२५ श्लोक-प्रमाण है।

मलयगिरिसूरिकृत टीकाएँ :

मलयगिरिसूरि एक प्रतिभासम्पन्न टीकाकार हैं। इन्होंने जैन आगमों पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी हैं। ये टीकाएँ विषय-वैशद्य एवं निरूपण कौशल दोनों दृष्टियों से सफल हैं।

मलयगिरिसूरि आचार्य हेमचन्द्र (कलिकालसर्वज्ञ) के समकालीन थे एवं उन्हीं के साथ विद्यासाधना भी की थी। आचार्य हेमचन्द्र की भाँति मलयगिरि भी आचार्य-पद के धारक थे एवं आचार्य हेमचन्द्र को अति सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखते थे। आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन होने के कारण मलयगिरिसूरि का समय वि० सं० ११५०–१२५० के आसपास मानना चाहिए।

मलयगिरिविरचित निम्नोक्त आगमिक टीकाएँ आज भी उपलब्ध हैं: १. व्याख्याप्रज्ञप्ति द्वितीयशतकवृत्ति, २. राजप्रश्नीयटीका, ३. जीवाभिगमटीका, ४. प्रज्ञापनाटीका, ५. चन्द्रप्रज्ञप्तिटीका, ६. सूर्यप्रज्ञप्तिटीका, ७. नन्दीटीका, ८. व्यवहारवृत्ति, ९. बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति, १०. आवश्यकवृत्ति, ११. पिण्डनिर्युक्ति-टीका, १२. ज्योतिष्करण्डकटीका। निम्नलिखित आगमिक टीकाएँ अनुपलब्ध हैं: १. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका, २. ओघनिर्युक्तिटीका, ३. विशेषावश्यकटीका। इनके अतिरिक्त मलयगिरि की अन्य ग्रन्थों पर सात टीकाएँ और उपलब्ध हैं एवं तीन टीकाएँ अनुपलब्ध हैं। इनका एक स्वरचित शब्दानुशासन भी उपलब्ध है। इस प्रकार आचार्य मलयगिरि ने कुल छब्बीस ग्रन्थों का निर्माण किया जिनमें पच्चीस टीकाएँ हैं। यह ग्रन्थराशि लगभग दो लाख श्लोकप्रमाण है। इस दृष्टि से मलयगिरिसूरि आगमिक टीकाकारों में सबसे आगे हैं। इनकी पाण्डित्य-पूर्ण टीकाओं की विद्वत्समाज में बड़ी प्रतिष्ठा है।

नन्दीवृत्ति :

यह वृत्ति नन्दी के मूल सूत्रों पर है। इसमें दार्शनिक वाद-विवाद की प्रचुरता है। यत्र तत्र उदाहरणरूप संस्कृत कथानक भी दिये गये हैं। प्राकृत एवं संस्कृत उद्धरण भी उपलब्ध हैं। वृत्ति के अन्त में आचार्य ने चूर्णिकार एवं आद्य टीकाकार हरिभद्र को नमस्कार किया है। वृत्ति का ग्रन्थमान ७७३२ श्लोकप्रमाण है।

प्रज्ञापनावृत्ति :

यह वृत्ति प्रज्ञापना सूत्र के मूल पदों पर है। विवेचन आवश्यकतानुसार कहीं संक्षिप्त है तो कहीं विस्तृत। अन्त में वृत्तिकार ने अपने पूर्ववर्ती टीकाकार आचार्य हरिभद्र को यह कहते हुए नमस्कार किया है कि टीकाकार हरिभद्र की जय हो जिन्होंने प्रज्ञापना सूत्र के विषम पदों का व्याख्यान किया है एवं जिनके विवरण से मैं भी एक छोटा सा टीकाकार बन सका हूँ। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रन्थमान १६००० श्लोक-प्रमाण है।

सूर्यप्रज्ञप्तिविवरण :

प्रस्तुत टीका के प्रारम्भ में आचार्य ने यह उल्लेख किया है कि भद्रबाहुसूरिकृत निर्युक्ति का नाश हो जाने के कारण मैं केवल मूल सूत्र का ही व्याख्यान करूँगा। इस टीका में लोकश्री तथा उसकी टीका, स्वकृत शब्दानुशासन, जीवाभिगम-चूर्णि, हरिभद्रसूरिकृत तत्त्वार्थ-टीका आदि का सोद्धरण उल्लेख है। इसका ग्रन्थमान ९५०० श्लोक-प्रमाण है।

ज्योतिष्करण्डकवृत्ति :

यह वृत्ति ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक के मूलपाठ पर है। इसमें आचार्य मलयगिरि ने पादलिप्तसूरिकृत प्राकृत वृत्ति का उल्लेख करते हुए उसका एक वाक्य भी उद्धृत किया है। यह वाक्य इस समय उपलब्ध ज्योतिष्करण्डक की प्राकृत वृत्ति में नहीं मिलता। सम्भवतः इस सूत्र पर एक और प्राकृत वृत्ति लिखी गई जिसका मलयगिरि ने प्रस्तुत वृत्ति में मूलटीका के नाम से उल्लेख किया है। यह भी सम्भव है कि उपलब्ध प्राकृत वृत्ति ही मूलटीका हो क्योंकि मलयगिरिकृत वृत्ति में उद्धृत मूलटीका का एक वाक्य इस समय उपलब्ध प्राकृत वृत्ति में मिलता है। यह भी सम्भव है कि पादलिप्तसूरिकृत वृत्ति ही मूलटीका हो जो कि इस समय उपलब्ध है, किन्तु इसके कुछ वाक्यों का कालक्रम से लोप हो गया हो। मलयगिरिविरचित वृत्ति का ग्रन्थमान ५००० श्लोक-प्रमाण है।

जीवाभिगमविवरण :

यह टीका तृतीय उपांग जीवाभिगम के पदों के व्याख्यान के रूप में है। इसमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों के नाम एवं उद्धरण हैं। इसी प्रकार कुछ ग्रन्थकारों का नामोल्लेख भी है। उल्लिखित ग्रन्थ ये हैं : धर्मसंग्रहणि टीका, प्रज्ञापना-टीका, प्रज्ञापना-मूलटीका, तत्त्वार्थ-मूलटीका, सिद्धप्राभृत, विशेषणवती, जीवाभिगम-मूलटीका, पंचसंग्रह, कर्मप्रकृतिसंग्रहणी, क्षेत्रसमास-टीका, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका, कर्मप्रकृतिसंग्रहणि-चूर्णि, वसुदेवचरित (वसुदेवहिण्डि), जीवाभिगम-चूर्णि, चन्द्रप्रज्ञप्ति-टीका, सूर्यप्रज्ञप्ति-टीका, देशीनाममाला, सूर्यप्रज्ञप्ति-निर्युक्ति, पंचवस्तुक, हरिभद्रकृत तत्त्वार्थ-टीका, तत्त्वार्थ भाष्य, विशेषावश्यकभाष्य-स्वोपज्ञवृत्ति, पंचसंग्रह-टीका। प्रस्तुत विवरण का ग्रन्थमान १६००० श्लोक-प्रमाण है।

व्यवहारविवरण :

प्रस्तुत विवरण सूत्र, निर्युक्ति एवं भाष्य पर है। प्रारम्भ में टीकाकार ने भगवान् नेमिनाथ, अपने गुरुदेव एवं व्यवहार-चूर्णिकार को सादर नमस्कार किया है। विवरण का ग्रन्थमान ३४६२५ श्लोक-प्रमाण है।

राजप्रश्नीयविवरण :

यह विवरण द्वितीय उपांग राजप्रश्नीय के पदों पर है। इसमें देशीनाममाला, जीवाभिगम-मूलटीका आदि के उद्धरण हैं।

अनेक स्थानों पर सूत्रों के वाचनाभेद—पाठभेद का भी उल्लेख है। टीका का ग्रन्थमान ३७०० श्लोक-प्रमाण है।

पिण्डनिर्युक्ति-वृत्ति :

यह वृत्ति पिण्डनिर्युक्ति तथा उसके भाष्य पर है। इसमें अनेक संस्कृत कथानक हैं। वृत्ति के अन्त में आचार्य ने पिण्डनिर्युक्तिकार द्वादशांगविद् भद्रबाहु तथा पिण्डनिर्युक्ति-विषमपदवृत्तिकार (आचार्य हरिभद्र एवं वीरगणि) को नमस्कार किया है। वृत्ति का ग्रन्थमान ६७०० श्लोक-प्रमाण है।

आवश्यकविवरण :

प्रस्तुत टीका आवश्यक-निर्युक्ति पर है। इसमें यत्र-तत्र विशेषावश्यकभाष्य की गाथाएं उद्धृत की गई हैं। विवेचन भाषा एवं शैली दोनों दृष्टियों से सरल तथा सुबोध है। स्थान-स्थान पर कथानक भी उद्धृत किए गए हैं। ये कथानक प्राकृत में हैं। विवरण में विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्तिकार, प्रज्ञाकरगुप्त, आवश्यक-चूर्णिकार, आवश्यक-मूलटीकाकार, आवश्यक मूलभाष्यकार, लघीयस्त्रयालंकारकार अकलंक, न्यायावतार-विवृतिकार आदि का उल्लेख है। उपलब्ध विवरण चतुर्विंशतिस्तव नामक द्वितीय अध्ययन के 'थूभं रयणविचित्तं कुंथुं सुमिणम्मि तेण कुंथुजिणो' की व्याख्या तक ही है। उसके बाद 'साम्प्रतमरः' अर्थात् 'अब अरनाथ के व्याख्यान का अधिकार है' इतना सा उल्लेख और है। इसके बाद का विवरण अनुपलब्ध है। उपलब्ध विवरण का ग्रन्थमान १८००० श्लोक-प्रमाण है।

बृहत्कल्प पीठिकावृत्ति :

यह वृत्ति भद्रबाहुकृत बृहत्कल्प-पीठिकानिर्युक्ति एवं संघदासकृत बृहत्कल्प-पीठिकाभाष्य (लघुभाष्य) पर है। आचार्य मलयगिरि पीठिकाभाष्य की गा० ६०६ पर्यन्त ही प्रस्तुत वृत्ति लिख सके। शेष वृत्ति बाद में आचार्य क्षेमकीर्ति ने

लिखी। इस तथ्य का प्रतिपादन स्वयं क्षेमकीर्ति ने अपनी वृत्ति प्रारम्भ करते समय किया है। प्रस्तुत वृत्ति के आरम्भ में आचार्य मलयगिरि ने बृहत्कल्प-लघुभाष्यकार एवं बृहत्कल्प-चूर्णिकार के प्रति कृतज्ञता स्वीकार की है। वृत्ति मे प्राकृत गाथाओं के साथ ही साथ प्राकृत कथानक भी उद्धृत किए गए हैं। मलयगिरिकृत वृत्ति का ग्रन्थमान ४६०० श्लोक-प्रमाण है।

मलधारी हेमचन्द्रसूरिकृत टीकाएँ :

मलधारी हेमचन्द्रसूरि का गृहस्थाश्रम का नाम प्रद्युम्न था। प्रद्युम्न राज-मन्त्री थे। ये अपनी चार स्त्रियों को छोड़कर मलधारी अभयदेवसूरि के पास दीक्षित हुए थे। अभयदेव की मृत्यु होने पर अर्थात् वि० सं० ११६८ मे हेमचन्द्र ने आचार्य-पद प्राप्त किया था। सम्भवतः ये वि० सं० ११८० तक इस पद पर प्रतिष्ठित रहे एवं तदनन्तर इनका देहावसान हुआ। इनके किसी भी ग्रन्थ की प्रशस्ति मे वि० सं० ११७७ के बाद का उल्लेख नहीं है। इन्होंने निम्नोक्त आगम-व्याख्याएँ लिखी हैं : आवश्यक-टिप्पण, अनुयोगद्वार-वृत्ति, नन्दि-टिप्पण और विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति। इनके अतिरिक्त निम्न कृतियाँ भी मलधारी हेमचन्द्र की ही हैं : शतक-विवरण, उपदेशमाला, उपदेशमाला-वृत्ति, जीवसमास-विवरण, भवभावना, भवभावना-विवरण। इन ग्रन्थों का परिमाण लगभग ८०००० श्लोक-प्रमाण है।

आवश्यकटिप्पण :

यह टिप्पण हरिभद्रकृत आवश्यक-वृत्ति पर है। इसे आवश्यकवृत्ति-प्रदेशव्याख्या अथवा हारिभद्रीयावश्यकवृत्ति-टिप्पणक भी कहते है। इस पर हेमचन्द्र के ही एक शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने एक और टिप्पण लिखा है जिसे प्रदेशव्याख्या-टिप्पण कहते हैं। आवश्यक-टिप्पण का ग्रन्थमान ४६०० श्लोक-प्रमाण है।

अनुयोगद्वारवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति अनुयोगद्वार के मूलपाठ पर है। इसमे सूत्रों के पदो का सरल एवं संक्षिप्त अर्थ है। यत्र-तत्र संस्कृत श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं। वृत्ति का ग्रन्थमान ५९०० श्लोक-प्रमाण है।

विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति, जिसे शिष्यहितावृत्ति भी कहते हैं, मलधारी हेमचन्द्र की बृहत्तम कृति है। इसमें विशेषावश्यकभाष्य के विषय का सरल एवं सुबोध प्रतिपादन है। दार्शनिक चर्चाओं की प्रधानता होते हुए भी वृत्ति की शैली में क्लिष्टता

का अभाव दृष्टिगोचर होता है। इस टीका के कारण विशेषावश्यकभाष्य के पठन-पाठन में अत्यधिक वृद्धि हुई है, इसमें कोई संदेह नहीं। आचार्य ने प्रारंभ में ही लिखा है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणविरचित विशेषावश्यकभाष्य पर स्वोपज्ञवृत्ति तथा कोट्याचार्यविहित विवरण के विद्यमान रहते हुए भी प्रस्तुत वृत्ति लिखी जा रही है क्योंकि ये दोनों टीकाएँ अति गंभीर वाक्यात्मक एवं संक्षिप्त होने के कारण मंद बुद्धिवाले शिष्यों के लिए कठिन सिद्ध होती हैं। वृत्ति के अन्त की प्रशस्ति में बताया गया है कि यह वृत्ति राजा जयसिंह के राज्य मे वि. स. ११७५ की कार्तिक शुक्ला पंचमी के दिन समाप्त हुई। वृत्ति का ग्रन्थमान २८००० श्लोक-प्रमाण है।

नेमिचन्द्रसूरिकृत उत्तराध्ययनवृत्ति :

नेमिचन्द्रसूरि का दूसरा नाम देवेन्द्रगणि है। इन्होने वि. सं. ११२९ में उत्तराध्ययन सूत्र पर एक टीका लिखी। इस टीका का नाम उत्तराध्ययन-सुखबोधावृत्ति है। यह वृत्ति वादिवेताल शान्तिसूरिविहित उत्तराध्ययन-शिष्यहितावृत्ति के आधार पर लिखी गई है। वृत्ति की सरलता एवं सुबोधता को दृष्टि में रखते हुए इसका नाम सुखबोधा रखा गया है। इसमें उदाहरणरूप अनेक प्राकृत कथानक है। वृत्ति के अन्त की प्रशस्ति में उल्लेख है कि नेमिचन्द्राचार्य बृहद्गच्छीय उद्योतनाचार्य के शिष्य उपाध्याय आम्रदेव के शिष्य हैं। इनके गुरु-भ्राता का नाम मुनिचन्द्रसूरि है जिनकी प्रेरणा ही प्रस्तुत वृत्ति की रचना का मुख्य कारण है। वृत्ति-रचना का स्थान अणहिलपाटक नगर (पाटन) के सेठ दोहडि का घर है। वृत्ति की समाप्ति का समय वि. सं. ११२९ है। इसका ग्रन्थमान १२००० श्लोक-प्रमाण है।

श्रीचन्द्रसूरिकृत टीकाएँ :

श्रीचन्द्रसूरि शीलभद्रसूरि के शिष्य है। इन्होंने निम्नांकित ग्रन्थो पर टीकाएँ लिखी हैं : निशीथ (बीसवाँ उद्देशक), श्रमणोपासक प्रतिक्रमण (आवश्यक), नन्दी, जीतकल्प, निरयावलिकादि अन्तिम पाँच उपांग।

निशीथचूर्णि-दुर्गपदव्याख्या :

इसमें निशीथचूर्णि के बीसवे उद्देशक के कठिन अंशों की सुबोध व्याख्या की गई है। व्याख्या का अधिक अंश विविध प्रकार के मासों के भंग, दिनों की गिनती आदि से सम्बन्धित होने के कारण कुछ नीरस है। अन्त में व्याख्याकार ने अपना परिचय देते हुए अपने को शीलभद्रसूरि का शिष्य बताया है।

प्रस्तुत व्याख्या वि. सं. ११७४ की माघ शुक्ला द्वादशी रविवार के दिन समाप्त हुई।

निरयावलिकावृत्ति :

यह वृत्ति अन्तिम पाँच उपांगरूप निरयावलिका सूत्र पर है। वृत्ति संक्षिप्त एवं शब्दार्थ-प्रधान है। इसका ग्रन्थमान ६०० श्लोक-प्रमाण है।

जीतकल्पबृहच्चूर्णि-विषमपदव्याख्या :

प्रस्तुत व्याख्या सिद्धसेनसूरिकृत जीतकल्प-बृहच्चूर्णि के विषम पदों के व्याख्यान के रूप में है। इसमे यत्र-तत्र प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। अन्त मे व्याख्याकार ने अपना नामोल्लेख करते हुए बताया है कि प्रस्तुत व्याख्या (वि.) सं. १२२७ के महावीर-जन्मकल्याण के दिन पूर्ण हुई। व्याख्या का ग्रन्थमान ११२० श्लोक-प्रमाण है।

उपर्युक्त टीकाकारों के अतिरिक्त और भी ऐसे अनेक आचार्य हैं जिन्होंने आगमों पर छोटी या बड़ी टीकाएँ लिखी हैं। इस प्रकार की कुछ प्रकाशित टीकाओं का परिचय आगे दिया जाता है।

आचार्य क्षेमकीर्तिकृत बृहत्कल्पवृत्ति :

यह वृत्ति आचार्य मलयगिरिकृत अपूर्ण वृत्ति की पूर्ति के रूप में है। शैली आदि की दृष्टि से प्रस्तुत वृत्ति मलयगिरिकृत वृत्ति की ही कोटि की है। आचार्य क्षेमकीर्ति के गुरु का नाम विजयचन्द्रसूरि है। वृत्ति का समाप्ति-काल ज्येष्ठ शुक्ला दशमी वि. सं. १३३२ एव ग्रंथमान ४२६०० श्लोक-प्रमाण है।

माणिक्यशेखरसूरिकृत आवश्यकनिर्युक्ति-दीपिका :

यह टीका आवश्यकनिर्युक्ति का शब्दार्थ एवं भावार्थ समझने के लिए बहुत उपयोगी है। टीका के अन्त मे बताया गया है कि दीपिकाकार माणिक्यशेखर अंचलगच्छीय महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य मेरुतुंगसूरि के शिष्य हैं। प्रस्तुत दीपिका के अतिरिक्त निम्नलिखित दीपिकाएँ भी इन्हीं की लिखी हुई हैं: **दशवैकालिकनिर्युक्ति-दीपिका, पिण्डनिर्युक्ति-दीपिका, ओघनिर्युक्ति-दीपिका, उत्तराध्ययन-दीपिका, आचार-दीपिका।** माणिक्यशेखरसूरि विक्रम की पंद्रहवीं शती मे विद्यमान थे।

अजितदेवसूरिकृत आचारांगदीपिका :

यह टीका चन्द्रगच्छीय महेश्वरसूरि के शिष्य अजितदेवसूरि ने वि. सं. १६२९ के आसपास लिखी है। इसका आधार शीलांकाचार्यकृत आचारांग-विवरण है। टीका सरल, संक्षिप्त एवं सुबोध है।

विजयविमलगणिविहित गच्छाचारवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति तपागच्छीय आनन्दविमलसूरि के शिष्य विजयविमलगणि ने वि. स. १६३४ मे लिखी है। इसका ग्रन्थमान ५८५० श्लोक प्रमाण है। वृत्ति विस्तृत है एव प्राकृत कथानको से युक्त है।

विजयविमलगणिविहित तन्दुलवैचारिकवृत्ति :

यह वृत्ति उपर्युक्त विजयविमलगणि ने गुणसौभाग्यगणि मे प्राप्त तन्दुलवैचारिक प्रकीर्णक के ज्ञान के आधार पर लिखी है। वृत्ति शब्दार्थ-प्रधान है। इसमे कहीं कहीं अन्य ग्रंथो के उद्धरण भी हैं।

वानरर्षिकृत गच्छाचारटीका :

प्रस्तुत टीका के प्रणेता वानरर्षि तपागच्छीय आनन्दविमलसूरि के शिष्यानुशिष्य हैं। टीका संक्षिप्त एवं सरल है। टीकाकार ने इसका आधार हर्षकुल से प्राप्त गच्छाचार प्रकीर्णक का ज्ञान माना है।

भावविजयगणिकृत उत्तराध्ययनव्याख्या :

प्रस्तुत व्याख्या तपागच्छीय मुनिविमलसूरि के शिष्य भावविजयगणि ने वि. स. १६८९ मे लिखी है। व्याख्या कथानकों से भरपूर है। सभी कथानक पद्यनिबद्ध हैं। व्याख्या का ग्रन्थमान १६२५५ श्लोक-प्रमाण है।

समयसुन्दरसूरिसंदृब्ध दशवैकालिकदीपिका :

प्रस्तुत दीपिका के प्रणेता समयसुन्दरसूरि खरतरगच्छीय सकलचन्द्रसूरि के शिष्य हैं। दीपिका शब्दार्थ-प्रधान है। इसका ग्रन्थमान ३४५० श्लोक प्रमाण है। यह वि. स. १६९१ मे स्तम्भतीर्थ (खभात) मे पूर्ण हुई थी।

ज्ञानविमलसूरिग्रथित प्रश्नव्याकरण सुखबोधिकावृत्ति :

यह वृत्ति विस्तार में अभयदेवसूरिकृत प्रश्नव्याकरण-वृत्ति मे बड़ी है। वृत्ति के प्रारभ मे आचार्य ने नवांगवृत्तिकार अभयदेवसूरि-विरचित प्रश्नव्याकरण-वृत्ति की कृतज्ञता स्वीकार की है। वृत्तिकार ज्ञानविमलसूरि का दूसरा नाम नयविमलगणि है। ये तपागच्छीय धीरविमलगणि के शिष्य है। प्रस्तुत वृत्ति

के लेखन में कवि सुखसागर ने विशेष सहायता दी थी। वृत्ति का ग्रन्थमान ७५०० श्लोक-प्रमाण है। इसका रचना-काल वि. सं. १७९३ के कुछ वर्ष पूर्व है।

लक्ष्मीवल्लभगणिविरचित उत्तराध्ययनदीपिका :

दीपिकाकार लक्ष्मीवल्लभगणि खरतरगच्छीय लक्ष्मीकीर्तिगणि के शिष्य हैं। दीपिका सरल एवं सुबोध है। इसमें दृष्टान्तरूप अनेक संस्कृत आख्यान हैं।

दानशेखरसूरिसंकलित भगवती-विशेषपदव्याख्या :

यह व्याख्या प्राचीन भगवती-वृत्ति के आधार पर लिखी गई है। इसमें भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र के कठिन—दुर्ग पदों का विवेचन किया गया है। व्याख्याकार दानशेखरसूरि जिनमाणिक्यगणि के शिष्य अनन्तहंसगणि के शिष्य है। प्रस्तुत व्याख्या तपागच्छनायक लक्ष्मीसागरसूरि के शिष्य सुमतिसाधुसूरि के शिष्य हेमविमलसूरि के समय में संकलित की गई थी।

संघविजयगणिकृत कल्पसूत्र-कल्पप्रदीपिका :

कल्पसूत्र की प्रस्तुत वृत्ति विजयसेनसूरि के शिष्य संघविजयगणि ने वि. सं. १६७४ में लिखी। वि. सं. १६८१ में कल्याणविजयसूरि के शिष्य धनविजयगणि ने इसका संशोधन किया। वृत्ति का ग्रन्थमान ३२५० श्लोक-प्रमाण है।

विनयविजयोपाध्यायविहित कल्पसूत्र-सुबोधिका :

यह वृत्ति तपागच्छीय कीर्तिविजयगणि के शिष्य विनयविजय उपाध्याय ने वि. सं. १६९६ मे लिखी तथा भावविजय ने संशोधित की। इसमे कहीं-कहीं धर्मसागरगणिकृत किरणावली एव जयविजयगणिकृत दीपिका का खण्डन किया गया है। टीका का ग्रन्थमान ५४०० श्लोक-प्रमाण है।

समयसुन्दरगणिविरचित कल्पसूत्र-कल्पलता :

यह व्याख्या उपर्युक्त दशवैकालिक-दीपिकाकार खरतरगच्छीय समयसुन्दरगणि की कृति है। इसका रचना-काल वि. सं. १६९९ के आसपास है। वृत्ति का संशोधन करनेवाले हर्षनन्दन हैं। इसका ग्रन्थमान ७७०० श्लोक-प्रमाण है।

शान्तिसागरगणिविहब्ध कल्पसूत्र-कल्पकौमुदी :

यह वृत्ति तपागच्छीय धर्मसागरगणि के प्रशिष्य एवं श्रुतसागरगणि के शिष्य शान्तिसागरगणि ने वि० सं० १७०७ में लिखी। वृत्ति का ग्रंथमान ३७०७ श्लोक-प्रमाण है।

पृथ्वीचन्द्रसूरिप्रणीत कल्पसूत्र-टिप्पणक :

प्रस्तुत टिप्पणक के प्रणेता पृथ्वीचन्द्रसूरि देवसेनगणि के शिष्य हैं। देवसेनगणि के गुरु का नाम यशोभद्रसूरि है। यशोभद्रसूरि राजा शाकम्भरी को प्रतिबोध देने वाले आचार्य धर्मघोष के शिष्य हैं। धर्मघोषसूरि के गुरु चन्द्रकुलीन शीलभद्रसूरि हैं।

लोकभाषाओं में निर्मित व्याख्याएँ :

आगमों की संस्कृत व्याख्याओं की बहुलता होते हुए भी बाद के आचार्यों ने जनहित की दृष्टि से लोकभाषाओं में आगमों की व्याख्याएँ लिखना आवश्यक समझा। परिणामतः तत्कालीन प्राचीन गुजराती में कुछ आचार्यों ने आगमों पर सरल एवं सुबोध बालावबोध लिखे। इस प्रकार के बालावबोध लिखने वालों में विक्रम की सोलहवीं शती में विद्यमान पार्श्वचन्द्रगणि एवं अठारहवीं शती में विद्यमान लोंकागच्छीय (स्थानकवासी) मुनि धर्मसिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मुनि धर्मसिंह ने भगवती, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति तथा सूर्यप्रज्ञप्ति को छोड़ स्थानकवासी-सम्मत शेष २७ आगमों पर बालावबोध—टबे लिखे हैं। हिन्दी व्याख्याओं में मुनि हस्तिमलकृत दशवैकालिक-सौभाग्यचन्द्रिका एवं नन्दीसूत्र-भाषाटीका, उपाध्याय आत्मारामकृत दशाश्रुतस्कन्ध-गणपतिगुण-प्रकाशिका, दशवैकालिक-आत्मज्ञानप्रकाशिका, उत्तराध्ययन-आत्मज्ञानप्रकाशिका, उपाध्याय अमरमुनिकृत आवश्यक-विवेचन (श्रमणसूत्र) आदि उल्लेखनीय हैं।

आगमिक व्याख्याओं में सामग्री-वैविध्य :

जैन आगमों की जो व्याख्याएँ उपलब्ध हैं वे केवल शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं हैं। उनमें आचारशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, नागरिकशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषयों से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री विद्यमान है।

आचारशास्त्र :

आवश्यक-निर्युक्ति का सामायिकसम्बन्धी अधिकांश विवेचन आचारशास्त्र-विषयक है। इसी प्रकार अन्य निर्युक्तियों में भी एतद्विषयक सामग्री की प्रचुरता है। विशेषावश्यक भाष्य में सामायिक आदि पाँच प्रकार के चारित्र का विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया गया है। जीतकल्प भाष्य, बृहत्कल्प-लघुभाष्य, बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य एवं व्यवहार-भाष्य तो आचार-सम्बन्धी विधि-विधानों से भरपूर है। पंचकल्प महाभाष्य का कल्पविषयक वर्णन भी जैन आचारशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। बृहत्कल्प लघुभाष्य में हिंसा-अहिंसा के स्वरूप की विशेष चर्चा है।

इसमे तथा अन्य भाष्यों में जिनकल्प-स्थविरकल्प की विविध अवस्थाओं का विशद वर्णन है।

दर्शनशास्त्र :

सूत्रकृतांग-निर्युक्ति में क्रियावादी, अक्रियावादी आदि ३६३ मतान्तरों का उल्लेख है। विशेषावश्यकभाष्य में प्रतिपादित गणधरवाद और निह्नववाद दर्शनशास्त्र की विविध दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। आवश्यक-चूर्णि में आजीवक, तापस, परिव्राजक, तच्चंणिय (तत्क्षणिक), बोटिक आदि अनेक मत-मतान्तरों का वर्णन है। इसी प्रकार अन्य व्याख्याओं में भी थोड़ी-बहुत दार्शनिक सामग्री मिलती है। संस्कृत टीकाओं में इस प्रकार की सामग्री की प्रचुरता है।

ज्ञानवाद :

विशेषावश्यकभाष्य में ज्ञानपंचक—मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवल-ज्ञान के स्वरूप पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार इसमें केवलज्ञान और केवलदर्शन के भेद और अभेद का भी युक्तिपुरस्सर विचार किया गया है। बृहत्कल्प-लघुभाष्य के प्रारंभ में भी ज्ञानपंचक की विशेष चर्चा है। नन्दी-चूर्णि में भी इसी विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार आचार्य हरिभद्रकृत नन्दीवृत्ति में भी ज्ञानवाद पर पर्याप्त सामग्री है।

प्रमाणशास्त्र :

दशवैकालिक-निर्युक्ति में अनुमान के प्रतिज्ञा आदि दस प्रकार के अवयवों का निर्देश है। इसी विषय का आचार्य हरिभद्र ने अपनी दशवैकालिक-वृत्ति मे विस्तार से प्रतिपादन किया है। प्रमाणशास्त्र-सम्बन्धी चर्चा के लिए आचार्य शीलांक एवं मलयगिरि की टीकाएँ विशेष द्रष्टव्य हैं।

कर्मवाद :

विशेषावश्यकभाष्य मे सामायिकनिर्गम की चर्चा के प्रसंग में उपशम और क्षपक श्रेणी का तथा सिद्ध-नमस्कार का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने कर्मस्थिति, समुद्घात, शैलेशी-अवस्था आदि का वर्णन किया है। बृहत्कल्प-लघुभाष्य के तृतीय उद्देश में हिंसा के स्वरूप-वर्णन के प्रसंग पर रागादि की तीव्रता और तीव्र कर्म-बन्ध, हिंसक के ज्ञान एवं अज्ञान के कारण कर्मबन्ध की न्यूनाधिकता, अधिकरण-वैविध्य से कर्म-वैविध्य आदि का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

मनोविज्ञान और योगशास्त्र :

विशेषावश्यकभाष्य के सिद्ध-नमस्कार प्रकरण मे ध्यान का पर्याप्त विवेचन है। व्यवहार-भाष्य के द्वितीय उद्देश मे भाष्यकार ने क्षिप्तचित्त तथा दीप्तचित्त साधुओं की चिकित्सा की मनोवैज्ञानिक विधि बताई है। इसी उद्देश मे क्षिप्तचित्त एव दीप्तचित्त होने के कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। पंचकल्प-महाभाष्य मे प्रव्रज्या की योग्यता-अयोग्यता का विचार करते हुए भाष्यकार ने व्यक्तित्व के बीस भेदों का वर्णन किया है। इसी प्रकार निशीथ-विशेषचूर्णि मे व्यक्तित्व के अड़तालीस भेदों का स्वरूप बताया गया है : अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्रियाँ और दस प्रकार के नपुंसक।

कामविज्ञान :

दशवैकालिक निर्युक्ति मे चौदह प्रकार के संप्राप्तकाम और दस प्रकार के असप्राप्त काम का उल्लेख है। बृहत्कल्प लघुभाष्य के तृतीय उद्देश मे पुरुष-ससर्ग के अभाव मे गर्भाधान होने के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। इसी भाष्य के चतुर्थ उद्देश मे हस्तकर्म, मैथुन आदि के स्वरूप का वर्णन है। निशीथ-विशेषचूर्णि के प्रथम उद्देश मे इसी विषय पर विशेष प्रकाश डाला गया है। इसी चूर्णि के षष्ठ उद्देश मे कामियों के प्रेमपत्र-लेखन का विवेचन किया गया है तथा सप्तम उद्देश मे विविध प्रकार की कामक्रीडाओं पर प्रकाश डाला गया है।

समाजशास्त्र :

आवश्यक निर्युक्ति मे प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। उस समय के आहार, शिल्प, कर्म, लेखन, मानदण्ड, पोत, इषुशास्त्र, उपासना, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, यज्ञ, उत्सव, विवाह आदि चालीस सामाजिक विषयों का उल्लेख किया गया है। आचाराग-निर्युक्ति मे मनुष्य-जाति के सात वर्णों एव नौ वर्णान्तरों का उल्लेख है। बृहत्कल्प-लघुभाष्य मे पॉच प्रकार के सार्थ, आठ प्रकार के सार्थवाह, आठ प्रकार के सार्थ-व्यवस्थापक, छः प्रकार की आर्यजातियाँ, छः प्रकार के आर्यकुल आदि समाजशास्त्र मे सम्बन्धित अनेक प्रकार के विषयों का वर्णन है। आवश्यक-चूर्णि मे आवश्यक निर्युक्ति का ही अनुसरण करते हुए ऋषभदेव के जन्म, विवाह, अपत्य आदि के वर्णन के साथ-साथ तत्कालीन शिल्प, कर्म, लेख आदि पर विशेष प्रकाश डाला गया है। निशीथ-विशेषचूर्णि के नवम उद्देश मे तीन

प्रकार के अन्तःपुरों का वर्णन है। इसी चूर्णि के सोलहवें उद्देश में जुगुप्सित कुलों का वर्णन किया गया है।

नागरिकशास्त्र :

बृहत्कल्प-लघुभाष्य के प्रथम उद्देश में ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी आदि का स्वरूप बताया गया है। शीलांकाचार्यकृत आचारांग-विवरण के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन के षष्ठ उद्देशक में भी इसी प्रकार का वर्णन है।

भूगोल :

आवश्यक-निर्युक्ति में चौबीस तीर्थंकरों के भिक्षालाभ के प्रसंग से हस्तिनापुर आदि चौबीस नगरों के नाम गिनाए गए हैं। पंचकल्प-महाभाष्य में क्षेत्रकल्प की चर्चा करते हुए भाष्यकार ने साढ़े पच्चीस आर्यदेशों एवं उनकी राजधानियों का नामोल्लेख किया है। निशीथ-विशेषचूर्णि के सोलहवे उद्देश में आर्यदेश की सीमा इस प्रकार बताई गई है : पूर्व में मगध, पश्चिम में स्थूणा, उत्तर में कुणाला और दक्षिण में कौशाम्बी।

राजनीति :

व्यवहार-भाष्य के प्रथम उद्देश में राजा, युवराज, महत्तरक, अमात्य, कुमार, नियतिक, रूपयक्ष आदि के स्वरूप एवं कार्यों पर प्रकाश डाला गया है।

ऐतिहासिक चरित्र :

आवश्यक-निर्युक्ति मे ऋषभदेव, महावीर, आर्य रक्षित, सप्त निह्नव, नागदत्त, महागिरि, स्थूलभद्र, धर्मघोष, सुरेन्द्रदत्त, धन्वन्तरि वैद्य, करकंडु, पुष्पभूति आदि के चरित्र पर संक्षिप्त सामग्री उपलब्ध है। विशेषावश्यकभाष्य मे आर्य वज्र, आर्य रक्षित, पुष्पमित्र, जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढभूति, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त, गोष्ठामाहिल, शिवभूति आदि अनेक ऐतिहासिक पुरुषो के जीवन-चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। आवश्यकचूर्णि मे भगवान् ऋषभदेव एवं महावीर, भरत और बाहुबलि, गोशालक, चन्दनबाला, आनन्द, कामदेव, शिवराजर्षि, गगदत्त, इलापुत्र, मेतार्य, कालिकाचार्य, चिलातिपुत्र, धर्मरुचि, तेतलीपुत्र, अभयकुमार, श्रेणिक, चेल्लणा, सुलसा, कोणिक, चेटक, उदायी, महापद्मनन्द, शकटाल, वररुचि, स्थूलभद्र आदि अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बन्धित आख्यान है।

संस्कृति एवं सभ्यता :

दशवैकालिक-निर्युक्ति में धान्य एवं रत्न की चौबीस जातियाँ गिनाई गई हैं। बृहत्कल्प-लघुभाष्य के द्वितीय उद्देश में जांगिक आदि पाँच प्रकार के वस्त्र एवं और्णिक आदि पाँच प्रकार के रजोहरण का स्वरूप बताया गया है। व्यवहार-भाष्य के प्रथम उद्देश में सत्रह प्रकार के धान्य-भाण्डारों का वर्णन है। निशीथ-विशेषचूर्णि के प्रथम उद्देश में दंड, विदंड, लाठी, विलट्ठी आदि का अन्तर बताया गया है। इसी चूर्णि के सप्तम उद्देश में कुंडल, गुण, मणि, तुडिय, तिसरिय, बालंभा, पलंबा, हार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, पट्ट, मुकुट आदि विविध प्रकार के आभरणों का स्वरूप-वर्णन है। अष्टम उद्देश में उद्यानगृह, निर्याणगृह, अट्ट, अट्टालक, शून्यगृह, भिन्नगृह, तृणगृह, गोगृह आदि अनेक प्रकार के गृहों एवं शालाओं का स्वरूप बताया गया है। नवम उद्देश में कोष्ठागार, भांडागार, पानागार, क्षीरगृह, गंजशाला, महानस-शाला आदि के स्वरूप का वर्णन है।

निर्युक्तियाँ

प्रथम प्रकरण

निर्युक्तियाँ और निर्युक्तिकार

मूल ग्रंथों के अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए उन पर व्याख्यात्मक साहित्य लिखने की परम्परा प्राचीन भारतीय साहित्यकारों मे विशेष रूप से विद्यमान रही है। वे मूल ग्रंथ के प्रत्येक शब्द की विवेचना एव आलोचना करते तथा उस पर एक बड़ी या छोटी टीका लिखते। विशेषतः पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की ओर अधिक ध्यान देते। जिस प्रकार वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिए यास्क महर्षि ने निघण्टुभाष्यरूप निरुक्त लिखा, उसी प्रकार जैन आगमों के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिए आचार्य भद्रबाहु ने प्राकृत पद्य में निर्युक्तियों की रचना की। निर्युक्ति की व्याख्या-पद्धति बहुत प्राचीन है। अनुयोगद्वार सूत्र मे श्रुत, स्कन्ध आदि पदों का निर्युक्ति-पद्धति से अर्थात् निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया गया है।[1] यास्क महर्षि के निरुक्त मे जिस प्रकार सर्वप्रथम निरुक्त-उपोद्घात है उसी प्रकार जैन निर्युक्तियों में भी प्रारंभ में उपोद्घात मिलता है।

दस निर्युक्तियाँ :

आचार्य भद्रबाहु ने निम्नांकित ग्रंथों पर निर्युक्तियाँ लिखी हैं : १. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४. आचारांग, ५. सूत्रकृतांग, ६. दशाश्रुतस्कन्ध, ७. बृहत्कल्प, ८. व्यवहार, ९. सूर्यप्रज्ञप्ति और १०. ऋषिभाषित।

इनमे से अन्तिम दो निर्युक्तियाँ उपलब्ध नहीं हैं। शेष आठ उपलब्ध हैं। इन निर्युक्तियो में आचार्य ने जैन न्याय-सम्मत निक्षेप-पद्धति का आधार लिया है। निक्षेप-पद्धति में किसी एक शब्द के समस्त संभावित अर्थों का निर्देश करके प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने अपनी निर्युक्तियों मे प्रस्तुत अर्थ के निश्चय के साथ ही साथ तत्सम्बद्ध अन्य बातों का भी निर्देश किया है। 'निर्युक्ति' शब्द की व्याख्या करते हुए वे स्वयं कहते हैं : एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु कौन-सा अर्थ किस प्रसंग के लिए उपयुक्त होता है, भगवान्

१. देखिए—अनुयोगद्वार, पृ० १८ और आगे

२. 'कामा पुव्वुद्दिट्ठा' (उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा. २०८) मे यह सूचित किया गया है कि काम के विषय मे पहले विवेचन हो चुका है। यह विवेचन दशवैकालिकनिर्युक्ति की गा. १६१–१६३ में है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है।

३. आवश्यकनिर्युक्ति के प्रारंभ में दस निर्युक्तियों की रचना करने की प्रतिज्ञा की गई है। इसमे यह स्वतः सिद्ध है कि सर्वप्रथम आवश्यकनिर्युक्ति लिखी गई। आवश्यकनिर्युक्ति की निह्नववाद से सम्बन्धित प्रायः सभी गाथाएँ ज्यों की त्यों उत्तराध्ययननिर्युक्ति मे ली गई हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति की रचना आवश्यकनिर्युक्ति के बाद ही हुई।

४. आचारांगनिर्युक्ति (गा. ५) मे कहा गया है कि 'आचार' और 'अंग' के निक्षेप का कथन पहले हो चुका है। इससे दशवैकालिक और उत्तराध्ययन की निर्युक्तियों की रचना आचारांगनिर्युक्ति के पूर्व सिद्ध होती है क्योंकि दशवैकालिक के 'क्षुल्लिकाचार' अध्ययन की निर्युक्ति मे 'आचार' की तथा उत्तराध्ययन के 'चतुरंग' अध्ययन की निर्युक्ति मे 'अंग' शब्द की जो व्याख्या की गई है उसी का उपर्युक्त उल्लेख है।

५. आचारांगनिर्युक्ति (गा. ३४६) मे लिखा है कि 'मोक्ष' शब्द की निर्युक्ति के अनुसार ही 'विमुक्ति' शब्द की व्याख्या है। यह कथन उत्तराध्ययन के 'मोक्ष' शब्द की निर्युक्ति से सम्बन्ध रखता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचारांगनिर्युक्ति से पहले उत्तराध्ययननिर्युक्ति की रचना हुई।

६. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति (गा. ९९) मे कहा गया है कि 'धर्म' शब्द का निक्षेप पहले हो चुका है। यह कथन दशवैकालिकनिर्युक्ति (गा. ३९) को लक्ष्य करके है। इससे यह सिद्ध होता है कि दशवैकालिकनिर्युक्ति की रचना सूत्रकृतांगनिर्युक्ति के पूर्व हुई।

७. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति (गा. १२७) मे कहा गया है कि 'ग्रंथ' का निक्षेप पहले हो चुका है। यह कथन उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गा. २४०) को अनुलक्षित करके है। इससे यही सिद्ध होता है कि सूत्रकृतांगनिर्युक्ति के पूर्व उत्तराध्ययननिर्युक्ति की रचना हुई।

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु :

भद्रबाहु नाम के एक से अधिक आचार्य हुए हैं। श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु नेपाल मे योगसाधना के लिए गए थे,

के उपदेश के समय कौन-सा अर्थ किस शब्द से सम्बद्ध था, इत्यादि बातों को ध्यान में रखते हुए ठीक-ठीक अर्थ का निर्णय करना और उस अर्थ का सूत्र के शब्दों से संबन्ध स्थापित करना—यही निर्युक्ति का प्रयोजन है।[१]

निर्युक्तियों की रचना प्रारंभ करते हुए आचार्य भद्रबाहु ने सर्वप्रथम पाँच प्रकार के ज्ञान का विवेचन किया है। बाद के टीकाकारों ने ज्ञान को मंगलरूप मानकर यह सिद्ध किया है कि इन गाथाओं से मंगल का प्रयोजन भी सिद्ध होता है। आगे आचार्य ने यह बताया है कि इन पाँच ज्ञानों में से प्रस्तुत अधिकार श्रुतज्ञान का ही है क्योंकि यही ज्ञान ऐसा है जो प्रदीपवत् स्व-पर-प्रकाशक है। यही कारण है कि श्रुतज्ञान के आधार से ही मति आदि अन्य ज्ञानों का एवं स्वयं श्रुत का भी निरूपण हो सकता है। इसके बाद निर्युक्तिकार ने सामान्यरूप से सभी तीर्थंकरों को नमस्कार किया है। फिर वर्तमान तीर्थ के प्रणेता—प्रवर्तक भगवान् महावीर को नमस्कार किया है। तदुपरान्त महावीर के प्रमुख शिष्य एकादश गणधरों को नमस्कार करके गुरुपरंपरारूप आचार्यवंश और अध्यापक-परंपरारूप उपाध्यायवंश को नमस्कार किया है। इसके बाद आचार्य ने यह प्रतिज्ञा की है कि इन सबने श्रुत का जो अर्थ बताया है उसकी मैं निर्युक्ति अर्थात् श्रुत के साथ अर्थ की योजना करता हूँ। इसके लिए निम्नांकित श्रुतग्रंथों को लेता हूँ: १. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४. आचारांग, ५. सूत्रकृतांग, ६. दशाश्रुतस्कन्ध, ७. कल्प (बृहत्कल्प), ८. व्यवहार, ९. सूर्यप्रज्ञप्ति, १०. ऋषिभाषित।[२]

आचार्य भद्रबाहु की इन दस निर्युक्तियों का रचना-क्रम भी वही होना चाहिए जिस क्रम से निर्युक्ति-रचना की प्रतिज्ञा की गई है। इस कथन की पुष्टि के लिए कुछ प्रमाण[३] नीचे दिये जाते हैं:—

१. उत्तराध्ययन-निर्युक्ति में विनय का व्याख्यान करते समय लिखा है कि इसके विषय में पहले कह दिया गया है।[४] यह कथन दशवैकालिक के 'विनय-समाधि' नामक अध्ययन की निर्युक्ति को लक्ष्य में रखकर किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन-निर्युक्ति के पूर्व दशवैकालिक-निर्युक्ति की रचना हुई।

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ८८. २. वही, गा. ७९–८६. ३. गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ० १५–६. ४. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा. २९.

जबकि दिगम्बर-मान्यता के अनुसार यही भद्रबाहु नेपाल मे न जाकर दक्षिण में गए थे। इन दो घटनाओ से यह अनुमान हो सकता है कि ये दोनों भद्रबाहु भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु इन दोनों से भिन्न एक तीसरे ही व्यक्ति हैं। ये चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु न होकर विक्रम की छठी शताब्दी में विद्यमान एक अन्य ही भद्रबाहु है जो प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के सहोदर थे।

जैन सम्प्रदाय की सामान्यतया यही धारणा है कि छेदसूत्रकार तथा निर्युक्तिकार दोनों भद्रबाहु एक ही हैं जो चतुर्दशपूर्वधर स्थविर आर्य भद्रबाहु के नाम से प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः छेदसूत्रकार चतुर्दशपूर्वधर स्थविर आर्य भद्रबाहु और निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु दो भिन्न व्यक्ति हैं।[1]

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के प्रारभ में निर्युक्तिकार कहते हैं कि प्राचीन गोत्रीय, अंतिम श्रुतकेवली, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार के प्रणेता महर्षि भद्रबाहु को मैं नमस्कार करता हूँ।[2] इसी प्रकार का उल्लेख पंचकल्पनिर्युक्ति के प्रारंभ मे भी है। इन उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि छेदसूत्रों के कर्ता चतुर्दशपूर्वधर अंतिम श्रुतकेवली स्थविर आर्य भद्रबाहुस्वामी हैं।

छेदसूत्र तथा निर्युक्तियाँ एक ही भद्रबाहु की कृतियाँ हैं, इस मान्यता के समर्थन के लिए भी कुछ प्रमाण मिलते हैं। इनमे सबसे प्राचीन प्रमाण आचार्य शीलाककृत आचाराग टीका मे मिलता है।[3] इसका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा नौवीं शताब्दी का प्रारभ है। इसमें यही बताया गया है कि निर्युक्तिकार चतुर्दशपूर्वविद् भद्रबाहुस्वामी हैं।

निर्युक्तिकार चतुर्दशपूर्वविद् भद्रबाहुस्वामी हैं, इस मान्यता को बाधित करने वाले प्रमाण अधिक सबल एवं तर्कपूर्ण हैं। इन प्रमाणों की प्रामाणिकता का सबसे बड़ा आधार तो यह है कि स्वयं निर्युक्तिकार अपने को चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहुस्वामी से भिन्न बताते हैं। दूसरी बात यह है कि ये प्रमाण अधिक प्राचीन एवं प्रबल हैं। निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी ही यदि चतुर्दशपूर्वविद् भद्रबाहुस्वामी हो तो उनकी बनाई हुई निर्युक्तियों मे निम्नलिखित बातें नहीं मिलनी चाहिए :—

---

१. महावीर जैन विद्यालय : रजत महोत्सव ग्रंथ, पृ० १८५.

२. वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिमसगलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे ॥ १ ॥

३. निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्योऽतस्तान्।
—आचारांगटीका, पृ० ४.

१. आवश्यकनिर्युक्ति की ७६४ से ७७६ तक की गाथाओं में स्थविर भद्रगुप्त, आर्य सिंहगिरि, वज्रस्वामी, तोसलिपुत्राचार्य, आर्य रक्षित, फल्गुरक्षित आदि अर्वाचीन आचार्यों से सम्बन्धित प्रसंगों का वर्णन।

२. पिण्डनिर्युक्ति गाथा ४९८ में पादलिप्ताचार्य का प्रसंग तथा ५०३ से ५०५ तक की गाथाओं में वज्रस्वामी के मामा आर्य समितसूरि का सम्बन्ध, ब्रह्मदीपिक तापसों की प्रव्रज्या और ब्रह्मदीपिका शाखा की उत्पत्ति का वर्णन।

३. उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा १२० में कालिकाचार्य की कथा।

४. आवश्यकनिर्युक्ति की ७६४ से ७६९ तक की गाथाओं में दशपूर्वधर वज्रस्वामी को नमस्कार।

५. उत्तराध्ययन सूत्र के अकाममरणीय नामक अध्ययन से सम्बन्धित एक निर्युक्ति-गाथा है जिसका अर्थ यों है : हमने मरणविभक्ति से सम्बन्धित सभी द्वारों का अनुक्रम से वर्णन किया। पदार्थों का सम्पूर्ण एवं विशद वर्णन तो जिन अर्थात् केवलज्ञानी और चतुर्दशपूर्वविद् ही कर सकते हैं।[1] यदि निर्युक्तिकार स्वयं चतुर्दशपूर्वविद् होते तो अपने मुख से ऐसी बात न कहते।

६. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के प्रारंभ में ही आचार्य लिखते हैं : 'प्राचीन गोत्रीय, अंतिम श्रुतकेवली और दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प तथा व्यवहार के प्रणेता महर्षि भद्रबाहु को मैं नमस्कार करता हूँ।' इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि निर्युक्तिकार स्वयं चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहुस्वामी होते तो इस प्रकार छेदसूत्रकार को नमस्कार न करते। दूसरे शब्दों में यदि छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार एक ही भद्रबाहु होते तो दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के प्रारंभ में छेदसूत्रकार भद्रबाहु को नमस्कार न किया जाता क्योंकि कोई भी समझदार ग्रंथकार अपने आपको नमस्कार नहीं करता है।

उपर्युक्त उल्लेखों से यही बात सिद्ध होती है कि छेदसूत्रकार चतुर्दशपूर्वधर श्रुतकेवली आर्य भद्रबाहु और निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु एक ही व्यक्ति न होकर भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। हाँ, निर्युक्तियों में उपलब्ध कुछ गाथाएँ अवश्य प्राचीनतर हो सकती हैं जिनका आचार्य भद्रबाहु ने अपनी कृतियों में समावेश

---

१. सव्वे एए दारा, मरणविभत्तीइ वण्णिया कमसो।
सगलणिउणे पयत्थे, जिणचउद्दसपुव्वि भासंति ॥ २३३ ॥

कर लिया हो। इसी प्रकार निर्युक्तियों की कुछ गाथाएँ अर्वाचीन—बाद के आचार्यों द्वारा जोड़ी हुई भी हो सकती हैं।[१]

---

१. इस विषय में मुनि श्री पुण्यविजय जी ने पर्याप्त ऊहापोह किया है। वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे है वह उन्हीं के शब्दों में यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

बृहत्कल्प-भाष्य भा० ६ की प्रस्तावना में मैंने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि उपलब्ध निर्युक्तियों के कर्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु नहीं हैं किन्तु ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के भ्राता द्वितीय भद्रबाहु हैं जो विक्रम की छठी शताब्दी में हुए हैं। अपने इस कथन का स्पष्टीकरण करना यहाँ उचित है। जब मैं यह कहता हूँ कि उपलब्ध निर्युक्तियाँ द्वितीय भद्रबाहु की हैं, श्रुतकेवली भद्रबाहु की नहीं तब इसका तात्पर्य यह नहीं कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने निर्युक्तियों की रचना की ही नहीं। मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि जिस अन्तिम संकलन के रूप में आज हमारे समक्ष निर्युक्तियाँ उपलब्ध हैं वे श्रुतकेवली भद्रबाहु की नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि द्वितीय भद्र-बाहु के पूर्व कोई निर्युक्तियाँ थी ही नहीं। निर्युक्ति के रूप में आगमव्याख्या की पद्धति बहुत पुरानी है। इसका पता हमें अनुयोगद्वार से लगता है। वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि अनुगम दो प्रकार का होता है : सुत्ताणुगम और निज्जुत्तिअणुगम। इतना ही नहीं किन्तु निर्युक्तिरूप से प्रसिद्ध गाथाएँ भी अनुयोगद्वार में दी गई हैं। पाक्षिकसूत्र में भी सनिज्जुत्तिए ऐसा पाठ मिलता है। द्वितीय भद्रबाहु के पहले की गोविन्द वाचक की निर्युक्ति का उल्लेख निशीथ-भाष्य व चूर्णि में मिलता है। इतना ही नहीं किन्तु वैदिक वाङ्मय में भी निरुक्त अति प्राचीन है। अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जैनागम की व्याख्या का निर्युक्ति नामक प्रकार प्राचीन है। यह संभव नहीं कि छठी शताब्दी तक आगमों की कोई व्याख्या निर्युक्ति के रूप में हुई ही न हो। दिगम्बरमान्य मूलाचार में भी आवश्यक-निर्युक्तिगत कई गाथाएँ हैं। इससे भी पता चलता है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय का स्पष्ट भेद होने के पूर्व भी निर्युक्ति की परम्परा थी। ऐसी स्थिति में श्रुतकेवली भद्रबाहु ने निर्युक्तियों की रचना की है—इस परम्परा को निर्मूल मानने का कोई कारण नहीं है अतः यही मानना उचित है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने भी निर्युक्तियों की रचना की थी और बाद में गोविन्द

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु वाराहीसंहिता के प्रणेता ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के पूर्वाश्रम के सहोदर भाई के रूप में जैन सम्प्रदाय में प्रसिद्ध हैं। वे अष्टांगनिमित्त और मंत्रविद्या के पारगामी अर्थात् नैमित्तिक के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने भाई के साथ धार्मिक स्पर्धा करते हुए भद्रबाहुसंहिता तथा उपसर्गहरस्तोत्र की रचना की। अथवा यों भी कह सकते हैं कि इन्हें इन ग्रन्थों की रचना आवश्यक प्रतीत हुई। निर्युक्तिकार तथा उपसर्गहरस्तोत्रादि के प्रणेता भद्रबाहु एक हैं और वे नैमित्तिक भद्रबाहु हैं, इस मान्यता की पुष्टि के लिए यह प्रमाण[1] दिया जाता है कि आवश्यकनिर्युक्ति की १२५२ से १२७० तक की गाथाओं में गंधर्व नागदत्त का कथानक है। इस कथानक में नाग का विष उतारने की क्रिया बताई गई है। उपसर्गहरस्तोत्र में भी 'विसहर फुलिंगमंतं' इत्यादि से नाग का विष उतारने की क्रिया का ही वर्णन किया गया है। उपर्युक्त निर्युक्तिग्रन्थ में मंत्रक्रिया के प्रयोग के साथ 'स्वाहा' पद का निर्देश भी मिलता है जो रचयिता के तत्सम्बन्धी प्रेम अथवा ज्ञान की ओर संकेत करता है। दूसरी बात यह है कि अष्टांगनिमित्त तथा मंत्रविद्या के पारगामी नैमित्तिक भद्रबाहु ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के भाई के सिवाय अन्य कोई प्रसिद्ध नहीं हैं। इससे सहज ही में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उपसर्गहरस्तोत्रादि ग्रन्थों के रचयिता और आवश्यकादि निर्युक्तियों के प्रणेता भद्रबाहु एक ही हैं।

वाचक जैसे अन्य आचार्यों ने भी। इस प्रकार क्रमशः बढ़ते-बढ़ते निर्युक्तियों का जो अन्तिम रूप हुआ वह द्वितीय भद्रबाहु का है अर्थात् द्वितीय भद्रबाहु ने अपने समय तक की उपलब्ध निर्युक्ति-गाथाओं का अपनी निर्युक्तियों में संग्रह किया, साथ ही अपनी ओर से भी कुछ नई गाथाएँ बनाकर जोड़ दीं। यही रूप आज हमारे सामने निर्युक्ति के नाम से उपलब्ध है। इस तरह क्रमशः निर्युक्ति-गाथाएँ बढ़ती गईं। इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि दशवैकालिक की दोनों चूर्णियों में प्रथम अध्ययन की केवल ५७ निर्युक्ति-गाथाएँ हैं जबकि हरिभद्र की वृत्ति में १५७ हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि द्वितीय भद्रबाहु ने निर्युक्तियों का अन्तिम संग्रह किया उसके बाद भी उसमें वृद्धि होती रही है। इस स्पष्टीकरण के प्रकाश में यदि हम श्रुतकेवली भद्रबाहु को भी निर्युक्तिकार मानें तो अनुचित न होगा।

—*मुनि श्री हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ*, पृ० ७१८-९.

१. महावीर जैन विद्यालय : रजत महोत्सव ग्रंथ, पृ. १९७-८.

निर्युक्तिकार भद्रबाहु की नैमित्तिकता सिद्ध करने वाला एक अन्य प्रमाण भी है। उन्होंने आवश्यक आदि जिन ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखी हैं उनमें सूर्यप्रज्ञप्ति का भी समावेश है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे निमित्तविद्या में कुशल एवं रुचि रखने वाले थे। निमित्तविद्या के प्रति प्रेम एवं कुशलता के अभाव में यह ग्रन्थ वे हाथ में न लेते।

पञ्चसिद्धान्तिका के अन्त में शक संवत् ४२७ अर्थात् विक्रम संवत् ५६२ का उल्लेख है। यह वराहमिहिर का समय है। जब हम यह मान लेते हैं कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु वराहमिहिर के सहोदर थे तब यह स्वतः सिद्ध है कि आचार्य भद्रबाहु विक्रम की छठी शताब्दी में विद्यमान थे और निर्युक्तियों का रचना-काल विक्रम संवत् ५००–६०० के बीच में है।

आचार्य भद्रबाहु ने दस निर्युक्तियाँ, उपसर्गहरस्तोत्र और भद्रबाहुसंहिता—इन बारह ग्रंथों की रचना की। भद्रबाहुसंहिता अनुपलब्ध है। आज जो भद्रबाहु-संहिता मिलती है वह कृत्रिम है, ऐसा विद्वानों का मत है। ओघनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति क्रमशः आवश्यकनिर्युक्ति और दशवैकालिकनिर्युक्ति की ही अंगरूप हैं। निशीथनिर्युक्ति आचारांगनिर्युक्ति का ही एक अंग है क्योंकि निशीथ सूत्र को आचारांग की पञ्चम चूलिका के रूप में ही माना गया है।[1]

—※—

1. देखिए—आचारांगनिर्युक्ति, गा. ११ तथा गा. २९७ एवं उनकी शीलांककृत वृत्ति.

द्वितीय प्रकरण

आवश्यकनिर्युक्ति

भद्रबाहुकृत दस निर्युक्तियों में आवश्यकनिर्युक्ति[1] की रचना सर्वप्रथम हुई है। यही कारण है कि यह निर्युक्ति सामग्री, शैली आदि सभी दृष्टियों से अधिक

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इनमें से निम्नलिखित टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं :—

(अ) मलयगिरिकृत वृत्ति—(क) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२८–१९३२.

(ख) देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १९३६.

(आ) हरिभद्रकृत वृत्ति—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१६–७.

(इ) मलधारी हेमचन्द्रकृत प्रदेशव्याख्या तथा चन्द्रसूरिकृत प्रदेशव्याख्या-टिप्पण—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९२०.

(ई) जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य तथा उसकी मलधारी हेमचंद्रकृत टीका—यशोविजय जैन ग्रंथमाला, बनारस, वीर सं २४२७–२४४१.

(उ) माणिक्यशेखरकृत आवश्यकनिर्युक्ति-दीपिका—विजयदानसूरीश्वर सूरत, सन् १९३९–१९४९.

(ऊ) कोट्याचार्यकृत विशेषावश्यकभाष्य-विवरण—ऋषभदेवजी केशरीमल-जी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९३६–७.

(ऋ) जिनदासगणिमहत्तरकृत चूर्णि—ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९२८.

(ए) विशेषावश्यकभाष्य की जिनभद्रकृत स्वोपज्ञवृत्ति—ला० द० विद्या-मन्दिर, अहमदाबाद, सन् १९६६.

आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा संख्या भिन्न-भिन्न प्रतियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से उपलब्ध होती है। इन गाथाओं में कहीं-कहीं भाष्य की गाथाएँ भी मिली हुई प्रतीत होती हैं। उदाहरण के लिए आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका की ११२ से १२६ तक की गाथाएँ विशेषावश्यककोट्याचार्यवृत्ति में नहीं हैं। गा. १२१ को कोट्याचार्य ने भाष्य में सम्मिलित किया है। मलयगिरिविवरण में आवश्यक-

महत्त्वपूर्ण है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का विस्तृत एवं व्यवस्थित व्याख्यान किया गया है। आगे की निर्युक्तियों में पुनः उन विषयों के आने पर संक्षिप्त व्याख्या करके आवश्यकनिर्युक्ति की ओर संकेत कर दिया गया है। इस दृष्टि से दूसरी निर्युक्तियों के विषयों को ठीक तरह से समझने के लिए इस निर्युक्ति का अध्ययन आवश्यक है। जब तक आवश्यकनिर्युक्ति का अध्ययन न किया जाय, अन्य निर्युक्तियों का अर्थ समझने में कठिनाइयाँ होती हैं।

आवश्यक सूत्र का जैन आगम ग्रंथों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें छः अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन का नाम सामायिक है। शेष पाँच अध्ययनों के नाम चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान है। आवश्यकनिर्युक्ति इसी सूत्र की आचार्य भद्रबाहुकृत प्राकृत पद्यात्मक व्याख्या है। इसी व्याख्या के प्रथम अंश अर्थात् सामायिक अध्ययन से सम्बन्धित निर्युक्ति की विस्तृत व्याख्या आचार्य जिनभद्र ने की है जो विशेषावश्यकभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इस भाष्य की भी अनेक व्याख्याएँ हुई। इन व्याख्याओं में स्वयं जिनभद्रकृत व्याख्या भी है। मलधारी हेमचन्द्रकृत व्याख्या विशेष प्रसिद्ध है।

उपोद्घात :

आवश्यकनिर्युक्ति के प्रारम्भ में उपोद्घात है। इसे ग्रंथ की भूमिका के रूप में समझना चाहिए। भूमिका के रूप में होते हुए भी इसमें ८८० गाथाएँ हैं।

ज्ञानाधिकार :

उपोद्घातनिर्युक्ति की प्रथम गाथा में पाच प्रकार के ज्ञान बताए गए हैं : आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। ये पाँचों प्रकार के ज्ञान मंगलरूप हैं अतः इस गाथा से मंगलगाथा का प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है, ऐसा बाद के टीकाकारों का मन्तव्य है। आभिनिबोधिक ज्ञान के संक्षेप में चार भेद किए गए हैं : अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इनमें से प्रत्येक का काल-प्रमाण क्या है, यह बताते हुए आगे कहा गया है : अवग्रह की मर्यादा एक समय है, ईहा और अवाय अन्तर्मुहूर्त तक रहते हैं, धारणा की कालमर्यादा संख्येय समय, असंख्येय समय और अन्तर्मुहूर्त है। अविच्युति और स्मृतिरूप धारणा अन्तर्मुहूर्त तक रहती है, वासना व्यक्तिविशेष की आयु एवं तदावरणकर्म

निर्युक्तिदीपिका की १२४ से १२६ तक की गाथाएँ नहीं हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी गाथाओं की संख्या, क्रम आदि में भेद दिखाई देता है। हमने अपने लेखन, स्थलनिर्देश आदि का आधार आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका रखा है।

के क्षयोपशम की विशेषता के कारण संख्येय अथवा असंख्येय समय तक बनी रहती है।[1]

आभिनिबोधिक ज्ञान की निमित्तभूत पांच इन्द्रियों में से श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट शब्द का ग्रहण करती है, चक्षुरिन्द्रिय अस्पृष्ट रूप को देखती है, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय बद्धस्पृष्ट अर्थात् सम्बद्धस्पृष्ट विषयों का ज्ञान करती हैं।[2] इस कथन से उन दार्शनिकों की मान्यता का खण्डन भी हो जाता है जो शब्द को मूर्त न मानकर अमूर्त आकाश का गुण मानते हैं तथा चक्षुरिन्द्रिय को प्राप्यकारी मानते हैं। आगे की कुछ गाथाओं में शब्द और भाषा के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

आभिनिबोधिक ज्ञान के निम्नलिखित पर्यायशब्द दिए गए हैं : ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा।[3] इसके बाद आचार्य ने सत्पदप्ररूपणा में गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, संयत, उपयोग, आहार, भाषक, परीत्त, पर्याप्तक, सूक्ष्म, संज्ञी, भव और चरम इन सभी द्वारों—दृष्टियों से आभिनिबोधिक ज्ञान के स्वरूप की चर्चा हो सकती है, इसकी ओर संकेत किया है।[4] यहाँ तक आभिनिबोधिक ज्ञान की चर्चा है। इसके बाद श्रुतज्ञान की चर्चा प्रारंभ होती है।

लोक में जितने भी अक्षर हैं और उनके जितने भी संयुक्त रूप बन सकते हैं उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं। ऐसी स्थिति में यह संभव नहीं कि श्रुतज्ञान के सभी भेदों का वर्णन हो सके। यह स्वीकार करते हुए निर्युक्तिकार ने केवल चौदह प्रकार के निक्षेप से श्रुतज्ञान का विचार किया है। चौदह प्रकार के श्रुतनिक्षेप इस प्रकार हैं : अक्षर, संज्ञी, सम्यक्, सादिक, सपर्यवसित, गमिक, अंगप्रविष्ट, अनक्षर, असंज्ञी, मिथ्या, अनादिक, अपर्यवसित, अगमिक और अंगबाह्य।[5]

अवधिज्ञान का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि अवधिज्ञान की सम्पूर्ण प्रकृतियाँ अर्थात् भेद तो असंख्य हैं किन्तु सामान्यतया इसके भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ये दो भेद हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त अवधिज्ञान का चौदह प्रकार के निक्षेप से भी विचार हो सकता है। ये चौदह निक्षेप इस प्रकार हैं : स्वरूप, क्षेत्र, संस्थान, आनुगामिक, अवस्थित, चल, तीव्रमन्द, प्रतिपातोत्पाद, ज्ञान, दर्शन, विभंग, देश, क्षेत्र और गति। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव

---

१. गा. १–४. २. गा. ५. ३. गा. १२. ४. गा. १३–५.
५. गा. १७–९.

और भाव—इन सात निक्षेपों से भी अवधिज्ञान की चर्चा हो सकती है।[1] इतना निर्देश करने के बाद आचार्य ने इन निक्षेपों का विस्तार से विचार किया है।[2] पाँच प्रकार के ज्ञान की स्वरूप-चर्चा में इतना अधिक विस्तार अवधिज्ञान की चर्चा का ही है।

मन द्वारा चिन्तित अर्थ का मात्र आत्मसापेक्ष ज्ञान मनःपर्ययज्ञान है। यह मनुष्यक्षेत्र तक सीमित है, गुणप्रात्ययिक है तथा चारित्रवानों की सम्पत्ति है।[3]

सब द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों का सर्वकालभावी तथा अप्रतिपाती ज्ञान केवलज्ञान है। इसमें किसी प्रकार का तारतम्य नहीं होता अतः यह एक ही प्रकार का है।[4]

सामायिक :

केवलज्ञानी जिस अर्थ का प्रतिपादन करता है और जो शास्त्रों में वचनरूप में संगृहीत है वह द्रव्यश्रुत है। इस प्रकार के श्रुत का ज्ञान भावश्रुत है। प्रस्तुत अधिकार श्रुतज्ञान का है क्योंकि श्रुतज्ञान से ही जीव आदि पदार्थ प्रकाशित होते हैं। इतना ही नहीं अपितु मति आदि ज्ञानों का प्रकाशक भी श्रुतज्ञान ही है।[5]

इतनी पीठिका—भूमिका बाँधने के बाद निर्युक्तिकार सामान्यरूप से सभी तीर्थंकरों को नमस्कार करते हैं। इसके बाद भगवान् महावीर को विशेषरूप से नमस्कार करते हैं। महावीर के बाद उनके गणधर, शिष्य-प्रशिष्य आदि को नमस्कार करते हैं। इतना करने के बाद यह प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं भी इन सबने श्रुत का जो अर्थ बताया है उसकी निर्युक्ति अर्थात् संक्षेप में श्रुत के साथ उसी अर्थ की योजना करता हूँ। इसके लिए आवश्यकादि दस सूत्र-ग्रन्थों का आधार लेता हूँ।[6] आवश्यकनिर्युक्ति में भी सर्वप्रथम सामायिकनिर्युक्ति की रचना करूँगा क्योंकि यह गुरुपरम्परा से उपदिष्ट है।[7] सम्पूर्ण श्रुत के आदि में सामायिक है और अन्त में बिन्दुसार है। श्रुतज्ञान अपने आप में पूर्ण एवं अन्तिम लक्ष्य है, ऐसी बात नहीं। श्रुतज्ञान का सार चारित्र है। चारित्र का सार निर्वाण अर्थात् मोक्ष है[8] और यही हमारा अन्तिम लक्ष्य है।

जैन आगम-ग्रन्थों में आचारांग सर्वप्रथम माना जाता है किन्तु यहाँ आचार्य भद्रबाहु सामायिक को सम्पूर्ण श्रुत के आदि में रखते हैं, ऐसा क्यों? इसका कारण यह है कि श्रमण के लिए सामायिक का अध्ययन सर्वप्रथम अनिवार्य

१. गा. २५-९. २. गा. ३०-७५. ३. गा. ७६. ४. गा. ७७.
५. गा० ७८-९. ६. गा० ८०-८६. ७. गा० ८७. ८. गा० ९३.

है। सामायिक का अध्ययन करने के बाद ही वह दूसरे ग्रन्थों का अध्ययन करता है, क्योंकि चारित्र का प्रारम्भ ही सामायिक से होता है। चारित्र की पाँच भूमिकाओं में प्रथम भूमिका सामायिकचारित्र की है। आगमग्रन्थों में भी जहाँ भगवान् महावीर के श्रमणों के श्रुताध्ययन की चर्चा है वहाँ अनेक जगह अंगग्रन्थो के आदि में सामायिक के अध्ययन का निर्देश है।

ज्ञान और चारित्र के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हुए आचार्य ने यही सिद्ध किया है कि मुक्ति के लिए ज्ञान और चारित्र दोनों अनिवार्य हैं। ज्ञान और चारित्र के संतुलित समन्वय से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। चारित्र-विहीन ज्ञान और ज्ञानविहीन चारित्र एक-दूसरे से बहुत दूर बैठे हुए अन्धे और लंगड़े के समान हैं जो एक-दूसरे के अभाव मे अपने अभीष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकते।[१]

इसके बाद आचार्य यह बताते हैं कि सामायिक का अधिकारी कौन हो सकता है? इस बहाने वस्तुतः उन्होने श्रुतज्ञान के अधिकारी का ही वर्णन किया है। वह क्रमशः किस प्रकार विकास करता है, उसके कर्मों का किस प्रकार क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होता है, वह किस प्रकार केवलज्ञान प्राप्त करता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है आदि प्रश्नों का उपशम और क्षपकश्रेणी के विस्तृत वर्णन द्वारा समाधान किया है।[२] आचार्य का अभिप्राय यही है कि सामायिक-श्रुत का अधिकारी ही क्रमशः मोक्ष का अधिकारी बनता है।

जब मोक्ष की प्राप्ति के लिए सामायिक-श्रुत का अधिकार आवश्यक है तब तीर्थंकर बनने के लिए तो वह आवश्यक है ही क्योंकि तीर्थंकर का अन्तिम लक्ष्य भी मोक्ष ही है। जो सामायिक-श्रुत का अधिकारी होता है वही क्रमशः विकास करता हुआ किसी समय तीर्थंकररूप से उत्पन्न होता है। प्रत्येक तीर्थंकर अपने समय मे सर्वप्रथम श्रुत का उपदेश देता है और वही श्रुत आगे जाकर सूत्र का रूप धारण करता है। तीर्थंकरोपदिष्ट श्रुत को जिन-प्रवचन भी कहते हैं। आचार्य भद्रबाहु ने प्रवचन के निम्न पर्याय दिये हैं: प्रवचन, श्रुत, धर्म, तीर्थ और मार्ग। सूत्र, तन्त्र, ग्रन्थ, पाठ और शास्त्र एकार्थक हैं। अनुयोग, नियोग, भाष्य, विभाषा और वार्तिक पर्यायवाची हैं।[३] आगे आचार्य ने अनुयोग और अननुयोग का निक्षेपविधि से वर्णन किया है।[४] इसके बाद भाषा,

१. गा० ९४–१०३. २. गा० १०४–१२७.

३. गा० १३०–१. ४. गा० १३२–४.

विभाषा और वार्तिक का भेद स्पष्ट किया है। साथ ही व्याख्यानविधि का निरूपण करते हुए आचार्य और शिष्य की योग्यता का नाप-दण्ड बताया है।[1] इसके बाद आचार्य अपने मुख्य विषय सामायिक का व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं तथा व्याख्यान की विधिरूप निम्नलिखित बातों का निर्देश करते हैं :—[2]

१. उद्देश अर्थात् विषय का सामान्य कथन, २. निर्देश अर्थात् विषय का विशेष कथन, ३. निर्गम अर्थात् व्याख्येय वस्तु का उद्‌भव, ४. क्षेत्र अर्थात् देश-चर्चा, ५. काल अर्थात् समय-चर्चा, ६. पुरुष अर्थात् तदाधारभूत व्यक्ति की चर्चा, ७. कारण अर्थात् माहात्म्य-चर्चा, ८. प्रत्यय अर्थात् श्रद्धा की चर्चा, ९. लक्षण-चर्चा, १०. नय-चर्चा, ११. समवतार अर्थात् नयों की अवतारणा-चर्चा, १२. अनुमत अर्थात् व्यवहार और निश्चय नय की दृष्टि में विचार, १३. किं अर्थात् स्वरूप-विचार, १४. भेद विचार, १५. सम्बन्ध-विचार, १६. स्थान-विचार, १७. अधिकरण-विचार, १८. प्राप्ति-विचार, १९. स्थिति-विचार, २०. स्वामित्व विचार, २१. विरहकाल-विचार, २२. अविरहकाल-विचार, २३. भव विचार, २४. प्राप्तिकाल संख्या-विचार, २५. क्षेत्र-स्पर्शन विचार, २६. निरुक्ति।

ऋषभदेव-चरित्र :

उद्देश और निर्देश की निक्षेपविधि में चर्चा होने के बाद निर्गम की चर्चा प्रारम्भ होती है। निर्गम की चर्चा करते समय आचार्य यह बताते हैं कि भगवान् महावीर का मिथ्यात्वादि से निर्गम अर्थात् निकलना कैसे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर के पूर्वभवों की चर्चा प्रारम्भ होती है। इतना ही नहीं अपितु इसी से भगवान् ऋषभदेव के युग से भी पहले होने वाले कुलकरों की चर्चा प्रारम्भ हो जाती है। इसमें उनके पूर्वभव, जन्म, नाम, शरीर-प्रमाण, संहनन, संस्थान, वर्ण, स्त्रियां, आयु, विभाग, भवनप्राप्ति, नीति—इन सब का संक्षिप्त विवरण है। अन्तिम कुलकर नाभि थे जिनकी पत्नी मरुदेवी थी। उन्हीं के पुत्र का नाम ऋषभदेव है।[3] ऋषभदेव के अनेक पूर्वभवों का वर्णन करने के बाद निर्युक्तिकार ने बताया है कि बीस कारणों से ऋषभदेव ने अपने पूर्वभव में तीर्थंकर नामकर्म बांधा था।[4] वे बीस कारण इस प्रकार हैं:—[5]

१. गा० १३५-९. २. गा० १४०-१. ३. गा० १४५-१७०.
४. गा० १७८. ५. गा० १७९-१८१.

१. अरिहंत, २. सिद्ध, ३. प्रवचन, ४. गुरु, ५. स्थविर, ६. बहुश्रुत, ७. तपस्वी—इनके प्रति वत्सलता, ८. ज्ञानोपयोग, ९. दर्शन—सम्यक्त्व, १०. विनय, ११. आवश्यक, १२. शीलव्रत—इनमें अतिचार का अभाव, १३. क्षणलवादि के प्रति संवेगभावना, १४. तप, १५. त्याग, १६. वैयावृत्य, १७. समाधि, १८. अपूर्वज्ञानग्रहण, १९. श्रुतभक्ति और २०. प्रवचन-प्रभावना।

इसके बाद भगवान् ऋषभदेव की जीवनी से सम्बन्ध रखने वाली निम्नोक्त घटनाओं का वर्णन है : जन्म, नाम, वृद्धि, जातिस्मरणज्ञान, विवाह, अपत्य, अभिषेक, राज्यसंग्रह। इन घटनाओं के साथ ही साथ उस युग के आहार, शिल्प, कर्म, ममता, विभूषणा, लेख, गणित, रूप, लक्षण, मानदण्ड, प्रोतन—पोत, व्यवहार, नीति, युद्ध, इषुशास्त्र, उपासना, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, बन्ध, घात, ताडन, यज्ञ, उत्सव, समवाय, मंगल, कौतुक, वस्त्र, गन्ध, माल्य, अलंकार, चूला, उपनयन, विवाह, दत्ति, मृतपूजना, ध्यापना, स्तूप, शब्द, खेलापन, पृच्छना—इन चालीस विषयों की ओर भी संकेत किया गया है।[1] इनके निर्माता अर्थात् प्रवर्तक के रूप में ऋषभदेव का नाम आता है।

ऋषभदेव के जीवन-चरित्र के साथ ही साथ अन्य सभी तीर्थंकरों के चरित्र की ओर भी थोड़ा-सा संकेत किया गया है तथा सम्बोधन, परित्याग, प्रत्येक, उपधि, अन्यलिङ्ग—कुलिङ्ग, ग्राम्याचार, परीषह, जीवादितत्त्वोपलम्भ, प्राग्भव-श्रुतलाभ, प्रत्याख्यान, संयम, छद्मस्थकाल, तपःकर्म, ज्ञानोत्पत्ति, साधुसाध्वी-संग्रह, तीर्थ, गण, गणधर, धर्मोपायदेशक, पर्यायकाल, अन्तक्रिया—मुक्ति इन इक्कीस द्वारों से[2] उनके जीवन-चरित्र की तुलना की गई है।

इसके बाद निर्युक्तिकार यह बताते हैं कि सामायिक-अध्ययन की चर्चा के साथ इन सब बातों का वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी? सामायिक के निर्गमद्वार की चर्चा के समय भगवान् महावीर के पूर्वभव की चर्चा का प्रसंग आया जिसमें उनके मरीचिजन्म की चर्चा आवश्यक प्रतीत हुई। इसी प्रसंग से भगवान् ऋषभदेव की चर्चा भी की गई क्योंकि मरीचि की उत्पत्ति ऋषभदेव से है[3] (मरीचि ऋषभदेव का पौत्र था)। इस प्रकार पुनः ऋषभदेव का चरित्र प्रारम्भ होता है। दीक्षा के समय से लेकर वर्षान्त तक पहुँचते हैं और भिक्षा-लाभ का प्रसंग आता है। इस प्रसंग पर चौबीस तीर्थंकरों के पारणों—उपवास के उपरान्त सर्वप्रथम भिक्षालाभों का वर्णन है। उन्हें जिन नगरों में भिक्षालाभ

१. गा० १८५—२०६. २. गा० २०९—२१२. ३. गा० २१३.

हुआ उनके नाम ये हैं : हस्तिनापुर, अयोध्या, श्रावस्ती, साकेत, विजयपुर, ब्रह्मस्थल, पाटलिखण्ड, पद्मखण्ड, श्रेयःपुर, रिष्टपुर, सिद्धार्थपुर, महापुर, धान्यकर, वर्धमान, सोमनस, मन्दिर, चक्रपुर, राजपुर, मिथिला, राजगृह, वीरपुर, द्वारवती, कूपकट, कोल्लाकग्राम। जिन लोगों के हाथ से भिक्षालाभ हुआ, उनके नाम भी इसी प्रकार गिनाए गए हैं तथा उससे होने वाले लाभ का भी वर्णन किया गया है।[1]

ऋषभदेव-चरित्र को आगे बढ़ाते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि बाहुबलि ने भगवान् ऋषभदेव की स्मृति मे धर्मचक्र की स्थापना की। ऋषभदेव एक सहस्र वर्ष पर्यन्त छद्मस्थपर्याय में विचरते रहे। अन्त में उन्हें केवलज्ञान हुआ। इसके बाद उन्होंने पञ्च-महाव्रत की स्थापना की। जिस दिन ऋषभदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई उसी दिन भरत की आयुधशाला मे चक्ररत्न भी उत्पन्न हुआ। भरत को ये दोनों समाचार मिले। भरत ने सोचा कि पहले कहाँ पहुँचना चाहिए? पिता की उपकारिता को दृष्टि मे रखते हुए पहले वे भगवान् ऋषभदेव के पास पहुँचे और उनकी पूजा की। ऋषभदेव की माता मरुदेवी एवं पुत्र-पुत्री पौत्रादि सभी उनके दर्शन करने पहुँचे। भगवान् का उपदेश सुनकर उनमे से कइयों को वैराग्य हुआ और उन्होंने भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेनेवालों में भगवान् महावीर के पूर्वभव का जीव मरीचि भी था।[2]

ऋषभदेव के ज्येष्ठपुत्र भरत ने देश-विजय की यात्रा प्रारम्भ की। अपने छोटे भाइयों से अधीनता स्वीकार करने के लिए कहा। उन्होंने भगवान् ऋषभदेव के सम्मुख यह समस्या रखी। भगवान् ने उन्हे उपदेश दिया जिसे सुनकर बाहुबलि के अतिरिक्त सभी भाइयो ने दीक्षा ले ली। बाहुबलि ने भरत को युद्ध के लिए आह्वान किया। सेना की सहायता न लेते हुए दोनों ने अकेले ही आपस मे लड़ना स्वीकार किया। अन्त में बाहुबलि को इस अधर्म-युद्ध से वैराग्य हो गया और उन्होंने भी दीक्षा ले ली।[3]

इसके बाद आचार्य यह बताते हैं कि मरीचि ने किस प्रकार परीषहों से घबड़ाकर त्रिदण्डी संप्रदाय की स्थापना की, भरत ने समवसरण मे भगवान् ऋषभदेव से जिन और चक्रवर्ती के विषय में पूछा और भगवान् ने किस प्रकार जिन, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि के विषय में विस्तृत विवेचन किया

१. गा० ३२३–३३४. २. गा. ३३५–३४७. ३. गा. ३४८–३४९.

आदि। भरत ने भगवान् से प्रश्न किया कि क्या इस सभा मे भी कोई भावी तीर्थंकर है? भगवान् ने ध्यानस्थ परिव्राजक स्वपौत्र मरीचि की ओर संकेत किया और कहा कि यह वीर नामक अन्तिम तीर्थंकर होगा तथा अपनी नगरी मे आदि वासुदेव त्रिपृष्ठ एवं विदेह क्षेत्र में मूका नगरी में प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती होगा। यह सुनकर भरत भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार करके मरीचि को नमस्कार करने जाते हैं। नमस्कार करके कहते हैं कि मैं इस परिव्राजक मरीचि को नमस्कार नहीं कर रहा हूँ अपितु भावी तीर्थंकर वीरप्रभु को नमस्कार कर रहा हूँ। यह सुनकर मरीचि गर्व से फूल उठता है और अपने कुल की प्रशंसा के पुल बाँधने लगता है।[1]

इसके बाद निर्युक्तिकार भगवान् के निर्वाण—मोक्ष का प्रसंग उपस्थित करते हैं। भगवान् विचरते-विचरते अष्टापद पर्वत पर पहुँचते हैं जहाँ उन्हें निर्वाण की प्राप्ति होती है। निर्वाण के बाद उनके लिए चिता बनाई जाती है और बाद मे उसी स्थान पर स्तूप और जिनालय भी बनते हैं। इसके बाद अँगूठी के गिरने से भरत को आदर्श-गृह अर्थात् शीशमहल में कैसे वैराग्य हुआ और उन्होंने किस प्रकार दीक्षा ग्रहण की आदि बातों का विवरण है।[2] भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के पूर्व मरीचि स्वयं किसी को दीक्षा नहीं देता था अपितु दीक्षार्थियों को अन्य साधुओं को सौंप देता था और अपनी दुर्बलता स्वीकार करता हुआ भगवान् के धर्म का ही प्रचार करता था किन्तु अब यह बात न रही। उसने कपिल को अपने ही हाथों दीक्षा दी और कहा कि मेरे मत में भी धर्म है। इस प्रकार के दुर्वचन के परिणामस्वरूप वह कोटा-कोटि सागरोपम तक संसार-सागर मे भटका और कुलमद के कारण नीच गोत्र का भी बन्धन किया।[3]

महावीर-चरित्र :

अनेक भवो को पार करता हुआ मरीचि अन्त मे ब्राह्मणकुण्डग्राम मे कोडालसगोत्र ब्राह्मण के घर देवानन्दा की कुक्षि मे आया।[4] यहीं से भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र प्रारम्भ होता है। उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली निम्नलिखित तेरह घटनाओं का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति मे मिलता है : स्वप्न, गर्भापहार, अभिग्रह, जन्म, अभिषेक, वृद्धि, जातिस्मरणज्ञान, भयोत्पादन,

१. गा. ३५०–४३२. २. गा. ४३३–७. ३. गा. ४३८–४४०.
४. गा. ४५८.

विवाह, अपत्य, दान, सम्बोध और महाभिनिष्क्रमण।[1] देवानन्दा ने गज, वृषभ, सिंह आदि चौदह प्रकार के स्वप्न देखे। हरिनैगमेषी द्वारा गर्भ-परिवर्तन किया गया और नई माता त्रिशला ने भी वे ही चौदह स्वप्न देखे। गर्भवास के सातवें मास में महावीर ने यह अभिग्रह–प्रतिज्ञा–दृढ निश्चय किया कि मैं माता-पिता के जीवित रहते श्रमण नहीं बनूँगा। नौ मास और सात दिन बीतने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को पूर्वरात्रि के समय कुण्डग्राम में महावीर का जन्म हुआ। देवों द्वारा रत्नवर्षा से जन्माभिषेक किया गया।[2] महावीर ने माता-पिता के स्वर्गगमन के बाद श्रमणधर्म अंगीकार किया।[3] इस अवस्था में उन्हें अनेक परीषह सहन करने पड़े। गोप आदि द्वारा उन्हें अनेक कष्ट दिए गए।[4] जीवन-यात्रा के लिए उन्होंने ये प्रतिज्ञाएँ कीं : १. जिस घर में रहने से गृह-स्वामी को अप्रीति हो उस घर में नहीं रहना, २. प्रायः कायोत्सर्ग में रहना, ३. प्रायः मौन रहना, ४. भिक्षा पात्र में न लेकर हाथ में ही लेना, ५. गृहस्थ को वन्दना-नमस्कार नहीं करना।[5] इन प्रतिज्ञाओं का पूर्णरूप से पालन करते हुए भगवान् महावीर अनेक स्थानों में भ्रमण करते रहे। अन्त में उन्हें जृम्भिकाग्राम के बाहर ऋजुवालुका नदी के किनारे वैयावृत्य चैत्य के पास में श्यामाक गृहपति के क्षेत्र में शाल वृक्ष के नीचे षष्ठतप के दिन उत्कुटुकावस्था में केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।[6]

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भगवान् मध्यमा पापा के महसेन उद्यान में पहुँचे। वहाँ पर द्वितीय समवसरण हुआ और उन्हें धर्मवरचक्रवर्तित्व की प्राप्ति हुई। इसी स्थान पर सोमिलार्य नामक ब्राह्मण की दीक्षा के अवसर पर (यज्ञ के समय) विशाल जनसमूह एकत्र हुआ था। यज्ञपाट के उत्तर में एकान्त में देव-दानवेन्द्र भगवान् महावीर का महिमा-गान कर रहे थे। दिव्यध्वनि से चारों दिशाएँ गूँज रही थीं। समवसरण की महिमा का पार न था। दिव्यध्वनि सुनकर यज्ञवाटिका में बैठे हुए लोगों को बहुत आनन्द का अनुभव हो रहा था। वे सोच रहे थे कि हमारे यज्ञ से आकर्षित होकर देव दौड़े आ रहे हैं।[7] इसी यज्ञवाटिका में भगवान् महावीर के भावी गणधर भी आये हुए थे जिनकी संख्या ग्यारह थी। उनके नाम ये हैं : १. इन्द्रभूति, २. अग्निभूति, ३. वायुभूति, ४. व्यक्त, ५. सुधर्मा, ६. मंडिक, ७. मौर्यपुत्र, ८. अकंपित, ९. अचलभ्राता, १०. मेतार्य, ११. प्रभास।[8] उनके मन में विविध शंकाएँ थीं जिनका भगवान् महावीर ने

१. गा. ४५९. २. ये गाथाएँ मूल निर्युक्ति की नहीं हैं। ३. गा. ४६०–१. ४. गा. ४६२. ५. गा. ४६३–४. ६. गा. ५२७. ७. गा. ५४०–५९२. ८. गा. ५९४–५.

संतोषप्रद समाधान किया। अन्त में उन्होंने भगवान् से दीक्षा ग्रहण की और उनके प्रमुख शिष्य—गणधर हुए। उनके मन में क्रमशः निम्नलिखित शंकाएँ थीं :[1] १. जीव का अस्तित्व, २. कर्म का अस्तित्व, ३. जीव और शरीर का अभेद, ४. भूतों का अस्तित्व, ५. इहभव-परभवसादृश्य, ६. बंध-मोक्ष, ७. देवों का अस्तित्व, ८. नरक का अस्तित्व, ९. पुण्य-पाप, १०. परलोक की सत्ता, ११. निर्वाणसिद्धि। जब यज्ञवाटिका के लोगों को यह मालूम हुआ कि देवतासमूह हमारे यज्ञ से आकर्षित होकर नहीं आ रहा है अपितु जिनेन्द्र भगवान् महावीर की महिमा से खिंच कर दौड़ा आ रहा है तब अभिमानी इन्द्रभूति अमर्ष के साथ भगवान् के पास पहुँचा। ज्यों ही इन्द्रभूति भगवान् के समीप पहुँचा त्यों ही भगवान् ने उसे नाम लेकर सम्बोधित किया और उसके मन की शंका सामने रखी और उसका समाधान किया जिसे सुन कर इन्द्रभूति का संशय दूर हुआ और वह अपने ५०० शिष्यों के साथ भगवान् के पास दीक्षित हो गया। इसी प्रकार अन्य गणधरों ने भी क्रमशः भगवान् से दीक्षा ली।[2] इन गणधरों के जन्म, गोत्र, माता-पिता आदि की ओर भी आचार्य ने संकेत किया है।[3]

क्षेत्र-कालादि द्वार :

निर्गमद्वार की चर्चा के प्रसंग से भगवान् ऋषभदेव और महावीर के जीवन-चरित्र का संक्षिप्त चित्रण करने के बाद निर्युक्तिकार ने क्षेत्र-काल आदि शेष द्वारों का वर्णन किया है। सामायिक का प्रकाश जिनेन्द्र भगवान् महावीर ने वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन पूर्वाह्न के समय महसेन उद्यान में किया अतः इस क्षेत्र और काल में सामायिक का साक्षात् निर्गम है। अन्य क्षेत्र और काल में सामायिक का परंपरागत निर्गम है।[4] इसके बाद पुरुष तथा कारणद्वार का वर्णन है। कारणद्वार की चर्चा करते समय संसार और मोक्ष के कारणों की भी चर्चा की गई है। इसके पश्चात् यह बताया गया है कि तीर्थंकर क्योंकर सामायिक-अध्ययन का उपदेश देते हैं तथा गणधर उस उपदेश को किसलिए सुनते हैं? इससे आगे प्रत्यय अर्थात् श्रद्धाद्वार की चर्चा है। लक्षणद्वार में वस्तु के लक्षण की चर्चा की गई है। नयद्वार में सात मूल नयों के नाम तथा लक्षण दिए गए हैं तथा यह भी बताया गया है कि प्रत्येक नय के सैंकड़ों भेद-प्रभेद हो सकते हैं।[5] जिनमत में एक भी सूत्र अथवा उसका अर्थ ऐसा नहीं है जिसका नयदृष्टि के बिना विचार हो

१. गा. ५९७. २. गा. ५९९–६४२. ३. गा. ६४३–६६०. ४. गा. ७३५. ५. गा. ७३७–७६०.

सकता हो। इसलिए नयविशारद का यह कर्तव्य है कि वह श्रोता की योग्यता को दृष्टि में रखते हुए नय का कथन करे। तथापि इस समय कालिक श्रुत में नयावतारणा (समवतार) नहीं होती है। ऐसा क्यों ? इसका समाधान करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि पहले कालिक का अनुयोग अपृथक् था किन्तु आर्य वज्र के बाद कालिक का अनुयोग पृथक् कर दिया गया।[1] इस प्रसंग को लेकर आचार्य ने आर्य वज्र के जीवन-चरित्र की कुछ घटनाओं का उल्लेख किया है और अन्त में कहा है कि आर्य रक्षित ने चार अनुयोग पृथक् किये।[2] इसके बाद आर्य रक्षित का जीवन-चरित्र भी संक्षेप में दे दिया गया है।[3] आर्य रक्षित का मातुल गोष्ठामाहिल सप्तम निह्नव हुआ। भगवान महावीर के शासन में उस समय तक छः निह्नव और हो चुके थे। सातों निह्नवों के नाम इस प्रकार हैं : १. जमालि, २. तिष्यगुप्त, ३. आषाढ़, ४. अश्वमित्र, ५. गंगसूरि, ६. षडुलूक, ७. गोष्ठामाहिल। इनके मत क्रमशः ये हैं : १. बहुरत, २. जीवप्रदेश, ३. अव्यक्त, ४. समुच्छेद, ५. द्विक्रिया, ६. त्रिराशि, ७. अबद्ध।[4]

इसके बाद आचार्य अनुमतद्वार का व्याख्यान करते हैं और फिर सामायिक के स्वरूप की चर्चा प्रारंभ करते हैं। नयदृष्टि से सामायिक की चर्चा करने के बाद उसके तीन भेद करते हैं : सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र।[5] संयम, नियम और तप में जिसकी आत्मा रमण करती है वही सामायिक का सच्चा अधिकारी है। जिसके चित्त में प्राणिमात्र के प्रति समभाव है वही सामायिक में स्थित है।[6] इसी प्रकार शेष द्वारों की भी निर्युक्तिकार ने संक्षेप में व्याख्या की है।[7] इन द्वारों की व्याख्या के साथ उपोद्घातनिर्युक्ति समाप्त हो जाती है।

उपोद्घात का यह विस्तार केवल आवश्यकनिर्युक्ति के लिए ही उपयोगी नहीं है। इसकी उपयोगिता वास्तव में सभी निर्युक्तियों के लिए है। इसमें वर्णित भगवान् ऋषभदेव और महावीर के जीवन-चरित्र एवं तत्सबद्ध अन्य तथ्य प्राचीन जैन इतिहास एवं संस्कृति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। जैन आचार और विचार की रूपरेखा समझने के लिए यह अंश बहुत उपयोगी है। इसके बाद आचार्य नमस्कार का व्याख्यान करते हैं।

नमस्कार :

सामायिकनिर्युक्ति की सूत्रस्पर्शी व्याख्या का प्रारंभ यहीं से होता है। इसके पूर्व सामायिकसम्बन्धी अन्य ज्ञातव्य बातों का विवरण दिया गया है। सामायिक

१. गा. ७६४. २. गा. ७७५. ३. गा. ७७६–७. ४. गा. ७७९–७८१.
५. गा. ७९०–७. ६. गा. ७९८–९. ७. गा. ८००–८८०.

सूत्र के प्रारंभ मे नमस्कार-मंत्र आता है अतः नमस्कार की निर्युक्ति के रूप मे आचार्य उत्पत्ति, निक्षेप, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम, प्रयोजन और फल—इन ग्यारह द्वारों से नमस्कार की चर्चा करते हैं।[१] उत्पत्ति आदि द्वारों का उनके भेद-प्रभेदों के साथ अति विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ उसके कुछ महत्त्वपूर्ण अशों का परिचय दिया जाता है।

जहाँ तक नमस्कार की उत्पत्ति का प्रश्न है, वह उत्पन्न भी है और अनुत्पन्न भी है, नित्य भी है और अनित्य भी है। नयदृष्टि से विचार करने पर स्याद्वादियों के मत मे इसमे किसी प्रकार का विरोध नहीं है।[२] नमस्कार में चार प्रकार के निक्षेप हैं: नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। पद के पाँच प्रकार हैं: नामिक, नैपातिक, औपसर्गिक, आख्यातक और मिश्र। 'नमस्' पद नैपातिक है क्योंकि यह निपातसिद्ध है। 'नमस्' पद का अर्थ द्रव्यसंकोच और भावसंकोच है।[३] प्ररूपणा के दो, चार, पाँच, छः और नौ भेद हो सकते हैं। उदाहरण के लिए छः भेद इस प्रकार हैं: १. नमस्कार क्या है, २. किससे सम्बन्ध रखता है, ३. किस कारण से प्राप्त होता है, ४. कहाँ रहता है, ५. कितने समय तक रहता है, ६. कितने प्रकार का होता है?[४] नौ भेद ये हैं: १. सत्पदप्ररूपणता, २. द्रव्य-प्रमाण, ३. क्षेत्र, ४. स्पर्शना, ५. काल, ६. अन्तर, ७. भाग, ८. भाव, ९. अल्पबहुत्व।[५] अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये पाँचो नमस्कारयोग्य है अतः वस्तुद्वार के अन्तर्गत हैं। इस द्वार की चर्चा के प्रसग मे निर्युक्तिकार ने अरिहंत आदि पाँच परमेष्ठियो का बहुत विस्तारपूर्वक गुणगान किया है और यह बताया है कि अरिहंत आदि को नमस्कार करने से जीव सहस्र भवों से छुटकारा पाता है तथा उसे भावपूर्वक किया करते हुए बोध—सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। अरिहंत आदि के नमस्कार से सब पापों का नाश होता है। यह नमस्कार सब मगलो मे प्रथम मंगल है। 'अरिहंत' (अर्हत्) शब्द की निरुक्ति करते हुए आचार्य कहते हैं कि इन्द्रिय, विषय, कषाय, परीषह, वेदना, उपसर्ग आदि जितने भी आतरिक अरि अर्थात् शत्रु हैं उनका हनन करनेवाले अरिहंत कहलाते है अथवा अष्ट प्रकार के कर्मरूपी अरियो का नाश करनेवालों को अरि-हंत कहते हैं अथवा जो वन्दना, नमस्कार, पूजा, सत्कार और सिद्धि के अर्ह अर्थात् योग्य हैं उन्हें अर्हन्त कहते हैं अथवा जो देव, असुर और मनुष्यों मे अर्ह अर्थात् पूज्य हैं वे अर्हन्त हैं।[६] 'सिद्ध' शब्द की निक्षेपपद्धति से व्याख्या करते हुए

१. गा. ८८१. २. गा० ८८२. ३. गा० ८८४. ४. गा० ८८५.
५. गा० ८८९. ६. गा० ९१३–६.

आचार्य कहते हैं कि जो कर्म, शिल्प, विद्या, मन्त्र, योग, आगम, अर्थ, यात्रा, अभिप्राय, तप और कर्मक्षय—इनमें सिद्ध अर्थात् सुपरिनिष्ठित एवं पूर्ण है वह सिद्ध है।[१] अभिप्राय अर्थात् बुद्धि की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने चार प्रकार की बुद्धि का वर्णन किया है : १. औत्पातिकी, २. वैनयिकी, ३. कर्मजा, ४. पारिणामिकी।[२] इन चारों प्रकार की बुद्धियों का सदृष्टान्त विवेचन किया गया है। कर्मक्षय की प्रक्रिया का व्याख्यान करते समय समुद्घात का स्वरूप बताया गया है।[३] इसके बाद अलाबु, एरण्डफल, अग्निशिखा और बाण के दृष्टान्त द्वारा सिद्ध आत्माओं की गति का स्वरूप समझाया गया है।[४] फिर सिद्धस्थान, सिद्धशिलाप्रमाण, सिद्धशिलास्वरूप, सिद्धावगाहना, सिद्धस्पर्शना, सिद्धलक्षण, सिद्धसुख आदि सिद्धसम्बन्धी अन्य बातों पर प्रकाश डालते हुए यही निष्कर्ष निकाला गया है कि सिद्ध अशरीरी होते हैं, हमेशा दर्शन और ज्ञान में उपयुक्त होते हैं, केवलज्ञान में उपयुक्त होकर सर्वद्रव्य और समस्त पर्यायों को विशेषरूप से जानते हैं, केवलदर्शन में उपयुक्त होकर सर्वद्रव्य और समस्त पर्यायों को सामान्यरूप से देखते हैं, उन्हें ज्ञान और दर्शन इन दोनों में से एक समय में एक ही उपयोग होता है क्योंकि युगपत् दो उपयोग नहीं हो सकते।[५] 'आचार्य' शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि आचार्य के चार प्रकार हैं : नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन पाँच प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण करता है, दूसरों के सामने उनका प्रभाषण और प्ररूपण करता है तथा दूसरों को अपनी क्रिया द्वारा आचार का ज्ञान कराता है वही भावाचार्य है।[६] उपाध्याय भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार के होते हैं। जो द्वादशांग का स्वयं अध्ययन करता है तथा दूसरों को वाचनारूप से उपदेश देता है उसे उपाध्याय कहते हैं।[७] 'उपाध्याय' पद की दूसरी निर्युक्ति इस प्रकार है : उपाध्याय के लिए 'उज्झा' शब्द है। 'उ' का अर्थ है उपयोगकरण और 'ज्झा' का अर्थ है ध्यानकरण। इस प्रकार 'उज्झा' का अर्थ है उपयोगपूर्वक ध्यान करनेवाला। उपाध्याय के लिए एक और शब्द है 'उपाज्झाउ'। 'उ' का अर्थ है उपयोगकरण, 'पा' का अर्थ है पाप का परिवर्जन, 'झा' का अर्थ है ध्यानकरण और 'उ' का अर्थ है उत्सारणाकर्म। इस प्रकार 'उपाज्झाउ' का अर्थ है उपयोगपूर्वक पाप का परिवर्जन करते हुए ध्याना-

१. गा० ९३१. २. गा० ९३२. ३. गा० ९४८–९५०. ४. गा० ९५१.
५. गा० ९५२–९८२. ६. गा० ९८७–९. ७. गा० ९९५.

रोहण से कर्मों का उत्सारण—अपनयन करने वाला।[1] साधु भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार के होते हैं। जो निर्वाण साधक व्यापार की साधना करता है उसे साधु कहते हैं अथवा जो सर्वभूतों में समभाव रखता है वह साधु है।[2] अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—इन पाँचों को नमस्कार करने से सभी प्रकार के पापों का नाश होता है। यह पंच नमस्कार सब मंगलों में प्रथम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ मंगल है।[3] यहाँ तक वस्तुद्वार का अधिकार है। आक्षेपद्वार मे यह बताया गया है कि नमस्कार या तो संक्षेप में करना चाहिए या विस्तार मे। संक्षेप में सिद्ध और साधु—इन दो को ही नमस्कार करना चाहिए। विस्तार से नमस्कार करने की अवस्था मे ऋषभादि अनेक नाम लिये जा सकते हैं। अतः पंचविध नमस्कार उपयुक्त नहीं है।[4] इस आक्षेप का प्रसिद्धिद्वार में निराकरण किया गया है। उसमे यह सिद्ध किया गया है कि पंचविध नमस्कार सहेतुक है अतः उपयुक्त है, अनुपयुक्त नहीं।[5] इसके बाद क्रमद्वार है। इसने जिस क्रम से नमस्कार किया गया है उसे युक्तियुक्त बताया गया है। पहले सिद्धों को नमस्कार न करके अरिहंतों को नमस्कार इसलिए किया गया है कि अरिहंतों के उपदेश से ही सिद्ध जाने जाते हैं अतः अरिहंतों का विशेष माहात्म्य है।[6] प्रयोजनद्वार में नमस्कार का उद्देश्य कर्मक्षय और मंगलागम बताया गया है। फलद्वार की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि नमस्कार का फल दो प्रकार का है: ऐहलौकिक और पारलौकिक। अर्थ, काम, आरोग्य, अभिरति आदि ऐहलौकिक फल के अन्तर्गत है। पारलौकिक फल में सिद्धि, स्वर्ग, सुकुलप्राप्ति आदि का समावेश होता है।[7] यहाँ तक नमस्कारविषयक विवेचन है।

पंचनमस्कार के बाद सामायिकसूत्र ग्रहण किया जाता है क्योंकि पंचनमस्कार सामायिक का ही एक अंग है। सामायिक किस प्रकार करना चाहिए, इसका करण, भय, अन्त अथवा भदन्त, सामायिक, सर्व, अवद्य, योग, प्रत्याख्यान, यावज्जीवन और त्रिविध पदों की व्याख्या के साथ विवेचन किया गया है।[8] सामायिक का लाभ कैसे होता है? इसका उत्तर देते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि सामायिक के सर्वघाती और देशघाती कर्मस्पर्द्धकों में से देशघाती स्पर्द्धकों की विशुद्धि की अनन्तगुणवृद्धि होने पर आत्मा को सामायिक का लाभ होता है।[9]

---

१. गा. ९९१. २. गा. १००२-४. ३. गा. १०१२. ४. गा. १०१३. ५. गा. १०१४. ६. गा. १०१६. ७. गा. १०१७-८. ८. गा. १०२३-१०३४. ९. गा. १०३५.

'साम', 'सम' और 'सम्यक्' के आगे 'इक' पद जोड़ने से जो पद बनते हैं वे सभी सामायिक के एकार्थक पद हैं। उनका नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपों से विचार हो सकता है।[1] सामायिक के और भी एकार्थक पद ये है : समता, सम्यक्त्व, प्रशस्त, शान्ति, शिव, हित, शुभ, अनिन्द्य, अगर्हित, अनवद्य।[2] हे भगवन् ! मैं सामायिक करता हूँ—करेमि भंते ! सामाइयं—यहाँ पर कौन कारक है, क्या करण है और क्या कर्म है ? कारण और करण में भेद है या अभेद ? आत्मा ही कारक है, आत्मा ही कर्म है और आत्मा ही करण है। आत्मा का परिणाम ही सामायिक है अतः आत्मा ही कर्ता, कर्म और करण है।[3] संक्षेप में सामायिक का अर्थ है तीन करण और तीन योग से सावद्य क्रिया का त्याग।[4] तीन करण अर्थात् करना, कराना और करते हुए का अनुमोदन करना; तीन योग अर्थात् मन, वचन और काया, इनसे होनेवाली सावद्य अर्थात् पापकारिणी क्रिया का जीवनपर्यन्त त्याग, यही सामायिक का उद्देश्य है।

चतुर्विंशतिस्तव :

आवश्यक सूत्र का दूसरा अध्ययन चतुर्विंशतिस्तव है। 'चतुर्विंशति' शब्द का छः प्रकार का और 'स्तव' शब्द का चार प्रकार का निक्षेप-न्यास है। चतुर्विंशति निक्षेप के छः प्रकार ये हैं : नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। स्तव-निक्षेप के चार प्रकार ये हैं : नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। पुष्प आदि सामग्री से पूजा करना द्रव्यस्तव है। सद्गुणों का उत्कीर्तन भावस्तव है। द्रव्यस्तव और भावस्तव में भावस्तव ही अधिक गुण वाला है क्योंकि जिन वचन में षट्जीव की रक्षा का प्रतिपादन किया गया है। जो लोग यह सोचते हैं कि द्रव्यस्तव बहु-गुण वाला है वे अनिपुणमति वाले हैं। द्रव्यस्तव में षट्जीव की रक्षा का विरोध आता है अतः संयमविद् साधु द्रव्यस्तव की इच्छा नहीं रखते हैं।

चतुर्विंशतिस्तव के लिए आवश्यक सूत्र में 'लोगस्सुज्जोयगरे' का पाठ है। इसकी निर्युक्ति करते हुए आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि 'लोक' (लोग) शब्द का निम्नोक्त आठ प्रकार के निक्षेप से विचार हो सकता है : नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव और पर्याय।[5] आलोक्यते इति 'आलोकः', प्रलोक्यते इति 'प्रलोकः', लोक्यते इति 'लोकः', संलोक्यते इति 'संलोकः'—ये सभी

---

१. गा. १०३७. २. गा. १०४०. ३. गा. १०४१-२. ४. गा. १०५१.
५. गा. १०६४.

शब्द एकार्थक हैं।[१] 'उद्योत' (उज्जोय) दो प्रकार का है: द्रव्योद्योत और भावोद्योत। अग्नि, चंद्र, सूर्य, मणि, विद्युतादि द्रव्योद्योत हैं। ज्ञान भावोद्योत है।[२] चौबीस जिनवरों को जो लोक के उद्योतकर कहा जाता है वह भावोद्योत की अपेक्षा से है, न कि द्रव्योद्योत की अपेक्षा से।[३] 'धर्म' भी दो प्रकार का है: द्रव्यधर्म और भावधर्म। भावधर्म के पुनः दो भेद हैं: श्रुतधर्म और चरणधर्म। श्रुत का स्वाध्याय श्रुतधर्म है। चारित्ररूप धर्म चरणधर्म है। इसे श्रमणधर्म कहते हैं। यह क्षान्त्यादिरूप दस प्रकार का है।[४] 'तीर्थ' के मुख्यरूप से चार निक्षेप हैं: नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इनमें से प्रत्येक के पुनः अनेक प्रकार हो सकते हैं।[५] जहाँ अनेक भवों में संचित अष्टविध कर्मरज तप और संयम से धोया जाता है वह भावतीर्थ है।[६] जिनवर अर्थात् तीर्थंकर इसी प्रकार के धर्मतीर्थ की स्थापना करते है। इसीलिए उन्हें 'धर्मतीर्थंकर' (धम्मतित्थयर) कहते है। उन्हें 'जिन' इसलिए कहते है कि उन्होंने क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषों को जीत लिया है। कर्मरजरूपी अरि का नाश करने के कारण उन्हें 'अरिहंत' भी कहते हैं।[७] इसके बाद निर्युक्तिकार चौबीस तीर्थंकरों के नामों की निक्षेपपद्धति से व्याख्या करते हैं। फिर उनकी विशेषताओं—गुणों पर प्रकाश डालते हैं।[८] इसके साथ 'चतुर्विंशतिस्तव' नामक द्वितीय अध्ययन की निर्युक्ति समाप्त हो जाती है।

वन्दना :

तृतीय अध्ययन का नाम वन्दना है। इस अध्ययन की निर्युक्ति करते हुए आचार्य सर्वप्रथम यह बताते हैं कि वन्दनाकर्म, चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म—ये पाँच सामान्यतया वन्दना के पर्याय हैं। वन्दना का नौ द्वारों से विचार किया गया है: १. वन्दना किसे करनी चाहिए, २. किसके द्वारा होनी चाहिए, ३. कब होनी चाहिए, ४. कितनी बार होनी चाहिए, ५. वन्दना करते समय कितनी बार झुकना चाहिए, ६. कितनी बार सिर झुकाना चाहिए, ७. कितने आवश्यकों से शुद्ध होना चाहिए, ८. कितने दोषों से मुक्त होना चाहिए, ९. वन्दना किसलिए करनी चाहिए।[९] इन द्वारों का निर्देश करने के बाद

---

१. गा. १०६५. २. गा. १०६६-७. ३. गा. १०६८. ४. गा. १०७०-१. ५. गा. १०७२. ६. गा. १०७५. ७. गा. १०८३. ८. गा. १०८७-११०९. ९. गा. १११०-१.

वन्द्यावन्द्य का बहुत विस्तार के साथ विचार किया गया है। श्रमणों को चाहिए कि वे असंयती माता, पिता, गुरु, सेनापति, प्रशासक, राजा, देव-देवी आदि को वन्दना न करें। जो संयती है, मेधावी है, सुसमाहित है, पंचसमिति और त्रिगुप्ति से युक्त है उसी श्रमण को वन्दना करें।[1] पार्श्वस्थ आदि संयमभ्रष्ट सन्यासियों को वन्दना करने मे न तो कीर्ति मिलती है, न निर्जरा ही होती है। इस प्रकार की वन्दना कायक्लेश मात्र है जो केवल कर्मबंध का कारण है।[2] इसके बाद संसर्ग से उत्पन्न होने वाले गुण-दोषों का वर्णन करते हुए आचार्य ने समुद्र के दृष्टान्त से यह समझाया है कि जिस प्रकार नदियों का मीठा पानी समुद्र के लवणजल मे गिरते ही खारा हो जाता है उसी प्रकार शीलवान् पुरुष शीलभ्रष्ट पुरुषों की संगति से शीलभ्रष्ट हो जाते है।[3] केवल बाह्य लिंग से प्रभावित न होकर पर्याय, पर्षद्, पुरुष, क्षेत्र, काल, आगम आदि बातें जान कर जिस समय जैसा उचित प्रतीत हो उस समय वैसा करना चाहिए।[4] जिनप्रणीत लिंग को वन्दना करने मे विपुल निर्जरा होती है, चाहे वह पुरुष गुणहीन ही क्यों न हो, क्योंकि वंदना करनेवाला अध्यात्मशुद्धि के लिए ही वंदना करता है।[5] अन्यलिंगी को जान-बूझकर नमस्कार करने से दोष लगता है क्योंकि वह निषिद्ध लिंग को धारण करता है। संक्षेप मे जो द्रव्य और भाव से सुश्रमण है वही वन्द्य है।[6] ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विविध भंगों का विचार करने के बाद आचार्य इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र— इन तीनों का सम्यक् योग होने पर ही सम्पूर्ण फल की प्राप्ति होती है। अतः जो हमेशा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय आदि मे लगे रहते हैं वे ही वंदनीय हैं और उन्हीं से जिनप्रवचन का यश फैलता है।[7]

वंदना करनेवाला पंचमहाव्रती आलस्यरहित, मानपरिवर्जितमति, संविग्न और निर्जरार्थी होता है।[8] जो आलसी, अभिमानी और पाप से भय न रखने वाला होता है उसमें वंदना करने की योग्यता कैसे आ सकती है?

जो धर्मकथा आदि से पराङ्मुख है अथवा प्रमत्त है उसे कभी भी वंदना न करें। जिस समय कोई आहार अथवा नीहार कर रहा हो उस समय उसे वन्दना न करे। जिस समय वह प्रशान्त, आसनस्थ और उपशान्त हो उसी समय उसके पास जाकर वंदना करे।[9]

---

१. गा. ११९३-४. २. गा. ११९६. ३. गा. ११२७-८. ४ गा. ११३६. ५. गा. ११३९. ६. गा. ११४५-७. ७. गा. ११६७-१२००. ८. गा. १२०४ ९. गा. १२०५-६.

वन्दना कितनी बार करना चाहिए ? इसका उत्तर देते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग, अपराध आदि आठ अवस्थाओं मे वन्दना करना चाहिए ।[1]

वन्दना करते समय दो बार झुकना चाहिए, बारह आवर्त लेने चाहिए (१. अहो, २. कायं, ३. काय, ४. जता भे, ५. जवणि, ६. ज्जं च भे । यह एक बार हुआ । इसी प्रकार दूसरी बार भी बोलना चाहिए) तथा चार बार सिर झुकाना चाहिए ।[2]

जो पचीस प्रकार के आवश्यकों से परिशुद्ध होकर गुरु को नमस्कार करता है वह शीघ्र ही या तो निर्वाण प्राप्त करता है या देवपद पर पहुँचता है ।[3]

कितने दोषों से मुक्त होकर वंदना करनी चाहिए ? इसके उत्तर में निर्युक्तिकार ने बत्तीस दोष गिनाये हैं जिनसे शुद्ध होकर ही वंदना करनी चाहिए ।[4]

वंदना किसलिए करनी चाहिए ? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि वंदना करने का मुख्य प्रयोजन विनय-प्राप्ति है क्योंकि विनय ही शासन का मूल है, विनीत ही संयती होता है, विनय से दूर रहने वाला न तो धर्म कर सकता है, न तप ।[5]

वन्दना की आवश्यकता और विधि की इतनी लम्बी भूमिका बाधने के बाद आचार्य 'वन्दना' के मूल पाठ 'इच्छामि खमासमणो' की सूत्रस्पर्शी व्याख्या प्रारंभ करते है । इसके लिए १. इच्छा, २. अनुज्ञापना, ३. अव्याबाध, ४. यात्रा, ५. यापना और ६. अपराधक्षमणा—इन छः स्थानों की निर्युक्ति करते हैं ।[6] नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि निक्षेपों से इनका संक्षिप्त विवेचन करके वंदनाध्ययन की निर्युक्ति समाप्त करते है । इसके बाद 'प्रतिक्रमण' नामक चतुर्थ अध्ययन शुरू होता है ।

प्रतिक्रमण :

प्रतिक्रमण[7] का तीन दृष्टियों से विचार किया जाता है : १. प्रतिक्रमणरूप क्रिया, २. प्रतिक्रमण का कर्ता अर्थात् प्रतिक्रामक और ३. प्रतिक्रन्तव्य अर्थात् प्रतिक्रमितव्य अशुभयोगरूप कर्म ।[8] जीव पापकर्मयोगों का प्रतिक्रामक है ।

---

१. गा. १२०७ २. गा. १२०९. ३. गा. १२११. ४. गा. १२१२–६. ५. गा. १२२०–१. ६. गा. १२२३. ७. स्वस्थानात्यत्परस्थानं प्रमादस्य वशाद् गतः । तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ॥ ८. गा. १२३६.

इसलिए जो ध्यानप्रशस्त योग हैं उनका साधु को प्रतिक्रमण नहीं करना चाहिए।[1] प्रतिक्रमण के निम्नोक्त पर्याय हैं : प्रतिक्रमण, प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि।[2] इन पर्यायों का अर्थ ठीक तरह समझ में आ जाए, इसके लिए निर्युक्तिकार ने प्रत्येक शब्द के लिए अलग-अलग दृष्टान्त दिए हैं। इसके बाद शुद्धि की विधि बताते हुए दिशा आदि की ओर संकेत किया है।[3]

प्रतिक्रमण दैवसिक, रात्रिक, इत्वरिक, यावत्कथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, उत्तमार्थक आदि अनेक प्रकार का होता है। पंचमहाव्रत, रात्रिभुक्तिविरति, चतुर्याम, भक्तपरिज्ञा आदि यावत्कथिक अर्थात् जीवनभर के लिए हैं। उच्चार, मूत्र, कफ, नासिकामल, आभोग, अनाभोग, सहसाकार आदि क्रियाओं के उपरान्त प्रतिक्रमण आवश्यक है।[4]

प्रतिक्रन्तव्य पांच प्रकार का है : मिथ्यात्वप्रतिक्रमण, असंयमप्रतिक्रमण, कषायप्रतिक्रमण, अप्रशस्तयोगप्रतिक्रमण तथा संसारप्रतिक्रमण। संसारप्रतिक्रमण के चार दुर्गतियों के अनुसार चार प्रकार हैं। भावप्रतिक्रमण का अर्थ है तीन करण और तीन योग से मिथ्यात्वादि का सेवन छोड़ना।[5] इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने आगे भी कुछ गाथाओं में नागदत्त का उदाहरण भी दिया है। इसके बाद यह बताया है कि प्रतिषिद्ध विषयों का आचरण करने, विहित विषयों का आचरण न करने, जिनोक्त वचनों में श्रद्धा न रखने तथा विपरीत प्ररूपणा करने पर प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए।[6] इसके बाद आलोचना आदि बत्तीस योगों का संग्रह किया गया है। उनके नाम ये हैं :[7] १. आलोचना, २. निरपलाप, ३. आपत्ति में दृढधर्मता, ४. अनिश्रितोपधान, ५. शिक्षा, ६. निष्प्रतिकर्मता, ७. अज्ञातता, ८. अलोभता, ९. तितिक्षा, १०. आर्जव, ११. शुचि, १२. सम्यग्दृष्टित्व, १३. समाधि, १४. आचारोपगत्व, १५. विनयोपगत्व, १६. धृतिमति, १७. संवेग, १८. प्रणिधि, १९. सुविधि, २०. संवर, २१. आत्मदोषोपसंहार, २२. सर्वकामविरक्तता, २३. मूलगुणप्रत्याख्यान, २४. उत्तरगुणप्रत्याख्यान, २५. व्युत्सर्ग, २६. अप्रमाद, २७. लवालव, २८. ध्यान, २९. मरणाभीति, ३०. संगपरिज्ञा, ३१. प्रायश्चित्तकरण, ३२. मरणान्ताराधना। इन योगों का अर्थ ठीक तरह से समझाने के लिए

---

१. गा. १२३७. २. गा. १२३८. ३. गा. १२३९–१२४३. ४. गा. १२४४–६. ५. गा. १२४७–८. ६. गा. १२६८. ७. गा. १२६९–१२७३.

विविध व्यक्तियों के उदाहरण भी दिए गए हैं।[1] इनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं : महागिरि, स्थूलभद्र, धर्मघोष, सुरेन्द्रदत्त, वारत्तक, धन्वन्तरी वैद्य, करकण्डु, आर्य पुष्पभूति। तदनन्तर अस्वाध्यायिक की निर्युक्ति की गई है। अस्वाध्याय दो प्रकार का है : आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ। परसमुत्थ के पुनः पाँच प्रकार हैं : संयमघातक, औत्पातिक, सदिव्य, व्युद्ग्राहक और शारीर।[2] इन पांचों प्रकारों को उदाहरणपूर्वक समझाया गया है। साथ मे बहुत विस्तार से यह भी बताया गया है कि किस काल और किस देश (स्थान) में श्रमण को स्वाध्याय नहीं करना चाहिए, स्वाध्याय के लिए कौनसा देश और कौनसा काल उपयुक्त है, गुरु आदि के समक्ष किस प्रकार स्वाध्याय करना चाहिए, आदि।[3] आत्मसमुत्थ अस्वाध्याय एक प्रकार का भी होता है और दो प्रकार का भी। श्रमणों के लिए एक प्रकार का है जो केवल व्रणदशा मे होता है। श्रमणियों के लिए व्रण तथा ऋतुकाल मे होने के कारण दो प्रकार का है।[4] तत्पश्चात् अस्वाध्याय से होने वाले परिणाम की चर्चा की गई है। इस चर्चा के साथ अस्वाध्यायिक की निर्युक्ति समाप्त होती है और साथ ही साथ चतुर्थ अध्ययन—प्रतिक्रमणाध्ययन की निर्युक्ति भी पूर्ण होती है।

कायोत्सर्ग :

प्रतिक्रमण के बाद कायोत्सर्ग है। यह आवश्यक सूत्र का पाचवॉं अध्ययन है। कायोत्सर्ग की निर्युक्ति करने के पूर्व आचार्य प्रायश्चित्त के भेद बताते हैं। प्रायश्चित्त दस प्रकार का है : १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. मिश्र, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. अनवस्थाप्य और १०. पाराचिक।[5] कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग एकार्थवाची है। यहाँ कायोत्सर्ग का अर्थ है व्रणचिकित्सा। व्रण दो प्रकार का होता है : तदुद्भव अर्थात् कायोत्थ और आगन्तुक अर्थात् परोत्थ। इनमे से आगन्तुक व्रण का शल्योद्धरण किया जाता है, न कि तदुद्भव का।[6] शल्योद्धरण की विधि शल्य की प्रकृति के अनुरूप होती है। जैसा व्रण होता है वैसी ही उसकी चिकित्सा होती है। यह बाह्य व्रण की चिकित्सा की बात हुई। आभ्यन्तर व्रण की चिकित्सा की भी अलग-अलग विधियाँ हैं। भिक्षाचर्या से उत्पन्न व्रण आलोचना से ठीक हो जाता है। व्रतों के अतिचारों की शुद्धि प्रतिक्रमण से होती है। किसी अतिचार

१. गा. १२७४-१३१४. २. गा. १३१६-७. ३. गा. १३१८-१३९७.
४. गा. १३९८. ५. गा. १४१३. ६. गा. १४१४.

की शुद्धि कायोत्सर्ग अर्थात् व्युत्सर्ग से होती है। कोई-कोई अतिचार तपस्या से शुद्ध होते हैं।[१] इस प्रकार आभ्यन्तर व्रण की चिकित्सा के भी अनेक उपाय हैं।

'कायोत्सर्ग' शब्द की व्याख्या करने के लिए निर्युक्तिकार निम्नलिखित ग्यारह द्वारों का आधार लेते हैं : १. निक्षेप, २. एकार्थकशब्द, ३. विधान-मार्गणा, ४. कालप्रमाण, ५. भेदपरिमाण, ६. अशठ, ७. शठ, ८. विधि, ९. दोष, १०. अधिकारी और ११. फल।[२]

'कायोत्सर्ग' में दो पद हैं : काय और उत्सर्ग। काय का निक्षेप बारह प्रकार का है और उत्सर्ग का छः प्रकार का। कायनिक्षेप के बारह प्रकार ये हैं : १. नाम, २. स्थापना, ३. शरीर, ४. गति, ५. निकाय, ६. अस्तिकाय, ७. द्रव्य, ८. मातृका, ९. संग्रह, १०. पर्याय, ११. भार और १२. भाव।[३] इनमें से प्रत्येक के अनेक भेद-प्रभेद होते हैं।

काय के एकार्थक शब्द ये हैं : काय, शरीर, देह, बोन्दि, चय, उपचय, संघात, उच्छ्रय, समुच्छ्रय, कलेवर, भस्त्रा, तनु, प्राणु।[४]

उत्सर्ग का निक्षेप छः प्रकार का है : नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।[५] उत्सर्ग के एकार्थवाची शब्द ये हैं : उत्सर्ग, व्युत्सर्जन, उज्झना, अवकिरण, छर्दन, विवेक, वर्जन, त्यजन, उन्मोचना, परिशातना, शातना।[६]

कायोत्सर्ग के विधान अर्थात् प्रकार दो हैं : चेष्टाकायोत्सर्ग और अभिभव-कायोत्सर्ग। भिक्षाचर्या आदि में होने वाला चेष्टाकायोत्सर्ग है; उपसर्ग आदि में होने वाला अभिभवकायोत्सर्ग है।[७]

अभिभवकायोत्सर्ग की कालमर्यादा अधिक से अधिक संवत्सर—एक वर्ष है और कम से कम अन्तर्मुहूर्त है।[८]

कायोत्सर्ग के भेदपरिमाण की चर्चा करते हुए निर्युक्तिकार नौ भेदों की गणना करते हैं : १. उच्छ्रितोच्छ्रित, २. उच्छ्रित, ३. उच्छ्रितनिषण्ण, ४. निषण्णोच्छ्रित, ५. निषण्ण, ६. निषण्णनिषण्ण, ७. निर्विण्णोच्छ्रित, ८. निर्विण्ण, ९. निर्विण्णनिर्विण्ण।[९] उच्छ्रित का अर्थ है ऊर्ध्वस्थ अर्थात् खड़ा हुआ, निषण्ण

---

१. गा. १४२०-२. २. गा. १४२१. ३. गा. १४२४-५. ४. गा. १४४१. ५. गा. १४४२. ६. गा. १४४६. ७. गा. १४४७. ८. गा. १४५३. ९. गा. १४५४-५.

का अर्थ है उपविष्ट अर्थात् बैठा हुआ और निर्विण्ण का अर्थ है सुप्त अर्थात् सोया हुआ।

भेदपरिमाण की चर्चा करते-करते आचार्य कायोत्सर्ग के गुणों की चर्चा शुरू कर देते हैं। कायोत्सर्ग से देह और मति की जड़ता की शुद्धि होती है, सुख-दुःख सहन करने की क्षमता आती है, अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्यत्वादि का चिन्तन होता है तथा एकाग्रतापूर्वक शुभध्यान का अभ्यास होता है। शुभध्यान का आधार लेकर आचार्य ध्यान की चर्चा छेड़ देते हैं।[1]

ध्यान का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि अन्तर्मुहूर्त के लिए जो चित्त की एकाग्रता है वही ध्यान है। ध्यान चार प्रकार का होता है: आर्त्त, रुद्र, धर्म और शुक्ल।[2] इनमें से प्रथम दो प्रकार संसारवर्धन के हेतु हैं और अन्तिम दो प्रकार विमोक्ष के हेतु हैं। प्रस्तुत अधिकार अन्तिम दो प्रकार के ध्यान का ही है।[3] इतना सामान्य संकेत करने के बाद निर्युक्तिकार ध्यान से सम्बन्ध रखने वाली अन्य बातों का वर्णन करते हैं।[4]

कायोत्सर्ग मोक्षपथप्रदाता है, ऐसा समझकर धीर श्रमण दिवसादिसंबंधी अतिचारों का परिज्ञान करने के लिए कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं। ये अतिचार कौन से हैं? निर्युक्तिकार आगे की कुछ गाथाओं में विविध प्रकार के अतिचारों का स्वरूप व उनसे शुद्ध होने का उपाय बताते हैं। साथ ही कायोत्सर्ग की विधि की ओर भी संकेत करते हैं। साधुओं को चाहिए कि सूर्य के रहते हुए ही प्रस्रवणोच्चारकालसम्बन्धी भूमि को अच्छी तरह देख कर अपने-अपने स्थान पर आकर सूर्यास्त होते ही कायोत्सर्ग में स्थित हो जाएँ।[5] दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमणों के कायोत्सर्ग नियत हैं, गमनादिविषयक शेष कायोत्सर्ग अनियत हैं। अब नियतकायोत्सर्गों के उच्छ्वासों की संख्या बताते हैं: दैवसिक में सौ उच्छ्वास, रात्रिक में पचास, पाक्षिक में तीन सौ, चातुर्मासिक में पाँच सौ, सांवत्सरिक में एक हजार आठ।[6] इसी प्रकार प्रत्येक प्रकार के कायोत्सर्ग के लिए 'लोगस्सुज्जोयगरे' के पाठ भी नियत है: दैवसिक कायोत्सर्ग में चार, रात्रिक में दो, पाक्षिक में बारह, चातुर्मासिक में बीस और सांवत्सरिक में चालीस।[7] अनियतकायोत्सर्ग के लिए भी इसी प्रकार के निश्चित नियम हैं।

---

१. गा. १४५७. २. गा. १४५८. ३. गा. १४५९. ४. गा. १४६०–१४९१. ५. गा. १५१२. ६. गा. १५२४–५. ७. गा. १५२६.

अशठद्वार का व्याख्यान करते हुए कहा गया है कि साधु अपनी शक्ति की मर्यादा के अनुसार ही कायोत्सर्ग करे। शक्ति की सीमा का उल्लंघन करने से अनेक दोष उत्पन्न होने का भय रहता है।[1]

शठद्वार की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते है कि कायोत्सर्ग के समय छलपूर्वक नींद लेना, सूत्र अथवा अर्थ की प्रतिपृच्छा करना, कांटा निकालना, प्रस्रवण अर्थात् पेशाब करने चले जाना आदि कार्य दोषपूर्ण है। इनसे अनुष्ठान झूठा हो जाता है।[2]

कायोत्सर्ग की विधि का विधान करते हुए आचार्य कहते है कि गुरु के समीप ही कायोत्सर्ग प्रारम्भ करना चाहिए तथा गुरु के समीप ही समाप्त करना चाहिए। कायोत्सर्ग के समय दाहिने हाथ मे मुखवस्त्रिका और बाएँ हाथ मे रजोहरण रखना चाहिए।[3]

कायोत्सर्ग के निम्नांकित दोष है : १. घोटकदोष, २. लतादोष, ३. स्तम्भ-कुड्यदोष, ४. मालदोष, ५. शबरीदोष, ६. वधूदोष, ७. निगडदोष, ८. लम्बोत्तरदोष, ९. स्तनदोष, १०. उद्धिदोष, ११. संयतीदोष, १२. खलिनदोष, १३. वायसदोष, १४. कपित्थदोष, १५. शीर्षकम्पदोष, १६. मूकदोष, १७. अंगुलिभ्रूदोष, १८. वारुणीदोष, १९. प्रेक्षादोष।[4]

अब आचार्य अधिकारी का स्वरूप बताते है। जो वासी और चन्दन दोनो को समान समझता है, जिसकी जीने और मरने मे समबुद्धि है, जो देह की ममता से परे है वही कायोत्सर्ग का सच्चा अधिकारी है।[5]

कायोत्सर्ग के अन्तिम द्वार—फलद्वार की चर्चा करते हुए निर्युक्तिकार कहते है कि सुभद्रा, राजा उदितोदित, श्रेष्ठिभार्या मित्रवती, सोदास, खड्गस्तम्भन आदि उदाहरणों से कायोत्सर्ग के ऐहलौकिक फल का अनुमान लगा लेना चाहिए। पारलौकिक फल के रूप मे सिद्धि, स्वर्ग आदि समझने चाहिए।[6] यहाँ कायोत्सर्ग नामक पंचम अध्ययन के ग्यारह द्वारों की चर्चा समाप्त होती है।

प्रत्याख्यान :

आवश्यक सूत्र का षष्ठ अध्ययन प्रत्याख्यान के रूप मे है। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु प्रत्याख्यान का छः दृष्टियों से व्याख्यान करते हैं : १. प्रत्याख्यान, २. प्रत्याख्याता, ३. प्रत्याख्येय, ४. पर्षद्, ५. कथनविधि और ६. फल।[7]

---

१. गा. १५३६. २. गा. १५३८. ३. गा. १५३९–१५५०. ४. गा. १५४१–२. ५. गा. १५४३. ६. गा. १५४५. ७. गा. १५५०.

प्रत्याख्यान के छः भेद हैं : १. नामप्रत्याख्यान, २. स्थापनाप्रत्याख्यान, ३. द्रव्यप्रत्याख्यान, ४. अदित्साप्रत्याख्यान, ५. प्रतिषेधप्रत्याख्यान और ६. भाव-प्रत्याख्यान।[१] प्रत्याख्यान की शुद्धि छः प्रकार से होती है : १. श्रद्धानशुद्धि, २. जाननाशुद्धि, ३. विनयशुद्धि, ४. अनुभाषणाशुद्धि, ५. अनुपालनाशुद्धि, ६. भावशुद्धि।[२] अशन, पान, खादिम और स्वादिम—ये चार प्रकार की आहार-विधियां हैं। इन चार प्रकार के आहारों को छोड़ना आहार-प्रत्याख्यान है। जो शीघ्र ही क्षुधा को शान्त करता है वह अशन है। जो प्राण अर्थात् इन्द्रियादि का उपकार करता है वह पान है। जो आकाश में समाता है अर्थात् उदर के रिक्त स्थान में भरा जाता है वह खादिम है। जो सरस आहार के गुणों को स्वाद प्रदान करता है वह स्वादिम है।[३] प्रत्याख्यान के गुणों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रत्याख्यान से आस्रव के द्वार अर्थात् कर्मागम के द्वार बंद हो जाते हैं, फलतः आस्रव का उच्छेद होता है। आस्रवोच्छेद से तृष्णा का नाश होता है। तृष्णोच्छेद से मनुष्य के अन्दर अतुल उपशम अर्थात् मध्यस्थभाव पैदा होता है। मध्यस्थभाव से पुनः प्रत्याख्यान की विशुद्धि होती है। इससे शुद्ध चारित्रधर्म का उदय होता है जिससे कर्मनिर्जरा होती है और क्रमशः अपूर्वकरण होता हुआ श्रेणिक्रम से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। अन्त में शाश्वत सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।[४] प्रत्याख्यान दस प्रकार के आकारों से ग्रहण किया व पाला जाता है : १. नमस्कार, २. पौरुष्य, ३. पुरिमार्द्ध, ४. एकाशन, ५. एकस्थान, ६. आचाम्ल, ७. अभक्तार्थ, ८. चरम, ९. अभिग्रह, १०. विकृति।[५]

अब प्रत्याख्याता का स्वरूप बताते हैं। प्रत्याख्याता गुरु होता है जो यथोक्तविधि से शिष्य को प्रत्याख्यान कराता है। गुरु मूलगुण और उत्तरगुण से शुद्ध तथा प्रत्याख्यान की विधि जानने वाला होता है। शिष्य कृतिकर्मादि की विधि जानने वाला, उपयोगपरायण, ऋजु प्रकृति वाला, संविग्न और स्थिरप्रतिज्ञ होता है।[६]

प्रत्याख्यातव्य का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि प्रत्याख्यातव्य दो प्रकार का होता है : द्रव्यप्रत्याख्यातव्य और भावप्रत्याख्यातव्य। अशनादि का प्रत्याख्यान प्रथम प्रकार का है। अज्ञानादि का प्रत्याख्यान दूसरे प्रकार का है।[७]

---

१. गा. १५५१. २. गा. १५८०, ३. गा. १५८१–२. ४. गा. १५८८–१५९०. ५. गा. १५९१–१६०६. ६ गा. १६०७–९. ७. गा. १६११.

विनीत एवं अव्याक्षिप्तरूप से शिष्य के उपस्थित होने पर प्रत्याख्यान कराना चाहिए। यही पर्षद् द्वार है।[१]

कथनविधि इस प्रकार है: आज्ञाग्राह्य अर्थात् आगमग्राह्य विषय का कथन आगम द्वारा ही करना चाहिए; दृष्टान्तवाच्य अर्थ का कथन दृष्टान्त द्वारा ही करना चाहिए। ऐसा न करने से कथनविधि की विराधना होती है।[२]

फल का व्याख्यान करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि प्रत्याख्यान का फल ऐहलौकिक और पारलौकिक दो प्रकार का होता है। ऐहलौकिक फल के दृष्टान्त के रूप में धम्मिल्लादि और पारलौकिक फल के दृष्टान्त के रूप में दामन्नकादि समझने चाहिए। जिनवरोपदिष्ट प्रत्याख्यान का सेवन करके अनन्त जीव शीघ्र ही शाश्वत सुखरूप मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं।[३] फल प्रत्याख्यान का अन्तिम द्वार है और प्रत्याख्यान आवश्यक सूत्र का अन्तिम अध्ययन है अतः इस द्वार की निर्युक्ति के साथ आवश्यकनिर्युक्ति समाप्त होती है।

आवश्यकनिर्युक्ति के इस विस्तृत परिचय से सहज ही अनुमान लगाया जासकता है कि जैन निर्युक्तिग्रंथों मे आवश्यकनिर्युक्ति का कितना महत्त्व है। श्रमण-जीवन की सफल साधना के लिए अनिवार्य सभी प्रकार के विधि-विधानों का संक्षिप्त एवं सुव्यवस्थित निरूपण आवश्यकनिर्युक्ति की एक बहुत बड़ी विशेषता है। जैन परम्परा से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों का प्रतिपादन भी सर्वप्रथम इसी निर्युक्ति मे किया गया है। ये सब बातें आवश्यकनिर्युक्ति के अध्ययन से स्पष्ट मालूम होती हैं।

१. गा. १६१२. २. गा. १६१३. ३. गा. १६१४-५.

तृतीय प्रकरण

दशवैकालिकनिर्युक्ति

सर्वप्रथम निर्युक्तिकार ने सर्वसिद्धों को मंगलरूप नमस्कार करके दशवैकालिकनिर्युक्ति[1] रचने की प्रतिज्ञा की है। मंगल के विषय में वे कहते हैं कि ग्रथ के आदि, मध्य और अन्त में विधिपूर्वक मंगल करना चाहिए। मंगल नामादि भेद से चार प्रकार का होता है। भावमंगल का अर्थ श्रुतज्ञान है। वह चार प्रकार का है: चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग (कालानुयोग) और द्रव्यानुयोग। चरणकरणानुयोग के द्वार ये हैं: निक्षेप, एकार्थ, निरुक्त, विधि, प्रवृत्ति, किसके द्वारा, किसका, द्वारभेद, लक्षण, पर्षद् और सूत्रार्थ।[2]

दशवैकालिक शब्द का व्याख्यान करने के लिए 'दश' और 'काल' का निक्षेप पद्धति से विचार करना चाहिए। 'दश' के पूर्व 'एक' का निक्षेप करते हुए आचार्य कहते हैं कि एकक के नाम, स्थापना, द्रव्य, मातृकापद, संग्रह, पर्याय और भाव—ये सात प्रकार हैं। दशक का निक्षेप छः प्रकार का है: नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। काल के दस भेद इस प्रकार है: बाला, क्रीडा, मंदा, बला, प्रज्ञा, हायिनि, प्रपंचा, प्राग्भारा, मृन्मुखी और शायिनी।[3] ये प्राणियों की दस दशाएं—अवस्थाविशेष हैं।

काल का द्रव्य, अद्ध, यथायुष्क, उपक्रम, देश, काल, प्रमाण, वर्ण और भाव—इन नौ दृष्टियों से विचार करना चाहिए।[4]

---

१. (अ) हारिभद्रीय विवरणसहित: प्रकाशक-देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, १९१८.

(आ) निर्युक्ति व मूल: सम्पादक-E. Leumann, ZDMG. भा. ४६, पृ. ५८१-६६३.

२ गा. १-५. ३. गा. ८-१०. ४. गा. ११.

दशकालिक अथवा दशवैकालिक 'दश' और 'काल' इन दो पदों से सम्बन्ध रखता है। दशकालिक मे 'दश' का प्रयोग इसलिए किया गया है कि इस सूत्र मे दस अध्ययन है। काल का प्रयोग इसलिए है कि इस सूत्र की रचना उस समय हुई, जबकि पौरुषी व्यतीत हो चुकी थी। अथवा जो दश अध्ययन पूर्वों से उद्धृत किये गये उनका सुव्यवस्थित निरूपण विकाल अर्थात् अपराह्न मे किया गया इसीलिए इस सूत्र का नाम दशवैकालिक रखा गया। इस सूत्र की रचना मनक नामक शिष्य के आधार से आचार्य शय्यम्भव ने की।[1]

दशवैकालिक सूत्र मे द्रुमपुष्पिका आदि दस अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन मे धर्म की प्रशंसा की गई है। दूसरे अध्ययन मे धृति की स्थापना की गई है और बताया गया है कि यही धर्म है। तीसरे अध्ययन मे क्षुल्लिका अर्थात् लघु आचारकथा का अधिकार है। चौथे अध्ययन में आत्मसयम के लिए षड्-जीवरक्षा का उपदेश दिया गया है। पचम अध्ययन भिक्षाविशुद्धि से सम्बन्ध रखता है। भिक्षाविशुद्धि तप और सयम का पोषण करने वाली है। छठे अध्ययन मे महती अर्थात् बृहद् आचारकथा का प्रतिपादन किया गया है। सप्तम अध्ययन मे वचनविभक्ति का अधिकार है। आठवा अध्ययन प्रणिधान अर्थात् विशिष्ट चित्तधर्मसम्बन्धी है। नवें अध्ययन मे विनय का तथा दसवे मे भिक्षु का अधिकार है। इन अध्ययनो के अतिरिक्त इस सूत्र मे दो चूलिकाए भी हैं। प्रथम चूलिका मे सयम मे स्थिरीकरण का अधिकार है और दूसरी मे विविक्तचर्या का वर्णन है। यह दशवैकालिक का सक्षिप्त अर्थ है।[2]

द्रुमपुष्पिका नामक प्रथम अध्ययन की निर्युक्ति मे सामान्य श्रुताभिधान चार प्रकार का बताया गया है: अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा।[3] आत्मा की कर्ममल से मुक्ति ही भावाध्ययन है। द्रुम और पुष्प का निक्षेप करते हुए कहा गया है कि द्रुम नाम, स्थापना, द्रव्य और भावभेद से चार प्रकार का है। इसी प्रकार पुष्प का निक्षेप भी चार प्रकार का है। द्रुम के पर्यायवाची शब्द ये हैं: द्रुम, पादप, वृक्ष, अगम, विटपी, तरु, कुह, महीरुह, रोपक, रुञ्जक। पुष्प के एकार्थक शब्द ये हैं: पुष्प, कुसुम, फुल्ल, प्रसव, सुमन, सूक्ष्म।[4]

सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति करते हुए आचार्य 'धर्म' पद का व्याख्यान इस प्रकार करते हैं कि धर्म चार प्रकार का होता है: नामधर्म, स्थापनाधर्म, द्रव्य-

१. गा १२, ५. २. गा. १९–२५.
३. गा. २६–७. ४. गा. ३५–६.

धर्म और भावधर्म। धर्म के लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद भी होते है। लौकिक धर्म अनेक प्रकार का होता है। गम्यधर्म, पशुधर्म, देशधर्म, राज्यधर्म, पुरवरधर्म, ग्रामधर्म, गणधर्म, गोष्ठीधर्म, राजधर्म आदि लौकिक धर्म के भेद हैं। लोकोत्तर धर्म दो प्रकार का है: श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। श्रुतधर्म स्वाध्यायरूप है और चारित्रधर्म श्रमणधर्मरूप है।[2]

मंगल भी द्रव्य और भावरूप होता है। पूर्णकलशादि द्रव्यमंगल है। धर्म भावमंगल है।[2]

हिंसा के प्रतिकूल अहिंसा होती है। उसके भी द्रव्यादि चार भेद होते हैं। प्राणातिपातविरति आदि भाव अहिंसा है।[3]

आचार्य संयम की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय की मन, वचन, और काय से यतना रखना संयम है।[4]

तप बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। अनशन, ऊनोदरता, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता बाह्य तप के भेद हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग आभ्यंतर तप के भेद हैं।[5]

हेतु और उदाहरण की उपयोगिता बताते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि श्रोता की योग्यता को ध्यान में रखते हुए पांच अथवा दस अवयवों का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण दो प्रकार का होता है। ये दो प्रकार पुनः चार-चार प्रकार के होते हैं। हेतु चार प्रकार का होता है। हेतु का प्रयोजन अर्थ की सिद्धि करना है।[6] आचार्य ने उदाहरण का स्वरूप समझाने के लिए अनेक दृष्टान्त देते हुए उदाहरण के विविध द्वारों का विस्तृत विवेचन किया है। उदाहरण के चार तरह के दोष इस प्रकार हैं: अधर्मयुक्त, प्रतिलोम, आत्मोपन्यास और दुरुपनीत।[7] हेतु के चार प्रकार ये हैं: यापक, स्थापक, व्यंसक और लूषक।[8] प्रथम अध्ययन में भ्रमर का उदाहरण अनियतवृत्तित्व का दिग्दर्शन कराने के लिए दिया गया है।[9]

सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति करते हुए आचार्य विहंगम शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं:-विहंगम दो प्रकार का होता है: द्रव्यविहगम और भाव-

---

१. गा. ३९–४३.	४. गा. ४६.	७. गा. ८१–५.
२. गा. ४४.	५. गा. ४७–८.	८. गा. ८६–८.
३. गा. ४५.	६. गा. ५०–१.	९. गा. ९७.

विहंगम। जिस पूर्वोपात्त कर्म के उदय के कारण जीव विहंगमकुल में उत्पन्न होता है वह द्रव्यविहंगम है। भावविहंगम के पुनः दो भेद हैं: गुणसिद्ध और संज्ञासिद्ध। जो विह अर्थात् आकाश में प्रतिष्ठित है उसे गुणसिद्ध विहंगम कहते हैं। जो आकाश में गमन करते हैं अर्थात् उड़ते हैं वे सभी संज्ञासिद्ध विहंगम हैं। प्रस्तुत प्रसंग आकाश में गमन करने वाले भ्रमरों का है।[1]

हेतु और दृष्टान्त के प्रसंग पर जिन दस अवयवों का निर्देश ऊपर किया गया है उनके नाम ये हैं: १. प्रतिज्ञा, २. विभक्ति, ३. हेतु, ४. विभक्ति, ५. विपक्ष, ६. प्रतिबोध, ७. दृष्टान्त, ८. आशंका, ९. तत्प्रतिषेध, १०. निगमन। निर्युक्तिकार ने इन दस प्रकार के अवयवों पर दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन को अच्छी तरह कसा है और यह सिद्ध किया है कि इस अध्ययन की रचना में इन अवयवों का सम्यक्रूपेण अनुसरण किया है।[2]

दूसरे अध्ययन के प्रारंभ में 'श्रामण्यपूर्वक' की निक्षेप-पद्धति से व्याख्या की गई है। 'श्रामण्य' का निक्षेप चार प्रकार का है तथा 'पूर्वक' का तेरह प्रकार का। जो संयत है वही भावश्रमण है। आगे की कुछ गाथाओं में भावश्रमण का बहुत ही नपा-तुला और भावपूर्ण वर्णन किया गया है।[3] 'श्रमण' शब्द के पर्याय ये हैं: प्रव्रजित, अनगार, पाखंडी, चरक, तापस, भिक्षु, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रंथ, संयत, मुक्त, तीर्ण, त्राता, द्रव्य, मुनि, क्षान्त, दान्त, विरत, रूक्ष, तीरार्थी।[4] 'पूर्व' के निक्षेप के तेरह प्रकार ये हैं: १. नाम, २. स्थापना, ३. द्रव्य, ४. क्षेत्र, ५. काल, ६. दिक्, ७. तापक्षेत्र, ८. प्रज्ञापक, ९. पूर्व, १०. वस्तु, ११. प्राभृत, १२. अतिप्राभृत और १३. भाव।[5] इसके बाद 'काम' का नामादि चार प्रकार के निक्षेप से विचार किया गया है। भावकाम दो प्रकार का है: इच्छाकाम और मदनकाम। इच्छा प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार की होती है। मदन का अर्थ है वेदोपयोग अर्थात् स्त्रीवेदादि के विपाक का अनुभव। प्रस्तुत अधिकार मदनकाम का है।[6]

'पद' की निर्युक्ति करते हुए आचार्य कहते हैं कि पद चार प्रकार का होता है: नामपद, स्थापनापद, द्रव्यपद और भावपद। भावपद के दो भेद हैं: अपराधपद और नोअपराधपद। नोअपराधपद के पुनः दो भेद हैं: मातृकापद और नोमातृकापद। नोमातृकापद के भी दो भेद हैं: ग्रथित और प्रकीर्णक। ग्रथित चार प्रकार का होता है: गद्य, पद्य, गेय और चौर्ण।

---

१. गा. ११७–१२२ ३. गा. १५२–७. ५. गा. १६०.
२. गा. १३७–१४८. ४. गा. १५८–९. ६. गा. १६१–३.

प्रकीर्णक के अनेक भेद होते हैं। इंद्रिय, विषय, कषाय, परीषह, वेदना, उपसर्ग आदि अपराधपद हैं। श्रमणधर्म के पालन के लिए इनका परिवर्जन आवश्यक है।[1]

तीसरे अध्ययन का नाम क्षुल्लिकाचारकथा है। निर्युक्तिकार क्षुल्लक, आचार और कथा—इन तीनों का निक्षेप करते हैं। क्षुल्लक महत् सापेक्ष है अतः महत् का निक्षेप करते हुए कहा गया है कि नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रधान, प्रतीत्य और भाव—इन आठ भेदों के साथ महत् का विचार करना चाहिए। क्षुल्लक महत् का प्रतिपक्षी है अतः उसके भी ये ही आठ भेद हैं। आचार का निक्षेप नामादि भेद से चार प्रकार का है। नामन, धावन, वामन, शिक्षापन आदि द्रव्याचार हैं। भावाचार पांच प्रकार का है: दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य।[2] कथा चार प्रकार की होती है: अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रकथा। अर्थकथा के निम्नोक्त भेद हैं: विद्या, शिल्प, उपाय, अनिर्वेद, सचय, दक्षत्व, साम, दण्ड, भेद और उपप्रदान। कामकथा के निम्नलिखित भेद हैं: रूप, वय, वेष, दाक्षिण्य, विषयज्ञ, दृष्ट, श्रुत, अनुभूत और संस्तव। धर्मकथा चार प्रकार की है: आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी। धर्म, अर्थ और काम से मिश्रित कथा का नाम मिश्रकथा है। कथा से विपक्षभूत विकथा है। उसके स्त्रीकथा, भक्तकथा, राजकथा, चौरजनपदकथा, नटनर्तकजल्लमुष्टिककथा आदि अनेक भेद हैं। श्रमण को चाहिए कि वह क्षेत्र, काल, पुरुष, सामर्थ्य आदि का ध्यान रखते हुए अनवद्य कथा का व्याख्यान करे।[3]

चतुर्थ अध्ययन का नाम षड्जीवनिकाय है। इसकी निर्युक्ति में एक, छः, जीव, निकाय और शस्त्र का निक्षेप-पद्धति से विचार किया गया है। आचार्य ने जीव के निम्नोक्त लक्षण बताये हैं: आदान, परिभोग, योग, उपयोग, कषाय, लेश्या, आन, अपान, इन्द्रिय, बन्ध, उदय, निर्जरा, चित्त, चेतना, संज्ञा, विज्ञान, धारणा, बुद्धि, ईहा, मति, वितर्क।[4] शस्त्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि द्रव्यशस्त्र स्वकाय, परकाय अथवा उभयकायरूप होता है। भावशस्त्र असंयम है।[5]

पिण्डैषणा नामक पंचम अध्ययन की निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने पिण्ड और एषणा इन दो पदों का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया है। गुड़, ओदन

---

१. गा. १६६–१७७. ३. गा. १८८–२१५.
२. गा. १७८–१८७. ४. गा. २२३–४. ५. गा. २३१.

आदि द्रव्यपिण्ड हैं। क्रोधादि चार भावपिण्ड हैं। द्रव्यैषणा तीन प्रकार की है : सचित्त, अचित्त और मिश्र। भावैषणा दो प्रकार की है : प्रशस्त और अप्रशस्त। ज्ञानादि प्रशस्त भावैषणा है। क्रोधादि अप्रशस्त भावैषणा है। प्रस्तुत अधिकार द्रव्यैषणा का है।[१]

षष्ठ अध्ययन का नाम महाचारकथा है। इसकी निर्युक्ति में आचार्य ने यह निर्देश किया है कि क्षुल्लिकाचारकथा की निर्युक्ति में महत्, आचार और कथा का व्याख्यान हो चुका है।[२] सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति करते हुए आचार्य 'धर्म' शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं:—धर्म दो प्रकार का होता है : अगारधर्म और अनगारधर्म। अगारधर्म बारह प्रकार का है : पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। अनगारधर्म दस प्रकार का है : क्षान्ति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।[३] धान्य २४ प्रकार का होता है : १. यव, २. गोधूम, ३. शालि, ४. व्रीहि, ५. षष्टिक, ६. कोद्रव, ७. अणुक, ८. कगु, ९. रालक, १०. तिल, ११ मुद्ग, १२. माष, १३. अतसी, १४. हरिमंथ, १५. त्रिपुटक, १६. निष्पाव, १७. सिलिंद, १८. राजमाष, १९. इक्षु, २०. मसूर, २१. तुवरी, २२. कुलत्थ, २३. धान्यक और २४. कलाय। रत्न २४ प्रकार के होते हैं : १. सुवर्ण, २. त्रपु, ३. ताम्र, ४. रजत, ५. लोह, ६. सीसक, ७. हिरण्य, ८. पाषाण, ९. वज्र, १०. मणि, ११. मौक्तिक, १२. प्रवाल, १३. शंख, १४. तिनिश, १५. अगरु, १६. चंदन, १७. वस्त्र, १८. अमिल, १९. काष्ठ, २०. चर्म, २१. दन्त, २२. वाल, २३ गंध और २४. द्रव्यौषध। स्थावर के तीन भेद हैं : भूमि, गृह और तरु। द्विपद दो प्रकार के हैं : चक्रारबद्ध और मानुष। चतुष्पद दस प्रकार के हैं : गो, महिषी, उष्ट्र, अज, एडक, अश्व, अश्वतर, घोटक, गर्दभ और हस्ती। काम दो प्रकार का है : संप्राप्त और असंप्राप्त। संप्राप्त काम चौदह प्रकार का और असंप्राप्त काम दस प्रकार का है। असंप्राप्त काम के दस प्रकार ये हैं : अर्थ, चिंता, श्रद्धा, संस्मरण, विक्लवता, लज्जानाश, प्रमाद, उन्माद, तद्भावना और मरण। संप्राप्त काम के चौदह प्रकार ये हैं : दृष्टिसंपात, संभाषण, हसित, ललित, उपगूहित, दंतनिपात, नखनिपात, चुंबन, आलिंगन, आदान, करण, आसेवन, संग और क्रीडा।[४]

---

१. गा. २३४–२४४. २. गा. २४५. ३. गा. २४६–८. ४. गा. २५०–२६२.

सप्तम अध्ययन का नाम वाक्यशुद्धि है। 'वाक्य' का निक्षेप चार प्रकार का है। भाषाद्रव्य को द्रव्यवाक्य कहते हैं। भाषाशब्द भाववाक्य है। वाक्य के एकार्थक शब्द ये हैं: वाक्य, वचन, गिरा, सरस्वती, भारती, गो, वाक्, भाषा, प्रज्ञापनी, देशनी, वाग्योग, योग।[1] सत्यभाषा जनपदादि के भेद से दस प्रकार की होती है; मृषाभाषा क्रोधादि के भेद से दस प्रकार की होती है; मिश्रभाषा उत्पन्नादि भेद से अनेक प्रकार की होती है; असत्यामृषा आमंत्रणी आदि भेद से अनेक तरह की होती है।[2] शुद्धि का निक्षेप भी नामादि चार प्रकार का है। भावशुद्धि तीन प्रकार की है: तद्भाव, आदेशभाव और प्राधान्यभाव।[3]

अष्टम अध्ययन का नाम आचारप्रणिधि है। आचार का निक्षेप पहले हो चुका है। प्रणिधि दो प्रकार की है: द्रव्यप्रणिधि और भावप्रणिधि। निधानादि द्रव्यप्रणिधि है। भावप्रणिधि के दो भेद हैं: इन्द्रियप्रणिधि और नोइन्द्रियप्रणिधि। ये पुनः प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार की होती हैं।[4]

विनयसमाधि नामक नवम अध्ययन की निर्युक्ति में आचार्य भावविनय के पाँच भेद करते हैं: लोकोपचार, अर्थनिमित्त, कामहेतु, भयनिमित्त और मोक्षनिमित्त। मोक्षनिमित्तक विनय पाँच प्रकार का है: दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचारसम्बन्धी।[5]

दसवें अध्ययन का नाम सभिक्षु है। सकार का निक्षेप नामादि चार प्रकार का है। द्रव्यसकार प्रशंसादिविषयक है। भावसकार तदुपयुक्त जीव है। निर्देश, प्रशंसा और अस्तिभाव में सकार का प्रयोग होता है। प्रस्तुत अध्ययन में निर्देश और प्रशंसा का अधिकार है।[6] भिक्षु का निक्षेप भी नामादि चार प्रकार का है। भावभिक्षु दो प्रकार का है: आगमतः और नोआगमतः। भिक्षु-पदार्थ में उपयुक्त आगमतः भावभिक्षु है। भिक्षुगुणसंवेदक नोआगमतः भावभिक्षु है।[7] भिक्षु के पर्याय ये हैं: तीर्ण, तायी, द्रव्य, व्रती, क्षान्त, दान्त, विरत, मुनि, तापस, प्रज्ञापक, ऋजु, भिक्षु, बुद्ध, यति, विद्वान्, प्रव्रजित, अनगार, पाषण्डी, चरक, ब्राह्मण, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, संयत, मुक्त, साधु, रूक्ष, तीरार्थी।[8] इनमें से अधिकांश शब्द 'श्रमण' के पर्यायों में आ चुके हैं।

---

१. गा. २६९-२७०.
२. गा. २७३-६.
३. गा. २८६.
४. गा. २९३-४.
५. गा. ३०९-३२२.
६. गा. ३२८-९.
७. गा. ३४१.
८. गा. ३४५-७.

चूलिकाओं की निर्युक्ति करते हुए कहा गया है कि 'चूलिका' का निक्षेप द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावपूर्वक होता है। कुक्कुटचूडा आदि सचित्त द्रव्यचूडा है, मणिचूडा आदि अचित्त द्रव्यचूडा है और मयूरशिखा आदि मिश्र द्रव्यचूडा है। भावचूडा क्षायोपशमिक भावरूप है।[१] 'रति' का निक्षेप नामादि चार प्रकार का है। जो रति कर्म के उदय के कारण होती है वह भावरति है। जो धर्म के प्रति रतिकारक है वह अधर्म के प्रति अरतिकारक है।[२]

१. गा. ३५९-३६१. २. गा. ३६२-७.

चतुर्थ प्रकरण

उत्तराध्ययननिर्युक्ति

इस निर्युक्ति[1] में ६०७ गाथाएं हैं। अन्य निर्युक्तियों की तरह इसमें भी अनेक पारिभाषिक शब्दों का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है। इसी प्रकार अनेक शब्दों के विविध पर्याय भी दिए गए हैं।

सर्वप्रथम आचार्य 'उत्तराध्ययन' शब्द की व्याख्या करते हुए 'उत्तर' पद का पन्द्रह प्रकार के निक्षेपों से विचार करते हैं: १ नाम, २-स्थापना, ३. द्रव्य, ४. क्षेत्र, ५. दिशा, ६. तापक्षेत्र, ७. प्रज्ञापक, ८. प्रति, ९. काल, १०. सचय, ११. प्रधान, १२. ज्ञान, १३. क्रम, १४. गणना और १५. भाव।[2] 'उत्तराध्ययन' में 'उत्तर' का अर्थ क्रमोत्तर समझना चाहिए।[3]

उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् जिनेन्द्र ने छत्तीस अध्ययनों का उपदेश दिया है।[4]

'अध्ययन' पद का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार द्वारों से 'अध्ययन' का विचार हो सकता है। भावाध्ययन की व्याख्या इस प्रकार है: प्राग्बद्ध तथा बध्यमान कर्मों के अभाव से आत्मा का जो अपने स्वभाव में आनयन अर्थात् ले जाना है वही अध्ययन है। जिससे जीवादि पदार्थों का अधिगम अर्थात् परिच्छेद होता है अथवा जिससे अधिक नयन अर्थात् विशेष प्राप्ति होती है अथवा जिससे शीघ्र ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि होती है वही अध्ययन है।[5] चूंकि अध्ययन से अनेक भवों से आते हुए अष्ट प्रकार के कर्मरज का क्षय होता है इसीलिए उसे भावाध्ययन कहते हैं।[6] यहाँ तक 'उत्तराध्ययन' का व्याख्यान है। इसके बाद आचार्य 'श्रुतस्कन्ध' का निक्षेप करते हैं क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र श्रुत-स्कन्ध है। तदनन्तर छत्तीस अध्ययनों के नाम गिनाते है तथा उनके विविध

---

१. शान्तिसूरिकृत शिष्यहिता-टीकासहित—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, १९१६-१९२७. २. गा. १. ३. गा. ३. ४. गा. ४. ५. गा. ५-७. ६. गा. ११.

अधिकारों का निर्देश करते हैं।[1] यहाँ तक संक्षेप में उत्तराध्ययन का पिण्डार्थ अर्थात् समुदायार्थ दिया गया है। आगे प्रत्येक अध्ययन का विशेष व्याख्यान किया गया है।

प्रथम अध्ययन का नाम विनयश्रुत है। 'विनय' का विचार पहले हो चुका है।[2] 'श्रुत' का नामादि चार प्रकार का निक्षेप होता है। निह्नवादि द्रव्यश्रुत हैं। जो श्रुत में उपयुक्त है वह भावश्रुत है।[3] इसके बाद 'संयोग' शब्द की सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति करते हुए आचार्य ने छः एवं दो प्रकार के निक्षेप से 'संयोग' की अति विस्तृत व्याख्या की है। इसमें संस्थान, अभिप्रेत, अनभिप्रेत, अभिलाप, सम्बन्धन, अनादेश, आदेश, आत्मसंयोग, बाह्यसंयोग आदि विषयों का बहुत विस्तार से विवेचन किया है।[4] विनय के प्रसंग से आचार्य और शिष्य के गुणों का वर्णन करते हुए यह बताया गया है कि इन दोनों का संयोग कैसे होता है। सम्बन्धनसंयोग संसार का हेतु है क्योंकि यह कर्मपाश के कारण होता है। इसे नष्ट कर जीव मुक्ति का वास्तविक आनन्द भोगता है।[5]

विनयश्रुत की बारहवीं गाथा में 'गलि' शब्द आता है। इसके पर्यायवाची शब्द ये हैं : गण्डि, गलि, मरालि। 'आकीर्ण' शब्द के पर्याय ये हैं : आकीर्ण, विनीत, भद्रक।[6] 'गलि' का प्रयोग अविनीत के लिए है और 'आकीर्ण' का प्रयोग विनीत के लिए।

दूसरे अध्ययन का नाम परीषह है। परीषह का न्यास अर्थात् निक्षेप चार प्रकार का है। इनमें से द्रव्यनिक्षेप दो प्रकार का है: आगमरूप और नोआगमरूप। नोआगम परीषह पुनः तीन प्रकार का है : ज्ञायकशरीर, भव्य और तद्व्यतिरिक्त। कर्म और नोकर्मरूप में द्रव्यपरीषह दो प्रकार का भी होता है। नोकर्मरूप द्रव्यपरीषह सचित्त, अचित्त और मिश्ररूप से तीन प्रकार का है। भावपरीषह में कर्म का उदय होता है। उसके द्वार ये हैं : कुतः (कहाँ से), कस्य (किसका), द्रव्य, समवतार, अध्यास, नय, वर्तना, काल, क्षेत्र, उद्देश, पृच्छा, निर्देश और सूत्रस्पर्श।[7] बादरसम्पराय गुणस्थान में बाईस, सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान में चौदह, छद्मस्थवीतराग गुणस्थान में भी चौदह और केवली अवस्था में ग्यारह परीषह होते हैं।[8]

---

१. गा. १२-२६.
२. दशवैकालिक, अध्ययन ९ (विनयसमाधि) की निर्युक्ति।
३. गा. २९. ४. गा. ३०-५७. ५. गा. ६२.
६. गा. ६४. ७. गा. ६५-८. ८. गा. ७९.

क्षुत्पिपासा आदि परीषहों की विशेष व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने विविध उदाहरणों द्वारा यह समझाया है कि श्रमण को किस प्रकार इन परीषहों को सहन करना चाहिए।[1] इस प्रसंग से आचार्य ने जैन परम्परा में आने वाली अनेक महत्त्वपूर्ण एवं शिक्षाप्रद कथाओं का संकलन किया है।

तीसरे अध्ययन का नाम चतुरंगीय है। एक के बिना चार नहीं होते हैं अतः निर्युक्तिकार सर्वप्रथम 'एक' का निक्षेप-पद्धति से विचार करते है। इसके लिए सात प्रकार के 'एकक' का निर्देश करते हैं: १. नामैकक, २. स्थापनैकक, ३. द्रव्यैकक, ४. मातृकापदैकक, ५. संग्रहैकक, ६. पर्यवैकक, और ७. भावैकक।[2] 'एकक' की विस्तृत व्याख्या दशवैकालिकनिर्युक्ति में हो चुकी है। 'चतुष्क' अर्थात् चार का सात प्रकार का निक्षेप है: नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, गणना और भाव। प्रस्तुत अधिकार गणना का है।[3]

'अंग' का निक्षेप चार प्रकार का है: नामांग, स्थापनांग, द्रव्यांग और भावांग। इनमें से द्रव्यांग छः प्रकार का होता है: १. गंधांग, २. औषधांग, ३. मद्यांग, ४. आतोद्यांग, ५. शरीरांग और ६. युद्धांग।[4]

गंधांग निम्नलिखित हैं: जमदग्निजटा (बालक), हरेणुका (प्रियंगु), शबर-निवसनक (तमालपत्र), सपिन्निक, मल्लिकावासित, ओसीर, ह्रीबेर, भद्रदारु (देवदारू), शतपुष्पा, तमालपत्र। इनका माहात्म्य यही है कि इनसे स्नान और विलेपन किया जाता है। वासवदत्ता ने उदयन के हृदय में रखते हुए इनका सेवन किया था।[5]

औषधांग की गुटिका में पिण्डदारु, हरिद्रा, माहेन्द्रफल, सुण्ठी, पिप्पली, मरिच, आर्द्र, बिल्वमूल और पानी—ये आठ वस्तुएँ मिली हुई होती हैं। इससे कड्डु, तिमिर, अर्द्धशिरोरोग, पूर्णशिरोरोग, तार्त्तीयीक और चातुर्थिक ज्वर (तिजरा और चौथे दिन आने वाला बुखार), मूषक और सर्पदंश शीघ्र ही दूर हो जाते है।[6]

द्राक्षा के सोलह भाग (सोलह दाने), धातकीपुष्प के चार भाग और एक आढक इक्षुरस—इनसे मद्यांग बनता है। आढक का नाप मागध मान से समझना चाहिए।[7]

एक मुकुन्दातूर्य, एक अभिमारदारुक, एक शाल्मलीपुष्प—इनके बंध से आमोडक अर्थात् पुष्पोन्मिश्र वालबंधविशेष होता है। यही आतोद्यांग है।[8]

---

१. गा. ८९-१४१. २. गा. १४२. ३. गा. १४३. ४. गा. १४४-५.
५. गा. १४६-८. ६. गा. १४९-१५०. ७. गा. १५१. ८. गा. १५२.

अब शरीरांग के नाम बताते हैं। सिर, उर, उदर, पीठ, बाहु (दो) और उरु (दो)—ये आठ अंग हैं। शेष अंगोपांग हैं।[१]

युद्धांग ये हैं: यान (हस्त्यादि), आवरण (कवचादि), प्रहरण (खड्गादि), कुशलत्व (प्रावीण्य), नीति, दक्षत्व (आशुकारित्व), व्यवसाय, शरीर (अहीनांग) और आरोग्य।[२] यहां तक द्रव्यांग का व्याख्यान है।

भावांग दो प्रकार का है: श्रुतांग और नोश्रुतांग। श्रुतांग आचारादि भेद से बारह प्रकार का है। नोश्रुतांग चार प्रकार का है। ये चार प्रकार ही चतुरंगीय के रूप मे प्रसिद्ध हैं। संसार में ये चार भावांग दुर्लभ है: मानुष्य, धर्मश्रुति, श्रद्धा और वीर्य (तप और संयम मे पराक्रम)।[३]

अंग, दशभाग, भेद, अवयव, असकल, चूर्ण, खण्ड, देश, प्रदेश, पर्व, शाखा, पटल, पर्यवखिल—ये सब शरीरांग के पर्याय हैं। संयम के पर्याय ये हैं: दया, संयम, लज्जा, जुगुप्सा, अछलना, तितिक्षा, अहिंसा और ह्री।[४]

आगे निर्युक्तिकार ने उदाहरणों की सहायता से यह बताया है कि मनुष्यभव की प्राप्ति कितनी दुर्लभ है, मनुष्यभव प्राप्त हो जाने पर भी धर्मश्रुति कितनी कठिन है, धर्मश्रुति का लाभ होने पर भी उस पर श्रद्धा करना कितना कठिन है, श्रद्धा हो जाने पर भी तप और संयम मे वीर्य अर्थात् पराक्रम करना तो और भी कठिन है। श्रद्धा की चर्चा करते समय जमालि-प्रभृति सात निह्नवों का परिचय दिया गया है।[५]

चतुर्थ अध्ययन का नाम 'असस्कृत' है। इसकी निर्युक्ति करते समय सर्वप्रथम प्रमाद और अप्रमाद दोनों का निक्षेप किया गया है। प्रमाद और अप्रमाद दोनों नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार के होते हैं। इनमें से द्रव्य और भावप्रमाद पॉच प्रकार के होते है: मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। अप्रमाद के भी पॉच प्रकार हैं जो इनसे विपरीत हैं।[६]

जो उत्तरकरण से कृत अर्थात् निर्वर्तित है वह सस्कृत है। शेष असस्कृत है। करण का निक्षेप छः प्रकार का होता है: नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्यकरण दो प्रकार का होता है: संज्ञाकरण और नोसंज्ञाकरण। संज्ञाकरण पुनः तीन प्रकार का है: कटकरण, अर्थकरण और वेलुकरण।

---

१. गा. १५३. २. गा. १५४. ३. गा. १५५-६.
४. गा. १५७-८. ५. गा. १५९-१७८. ६. गा. १७९-१८१.

नोसंज्ञाकरण दो प्रकार का है : प्रयोगकरण और विस्रसाकरण। विस्रसाकरण के पुनः दो भेद हैं : सादिक और अनादिक। अनादिक तीन प्रकार का है : धर्म, अधर्म और आकाश। सादिक दो प्रकार का है : चक्षुःस्पर्श और अचक्षुःस्पर्श। प्रयोगकरण के दो भेद हैं : जीवप्रयोगकरण और अजीवप्रयोगकरण। जीवप्रयोगकरण पुनः दो प्रकार का है : मूलकरण और उत्तरकरण। पांच प्रकार के शरीर और तीन प्रकार के अंगोपांग मूलकरण हैं। कर्ण, स्कंध आदि उत्तरकरण हैं।[१] अजीवप्रयोगकरण वर्णादि भेद से पाँच प्रकार का होता है।[२] इसी प्रकार क्षेत्रकरण और कालकरण का विवेचन किया गया है।[३] भावकरण जीवकरण और अजीवकरण के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से अजीवकरण पुनः पाँच प्रकार का है : वर्ण, रस, गंध, स्पर्श और संस्थान। ये क्रमशः पाँच, पाँच, दो, आठ और पाँच प्रकार के हैं। जीवकरण दो प्रकार का है : श्रुतकरण और नोश्रुतकरण। श्रुतकरण बद्ध और अबद्धरूप से दो प्रकार का है। बद्ध के पुनः दो भेद हैं : निशीथ और अनिशीथ। नोश्रुतकरण दो प्रकार का है : गुणकरण और योजनाकरण। गुणकरण तप-संयम-योगरूप है और योजनाकरण मन, वचन और कायविषयरूप है।[४] इतना विस्तारपूर्वक करण का विचार करने के बाद निर्युक्तिकार अपने अभीष्ट अर्थ की योजना करते हैं। कार्मण देह के निमित्त होने वाला आयुःकरण असंस्कृत है। उसे टूटने पर पटादि की भांति उत्तरकरण से सांधा नहीं जा सकता। प्रस्तुत अधिकार आयुःकर्म से असंस्कृत का है। चूंकि आयुःकर्म असंस्कृत है इसलिए हमेशा अप्रमादपूर्वक आचरण करना चाहिए।[५]

आगे के अध्ययनों की निर्युक्ति में भी इसी भांति प्रत्येक अध्ययन के नाम का नामादि निक्षेपों से विचार किया गया है। गाथा २०८ में 'काम' और 'मरण' का निक्षेप है। गा. २३७ में 'निर्ग्रन्थ' शब्द का निक्षेप-पद्धति से विवेचन है। गा. २४४ मे उरभ्र, गा. २५० में कपिल, गा. २६० मे नमि, गा. २८० में द्रुम, गा. ३१० मे बहु, श्रुत और पूजा, गा. ४५५ में प्रवचन, गा. ४८० में साम, गा. ४९६ में मोक्ष, गा. ५१४ मे चरण और गा. ५१६ में विधि का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया गया है। २१२ से २३५ तक की गाथाओं मे सत्रह प्रकार की मृत्यु का विचार किया गया है।

१. गा. १८२-१९१. २. गा. १९५. ३. गा. १९६-२००.
४. गा. २०१-४. ५. गा. २०५.

पंचम प्रकरण

आचारांगनिर्युक्ति

यह निर्युक्ति[1] आचारांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों पर है। इसमें ३४७ गाथाएं हैं जिनमें आचार, अंग, ब्रह्म, चरण, शस्त्र, संज्ञा, दिशा, पृथिवी, विमोक्ष, ईर्या आदि शब्दों के निक्षेप, पर्याय आदि हैं। यह निर्युक्ति उत्तराध्ययननिर्युक्ति के बाद तथा सूत्रकृतांगनिर्युक्ति के पहले लिखी गई है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध :

प्रारंभ में मंगलगाथा है जिसमें सर्वसिद्धों को नमस्कार करके आचारांग की निर्युक्ति करने की प्रतिज्ञा की गई है।[2] इसके बाद यह बतलाया गया है कि आचार, अंग, श्रुत, स्कन्ध, ब्रह्म, चरण, शस्त्र, परिज्ञा, संज्ञा और दिशा—इन सबका निक्षेप करना चाहिए। इनमें से कौनसा निक्षेप कितने प्रकार का है, यह बताते हुए कहा गया है कि चरण और दिशा को छोड़ कर शेष का निक्षेप चार प्रकार का है। चरण का निक्षेप छः प्रकार का है और दिशा का सात प्रकार का।[3]

आचार और अंग का निक्षेप पहले किया जा चुका है।[4] यहां पर भावाचार के विषय में कुछ विशेष प्रकाश डाला गया है। इसके लिए निम्नलिखित सात द्वारों का आधार लिया गया है : एकार्थक, प्रवृत्ति, प्रथमांग, गणी, परिमाण, समवतरण और सार।[5]

---

१. (अ) शीलांक, जिनहंस तथा पार्श्वचन्द्रकृत टीकाओं सहित—
राय बहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, वि. सं. १९३६.

(आ) शीलांककृत टीकासहित—
आगमोदय समिति, सूरत, वि. सं. १९७२-३;
जैनानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा, सूरत, सन् १९३५.

२. गा. १.   ३. गा. २-३.   ४. दशवैकालिक की क्षुल्लिकाचारकथा तथा उत्तराध्ययन का चतुरंगीय अध्ययन।   ५. गा. ५-६.

आचार के एकार्थक शब्द ये हैं : आचार, आचाल, आगाल, आकर, आश्वास, आदर्श, अंग, आचीर्ण, आजाति, आमोक्ष।[१]

आचार का प्रवर्तन कब हुआ? सभी तीर्थंकरों ने तीर्थ-प्रवर्तन के आदि मे आचारांग का प्रवर्तन किया। शेष ग्यारह अंगों का आनुपूर्वी से निर्माण हुआ।[२]

आचारांग प्रथम अंग क्यों है, इसका कारण बताते हैं। आचारांग द्वादशांगों मे प्रथम है क्योंकि इसमे मोक्ष के उपाय का प्रतिपादन है जो सम्पूर्ण प्रवचन का सार है।[३]

चूंकि आचारांग के अध्ययन से श्रमणधर्म का परिज्ञान होता है इसलिए इसका प्रधान अर्थात् आद्य गणिस्थान है।[४]

इसका परिमाण इस प्रकार है : इसमें नौ ब्रह्मचर्याभिधायी अध्ययन हैं, अठारह हजार पद हैं, पाँच चूडाएं हैं।[५]

इन चूडाओं का ब्रह्मचर्याध्ययनों मे समवतरण होता है। ये ही पुनः छः कायों मे, पाँच व्रतो मे, सर्व द्रव्यों मे और पर्यायों के अनन्तवें भाग में अवतरित होती हैं।[६]

अब अन्तिम द्वार का स्वरूप बताते हैं। अंगों का सार क्या है? आचार। आचार का सार क्या है? अनुयोगार्थ। अनुयोगार्थ का सार क्या है? प्ररूपणा। प्ररूपणा का सार क्या है? चरण। चरण का सार क्या है? निर्वाण। निर्वाण का सार क्या है? अव्याबाध। यही सर्वोत्कृष्ट सार है—अन्तिम ध्येय है।[७]

चूँकि भावश्रुतस्कन्ध ब्रह्मचर्यात्मक है अतः ब्रह्म और चरण का निक्षेप करते हैं। ब्रह्म की और इसी प्रकार ब्राह्मण की नामादि चार स्थानों मे उत्पत्ति होती है। भावब्रह्म सयम है। ब्राह्मण के प्रसग को दृष्टि में रखते हुए निर्युक्तिकार सात वर्णों और नौ वर्णान्तरों का भी वर्णन करते हैं। एक मनुष्यजाति के सात वर्ण ये हैं : क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य, ब्राह्मण, संकरक्षत्रिय, संकरवैश्य और सकरशूद्र। नौ वर्णान्तर ये हैं : अम्बष्ठ, उग्र, निषाद, अयोगव, मागध, सूत, क्षत्त, विदेह और चाण्डाल।[८]

---

१. गा. ७. २. गा. ८. ३. गा. ९. ४. गा. १०. ५. गा. ११. ६. गा. १२-४. ७. गा. १६-७. ८. गा. १८-२२.

चरण नामादि भेद से छः प्रकार का होता है। भावचरण गति, आहार और गुण के भेद से तीन प्रकार का होता है।[१]

मूल और उत्तरगुण की स्थापना करने वाले नौ अध्याय निम्नलिखित हैं : १. शस्त्रपरिज्ञा, २. लोकविजय, ३. शीतोष्ण्य, ४. सम्यक्त्व, ५. लोकसार, ६. धुत, ७. महापरिज्ञा, ८. विमोक्ष और ९. उपधानश्रुत। ये नौ आचार हैं, शेष आचाराग्र हैं।[२]

अब इन अध्ययनों के अर्थाधिकार बताते हैं। प्रथम अध्ययन का अधिकार जीवसंयम है, दूसरे का अष्टविध कर्मविजय है, तीसरे का सुख-दुःखतितिक्षा है, चौथे का सम्यक्त्व की दृढ़ता है, पाँचवें का लोकसार रत्नत्रयाराधना है, छठे का निःसंगता है, सातवें का मोहसमुत्थ परीषहोपसर्गसहनता है, आठवें का निर्याण अर्थात् अन्तक्रिया है और नौवें का जिनप्रतिपादित अर्थश्रद्धान है।[३]

शस्त्रपरिज्ञा मे दो पद है : शस्त्र और परिज्ञा। शस्त्र का निक्षेप नामादि चार प्रकार का है। खड्ग, अग्नि, विष, स्नेह, आम्ल, क्षार, लवणादि द्रव्यशस्त्र हैं। दुष्प्रयुक्त भाव ही भावशस्त्र है। परिज्ञा भी नामादि भेद से चार प्रकार की है। द्रव्यपरिज्ञा दो प्रकार की है : ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा। भावपरिज्ञा भी दो प्रकार की है : ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा। द्रव्यपरिज्ञा में ज्ञाता अनुपयुक्त होता है जबकि भावपरिज्ञा म ज्ञाता को उपयोग होता है।[४]

इसके बाद निर्युक्तिकार सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति प्रारंभ करते हैं। सर्वप्रथम 'संज्ञा' का निक्षेप करते हुए कहते हैं कि सचित्तादि (हस्त, ध्वज, प्रदीपादि) से होने वाली संज्ञा द्रव्यसंज्ञा है। भावसंज्ञा दो प्रकार की है : अनुभवनसंज्ञा और ज्ञानसंज्ञा। मति आदि ज्ञानसंज्ञा है। कर्मोदयादि के कारण होने वाली संज्ञा अनुभवनसंज्ञा है। यह सोलह प्रकार की है : आहार, भय, परिग्रह, मैथुन, सुख, दुःख, मोह, विचिकित्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, शोक, लोक, धर्म और ओघ।[५]

'दिक्' का निक्षेप सात प्रकार का है : नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, ताप, प्रज्ञापक और भाव। द्रव्यादि दिशाओं का स्वरूप बताने के बाद आचार्य भावदिशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि भावदिशाएँ अठारह हैं : चार प्रकार के मनुष्य (सम्मूर्च्छनज, कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तरद्वीपज), चार प्रकार

१. गा. २९–३०. २. गा. ३१–२. ३. गा. ३३–४.
४. गा. ३६–७. ५. गा. ३८–९.

के तिर्यंच (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय), चार प्रकार के काय (पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु), चार प्रकार के बीज (अग्र, मूल, स्कन्ध, पर्व), देव और नारक।[1] चूँकि जीव इन अठारह प्रकार के भावों से युक्त होता है और उसका इनसे व्यपदेश होता है इसलिए इन्हें भावदिशाएँ कहा जाता है। यहाँ तक शस्त्रपरिज्ञा के प्रथम उद्देशक का अधिकार है।

द्वितीय उद्देशक के प्रारंभ में पृथ्वी का निक्षेपादि पद्धति से विचार किया गया है। इसके लिए निम्नोक्त द्वारों का आधार लिया गया है: निक्षेप, प्ररुपणा, लक्षण, परिमाण, उपभोग, शस्त्र, वेदना, वध और निवृत्ति।[2]

पृथ्वी का निक्षेप चार प्रकार का है: नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जो जीव पृथ्वी-नामादि कर्मों को भोगता है वही भावपृथ्वी है।[3]

प्ररूपणाद्वार की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि पृथ्वीजीव दो प्रकार के हैं: सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म जीव सर्वलोकव्यापी हैं। बादर पृथ्वी के पुनः दो भेद हैं: श्लक्ष्ण और खर। श्लक्ष्ण के कृष्ण, नील, लोहित, पीत और शुक्ल वर्णरूप पाँच भेद हैं। खर के पृथ्वी, शर्करा, बालुका आदि छत्तीस भेद हैं। बादर और सूक्ष्म दोनों ही या तो पर्याप्तक होते हैं या अपर्याप्तक।[4]

लक्षणद्वार की व्याख्या इस प्रकार है: पृथ्वीकाय के जीवों में उपयोग, योग, अध्यवसाय, मति और श्रुतज्ञान, अचक्षुदर्शन, अष्टविधकर्मोदय, लेश्या, संज्ञा, उच्छ्वास और कषाय होते हैं।[5]

परिमाणद्वार का व्याख्यान इस प्रकार है: बादर-पर्याप्तक-पृथ्वीकायिक संवर्तित लोकप्रतर के असंख्येय भागप्रमाण हैं, शेष तीन (बादर-अपर्याप्तक एवं सूक्ष्म-पर्याप्तक और अपर्याप्तक) में से प्रत्येक असंख्येय लोकाकाशप्रदेश-प्रमाण है।[6]

उपभोगद्वार की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि चलते हुए, बैठते हुए, सोते हुए, उपकरण लेते हुए, रखते हुए आदि अनेक अवसरों पर पृथ्वीकाय के जीवों का हनन होता है।[7]

हल, कुलिक, विष, कुद्दाला, लित्रक, मृगशृंग, काष्ठ, अग्नि, उच्चार, प्रस्रवण आदि द्रव्यशस्त्र हैं। असंयम भावशस्त्र है।[8]

---

१. गा. ४०-६०. २. गा. ६८. ३. गा. ६९-७०. ४. गा. ७१-९. ५. गा. ८४. ६. गा. ८६. ७. गा. ९२-४. ८. गा. ९५-६.

जिस प्रकार पादादि अंग-प्रत्यंग के छेदन से मनुष्यों को वेदना होती है उसी प्रकार छेदन-भेदन से पृथ्वीकाय के जीवों को भी वेदना होती है।[1]

वध तीन प्रकार का होता है : कृत, कारित और अनुमोदित। अनगार श्रमण मन, वचन और काय से तीनों प्रकार के वध का त्याग करते हैं।[2] यही निवृत्तिद्वार है। इसके साथ शस्त्रपरिज्ञा का द्वितीय उद्देशक समाप्त होता है।

तृतीय उद्देशक में अप्काय की चर्चा करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि अप्काय के भी उतने ही द्वार हैं जितने पृथ्वीकाय के है।[3] अतः इनका विशेष विवेचन करना आवश्यक नहीं है। चौथे उद्देशक मे तेजस्काय की चर्चा है जिसमें बादर अग्नि के पाँच भेद किये गये हैं : अगार, अग्नि, अर्चि, ज्वाला और मुर्मुर।[4] पाँचवें उद्देशक मे वनस्पति की चर्चा है। इसके भी वे ही द्वार हैं जो पृथ्वीकाय के हैं। बादर वनस्पति के दो भेद हैं : प्रत्येक और साधारण। प्रत्येक के बारह प्रकार हैं। साधारण के तो अनेक भेद हैं किन्तु संक्षेप मे उसके भी छः भेद किये जा सकते है। प्रत्येक के बारह भेद ये हैं : १. वृक्ष, २. गुच्छ, ३. गुल्म, ४. लता, ५. वल्लि, ६. पर्वक, ७ तृण, ८. वलय, ९. हरित, १०. औषधि, ११. जलरुह, १२. कुहुण। साधारण के छः भेद इस प्रकार है : १. अग्रबीज, २. मूलबीज, ३. स्कन्धबीज, ४. पर्वबीज, ५. बीजरुह और ६. सम्मूर्च्छनज।[5] छठे उद्देशक मे त्रसकाय की चर्चा की गई है। त्रसकाय के भी वे ही द्वार हैं जो पृथ्वीकाय के है। त्रसजीव दो प्रकार के है : लब्धित्रस और गतित्रस। तेजस् और वायु लब्धित्रस के अन्तर्गत है। गतित्रस के चार भेद है : नारक, तिर्यक्, मनुष्य और सुर। ये या तो पर्याप्तक होते हैं या अपर्याप्तक।[6] सप्तम उद्देशक मे वायुकाय का विचार किया गया है। इसके भी पृथ्वीकाय के समान ही द्वार हैं। वायुकाय के जीव दो प्रकार के होते हैं : सूक्ष्म और बादर। बादर के पाँच भेद हैं : उत्कलिका, मण्डलिका, गुंजा, घन और शुद्ध।[7] यहाँ तक प्रथम अध्ययन का अधिकार है।

द्वितीय अध्ययन का नाम लोकविजय है। इसके प्रथम उद्देशक मे 'स्वजन' का अधिकार है, जिसमे यह बताया गया है कि श्रमण माता-पिता आदि के प्रति मोह ममता न रखे। दूसरे उद्देशक मे संयमसम्बन्धी अदृढत्व की निवृत्ति का उपदेश है। तृतीय उद्देशक में मान न करने की सूचना दी गई है। चौथा

१. गा. ९७. २. गा. १०१–५. ३. गा. १०६. ४. गा. ११६–८. ५. गा. १२९–१३०. ६. गा. १५२–४. ७. गा. १६४–६.

उद्देशक भोगों की निःसारता पर है। पाँचवाँ उद्देशक लोकाश्रय की निवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। छठे उद्देशक में अममत्व की परिपालना का उपदेश है।[१]

'लोकविजय' में दो पद हैं : 'लोक' और 'विजय'। 'लोक' का निक्षेप आठ प्रकार का है और 'विजय' का छः प्रकार का। भावलोक का अर्थ है कषाय। अतः कषायविजय ही लोकविजय है।[२] कषाय की उत्पत्ति कर्म के कारण होती है। कर्म संक्षेप में दस प्रकार का है : नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समुदानकर्म, ईर्यापथिककर्म, आधाकर्म, तपःकर्म, कृतिकर्म और भावकर्म।[३]

तीसरे अध्ययन का नाम शीतोष्णीय है। इसमें चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक मे भावसुप्त के दोषों पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे मे भावसुप्त के अनुभव मे आने वाले दुःखों का विचार किया गया है। तीसरे मे इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि केवल दुःख सहने से ही कोई श्रमण नहीं बन जाता। श्रमण की क्रिया करने से श्रमण बनता है। चौथे में यह बताया गया है कि कषायों का क्या कार्य है, पाप से विरति कैसे सम्भव है, संयम से किस प्रकार कर्मोंका क्षय होकर मुक्ति प्राप्त होती है ? साथ ही इस अध्ययन में 'शीत' और 'उष्ण' पदों का नामादि निक्षेपों से विचार किया गया है। स्त्रीपरीषह और सत्कारपरीषह—ये दो शीत परीषह हैं। शेष बीस उष्ण परीषह की कोटि में हैं।[४]

चतुर्थ अध्ययन का नाम सम्यक्त्व है। इसके चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक मे सम्यग्दर्शन का अधिकार है, द्वितीय में सम्यग्ज्ञान का अधिकार है, तृतीय में सम्यक्तप की चर्चा है, चतुर्थ में सम्यक्चारित्रका वर्णन है। ये चारों मोक्षांग हैं। मुमुक्षु के लिए इन चारों का पालन आवश्यक है।[५] सम्यक्त्व का भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार निक्षेपों से विवेचन होता है। भावसम्यक्त्व तीन प्रकार का है : दर्शन, ज्ञान और चारित्र। दर्शन और चारित्र के पुनः तीन-तीन भेद होते हैं : औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। ज्ञान के दो भेद हैं : क्षायोपशमिक और क्षायिक।[६]

लोकसार नामक पंचम अध्ययन के छः उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में यह बताया गया है कि हिंसक, विषयारम्भक और एकचर मुनि नहीं हो सकता।

---

१. गा. १७२. २. गा. १७५. ३. गा. १९२-३.
४. गा. १९७-२१३. ५. गा. २१४-५. ६. गा. २१६-८.

दूसरे में यह बताया गया है कि हिंसादि से विरत ही मुनि होता है। तीसरे में इस बात का निर्देश है कि विरत मुनि ही अपरिग्रही होता है। चौथे में यह बताया गया है कि सूत्रार्थपरिनिष्ठित के क्या-क्या प्रत्यपाय होते हैं। पाँचवें में साधु के लिए ह्रदोपम होने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। छठे में उन्मार्गवर्जना पर भार दिया गया है। 'लोक' और 'सार' का भी चार प्रकार का निक्षेप होता है। फलसाधनता ही भावसार है। इससे सिद्धि प्राप्त होती है और फलतः उत्तमसुख का लाभ होता है।[१] इसी बात को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं: सम्पूर्ण लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है, संयम का सार निर्वाण है।[२]

इसके बाद सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति करते हुए आचार्य कहते हैं कि चर, चर्या और चरण एकार्थक हैं। चर का छः प्रकार का निक्षेप होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र भावचरण के अन्तर्गत हैं। भावचरण प्रशस्त और अप्रशस्त भेद से दो प्रकार का होता है।[३]

धूत नामक छठे अध्ययन के पाँच उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में निजक अर्थात् स्वजनों के विधूनन का अधिकार है, द्वितीय में कर्मविधूनन का अधिकार है, तृतीय में उपकरण और शरीर के विधूनन की चर्चा है, चतुर्थ में गौरवत्रिक के विधूनन का अधिकार है, पंचम में उपसर्ग और सम्मान के विधूनन की चर्चा है। वस्त्रादि का प्रक्षालन द्रव्यधूत है। अष्टविध कर्मों का क्षय भावधूत है।[४]

सप्तम अध्ययन व्यवच्छिन्न है। अष्टम अध्ययन का नाम विमोक्ष है। इसके आठ उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में असमनोज्ञ के विमोक्ष अर्थात् परित्याग का उपदेश है। द्वितीय में अकल्पिक के विमोक्ष का विधान है। तृतीय में अंगचेष्टा के प्रति भाषित अथवा आशंकित संशय के निवारण का विधान है। चतुर्थ में वैहानस (उद्बन्धन) तथा गार्द्धपृष्ठ को मरण की उपमा दी गई है। पंचम में ग्लानता तथा भक्तपरिज्ञा का बोध है। षष्ठ में एकत्व-भावना और इंगितमरण का बोध है। सप्तम में प्रतिमाओं तथा पादपोपगमन का विचार किया गया है। अष्टम में अनुपूर्वविहारियों का अधिकार है।[५]

---

१ गा. २३५-२४०. २ गा. २४४. ३ गा. २४५-६. ४ गा. २४९-२५०. ५ गा. २५२-६.

विमोक्ष का नामादि छः प्रकार का निक्षेप होता है। भावविमोक्ष दो प्रकार का है: देशविमोक्ष और सर्वविमोक्ष। साधु देशविमुक्त हैं, सिद्ध सर्वविमुक्त हैं।[1]

नवम अध्ययन का नाम उपधानश्रुत है। इस अध्ययन के अधिकार की चर्चा करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि जो तीर्थंकर जिस समय उत्पन्न होता है वह उस समय अपने तीर्थ में उपधानश्रुताध्ययन में तपःकर्म का वर्णन करता है।[2] सभी तीर्थंकरों का तपःकर्म निरुपसर्ग है किन्तु वर्धमान का तपःकर्म सोपसर्ग है।[3] इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक का अधिकार चर्या है, दूसरे का शय्या है, तीसरे का परीषह है, चौथे का आतंककालीन चिकित्सा है। वैसे चारों उद्देशकों में तपश्चर्या का अधिकार तो है ही।[4]

'उपधान' और 'श्रुत' दोनों का नामादि भेद से चार प्रकार का निक्षेप होता है। शय्यादि में होने वाला उपधान द्रव्योपधान है, तप और चारित्र-सम्बन्धी उपधान भावोपधान है। जिस प्रकार मलीन वस्त्र उदकादि द्रव्यों से शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार भावोपधान से अष्ट प्रकार के कर्मों की शुद्धि होती है।[5] जो वीरवर वर्धमानस्वामी के बताये हुए इस मार्ग पर चलता है उसे शाश्वत शिवपद की प्राप्ति होती है।[6] यहाँ ब्रह्मचर्य नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति समाप्त होती है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध :

प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ ब्रह्मचर्याध्ययनों का प्रतिपादन किया गया। उनमें समस्त विवक्षित अर्थ का अभिधान न किया जा सका। जो अभिधान किया गया वह भी बहुत ही संक्षेप में किया गया। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना की गई। आचारांग के परिमाण की चर्चा करते समय इस ओर निर्देश किया गया था कि इनमें नौ ब्रह्मचर्याभिधायी अध्ययन हैं, अष्टादश सहस्र पद हैं और पाँच चूडाएं अर्थात् चूलिकाएं हैं।[7] चूलिका का स्वरूप बताते हुए शीलांकाचार्य कहते हैं: 'उक्तशेषानुवादिनी चूडा'[8] अर्थात् कह चुकने पर जो कुछ शेष रह जाता है उसका कथन चूलिका कहलाता है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध को अग्रश्रुतस्कन्ध भी कहते हैं। निर्युक्तिकार 'अग्र' शब्द का निक्षेप करते हुए कहते हैं कि अग्र आठ प्रकार का होता है: १. द्रव्याग्र,

---

१ गा. २५७-९. २. गा. २७५. ३. गा. २७६. ४. गा. २७९. ५. गा. २८०-२. ६. गा. २८४. ७. गा. ११. ८. गा. ११ की वृत्ति.

२. अवगाहनाग्र, ३. आदेशाग्र, ४. कालाग्र, ५. क्रमाग्र, ६. गणनाग्र, ७. संचयाग्र, ८. भावाग्र। भावाग्र पुनः तीन प्रकार का है: प्रधानाग्र, प्रभूताग्र और उपकाराग्र। प्रस्तुत अधिकार उपकाराग्र का है।[1]

चूलिकाओं का परिमाण इस प्रकार है: 'पिण्डैषणा' अध्ययन से लेकर 'अवग्रहप्रतिमा' अध्ययनपर्यन्त सात अध्ययनों की प्रथम चूलिका है, सप्त-सप्तिका नामक द्वितीय चूलिका है, भावना नामक तृतीय चूलिका है, चतुर्थ चूलिका का नाम विमुक्ति है, निशीथ पंचम चूलिका है।[2]

प्रथम चूलिका के सात अध्ययनों के नाम ये हैं: १. पिण्ड, २. शय्या, ३. ईर्या, ४. भाषा, ५. वस्त्र, ६. पात्र, ७. अवग्रह। निर्युक्तिकार ने इनकी नामादि निक्षेपों से व्याख्या की है।[3] आगे की गाथाओं में सप्तसप्तिका, भावना और विमुक्ति का विशेष व्याख्यान है।[4] निशीथ चूलिका के विषय में आचार्य कहते है कि इसकी निर्युक्ति मैं बाद में करूंगा।[5] यह निर्युक्ति निशीथनिर्युक्ति के रूप में अलग से उपलब्ध थी जो बाद मे निशीथभाष्य मे मिल गई।

१. गा. २८५-६. २. गा. २९७. ३. गा. २९८-३२२.
४. गा. ३२३-३४६. ५. गा. ३४७.

षष्ठ प्रकरण

सूत्रकृतांगनिर्युक्ति

इस निर्युक्ति[1] में २०५ गाथाएं हैं। गाथा १८ और २० में 'सूत्रकृतांग' शब्द का विचार किया गया है। गाथा ६६-६७ मे पंद्रह प्रकार के परमाधार्मिकों के नाम गिनाये गये हैं: अम्ब, अम्बरीष, श्याम, शबल, रुद्र, अवरुद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनुष, कुम्भ, वालुक, वैतरणी, खरस्वर और महाघोष। आगे की कुछ गाथाओं मे निर्युक्तिकार ने यह बताया है कि ये नरकवासियों को किस प्रकार सताते हैं, क्या-क्या यातनाएं पहुँचाते हैं। गाथा ११९ मे आचार्य ने निम्नलिखित ३६३ मतान्तरों का निर्देश किया है: १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी और ३२ वैनयिक। गाथा १२७-१३१ में शिष्य और शिक्षक के भेद-प्रभेदों का निर्देश किया गया है।

इन विषयों के अतिरिक्त प्रस्तुत निर्युक्ति मे अनेक पदों का निक्षेप-पद्धति से विवेचन किया गया है। उदाहरण के लिए गाथा, षोडश, श्रुत, स्कन्ध, पुरुष, विभक्ति, समाधि, मार्ग, आदान, ग्रहण, अध्ययन, पुण्डरीक, आहार, प्रत्याख्यान, सूत्र, आर्द्र आदि शब्दों का नामादि निक्षेपों से विचार किया गया है। इस निर्युक्ति मे पर्यायवाचक शब्दों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। 'आर्द्र' पद की व्याख्या करते समय आर्द्र की जीवन-कथा भी दे दी गई है। अन्त मे नालन्दा अध्ययन की निर्युक्ति करते समय 'अलम्' शब्द की नामादि चार प्रकार के निक्षेपों से व्याख्या की गई है और बताया गया है कि राजगृह नगर के बाहर नालन्दा बसा हुआ है।

***

१. (अ) शीलांककृत टीकासहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१७.

(आ) सूत्रसहित—सम्पादक : डा. पी. एल. वैद्य, पूना, सन् १९२८.

सप्तम प्रकरण

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति

यह निर्युक्ति[1] दशाश्रुतस्कन्ध नामक छेदसूत्र पर है। प्रारंभ में निर्युक्तिकार ने दशा, कल्प और व्यवहार सूत्र के कर्ता, चरम सकलश्रुतज्ञानी, प्राचीन गोत्रीय भद्रबाहु को नमस्कार किया है :

वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरमसयलसुअनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे अ ववहारे॥

तदनन्तर 'एक' और 'दश' का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया है तथा दशाश्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों के अधिकारों का निर्देश किया है। प्रथम अध्ययन असमाधिस्थान की निर्युक्ति में द्रव्य और भावसमाधि का स्वरूप बताया है तथा स्थान के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, अद्धा, ऊर्ध्व, चर्या, वसति, संयम, प्रग्रह, योध, अचल, गणन, संधान और भाव—इन पंद्रह निक्षेपों का उल्लेख किया है :

नामं ठवणा दविए खेत्तद्धा उड्ढओ चरई वसही।
संजम पग्गह जोहो अचल गणण संधणा भावे॥

द्वितीय अध्ययन शबल की निर्युक्ति में शबल का नामादि चार निक्षेपों से व्याख्यान किया गया है और बताया गया है कि आचार से भिन्न अर्थात् अंशतः गिरा हुआ व्यक्ति भावशबल है।

तृतीय अध्ययन आशातना की निर्युक्ति में दो प्रकार की आशातना की व्याख्या है : मिथ्याप्रतिपादनसम्बन्धी एवं लाभसम्बन्धी (आसायणा उ दुविहा मिच्छापडिवज्जणा य लाभे अ)। लाभसम्बन्धी आशातना के पुनः नामादि छः भेद होते हैं।

---

१. यह परिचय मुनि श्री पुण्यविजयजी के असीम सौजन्य से प्राप्त दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि की हस्तलिखित प्रति की निर्युक्ति-गाथाओं के आधार पर लिखा गया है।

चतुर्थ अध्ययन गणिसंपदा की निर्युक्ति में 'गणि' और 'संपदा' पदों का निक्षेपपूर्वक विचार किया गया है। निर्युक्तिकार ने गणि और गुणी को एकार्थक बताया है। आचार का अध्ययन करने से श्रमणधर्म का ज्ञान होता है, अतः आचार को प्रथम गणिस्थान दिया गया है। संपदा दो प्रकार की होती है : द्रव्यसंपदा और भावसंपदा। शरीरसंपदा द्रव्यसंपदा है। आचार आदि भावसंपदा है।

चित्तसमाधिस्थान नामक पंचम अध्ययन की निर्युक्ति में 'चित्त' और 'समाधि' का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया गया है। चित्त नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से चार प्रकार का है। इसी प्रकार समाधि भी चार प्रकार की है। भावचित्त की समाधि ही भावसमाधि है। रागद्वेषरहित चित्त जब विशुद्ध धर्म-ध्यान में लीन होता है तभी उसकी समाधि भावसमाधि कही जाती है।

उपासकप्रतिमा नामक षष्ठ अध्ययन की निर्युक्ति में 'उपासक' और 'प्रतिमा' का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया गया है। उपासक चार प्रकार का होता है : द्रव्योपासक, तदर्थोपासक, मोहोपासक और भावोपासक। जो सम्यग्दृष्टि है तथा श्रमण की उपासना करता है वह भावोपासक है। उसे श्रावक भी कहते हैं। प्रतिमा नामादि चार प्रकार की है। सद्गुणधारणा का नाम भावप्रतिमा है। वह दो प्रकार की है : भिक्षुप्रतिमा और उपासकप्रतिमा। भिक्षुप्रतिमाएँ बारह हैं। उपासकप्रतिमाओं की संख्या ग्यारह है। प्रस्तुत अधिकार उपासकप्रतिमा का है।

सप्तम अध्ययन में भिक्षुप्रतिमा का अधिकार है। भावभिक्षु की प्रतिमा पाँच प्रकार की होती है : समाधिप्रतिमा, उपधानप्रतिमा, विवेकप्रतिमा, प्रतिसंलीनप्रतिमा और एकविहारप्रतिमा :—

समाहि उवहाणे य विवेगपडिमाइआ।
पडिसंलीणा य तहा एगविहारे अ पंचमिआ॥

अष्टम अध्ययन की निर्युक्ति में पर्युषणाकल्प का व्याख्यान किया गया है। परिवसना, पर्युषणा, पर्युपशमना, वर्षावास, प्रथमसमवसरण, स्थापना और ज्येष्ठग्रह एकार्थक हैं :

परिवसणा पज्जुसणा, पज्जोसमणा य वासवासो य।
पढमसमोसरणं ति य ठवणा जेट्ठोग्गहेगट्ठा॥

साधुओं के लिए वर्षा ऋतु में चार मास तक एक स्थान पर रहने का जो विधान है उसी का नाम वर्षावास है। उन्हें हेमन्त के चार मास और ग्रीष्म के चार मास इन आठ महीनों में भिन्न-भिन्न स्थानों में विचरना चाहिए।

नवम अध्ययन में मोहनीयस्थान का अधिकार है। मोह नामादि चार प्रकार का है। पाप, वर्ज्य, वैर, पंक, पनक, क्षोभ, असात, संग, शल्य, अतर, निरति और धूर्त्य मोह के पर्यायवाची हैं :

पावे वज्जे वेरे पंके पणगे खुहे असाए य।
संगे सल्लेयरेए निरए धुत्ते य एगट्ठा॥

दशम अध्ययन में आजातिस्थान का अधिकार है। आजाति अर्थात् जन्म-मरण के क्या कारण हैं और अनाजाति अर्थात् मोक्ष किस प्रकार प्राप्त होता है? इन दोनों प्रश्नों का प्रस्तुत अध्ययन की निर्युक्ति में समाधान किया गया है।

अष्टम प्रकरण

बृहत्कल्पनिर्युक्ति

यह निर्युक्ति[1] भाष्यमिश्रित अवस्था में मिलती है। इसमें सर्वप्रथम तीर्थंकरों को नमस्कार किया गया है।[2] इसके बाद ज्ञान के विविध भेदों का निर्देश किया गया है और कहा गया है कि ज्ञान और मंगल में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है। मंगल चार प्रकार का है: नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल और भावमंगल।[3] इस प्रकार मंगल का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है और साथ ही ज्ञान के भेदों की चर्चा की गई है।

अनुयोग का निक्षेप करते हुए कहा गया है कि नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, वचन और भाव—इन सात भेदों से अनुयोग का निक्षेप होता है।[4] निरुक्त का अर्थ है निश्चित उक्त। वह दो प्रकार का है: सूत्रनिरुक्त और अर्थनिरुक्त।[5] अनुयोग का अर्थ इस प्रकार है: अनु अर्थात् पश्चाद्भूत जो योग है वह अनुयोग है। अथवा अणु अर्थात् स्तोकरूप जो योग है वह अनुयोग है। चूँकि यह पीछे होता है और स्तोकरूप में होता है इसलिए इसे अनुयोग कहते हैं।[6] कल्प के चार अनुयोगद्वार हैं: उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय।[7]

कल्प और व्यवहार का श्रवण और अध्ययन करने वाला बहुश्रुत, चिरप्रव्रजित, कल्पिक, अचंचल, अवस्थित, मेधावी, अपरिश्रावी, विद्वान्, प्राप्तानुज्ञात और भावपरिणामक होता है।[8]

प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ मे प्रलम्बसूत्र का अधिकार है। उसकी सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति करते हुए कहा गया है कि आदि नकार, ग्रंथ, आम, ताल, प्रलम्ब और भिन्न—इन सब पदो का नामादि भेद से चार प्रकार का निक्षेप होता है।[9] इसके बाद प्रलम्बग्रहण से संबन्ध रखने वाले प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है। तत्रग्रहण का विवेचन करते हुए कहा गया है कि तत्रग्रहण दो प्रकार का

---

१. निर्युक्ति-लघुभाष्य-वृत्तिसहित—सम्पादक: मुनि चतुरविजय तथा पुण्यविजय; प्रकाशक: जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३३-१९४२.

२. गा. १. ३. गा. ३-५. ४. गा. १५१. ५. गा. १८८.

६. गा. १९०. ७. गा. २५६. ८. गा. ४००-१. ९. गा. ८१५.

होता है : सपरिग्रह और अपरिग्रह । सपरिग्रह तीन प्रकार का है : देवपरिगृहीत, मनुष्यपरिगृहीत और तिर्यक्‌परिगृहीत ।[1] मासकल्पप्रकृत सूत्रों की व्याख्या करते हुए ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, संबाध, घोष, अंशिका आदि पदों का निक्षेप-पद्धति से विवेचन किया गया है ।[2] आगे की कुछ गाथाओं में जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक के आहार-विहार की चर्चा है । व्यवशमनप्रकृत सूत्र की निर्युक्ति करते हुए आचार्य कहते हैं कि क्षमित, व्यवशमित, विनाशित और क्षपित एकार्थबोधक पद हैं । प्राभृत, प्रहेणक और प्रणयन एकार्थवाची हैं ।[3] प्रथम उद्देशक के अन्त में आर्यक्षेत्रप्रकृत सूत्र का व्याख्यान है जिसमें 'आर्य' पद का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, भाषा, शिल्प, ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन बारह प्रकार के निक्षेपों से विचार किया गया है ।[4] आर्यक्षेत्र की मर्यादा भगवान् महावीर के समय से ही है, इस बात का निरूपण करते हुए आर्यक्षेत्र के बाहर विचरण करने से लगने वाले दोषों का स्कन्दकाचार्य के दृष्टान्त के साथ दिग्दर्शन किया गया है । साथ ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र की रक्षा और वृद्धि के लिए आर्यक्षेत्र के बाहर विचरने की आज्ञा भी दी गई है जिसका संप्रतिराज के दृष्टान्त से समर्थन किया गया है ।[5] इसी प्रकार आगे के उद्देशकों का भी निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है ।

---

१. गा. ८९१–२. २. गा. १०८८–११२०. ३. गा. २६७८. ४. गा. ३२६३. ५. गा. ३२७१–३२८९.

नवम प्रकरण

व्यवहारनिर्युक्ति

व्यवहार सूत्र और बृहत्कल्प सूत्र एक दूसरे के पूरक हैं। जिस प्रकार बृहत्कल्प सूत्र में श्रमण-जीवन की साधना के लिए आवश्यक विधि-विधान, दोष, अपवाद आदि का निर्देश किया गया है उसी प्रकार व्यवहार सूत्र में भी इन्हीं विषयों से संबंधित उल्लेख हैं। यही कारण है कि व्यवहार-निर्युक्ति[1] में भी अधिकतर उन्हीं अथवा उसी प्रकार के विषयों का विवेचन है जो बृहत्कल्प-निर्युक्ति में उपलब्ध हैं। इस प्रकार ये दोनों निर्युक्तियाँ परस्पर पूरक हैं। व्यवहारनिर्युक्ति भी भाष्यमिश्रित अवस्था में ही मिलती है।

---

१. निर्युक्ति-भाष्य-मलयगिरिविवरणसहित—प्रकाशक : केशवलाल प्रेमचंद मोदी व त्रिकमलाल उगरचंद्र, अहमदाबाद, वि. सं० १९८२–५.

दशम प्रकरण

अन्य निर्युक्तियाँ

यह पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्य भद्रबाहु ने दस सूत्रग्रंथों पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा की थी। इन दस निर्युक्तियों में से आठ उपलब्ध हैं और दो अनुपलब्ध। इन आठ निर्युक्तियों का परिचय कहीं संक्षेप में तो कहीं विस्तार से दिया जा चुका है। इनके अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, पंचकल्पनिर्युक्ति, निशीथनिर्युक्ति व संसक्तनिर्युक्ति भी मिलती हैं। संसक्तनिर्युक्ति बहुत बाद के किसी आचार्य की रचना है। पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति और पंचकल्पनिर्युक्ति स्वतन्त्र निर्युक्तिग्रंथ न होकर क्रमशः दशवैकालिकनिर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति और बृहत्कल्पनिर्युक्ति के ही पूरक अंग हैं। निशीथनिर्युक्ति भी एक प्रकार से आचारांगनिर्युक्ति का ही अंग है क्योंकि आचारांगनिर्युक्ति के अन्त में स्वयं निर्युक्तिकार ने लिखा है कि पंचम चूलिका निशीथ की निर्युक्ति मैं बाद में करूँगा।[1] यह निर्युक्ति निशीथभाष्य में इस प्रकार समाविष्ट हो गई है कि उसे अलग नहीं किया जा सकता। गोविन्दाचार्यकृत एक अन्य निर्युक्ति अनुपलब्ध है।

---

१. पंचमचूलनिसीहं तस्स य उवरिं भणीहामि।

—आचारांगनिर्युक्ति, गा. ३४७.

भाष्य

प्रथम प्रकरण

भाष्य और भाष्यकार

आगमों की प्राचीनतम पद्यात्मक टीकाएं निर्युक्तियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। निर्युक्तियों की व्याख्यान-शैली बहुत गूढ़ एवं संकोचशील है। किसी भी विषय का जितने विस्तार से विचार होना चाहिए, उसका उनमें अभाव है। इसका कारण यही है कि उनका मुख्य उद्देश्य पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना है, न कि किसी विषय का विस्तृत विवेचन। यही कारण है कि निर्युक्तियों की अनेक बातें बिना आगे की व्याख्याओं की सहायता के सरलता से समझ में नहीं आतीं। निर्युक्तियों के गूढ़ार्थ को प्रकटरूप मे प्रस्तुत करने के लिए आगे के आचार्यों ने उन पर विस्तृत व्याख्याएं लिखना आवश्यक समझा। इस प्रकार निर्युक्तियों के आधार पर अथवा स्वतंत्ररूप से जो पद्यात्मक व्याख्याएं लिखी गईं वे भाष्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। निर्युक्तियों की भाँति भाष्य भी प्राकृत में ही हैं।

भाष्य :

जिस प्रकार प्रत्येक आगम-ग्रंथ पर निर्युक्ति न लिखी जा सकी उसी प्रकार प्रत्येक निर्युक्ति पर भाष्य भी नहीं लिखा गया। निम्नलिखित आगम ग्रन्थों पर भाष्य लिखे गये हैं : १. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४. बृहत्कल्प, ५. पंचकल्प, ६. व्यवहार, ७. निशीथ, ८. जीतकल्प, ९. ओघनिर्युक्ति, १०. पिण्डनिर्युक्ति।

आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गए हैं : १. मूलभाष्य, २. भाष्य और ३. विशेषावश्यकभाष्य। प्रथम दो भाष्य बहुत ही संक्षिप्त रूप मे लिखे गये और उनकी अनेक गाथाएं विशेषावश्यकभाष्य मे सम्मिलित करली गईं। इस प्रकार विशेषावश्यकभाष्य को तीनों भाष्यों का प्रतिनिधि माना जा सकता है, जो आज भी विद्यमान है। यह भाष्य पूरे आवश्यकसूत्र पर न होकर केवल उसके प्रथम अध्ययन सामायिक पर है। एक अध्ययन पर होते हुए भी इसमें ३६०३ गाथाएं हैं। दशवैकालिकभाष्य में ६३ गाथाएं हैं। उत्तराध्ययनभाष्य

भी बहुत छोटा है। इसमे केवल ४५ गाथाएं हैं। बृहत्कल्प पर दो भाष्य हैं : बृहत् और लघु। बृहद्भाष्य पूरा उपलब्ध नहीं है। लघुभाष्य मे ६४९० गाथाएं हैं। पंचकल्प-महाभाष्य की गाथासंख्या २५७४ है। व्यवहारभाष्य में ४६२९ गाथाएं हैं। निशीथभाष्य मे लगभग ६५०० गाथाएं हैं। जीतकल्पभाष्य की गाथासंख्या २६०६ है। ओघनिर्युक्ति पर दो भाष्य हैं जिनमे से एक की गाथासंख्या ३२२ तथा दूसरे की २५१७ है। पिण्डनिर्युक्ति-भाष्य में ४६ गाथाएं हैं।

भाष्यकार :

उपलब्ध भाष्यों की प्रतियों के आधार पर केवल दो भाष्यकारों के नाम का पता लगता है। वे हैं आचार्य जिनभद्र और संघदासगणि। आचार्य जिनभद्र ने दो भाष्य लिखे : विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पभाष्य। संघदासगणि के भी दो भाष्य हैं : बृहत्कल्प-लघुभाष्य और पंचकल्प-महाभाष्य।

आचार्य जिनभद्र :

आचार्य जिनभद्र[1] का अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के कारण जैन परंपरा के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। इतना होते हुए भी आश्चर्य इस बात का है कि उनके जीवन की घटनाओं के विषय मे जैन ग्रंथों मे कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। उनके जन्म और शिष्यत्व के विषय में परस्पर विरोधी उल्लेख मिलते हैं। ये उल्लेख बहुत प्राचीन नहीं हैं अपितु १५ वीं या १६ वीं शताब्दी की पट्टावलियों मे हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य जिनभद्र को पट्टपरंपरा में सम्यक् स्थान नहीं मिला। उनके महत्त्वपूर्ण ग्रंथों तथा उनके आधार पर लिखे गये विवरणों को देखकर ही बाद के आचार्यों ने उन्हे उचित महत्त्व दिया तथा आचार्य-परंपरा में सम्मिलित करने का प्रयास किया। चूंकि इस प्रयास में वास्तविकता की मात्रा अधिक न थी अतः यह स्वाभाविक है कि विभिन्न आचार्यों के उल्लेखो मे मतभेद हो। यही कारण है कि उनके संबंध मे यह भी उल्लेख मिलता है कि वे आचार्य हरिभद्र के पट्ट पर बैठे।

आचार्य जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य की प्रति शक संवत् ५३१ मे लिखी गई तथा वलभी के एक जैन मंदिर मे समर्पित की गई। इस घटना से यह प्रतीत होता है कि आचार्य जिनभद्र का वलभी से कोई संबंध अवश्य होना चाहिए। आचार्य जिनप्रभ लिखते हैं कि आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण

१. गणधरवाद : प्रस्तावना, पृ० २७–३५.

ने मथुरा में देवनिर्मित स्तूप के देव की आराधना एक पक्ष की तपस्या द्वारा की और दीमक द्वारा खाए हुए महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य जिनभद्र का संबंध वलभी के अतिरिक्त मथुरा से भी है।

डा० उमाकांत प्रेमानंद शाह ने अंकोट्टक—अकोटा गाँव से प्राप्त हुई दो प्रतिमाओं के अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया है कि ये प्रतिमाएं ई० सन् ५५० से ६०० तक के काल की हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि इन प्रतिमाओं के लेखों में जिन आचार्य जिनभद्र का नाम है, वे विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता क्षमाश्रमण आचार्य जिनभद्र ही हैं। उनकी वाचना के अनुसार एक मूर्ति के पद्मासन के पिछले भाग में '**ॐ देवधर्मोयं निवृत्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य**' ऐसा लेख है और दूसरी मूर्ति के भामंडल में '**ॐ निवृत्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य**' ऐसा लेख है।[2] इन लेखों से तीन बातें फलित होती हैं: (१) आचार्य जिनभद्र ने इन प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित किया होगा, (२) उनके कुल का नाम निवृत्तिकुल था और (३) उन्हें वाचनाचार्य कहा जाता था। चूंकि ये मूर्तियाँ अंकोट्टक में मिली हैं, अतः यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय भड़ौच के आसपास भी जैनों का प्रभाव रहा होगा और आचार्य जिनभद्र ने इस क्षेत्र में भी विहार किया होगा। उपर्युक्त उल्लेखों में आचार्य जिनभद्र को क्षमाश्रमण न कहकर वाचनाचार्य इसलिए कहा गया है कि परंपरा के अनुसार वादी, क्षमाश्रमण, दिवाकर तथा वाचक एकार्थक शब्द माने गए हैं।[3] वाचक और वाचनाचार्य भी एकार्थक हैं, अतः वाचनाचार्य और क्षमाश्रमण शब्द वास्तव में एक ही अर्थ के सूचक हैं।[4] इनमें से एक का प्रयोग करने से दूसरे का प्रयोजन भी सिद्ध हो ही जाता है।

---

१. विविधतीर्थकल्प, पृ० १९. २. जैन सत्य प्रकाश, अंक १९६. ३. वही.

४. पं० श्री दलसुख मालवणिया ने इन शब्दों की मीमांसा इस प्रकार की है :—

प्रारंभ में 'वाचक' शब्द शास्त्रविशारद के लिए विशेष प्रचलित था। परन्तु जब वाचकों में क्षमाश्रमणों की संख्या बढ़ती गई तब 'क्षमाश्रमण' शब्द भी वाचक के पर्याय के रूप में प्रसिद्ध हो गया। अथवा 'क्षमाश्रमण' शब्द आवश्यकसूत्र में सामान्य गुरु के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। अतः संभव है कि शिष्य विद्यागुरु को क्षमाश्रमण के नाम से संबोधित करते रहे हों। इसलिए यह स्वाभाविक है कि 'क्षमा-

आचार्य जिनभद्र निवृतिकुल के थे, इसका प्रमाण उपर्युक्त लेखों के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता। यह निवृतिकुल कैसे प्रसिद्ध हुआ, इसके लिए निम्न कथानक का आधार लिया जा सकता है :—

भगवान् महावीर के १७ वे पट्ट पर आचार्य वज्रसेन हुए थे। उन्होंने सोपारक नगर के सेठ जिनदत्त और सेटानी ईश्वरी के चार पुत्रों को दीक्षा दी थी। उनके नाम इस प्रकार थे : नागेन्द्र, चन्द्र, निवृति और विद्याधर। आगे जाकर इनके नाम से भिन्न भिन्न चार प्रकार की परम्पराए प्रचलित हुई और उनकी नागेन्द्र, चन्द्र, निवृति तथा विद्याधर कुलों के रूप में प्रसिद्धि हुई।[1]

इन तथ्यों के अतिरिक्त उनके जीवन से सबंधित और कोई विशेष बात नहीं मिलती। हाँ, उनके गुणों का वर्णन अवश्य उपलब्ध होता है। जीतकल्प-चूर्णि के कर्ता सिद्धसेनगणि अपनी चूर्णि के प्रारभ में आचार्य जिनभद्र की स्तुति करते हुए उनके गुणों का इस प्रकार वर्णन करते हैं :—

'जो अनुयोगधर, युगप्रधान, प्रधान ज्ञानियों से बहुमत, सर्व श्रुति और शास्त्र मे कुशल तथा दर्शन-ज्ञानोपयोग के मार्गरक्षक हैं। जिस प्रकार कमल की सुगन्ध के वश मे होकर भ्रमर कमल की उपासना करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूप मकरद के पिपासु मुनि जिनके मुखरूप निर्झर से प्रवाहित ज्ञानरूप

श्रमण' 'वाचक' का पर्याय बन जाए। जैन समाज मे जब वादियों की प्रतिष्ठा स्थापित हुई, शास्त्र-वैशारद्य के कारण वाचकों का ही अधिकतर भाग 'वादी' नाम से विख्यात हुआ होगा। अतः कालांतर मे 'वादी' का भी 'वाचक' का ही पर्यायवाची बन जाना स्वाभाविक है। सिद्धसेन जैसे शास्त्रविशारद विद्वान् अपने को 'दिवाकर' कहलाते होंगे अथवा उनके साथियों ने उन्हे 'दिवाकर' की पदवी दी होगी, इसलिए 'वाचक' के पर्यायों मे 'दिवाकर' को भी स्थान मिल गया। आचार्य जिनभद्र का युग क्षमाश्रमणों का युग रहा होगा, अतः संभव है कि उनके बाद के लेखकों ने उनके लिए 'वाचनाचार्य' के स्थान पर 'क्षमाश्रमण' पद का उल्लेख किया हो।

—गणधरवाद : प्रस्तावना, पृ. ३१.

१. जैन गुर्जर कविओ, भा० २, पृ० ६६९.

अमृत का सर्वदा सेवन करते हैं। स्व-समय तथा पर-समय के आगम, लिपि, गणित, छन्द और शब्दशास्त्रों पर किए गए व्याख्यानों से निर्मित जिनका अनुपम यशपटह दसों दिशाओं में बज रहा है। जिन्होंने अपनी अनुपम बुद्धि के प्रभाव से ज्ञान, ज्ञानी, हेतु, प्रमाण तथा गणधरवाद का सविशेष विवेचन विशेषावश्यक में ग्रंथनिबद्ध किया है। जिन्होंने छेदसूत्रों के अर्थ के आधार पर पुरुषविशेष के पृथक्करण के अनुसार प्रायश्चित्त की विधि का विधान करने वाले जीतकल्पसूत्र की रचना की है। ऐसे पर-समय के सिद्धांतों में निपुण, संयमशील श्रमणों के मार्ग के अनुगामी और क्षमाश्रमणों में निधानभूत जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को नमस्कार हो।"[1]

इस वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि जिनभद्रगणि आगमों के अद्वितीय व्याख्याता थे, 'युगप्रधान' पद के धारक थे, तत्कालीन प्रधान श्रुतधर भी इनका बहुमान करते थे, श्रुति और अन्य शास्त्रों के कुशल विद्वान् थे। जैन परंपरा में जो ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग का विचार किया गया है, उसके ये समर्थक थे। इनकी सेवा में अनेक मुनि ज्ञानाभ्यास करने के लिए सदा उपस्थित रहते थे। भिन्न-भिन्न दर्शनों के शास्त्र, लिपिविद्या, गणितशास्त्र, छंदःशास्त्र, शब्दशास्त्र आदि के ये अनुपम पंडित थे। इन्होंने विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पसूत्र की रचना की थी। ये पर-सिद्धान्त में निपुण, स्वाचारपालन में प्रवण और सर्व जैन श्रमणों में प्रमुख थे।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी आचार्य जिनभद्र का बहुमानपूर्वक नामोल्लेख किया है। इनके लिए भाष्यसुधाम्भोधि, भाष्यपीयूषपाथोधि, भगवान् भाष्यकार, दुःषमान्धकारनिमग्नजिनवचनप्रदीपप्रतिम, दलितकुवादिप्रवाद, प्रशस्यभाष्यसस्यकाश्यपीकल्प, त्रिभुवनजनप्रथितप्रवचनोपनिषद्वेदी, सन्देहसन्दोहशैलशृंगभंगदम्भोलि आदि विशेषणों का प्रयोग किया है।

आचार्य जिनभद्र के समय के विषय में मुनि श्री जिनविजयजी का मत है कि उनकी मुख्य कृति विशेषावश्यकभाष्य की जैसलमेरस्थित प्रति के अन्त में मिलने वाली दो गाथाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस भाष्य की रचना विक्रम संवत् ६६६ में हुई। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं :—

पंच सता इगतीसा सगणिवकालस्स वट्टमाणस्स।
तो चेत्तपुण्णिमाए बुधदिण सातिंमि णक्खत्ते॥

---

१ जीतकल्पचूर्णि, गा० ५-१० (जीतकल्पसूत्र : प्रस्तावना, पृ० ६-७).

रज्जे णु पालणपरे सी (लाइ) च्चम्मि णरवरिन्दम्मि ।
वलभीणगरीए इमं महवि .... मि जिणभवणे ॥

मुनि श्री जिनविजयजी ने इन गाथाओं का अर्थ इस प्रकार किया है : शक संवत् ५३१ (विक्रम संवत् ६६६) में वलभी में जिस समय शीलादित्य राज्य करता था उस समय चैत्र शुक्ला पूर्णिमा, बुधवार और स्वातिनक्षत्र में विशेषावश्यकभाष्य की रचना पूर्ण हुई।

पं० श्री दलसुख मालवणिया इस मत का विरोध करते हैं। उनकी मान्यता है कि उपर्युक्त मत मूल गाथाओं से फलित नहीं होता। उनके मतानुसार इन गाथाओं में रचनाविषयक कोई उल्लेख नहीं है। वे कहते हैं कि खण्डित अक्षरों को हम यदि किसी मंदिर का नाम मान लें तो इन दोनों गाथाओं में कोई क्रियापद नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में उसकी शक संवत् ५३१ में रचना हुई, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अधिक संभव यह है कि वह प्रति उस समय लिखी जाकर उस मंदिर में रखी गई हो। इस मत की पुष्टि के लिए कुछ प्रमाण भी दिये जा सकते हैं :—

१—ये गाथाएँ केवल जैसलमेर की प्रति में ही मिलती हैं, अन्य किसी प्रति में नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि ये गाथाएँ मूलभाष्य की न होकर प्रति लिखी जाने तथा उक्त मंदिर में रखी जाने के समय की सूचक हैं। जैसलमेर की प्रति मन्दिर में रखी गई प्रति के आधार पर लिखी गई होगी।

२—यदि इन गाथाओं को रचनाकालसूचक माना जाए तो इनकी रचना आचार्य जिनभद्र ने की है, यह भी मानना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति में इनकी टीका भी मिलनी चाहिए। परन्तु बात ऐसी नहीं है। आचार्य जिनभद्र द्वारा प्रारंभ की गई विशेषावश्यकभाष्य की सर्वप्रथम टीका में अथवा कोट्याचार्य और मलधारी हेमचन्द्र की टीकाओं में इन गाथाओं की टीका नहीं मिलती। इतना ही नहीं अपितु इन गाथाओं के अस्तित्व की सूचना तक नहीं है।

इन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि ये गाथाएँ आचार्य जिनभद्र ने न लिखी हों अपितु उस प्रति की नकल करने-कराने वालों ने लिखी हों। ऐसी स्थिति में यह भी स्वतः सिद्ध है कि इन गाथाओं में निर्दिष्ट समय रचनासमय नहीं अपितु प्रतिलेखनसमय है। कोट्यार्य के उल्लेख से यह भी निश्चित है कि आचार्य जिनभद्र की अंतिम कृति विशेषावश्यकभाष्य है। इस भाष्य की स्वोपज्ञ टीका उनकी मृत्यु हो जाने के कारण पूर्ण न हो सकी।[१]

१. गणधरवाद : प्रस्तावना, पृ० ३२-३.

यदि विशेषावश्यकभाष्य की जैसलमेरस्थित उक्त प्रति का लेखनसमय शक संवत् ५३१ अर्थात् विक्रम संवत् ६६६ माना जाए तो विशेषावश्यकभाष्य का रचनासमय इससे पूर्व ही मानना पड़ेगा। यह भी हम जानते हैं कि विशेषावश्यकभाष्य आचार्य जिनभद्र की अन्तिम कृति थी और उसकी स्वोपज्ञ टीका भी उनकी मृत्यु के कारण अपूर्ण रही, ऐसी दशा में यदि यह माना जाए कि जिनभद्र का उत्तरकाल विक्रम संवत् ६५०–६६० के आसपास रहा होगा तो अनुचित नहीं है।

आचार्य जिनभद्र ने निम्नलिखित ग्रंथों की रचना की है: १. विशेषावश्यकभाष्य (प्राकृत पद्य), २. विशेषावश्यकभाष्यस्वोपज्ञवृत्ति (अपूर्ण—संस्कृत गद्य), ३. बृहत्संग्रहणी (प्राकृत पद्य), ४. बृहत्क्षेत्रसमास (प्राकृत पद्य), ५. विशेषणवती (प्राकृत पद्य), ६. जीतकल्प (प्राकृत पद्य), ७. जीतकल्पभाष्य (प्राकृत पद्य), ८. अनुयोगद्वारचूर्णि (प्राकृत गद्य)[1], ९. ध्यानशतक (प्राकृत पद्य)। अन्तिम ग्रंथ अर्थात् ध्यानशतक के कर्तृत्व के विषय में अभी विद्वानों को संदेह है।

संघदासगणि :

संघदासगणि भी भाष्यकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके दो भाष्य उपलब्ध है: बृहत्कल्प-लघुभाष्य और पंचकल्प-महाभाष्य। मुनि श्री पुण्यविजयजी के मतानुसार संघदासगणि नाम के दो आचार्य हुए है: एक वसुदेवहिंडि—प्रथम खण्ड के प्रणेता और दूसरे बृहत्कल्प-लघुभाष्य तथा पंचकल्प-महाभाष्य के प्रणेता। ये दोनों आचार्य एक न होकर भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि वसुदेवहिंडि–मध्यम खंड के कर्ता आचार्य धर्मसेनगणि महत्तर के कथनानुसार वसुदेवहिंडि–प्रथम खंड के प्रणेता संघदासगणि 'वाचक' पद से विभूषित थे, जबकि भाष्यप्रणेता संघदासगणि 'क्षमाश्रमण' पदालंकृत हैं।[2] आचार्य जिनभद्र का परिचय देते समय हमने देखा है कि केवल पदवी-भेद से व्यक्ति-भेद की कल्पना नहीं की जा सकती। एक ही व्यक्ति विविध समय मे विविध पदविया धारण कर सकता है। इतना ही नहीं, एकही समय में एकही व्यक्ति के लिए विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न पदवियों का प्रयोग किया जा सकता है। कभी-कभी तो कुछ पदवियाँ परस्पर

---

१. यह चूर्णि अनुयोगद्वार के अंगुल पद पर है जो जिनदास की चूर्णि तथा हरिभद्र की वृत्ति में अक्षरशः उद्धृत है। २. निर्युक्ति-लघुभाष्य-वृत्त्युपेत बृहत्कल्पसूत्र (षष्ठ भाग) : प्रस्तावना, पृ० १०.

पर्यायवाची भी बन जाती हैं। ऐसी दशा में केवल 'वाचक' और 'क्षमाश्रमण' पदवियों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन पदवियों को धारण करने वाले संघदासगणि भिन्न भिन्न व्यक्ति थे। मुनि श्री पुण्यविजयजी ने भाष्यकार तथा वसुदेवहिंडिकार आचार्यों को भिन्न-भिन्न सिद्ध करने के लिए एक और हेतु दिया है जो विशेष बलवान् है। आचार्य जिनभद्र ने अपने विशेषणवती ग्रंथ में वसुदेवहिंडि नामक ग्रंथ का अनेक बार उल्लेख किया है। इतना ही नहीं अपितु वसुदेवहिंडि–प्रथम खंड में चित्रित ऋषभदेव-चरित की संग्रहणी गाथाएँ बनाकर उनका अपने ग्रंथ में समावेश भी किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वसुदेवहिंडि–प्रथम खंड के प्रणेता संघदासगणि आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं।[1] भाष्यकार संघदासगणि भी आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती ही हैं।

अन्य भाष्यकार :

आचार्य जिनभद्र और संघदासगणि को छोड़कर अन्य भाष्यकारों के नाम का पता अभी तक नहीं लग पाया है। यह तो निश्चित है कि इन दो भाष्यकारों के अतिरिक्त अन्य भाष्यकार भी हुए हैं जिन्होंने व्यवहारभाष्य आदि की रचना की है। मुनि श्री पुण्यविजयजी के मतानुसार कम से कम चार भाष्यकार तो हुए ही हैं। उनका कथन है कि एक श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, दूसरे श्री संघदासगणि क्षमाश्रमण, तीसरे व्यवहारभाष्य आदि के प्रणेता और चौथे बृहत्कल्प बृहद्भाष्य आदि के रचयिता—इस प्रकार सामान्यतया चार आगमिक भाष्यकार हुए हैं। प्रथम दो भाष्यकारों के नाम तो हमें मालूम ही हैं। बृहत्कल्प बृहद्भाष्य के प्रणेता, जिनका नाम अभी तक अज्ञात है, बृहत्कल्पचूर्णिकार तथा बृहत्कल्पविशेषचूर्णिकार से भी पीछे हुए हैं। इसका कारण यह है कि बृहत्कल्पलघुभाष्य की १६६१ वीं गाथा में प्रतिलेखना के समय का निरूपण किया गया है। उसका व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार और विशेषचूर्णिकार ने जिन आदेशांतरों का अर्थात् प्रतिलेखना के समय से संबंध रखने वाली विविध मान्यताओं का उल्लेख किया है उनसे भी और अधिक नई-नई मान्यताओं का संग्रह बृहत्कल्प-बृहद्भाष्यकार ने उपर्युक्त गाथा से सम्बन्धित महाभाष्य में किया है जो याकिनीमहत्तरासूनु आचार्य श्री हरिभद्रसूरिविरचित पंचवस्तुक प्रकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति में उपलब्ध है। इससे यह

१. वही, पृ० २०–२१.

स्पष्ट प्रतीत होता है कि बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य के प्रणेता बृहत्कल्पचूर्णि तथा विशेषचूर्णि के प्रणेताओं से पीछे हुए हैं। ये आचार्य हरिभद्रसूरि के कुछ पूर्ववर्ती अथवा समकालीन हैं। अब रही बात व्यवहारभाष्य के प्रणेता की। इस बात का कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि व्यवहारभाष्य के प्रणेता कौन हैं और वे कब हुए हैं? इतना होते हुए भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि व्यवहारभाष्यकार जिनभद्र के भी पूर्ववर्ती हैं।[1] इसका प्रमाण यह है कि आचार्य जिनभद्र ने अपने विशेषणवती ग्रंथ मे व्यवहार के नाम के साथ जिस विषय का उल्लेख किया है वह व्यवहारसूत्र के छठे उद्देशक के भाष्य में उपलब्ध होता है।[2] इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि व्यवहारभाष्यकार आचार्य जिनभद्र से भी पहले हुए हैं।

—:*:—

१. वही, पृ० २१-२२.

२. सीहो सुदाढनागो, आसग्गीवो य होइ अण्णेसिं।
सिंहो मिगद्धओ त्ति य, होइ वसुदेवचरियम्मि ॥
सीहो चेव सुदाढो, जं रायगिहम्मि कविलबडुओ त्ति।
सीसइ ववहारे गोयमोवसमिओ स णिक्खंतो ॥
—विशेषणवती, ३३-४.

सीहो तिविट्ठ निहतो, भमिउं रायगिह कवलिबडुग त्ति।
जिणवर कहणमणुवसम, गोयमोवसम दिक्खा य ॥
—व्यवहारभाष्य, १९२.

द्वितीय प्रकरण

विशेषावश्यकभाष्य

विशेषावश्यकभाष्य[1] एक ऐसा ग्रंथ है जिसमे जैन आगमों मे वर्णित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की गई है। जैन ज्ञानवाद, प्रमाणशास्त्र, आचार-नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मसिद्धान्त आदि सभी विषयों से सम्बन्धित सामग्री की प्रचुरता का दर्शन इस ग्रंथ में सहज ही उपलब्ध होता है। इस ग्रंथ की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जैन तत्त्व का निरूपण केवल जैन दृष्टि से न होकर इतर दार्शनिक मान्यताओं की तुलना के साथ हुआ है। आचार्य जिनभद्र ने आगमों की सभी प्रकार की मान्यताओं का जैसा तर्क-पुरस्सर निरूपण इस ग्रंथ में किया है वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। यही कारण है कि जैनागमों के तात्पर्य को ठीक तरह समझने के लिए विशेषावश्यक-भाष्य एक अत्यन्त उपयोगी ग्रंथ है। आचार्य जिनभद्र के उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने विशेषावश्यकभाष्य की सामग्री एवं तर्कपद्धति का उदारतापूर्वक उपयोग किया है। उनके बाद में लिखा गया आगम की व्याख्या करनेवाला एक भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ ऐसा नहीं है जिसमें विशेषावश्यकभाष्य का आधार न लिया गया हो।

इस संक्षिप्त भूमिका के साथ अब हम विशेषावश्यकभाष्य के विस्तृत परि-चय की ओर बढ़ते हैं। यह ग्रंथ आवश्यकसूत्र की व्याख्यारूप है। इसमें केवल प्रथम अध्ययन अर्थात् सामायिक से संबन्धित निर्युक्ति की गाथाओं का विवेचन किया गया है।

उपोद्घात :

सर्वप्रथम आचार्य ने प्रवचन को प्रणाम किया है एवं गुरु के उपदेशानुसार सकल चरण-गुणसंग्रहरूप आवश्यकानुयोग करने की प्रतिज्ञा की है। इसके फल

---

१. (क) शिष्यहिताख्य बृहद्वृत्ति (मलधारी हेमचन्द्रकृत टीका) सहित—यशो-विजय जैन ग्रंथमाला, बनारस, वीर संवत् २४२७–२४४१.

(ख) गुजराती अनुवाद—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२४-१९२७.

(ग) विशेषावश्यकगाथानामकारादिः क्रमः तथा विशेषावश्यकविषयाणा-मनुक्रमः–आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२३.

(घ) स्वोपज्ञ वृत्तिसहित (प्रथम भाग)—लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, सन् १९६६.

आदि का विचार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि आवश्यकानुयोग का फल, योग, मंगल, समुदायार्थ, द्वारोपन्यास, तद्भेद, निरुक्त, क्रमप्रयोजन आदि दृष्टियों से विचार करना चाहिए।[1]

फलद्वार :

आवश्यकानुयोग का फल यह है : ज्ञान और क्रिया से मोक्ष होता है और आवश्यक ज्ञान-क्रियामय है, अतः उसके व्याख्यानरूप कारण से मोक्षलक्षणरूप कार्यसिद्धि होती है।[2]

योगद्वार :

योगद्वार की व्याख्या इस प्रकार है : जिस प्रकार वैद्य बालक आदि के लिए यथोचित आहार की सम्मति देता है, उसी प्रकार मोक्षमार्गाभिलाषी भव्य के लिए प्रारम्भ में आवश्यक का आचरण योग्य है–उपयुक्त है।[3] आचार्य शिष्य को पंचनमस्कार करने पर सर्वप्रथम विधिपूर्वक सामायिक आदि देता है; उसके बाद क्रमशः शेष श्रुत का भी बोध कराता है[4] क्योंकि स्थविरकल्प का क्रम उसी प्रकार है। वह क्रम यों है : प्रव्रज्या, शिक्षापद, अर्थग्रहण, अनियतवास, निष्पत्ति, विहार और सामाचारीस्थिति।[5] यहाँ एक शंका होती है कि यदि पहले नमस्कार करना चाहिए और बाद में सामायिकादि आवश्यक का ग्रहण करना चाहिए, तो सर्वप्रथम नमस्कार का अनुयोग करना चाहिए और उसके बाद आवश्यक का अनुयोग करना उपयुक्त है। इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि नमस्कार सर्व श्रुतस्कन्ध का अभ्यन्तर है अतः आवश्यकानुयोग के ग्रहण के साथ उसका भी ग्रहण हो ही जाता है। नमस्कार सर्वश्रुतस्कन्धाभ्यन्तर है, इसका क्या प्रमाण ? उसकी सर्वश्रुताभ्यन्तरता का यही प्रमाण है कि उसे प्रथम मंगल कहा गया है। दूसरी बात यह है कि इसका नंदी में पृथक् श्रुतस्कन्ध के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है।[6]

मंगलद्वार :

अब मंगलद्वार की चर्चा प्रारम्भ होती है। मंगल की क्या उपयोगिता है, यह बताते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठ कार्य में अनेक विघ्न उपस्थित हो जाया करते हैं। उन्हीं की शान्ति के लिए मंगल किया जाता है। शास्त्र में मंगल तीन स्थानों पर होता है : आदि, मध्य और अन्त। प्रथम मगल का प्रयोजन शास्त्रार्थ की अविघ्नपूर्वक समाप्ति है, द्वितीय का प्रयोजन उसी की स्थिरता है और तृतीय का प्रयोजन उसी की शिष्य-प्रशिष्यादि वंशपर्यन्त अव्यवच्छित्ति है।[7] भाष्यकार

---

१. गा० १–२. २. गा० ३. ३. गा० ४. ४. गा० ५. ५. गा० ७.
६. गा० ८–१०. ७. गा० १२–४.

सिद्ध किया है कि मति वल्क के समान है और भावश्रुत शुम्ब के समान है।[1] इसी प्रकार अक्षर और अनक्षर के भेद से भी श्रुत और मति की व्याख्या की है।[2] मूक और इतर भेद से मति और श्रुत के भेद का विचार करते हुए आचार्य ने यह प्रतिपादन किया है कि करादिचेष्टा शब्दार्थ ही है, क्योंकि वह उसी का काम करती है और इस प्रकार श्रुतज्ञान का ही कारण है, न कि मति का।[3] यहाँ तक मति-श्रुत के भेद का अधिकार है।

आभिनिबोधिक ज्ञान :

आभिनिबोधिक ज्ञान के भेदों की ओर निर्देश करते हुए आगे कहा गया है कि इन्द्रिय मनोनिमित्त जो आभिनिबोधिक ज्ञान है उसके दो भेद हैं : श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित। इन दोनों के पुनः चार भेद-चार होते हैं : अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा। सामान्यरूप से अर्थ का अवग्रहण अवग्रह है, भेद की मार्गणा करना ईहा है, उसका निश्चय अपाय है और उसकी अविच्युति धारणा है।[4] जो लोग सामान्यविशेष के ग्रहण को अवग्रह कहते हैं उनका मत ठीक नहीं क्योंकि उसमें अनेक दोष हैं। कुछ लोग यह कहते हैं कि ईहा संशयमात्र है, यह ठीक नहीं, क्योंकि संशय तो अज्ञान है जबकि ईहा ज्ञान है। ऐसी स्थिति में ज्ञानरूप ईहा अज्ञानरूप संशय कैसे हो सकती है ?[5] इसी प्रकार अपाय और धारणासम्बन्धी मतान्तरों का भी भाष्यकार ने खण्डन किया है।

अवग्रह दो प्रकार का है : व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। जिसमें अर्थ (पदार्थ) प्रकट होता है वह व्यञ्जनावग्रह है। उपकरणेन्द्रिय और शब्दादिरूप से परिणत द्रव्य का पारस्परिक सम्बन्ध व्यंजनावग्रह है।[6] इसके चार भेद हैं: स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र। नयन और मन अप्राप्यकारी हैं अतः उनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता। जो लोग श्रोत्र और घ्राण को भी अप्राप्यकारी मानते हैं उनके मत का खंडन करते हुए भाष्यकार ने यह सिद्ध किया है कि स्पर्शन और रसन की ही भाँति घ्राण और श्रोत्र भी प्राप्त अर्थ का ही ग्रहण करते हैं।[7] इसी प्रकार नयन और मन की अप्राप्यकारिता का भी रोचक ढंग से समर्थन किया गया है।[8] विशेष कर जहाँ स्वप्न का प्रसंग आता है वहाँ तो आचार्य ने प्रतिपादन की कुशलता एवं रोचकता का परिचय बहुत ही सुन्दर ढंग से दिया है। *व्यंजनावग्रह के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के बाद अर्थावग्रह का*

---

१. गा० १५४–१६१. २. गा. १६२–१७०. ३. गा० १७१–५. ४. गा० १७७–१८०. ५. गा० १८१–२. ६. गा० १९३–४. ७. गा० २०४–८. ८. गा० २०९–२३६.

व्याख्यान किया है, जिसमे अनेक शंकाओं का समाधान करते हुए व्यावहारिक एवं नैश्चयिक दृष्टि से अर्थावग्रह के विषय, समय आदि का निर्णय किया है।[1] इसके बाद ईहा, अपाय और धारणा के स्वरूप की चर्चा की गई है। मतिज्ञान के मुख्यरूप से दो भेद हैं: श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित। श्रुतनिश्रित के अवग्रहादि चार भेद हैं। अवग्रह के पुनः दो भेद हैं: व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यंजनावग्रह श्रोत्रादि चार प्रकार का है। अर्थावग्रह, ईहा, अपाय और धारणा के श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियाँ और मन–इन छः से उत्पन्न होने के कारण प्रत्येक के छः भेद होते हैं। इस प्रकार व्यंजनावग्रह के ४ तथा अर्थावग्रहादि के २४ कुल २८ भेद हुए। ये श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के भेद हैं। कुछ लोग अवग्रह के दो भेदों को अलग न गिनाकर अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा–इन चारों के छः-छः भेद करके श्रुतनिश्रित मति के २४ भेद करते हैं और उनमें अश्रुतनिश्रित मति के औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी–इन चार भेदों को मिलाकर पूरे मतिज्ञान के २८ भेद करते हैं।[2] भाष्यकार ने इस मत का खण्डन किया है। उपर्युक्त २८ प्रकार के श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, निश्चित और ध्रुव–ये छः तथा इनसे विपरीत छः और–इस प्रकार प्रत्येक के १२ भेद होते हैं। इस प्रकार श्रुतनिश्रित मति के २८ × १२ = ३३६ भेद होते हैं।[3] इसके बाद आचार्य ने संशय ज्ञान है या अज्ञान, इसकी चर्चा करते हुए सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है।[4] अवग्रहादि की कालमर्यादा इस प्रकार है: अवग्रह एक समयपर्यन्त रहता है, ईहा और अपाय अन्तर्मुहूर्त तक रहते हैं, धारणा अन्तर्मुहूर्त, संख्येयकाल तथा असंख्येयकाल तक रहती है। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि केवल नैश्चयिक अर्थावग्रह एक समयपर्यन्त रहता है। वासनारूप धारणा को छोड़कर शेष व्यंजनावग्रह, व्यावहारिक अर्थावग्रह, ईहा आदि प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त है। वासनारूप धारणा ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की विशिष्टता के कारण संख्येय अथवा असंख्येय कालपर्यन्त रहती है।[5] इसके बाद भाष्यकार ने इन्द्रियों की प्राप्तकारिता और अप्राप्तकारिता के सामीप्य, दूरी, काल आदि से सम्बन्ध रखने वाली बातों पर प्रकाश डाला है।[6] इस प्रसग पर भाषा, शरीर, समुद्घात आदि विषयों का भी विस्तृत परिचय दिया गया है।

---

१. गा० २३७–२८८. २. गा० ३००–२. ३. गा० ३०७. ४. गा० ३०८–३३२. ५. गा० ३३३–४. ६. गा० ३४०–३९५.

मतिज्ञान ज्ञेयभेद से चार प्रकार का है। सामान्य प्रकार से मतिज्ञानोपयुक्त जीव द्रव्यादि चारों प्रकारों को जानता है। ये चार प्रकार हैं : द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।[१] निर्युक्तिकार का अनुसरण करते हुए आगे की कुछ गाथाओं में आभिनिबोधिक ज्ञान का सत्पदप्ररूपणता, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाग, भाव और अल्प-बहुत्व—इन द्वारों से विचार किया है। प्रसंगवश व्यवहारवाद और निश्चयवाद के पारस्परिक मतभेद का दिग्दर्शन कराते हुए दोनों के स्याद्वाद-सम्मत सामंजस्य का निरूपण किया गया है।[२]

श्रुतज्ञान :

श्रुतज्ञान की चर्चा करते हुए कहा गया है कि लोक में जितने भी प्रत्येकाक्षर हैं और जितने भी उनके संयोग है उतनी ही श्रुतज्ञान की प्रकृतियाँ होती हैं। संयुक्त और असंयुक्त एकाक्षरों के अनन्त संयोग होते हैं और उनमें से भी प्रत्येक संयोग के अनन्त पर्याय होते हैं।[३] श्रुतज्ञान का चौदह प्रकार के निक्षेपों से विचार किया जाता है। वे चौदह प्रकार ये हैं : अक्षर, संज्ञी, सम्यक्, सादिक, सपर्यवसित, गमिक और अगप्रविष्ट-ये सात और सात इनके प्रतिपक्षी।[४]

अक्षर तीन प्रकार का है : संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्ध्यक्षर। जितने भी लिपिभेद हैं वे सब संज्ञाक्षर के कारण हैं। जिससे अर्थ की अभिव्यक्ति होती है उसे व्यञ्जनाक्षर कहते हैं। अक्षर की उपलब्धि अर्थात् लाभ को लब्ध्यक्षर कहते हैं। यह विज्ञानरूप है, इन्द्रिय मनोनिमित्तक है तथा आवरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। इनमें से संज्ञाक्षर और व्यञ्जनाक्षर द्रव्यश्रुतरूप है तथा लब्ध्यक्षर भावश्रुतरूप है।[५] श्रुतज्ञान के प्रसंग को दृष्टि में रखते हुए भाष्यकार ने यह भी सिद्ध किया है कि एकेन्द्रियादि असंज्ञी जीवों को अक्षर का लाभ (लब्ध्यक्षर) कैसे होता है।[६] उच्छ्वसित, निःश्वसित, निष्ठ्यूत, कासित, क्षुत, निःसिंघित, अनुस्वार, सेण्टित आदि अनक्षर है।[७]

जिसके संज्ञा होती है उसे संज्ञी कहते हैं। संज्ञा तीन प्रकार की है : कालिकी, हेतुवादोपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी। कालिकी संज्ञा वाला अतीत और अनागत वस्तु का चिंतन करने में समर्थ होता है।[८] हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा वाला जीव स्वदेहपरिपालन की दृष्टि से इष्ट और अनिष्ट वस्तु का विचार करता हुआ उसमें प्रवृत्त अथवा निवृत्त होता है। यह संज्ञा

१. गा० ४०२-४. २. गा० ४०६-४४२. ३. गा० ४४४-५. ४. गा० ४५३-४. ५. गा० ४६४-७. ६. गा० ४७४-६. ७. गा० ५०१ (निर्युक्ति). ८. गा० ५०४-८.

प्रायः सांप्रतकालीन अर्थात् वर्तमान काल में ही होती है। अतीत और अनागत की चिन्ता इसका विषय नहीं होता। क्षायोपशमिक ज्ञान में वर्तमान सम्यग्दृष्टि जीव दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा वाला है। इस दृष्टि से मिथ्यादृष्टि असंज्ञी है।[1] पृथिवी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पति में ओघसंज्ञा (वृत्यारोहणादि अभिप्रायरूप) होती है। द्वीन्द्रियादि में हेतुसंज्ञा रहती है। सुर, नारक और गर्भोद्भव प्राणियों मे कालिकी संज्ञा होती है। छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि जीवों में दृष्टिवाद संज्ञा रहती है। केवलियों में किसी प्रकार की संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वे स्मरण, चिन्ता आदि मति-व्यापारों से विमुक्त होते हैं, अतः वे संज्ञातीत हैं।[2]

अंगप्रविष्ट आचारादि श्रुत तथा अनंगप्रविष्ट आवश्यकादि श्रुत सम्यक्-श्रुत की कोटि मे है। लौकिक महाभारतादि श्रुत मिथ्याश्रुत है। स्वामित्व की दृष्टि से विचार करने पर सम्यग्दृष्टिपरिगृहीत लौकिक श्रुत भी सम्यक्श्रुत की कोटि मे आ जाता है जबकि मिथ्यादृष्टिपरिगृहीत आचारादि सम्यक्श्रुत भी मिथ्याश्रुत की कोटि में चला जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वपरिगृहीत श्रुत सम्यक् होता है। सम्यक्त्व पांच प्रकार का है: औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक तथा क्षायिक। भाष्यकार ने इन प्रकारों का संक्षिप्त परिचय दिया है।[3]

द्रव्यास्तिक नय की अपेक्षा से श्रुत पंचास्तिकाय की भांति अनादि तथा अपर्यवसित—अनन्त है और पर्यायास्तिक नय की दृष्टि से जीव के गतिपर्यायों की भांति सादि एवं सपर्यवसित—सान्त है।[4] जो बात श्रुत के लिए कही गई है वही संसार के समस्त पदार्थों के लिए है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न होता है, नष्ट होता है तथा नित्यरूप से स्थित रहता है। इसी प्रकार सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदि का सद्भाव सिद्ध किया जाता है।[5]

गम का अर्थ होता है भंग अर्थात् गणितादि विशेष। वे जिसमें हों उसे गमिक कहते हैं। अथवा गम का अर्थ है सदृश पाठ। वे जिसमे बहुतायत से हों उसे गमिक कहते हैं। जिस श्रुत में इस प्रकार की सामग्री न हो वह अगमिक श्रुत है।[6]

---

१. गा० ५१५–७. २. गा० ५२१–४. ३. गा० ५२७–५३६. ४. गा० ५३७. ५. गा०५४४. ६. गा० ५४९.

द्वादशांगरूप गणधरकृत श्रुत को अंगप्रविष्ट कहते हैं तथा अनंगरूप स्थविर-कृत श्रुत को अंगबाह्य कहते हैं। अथवा गणधरपृष्ट तीर्थंकरसंबन्धी जो आदेश है, उससे निष्पन्न होने वाला श्रुत अंगप्रविष्ट है तथा जो मुत्क अर्थात् अप्रश्नपूर्वक अर्थप्रतिपादन है वह अंगबाह्य है। अथवा जो श्रुत ध्रुव अर्थात् सभी तीर्थंकरों के तीर्थों में नियत है वह अंगप्रविष्ट है तथा जो चल अर्थात् अनियत है वह अंगबाह्य है।[१]

उपयोगयुक्त श्रुतज्ञानी सब द्रव्यों को जानता है किन्तु उनमें से अपने अचक्षुदर्शन से कुछ को ही देखता है। ऐसा क्यों? इसका भी उत्तर भाष्यकार ने दिया है।[२] जिन आठ गुणों से आगमशास्त्र का ग्रहण होता है वे इस प्रकार हैं: शुश्रूषा, प्रतिपृच्छा, श्रवण, ग्रहण, पर्यालोचन, अपोहन (निश्चय), धारण और सम्यगनुष्ठान। भाष्यकार ने निर्युक्तिसम्मत इन आठ प्रकार के गुणों का संक्षिप्त विवेचन किया है।[३]

अवधिज्ञान :

अवधिज्ञान का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने निर्युक्ति की गाथाओं का बहुत विस्तार से व्याख्यान किया है। भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय भेदों की ओर निर्देश करते हुए चौदह प्रकार के निक्षेपों का बहुत ही विस्तृत विवेचन किया है।[४] नारक और देवों को पक्षियों के नभोगमन की भाँति जन्म से ही भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। शेष प्राणियों को गुणप्रत्यय अर्थात् अपने कर्म के क्षयो-पशम के कारण यदाकदा होता है। उनके लिए ऐसा नियम नहीं कि उन्हें जन्म से हो ही।

मनःपर्ययज्ञान :

मनःपर्ययज्ञान से मनुष्य के मानसिक परिचिंतन का प्रत्यक्ष होता है। यह ज्ञान मनुष्यक्षेत्र तक सीमित है, गुणप्रत्ययिक है और चारित्रशील को होता है। दूसरे शब्दों में जो संयत है, सर्वप्रमादरहित है, विविध ऋद्धियुक्त है वही इस ज्ञान का अधिकारी होता है। मनःपर्ययज्ञान का विषय चिन्तित मनोद्रव्य है, क्षेत्र नरलोक है, काल भूत और भविष्यत् का पल्योपमासंख्येय भाग है। मनःपर्ययज्ञानी चिन्तित मनोद्रव्य को साक्षात् देखता व जानता है किन्तु तद्भासित बाह्य पदार्थ को अनुमान से जानता है।[५]

---

१. गा० ५५०. २. गा० ५५३–५. ३. गा० ५६२–६. ४. गा० ५६८–८०८. ५. गा० ८१०–४.

केवलज्ञान :

केवलज्ञान सर्वद्रव्य तथा सर्वपर्यायों को ग्रहण करता है। वह अनन्त है, शाश्वत है, अप्रतिपाती है, एक ही प्रकार का है। यह ज्ञान सर्वावरणक्षय से उत्पन्न होने वाला है, अतः सर्वोत्कृष्ट है, सर्वविशुद्ध है, सर्वगत है। केवली किसी भी अर्थ का प्रतिपादन प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ही करता है। उसका वाग्योग प्रत्यक्ष ज्ञान पर अवलंबित होता है। यही वाग्योग श्रुत का रूप धारण करता है।[1] इस प्रकार केवलज्ञान के स्वरूप की चर्चा के साथ ज्ञानपंचक का अधिकार समाप्त होता है।

समुदायार्थद्वार :

पंचज्ञान की चर्चा के साथ मंगलरूप तृतीय द्वार समाप्त होता है तथा समुदायार्थरूप चतुर्थ द्वार का व्याख्यान प्रारंभ होता है। ज्ञानपंचक में से यह किस ज्ञान का मंगलार्थ अर्थात् अनुयोग है? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि मतिज्ञानादि में श्रुत का प्रकृतानुयोग है, अन्य का नहीं क्योंकि दूसरे प्रकार के ज्ञान पराधीन होते हैं तथा परबोध में प्रायः समर्थ नहीं होते। श्रुतज्ञान दीपक की तरह स्वप्रकाशन तथा परप्रबोधन में समर्थ है, अतः उसी का अनुयोग यहाँ उचित है। यहाँ जो आवश्यक का अधिकार है वह श्रुतरूप ही है।[2] अनुयोग का अर्थ है सूत्र का अपने अभिधेय से अनुयोजन अर्थात् अनुसम्बन्धन; अथवा सूत्र का अनुरूप प्रतिपादनलक्षणरूप व्यापार; अथवा सूत्र अर्थ से अनु = अणु है—स्तोक है, तथा अनु = पश्चात् है उसकी अर्थ के साथ योजना अर्थात् सम्बन्धस्थापन।[3]

प्रस्तुत शास्त्र का नाम आवश्यक श्रुतस्कन्ध है। इसके सामायिकादि जो छः भेद हैं उन्हें अध्ययन कहते हैं। अतः 'आवश्यक', 'श्रुत', 'स्कन्ध', 'अध्ययन' आदि पदों का पृथक्-पृथक् अनुयोग करना चाहिए। 'आवश्यक' का नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप चार प्रकार का निक्षेप होता है। इनमें से प्रस्तुत भाष्य में द्रव्यावश्यक की आगम और नोआगमरूप से विस्तृत व्याख्या की गई है। अधिकाक्षर सूत्रपाठ के लिए कुणाल नामक राजपुत्र तथा कपि का उदाहरण दिया गया है। हीनाक्षर पाठ के लिए विद्याधर आदि के उदाहरण दिए गए हैं। उभय के लिए बाल तथा आतुर के लिए अतिभोजन तथा भेषजविपर्यय के उदाहरण दिए गए हैं। लोकोत्तर नोआगमरूप द्रव्यावश्यक के स्वरूप की पुष्टि के लिए साध्वाभास का दृष्टान्त दिया गया है।[4] भावावश्यक

---

१. गा० ८२२–८३६. २. गा० ८३७–८४०. ३. गा० ८४१–२.
४. गा० ८४७–८६८.

भी दो प्रकार का होता है : आगमरूप तथा नोआगमरूप। आवश्यक के अर्थ का उपयोगरूप परिणाम आगमरूप भावावश्यक है। ज्ञानक्रियोभयरूप परिणाम नोआगमरूप भावावश्यक है। नोआगमरूप भावावश्यक के तीन प्रकार हैं : लौकिक, लोकोत्तर तथा कुप्रावचनिक। इन तीनों में से लोकोत्तर भावावश्यक प्रशस्त है अतः शास्त्र में उसी का अधिकार है।[१]

आवश्यक के पर्याय ये हैं : आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुव, निग्रह, विशुद्धि, अध्ययनषट्क, वर्ग, न्याय, आराधना, मार्ग। भाष्यकार ने इन नामों की सार्थकता भी दिखाई है।[२] इसी प्रकार श्रुत, स्कन्ध आदि का भी निक्षेप-पद्धति से विचार किया गया है। श्रुत के एकार्थक नाम ये हैं : श्रुत, सूत्र, ग्रंथ, सिद्धांत, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम।[३] स्कन्ध के पर्याय ये हैं : गण, काय, निकाय, स्कन्ध, वर्ग, राशि, पुञ्ज, पिण्ड, निकर, संघात, आकुल, समूह।[४]

आवश्यक श्रुतस्कन्ध के छः अध्ययनों का अर्थाधिकार इस प्रकार है : सामायिकाध्ययन का अर्थाधिकार सावद्ययोगविरति है, चतुर्विंशतिस्तव का अर्थाधिकार गुणोत्कीर्तन है, वन्दनाध्ययन का अर्थाधिकार गुणी गुरु की प्रतिपत्ति है, प्रतिक्रमण का अर्थाधिकार श्रुत-शीलस्खलन की निंदा है, कायोत्सर्गाध्ययन का अधिकार अपराधव्रणचिकित्सा है तथा प्रत्याख्यानाध्ययन का अधिकार गुणधारणा है।[५] यहाँ आवश्यक का पिण्डार्थ—समुदायार्थ नामक चतुर्थ द्वार समाप्त होता है।

द्वारोपन्यास तथा भेदद्वार :

पंचम द्वार में सामायिक नामक प्रथम अध्ययन की विशेष व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि सामायिक का लक्षण समभाव है। जिस प्रकार व्योम सब द्रव्यों का आधार है उसी प्रकार सामायिक सब गुणों का आधार है। शेष अध्ययन एक तरह से सामायिक के ही भेद हैं क्योंकि सामायिक दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप तीन प्रकार की है और कोई गुण ऐसा नहीं है जो इन तीन प्रकारों से अधिक हो। किसी महानगर के द्वारों की भाँति सामायिकाध्ययन के भी चार अनुयोगद्वार हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं : उपक्रम, निक्षेप, अनुगम तथा नय। इनके पुनः क्रमशः छः, तीन, दो तथा दो प्रभेद होते हैं।[६] यहाँ तक पाँचवें द्वारोपन्यास तथा छठे भेदद्वार का अधिकार है।

---

१. गा० ८६१–८७०. २. गा० ८७२–३. ३. गा० ८९४.
४. गा० ९००. ५. गा० ९०२. ६. गा० ९०५–९१०.

निरुक्तद्वार :

सातवें निरुक्तद्वार में उपक्रम आदि की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि शास्त्र का उपक्रमण अर्थात् समीपीकरण (न्यासदेशानयन) उपक्रम है। निक्षेप का अर्थ है निश्चित क्षेप अर्थात् न्यास अथवा नियत व्यवस्थापन। अनुगम का अर्थ है सूत्रानुरूप गमन (व्याख्यान) अथवा अर्थानुरूप गमन। इसका प्रयोजन सूत्र और अर्थ का अनुरूप सम्बन्धस्थापन है। नय का अर्थ है वस्तु का संभवित अनेक पर्यायों के अनुरूप परिच्छेदन।[1]

क्रमप्रयोजन :

अष्टम द्वार का नाम क्रमप्रयोजन है। इसमें उपक्रम, निक्षेप, अनुगम तथा नय के उक्त क्रम को युक्तियुक्त सिद्ध किया गया है।[2] यहाँ तक भाष्य की द्वितीय गाथा मे निर्दिष्ट द्वारों का अधिकार है। इसके बाद उपक्रम का भावोपक्रम की दृष्टि से विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया गया है तथा आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार और समवतार नामक छः भेदों का विस्तृत विवेचन किया गया है।[3]

निक्षेप :

निक्षेप के तीन भेद हैं : ओघनिष्पन्न, नामनिष्पन्न तथा सूत्रालापकनिष्पन्न। श्रुत के अंग, अध्ययन आदि सामान्य नाम ओघ है। प्रस्तुत सामायिक श्रुत का ओघ चार प्रकार का है : अध्ययन, अक्षीण, आय तथा क्षपणा। शुभ अध्यात्मानयन का नाम अध्ययन है। यह बोध, संयम, मोक्ष आदि की प्राप्ति में हेतुभूत है। जो अनवरत वृद्धि की ओर अग्रसर है वह अक्षीण है। जिससे ज्ञानादि का लाभ होता है वह आय है। जिससे पापकर्मों की निर्जरा होती है वह क्षपणा है। प्रस्तुत अध्ययन का एक विशेष नाम (सामायिक) है। यही नाम निक्षेप है। 'करेमि भन्ते !' आदि सूत्रपदों का न्यास ही सूत्रालापकनिक्षेप है।[4]

अनुगम :

अनुगम दो प्रकार का है : निर्युक्त्यनुगम तथा सूत्रानुगम। निर्युक्ति के पुनः तीन भेद है : निक्षेपनिर्युक्ति, उपोद्घातनिर्युक्ति एवं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति। भाष्यकार ने इन भेदों का विस्तृत वर्णन किया है।[5]

---

१. गा० ९११-४. २. गा० ९१५-६. ३. गा० ९१७-९५६.
४. गा० ९५७-९७०. ५. गा० ९७१-१००७.

नय :

किसी भी सूत्र की व्याख्या करते समय सब प्रकार के नयों की परिशुद्धि का विचार करते हुए निरवशेष अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है। यही नय है।[1] यहां चार प्रकार के अनुयोगद्वारों की व्याख्या समाप्त होती है।

उपोद्घात-विस्तार :

भाष्यकार कहते हैं कि अब मैं मंगलोपचार करके शास्त्र का विस्तारपूर्वक उपोद्घात करूँगा। यह मंगलोपचार मध्यमंगलरूप है।[2] मैं सर्वप्रथम अनुत्तर-पराक्रमी, अमितज्ञानी, तीर्ण, सुगतिप्राप्त तथा सिद्धिपथप्रदर्शक तीर्थंकरों को नमस्कार करता हूँ। जिससे तिरा जाता है अथवा जो तिरा देता है अथवा जिसमें तैरा जाता है उसे तीर्थ कहते हैं। वह नामादि भेद से चार प्रकार का है। सरित्-समुद्र आदि का कोई भी निरपाय नियत भाग द्रव्यतीर्थ कहलाता है क्योंकि वह देहादि द्रव्य को ही तिरा सकता है। जो लोग यह मानते हैं कि नद्यादि तीर्थ भवतारक हैं उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि स्नानादि जीव का उपघात करने वाले हैं। इनसे पुण्योपार्जन नहीं होता। यदि कोई यह कहे कि जाह्नवीजलादिक तीर्थरूप ही हैं क्योंकि उनसे दाहनाश, पिपासोपशमादि कार्य सपन्न होते हैं और इस प्रकार वे देह का उपकार करते है, यह ठीक नहीं। ऐसा मानने पर मधु, मद्य, मांस, वेश्या आदि भी तीर्थरूप हो जाएँगे क्योंकि वे भी देह का उपकार करते हैं।[3] जो श्रुतविहित संघ है वही भावतीर्थ है, उसमें रहने वाला साधु तारक है। ज्ञानादि त्रिक तरण है तथा भवसमुद्र तरणीय है।[4] तीर्थ का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जो दाहोपशम, तृष्णाच्छेद तथा मल-क्षालनरूप अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्ररूप तीन अर्थों में स्थित है वह त्रिस्थ (तित्थ) अर्थात् तीर्थ है। वह भी संघ ही है। तीर्थ (तित्थ) का अर्थ त्र्यर्थ भी हो सकता है अर्थात् जो क्रोधाग्निदाहोपशम आदि उपर्युक्त तीन अर्थों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है वह त्र्यर्थ—तित्थ—तीर्थ है। यह अर्थ भी संघरूप ही है।[5] जो भावतीर्थ की स्थापना करते हैं अर्थात् उसे गुणरूप से प्रकाशित करते हैं उन्हे तीर्थंकर—हितार्थकर कहते हैं।[6] तीर्थंकरों के पराक्रम, ज्ञान, गति आदि विषयों पर भी आचार्य ने प्रकाश डाला है।[7] इसके बाद

१. गा० १००८–१०११. २. गा० १०१४-६. ३. गा० १०२५–३१. ४. गा० १०३२. ५. गा० १०३५–७. ६. गा० १०४७. ७. गा० १०४९–१०५३.

वर्तमान तीर्थ के प्रणेता भगवान् महावीर को नमस्कार किया है। तदुपरान्त उनके एकादश गणधर आदि अन्य पूज्य पुरुषों को वन्दन किया है।[१] इसके बाद सर्वप्रथम आवश्यकसूत्र की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा करते हुए सामायिक नामक प्रथम अध्ययन का विवेचन करने की प्रतिज्ञा की है। 'निर्युक्ति' शब्द का विशेष व्याख्यान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि सूत्र के निश्चित अर्थ की व्याख्या करना ही निर्युक्ति है।[२] सूत्रादि की रचना कैसे होती है, इसकी ओर संकेत करते हुए यह बताया गया है कि जिन अर्थभाषक हैं तथा गणधर सूत्रग्रथक हैं। शासन के हितार्थ ही सूत्र की प्रवृत्ति है। अर्थप्रत्यायक शब्द में अर्थ का उपचार किया जाता है और इसी प्रकार अर्थ का अभिलाप होता है। सूत्र मे अर्थविस्तार अधिक है अतएव वह महार्थ है।[३]

ज्ञान और चारित्र :

सामायिकादि श्रुत का सार चारित्र है; चारित्र का सार निर्वाण है। चारित्र को प्रधान इसलिए कहा जाता है कि वह मुक्ति का प्रत्यक्ष कारण है। ज्ञान से वस्तु की यथार्थता-अयथार्थता का प्रकाशन होता है और इससे चारित्र की विशुद्धि होती है, अतः ज्ञान चारित्र-विशुद्धि के प्रति प्रत्यक्ष कारण है। इस प्रकार ज्ञान और चारित्र दोनों मोक्ष के प्रति कारण हैं। दोनों मे अन्तर यही है कि ज्ञान चारित्र-शुद्धि का कारण होने से मोक्ष का व्यवहित कारण है, जबकि चारित्र मोक्ष का अव्यवहित कारण है।[४] दूसरी बात यह है कि ज्ञान का उत्कृष्टतम लाभ (केवलज्ञान) हो जाने पर भी जीव मुक्त नहीं होता, जब तक कि सर्वसंवर का लाभ न हो जाए। इससे भी यही सिद्ध होता है कि संवर—चारित्र ही मोक्ष का मुख्य हेतु है, न कि ज्ञान। अतः चारित्र ज्ञान से प्रधानतर है।[५] आचार्य ने ज्ञान और चारित्र के सम्बन्ध की और भी चर्चा की है।[६]

सामायिक-लाभ :

सामायिक का लाभ कैसे होता है? इसका उत्तर देते हुए निर्युक्तिकार ने कहा है कि आठों कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के विद्यमान होने पर जीव को चार प्रकार की सामायिक में से एक का भी लाभ नहीं हो सकता।[७] इसका विवेचन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

१. गा० १०५७–६८. २. गा० १०८६. ३. गा० १०९१–११२५.
४. गा० ११२६–११३०. ५. गा० ११३१–२. ६. गा० ११३३–११८२.
७. गा० ११८६.

बीस कोटाकोटी सागरोपम है, मोहनीय की सत्तर कोटाकोटी सागरोपम है, शेष अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय की तीस कोटाकोटी सागरोपम है तथा आयु की तैंतीस सागरोपम है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, आयु, मोहनीय तथा अंतराय की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त है तथा वेदनीय की बारह मुहूर्त है। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बंध होने पर छः कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र तथा अंतराय की उत्कृष्ट स्थिति का बंध होता ही है (उत्कृष्ट संक्लेश होने पर ही मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति का बंध होता है) किन्तु आयु की स्थिति का बंध उत्कृष्ट अथवा मध्यम कैसा भी हो सकता है। इतना अवश्य है कि इस स्थिति में आयु का जघन्य बंध नहीं हो सकता। मोहनीय को छोड़ कर शेष ज्ञानावरणादि किसी की भी उत्कृष्ट स्थिति का बंध होने पर मोहनीय अथवा अन्य किसी भी कर्म की उत्कृष्ट या मध्यम स्थिति का बंध होता है किन्तु आयु का स्थिति-बंध जघन्य भी हो सकता है। सम्यक्त्व, श्रुत, देशव्रत तथा सर्वव्रत इन चार सामायिकों में से उत्कृष्ट कर्मस्थिति वाला एक भी सामायिक की प्राप्ति नहीं कर सकता किन्तु उसे पूर्वप्रतिपन्न विकल्प से है अर्थात् होती भी है, नहीं भी होती (अनुत्तरसुर में पूर्वप्रतिपन्न सम्यक्त्व तथा श्रुत होते हैं, शेष नहीं)। ज्ञानावरणादि की जघन्य स्थिति वाले को भी इन सामायिकों में से एक का भी लाभ नहीं होता क्योंकि उसे पहले से ही ये सब प्राप्त होती हैं, ऐसी स्थिति में पुनर्लाभ का प्रश्न ही नहीं उठता। आयु की जघन्य स्थिति वाले को न तो ये पहले से प्राप्त होती हैं, न वह प्राप्त कर सकता है।[1] इसके बाद सम्यक्त्व की प्राप्ति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए ग्रंथिभेद का स्वरूप बताया गया है। सामायिक-प्राप्ति के स्वरूप का विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए पल्लकादि नौ प्रकार के दृष्टान्त दिए गए हैं।[2] सम्यक्त्वलाभ के बाद देशविरति आदि का लाभ कैसे होता है? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जितनी कर्म-स्थिति के रहते हुए सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उसमें से पल्योपमपृथक्त्व का क्षय होने पर देशविरति—श्रावकत्व की प्राप्ति होती है। उसमें से भी संख्यात सागरोपम का क्षय होने पर चारित्र की प्राप्ति होती है। उसमें से भी संख्यात सागरोपम का क्षय होने पर उपशमश्रेणी की प्राप्ति होती है। उसमें से भी संख्यात सागरोपम का क्षय होने पर क्षपकश्रेणी का लाभ होता है।[3]

---

१. गा० ११८७–११९२. २. गा० ११९३–१२२१. ३. गा० १२२२.

सामायिक के बाधक कारण :

कषायादि के उदय से दर्शनादिसामायिक प्राप्त नहीं होती अथवा प्राप्त होकर पुनः भ्रष्ट हो जाती है। जिसके कारण प्राणी परस्पर हिंसा करते हैं (कषन्ति) उसे कषाय कहते हैं; अथवा जिसके कारण प्राणी शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से घिसते रहते हैं (कृष्यन्ते) उसे कषाय कहते हैं; अथवा जिससे 'कष' अर्थात् कर्म का 'आय' अर्थात् लाभ होता है उसे कषाय कहते हैं; अथवा जिससे प्राणी 'कष' अर्थात् कर्म को 'आयन्ति' अर्थात् प्राप्त होते हैं उसे कषाय कहते हैं; अथवा जो 'कष' (कर्म) का 'आय' अर्थात् उपादान (हेतु) है वह कषाय है। कषाय मुख्यरूप से चार प्रकार के हैं : क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमे से किस कषाय की उत्कृष्टता अथवा मंदता से किस प्रकार के चारित्रादि का घात होता है, इसका भाष्यकार ने विस्तार से वर्णन किया है।[1]

चारित्र-प्राप्ति :

अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकार के कषायों का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होने पर मनो-वाक्-कायरूप प्रशस्त हेतुओं से चारित्र-लाभ होता है। चारित्र पांच प्रकार का है : सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय तथा यथाख्यात।[2] प्रस्तुत में नियम यह है कि बारह कषायों के क्षयादि से चारित्र का लाभ होता ही है न कि पाँचों ही प्रकार के चारित्र का (गा० १२५८)— ऐसा स्पष्टीकरण भाष्यकार ने किया है।

सामान्यरूप से सभी प्रकार का चारित्र सामायिक ही है। छेदादि उसकी विशेष प्रकार की अवस्थाएँ हैं। सामायिक का अर्थ है सावद्य योग का त्याग। वह दो प्रकार का है : इत्वर तथा यावत्कथिक। इत्वर स्वल्पकालीन है तथा यावत्कथिक जीवनपर्यन्त के लिए है।[3] जिससे चारित्र के पूर्वपर्याय का छेद होता है तथा व्रतों में उपस्थापन होता है उसे छेदोपस्थापन कहते हैं। वह दो प्रकार का है : सातिचार तथा निरतिचार। शिष्य की उपस्थापना अथवा तीर्थान्तरसंक्रांति मे जिसका आरोप किया जाता है वह निरतिचार छेदोपस्थापन है। मूलगुणघाती का जो पुनः समारोपण है वह सातिचार छेदोपस्थापन है।[4] परिहार नामक तपविशेष से विशुद्ध होने का नाम परिहारविशुद्धि चारित्र है। वह दो प्रकार का है : निर्विशमान तथा निर्विष्टकायिक। परिहारिक का चारित्र निर्विशमान है। अनुपहारी तथा कल्पस्थित का चारित्र निर्विष्टकायिक है।[5]

---

१. गा० १२२४–१२५३. २. गा० १२५४–१२६१. ३. गा० १२६२–७. ४. गा० १२६८–९. ५. गा० १२७०–१.

क्रोधादि कषायवर्ग को संपराय कहते हैं। जिसमें संपराय का सूक्ष्म अवशेष रहता है वह सूक्ष्मसंपराय चारित्र है। श्रेणी (उपशम अथवा क्षपक) पर आरूढ़ होने वाला विशुद्धिप्राप्त जीव इसका अधिकारी होता है।[१] यथाख्यात चारित्र वाला जीव कषाय से निर्लिप्त होता है। यह चारित्र दो प्रकार का है : छद्मस्थ-सम्बन्धी तथा केवलीसम्बन्धी। छद्मस्थसम्बन्धी के पुनः दो भेद हैं : मोहक्षयसमुत्थ तथा मोहोपशमप्रभव अर्थात् कषाय के क्षय से उत्पन्न होने वाला तथा कषाय के उपशम से उत्पन्न होने वाला। केवलीसम्बन्धी यथाख्यात के भी दो भेद हैं : सयोगी तथा अयोगी।[२] कषाय के उपशम और क्षय की प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए भाष्यकार ने आगे उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी का स्वरूप-वर्णन किया है।[३]

प्रवचन एवं सूत्र :

केवलज्ञान की उत्पत्ति के प्रसंग को दृष्टि में रखते हुए जिन-प्रवचन की उत्पत्ति का वर्णन करने के बाद आचार्य निर्युक्ति की उस गाथा का व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं जिसमें यह निर्देश किया गया है कि श्रुतधर्म, तीर्थ, मार्ग, प्रावचन, प्रवचन—ये सब प्रवचन के एकार्थक हैं तथा सूत्र, तन्त्र, ग्रन्थ, पाठ, शास्त्र—ये सब सूत्र के एकार्थक हैं। श्रुतधर्म क्या है ? इसका विवेचन करते हुए कहा गया है कि श्रुत का धर्म अर्थात् स्वभाव बोध है और वही श्रुतधर्म है; अथवा श्रुतरूप धर्म श्रुतधर्म है और वह जीव का पर्यायविशेष है; अथवा सुगति अर्थात् संयम में धारण करने के कारण धर्म को श्रुत कहते हैं और वही श्रुतधर्म है।[४] इसी प्रकार भाष्यकार ने तीर्थ, मार्ग, प्रावचन, सूत्र, तन्त्र, ग्रन्थ, पाठ और शास्त्र का शब्दार्थ-विवेचन किया है।[५]

अनुयोग :

सूत्रैकार्थको का व्याख्यान करने के बाद अर्थैकार्थको का व्याख्यान प्रारम्भ होता है। अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा, वार्तिक—ये पाँच एकार्थक हैं। अनुयोग का सात प्रकार से निक्षेप होता है : नामानुयोग, स्थापनानुयोग, द्रव्यानुयोग, क्षेत्रानुयोग, कालानुयोग, वचनानुयोग और भावानुयोग।[६] आचार्य ने इन भेदों का विस्तृत विवेचन किया है।[७] इसी प्रकार अनुयोग के विपर्ययरूप अननुयोग का भी सोदाहरण एवं सविस्तर वर्णन किया गया है।[८] नियत, निश्चित

---

१. गा० १२७७–८. २. गा० १२७९–१२८०. ३. गा० १२८३–१३४५. ४. गा० १३७९. ५. गा० १३८०–४. ६. गा० १३८५–८. ७. गा० १३८९–१४०९. ८. गा० १४१०–८.

अथवा हित (अनुकूल) योग का नाम नियोग है। इससे अभिधेय के साथ सूत्र का सम्बन्ध स्थापित होता है। इसका भी अनुयोग की भाँति सभेद एवं सोदाहरण विचार करना चाहिए। व्यक्त वाक् का नाम भाषा है। इससे श्रुत के भाव-सामान्य की अभिव्यक्ति होती है। भावविशेष की अभिव्यक्ति का नाम विभाषा है। वृत्ति (सूत्रविवरण) का सर्व पर्यायों से व्याख्यान करना वार्तिक कहलाता है।[1] व्याख्यान-विधि की चर्चा करते हुए भाष्यकार ने विविध दृष्टान्त देकर यह समझाया है कि गुरु और शिष्य की योग्यता और अयोग्यता का माप दण्ड क्या है ? जिस प्रकार हंस मिले हुए दूध और पानी में से पानी को छोड़कर दूध पी जाता है उसी प्रकार सुशिष्य गुरु के दोषों को एक ओर रखकर उसके गुणों का ही ग्रहण करता है। जिस प्रकार एक भैंसा किसी जलाशय मे उतरकर उसका सारा पानी इस प्रकार मटमैला व कलुषित कर डालता है कि वह न तो उसके खुद के पीने के काम मे आ सकता है और न कोई अन्य ही उसे पी सकता है उसी प्रकार कुशिष्य किसी व्याख्यान-मण्डल मे जाकर अपने गुरु अथवा शिष्य के साथ इस प्रकार कलह प्रारम्भ कर देता है कि उस व्याख्यान का रस न तो वह स्वय ले सकता है और न कोई अन्य ही। इस प्रकार अनेक सुन्दर सुन्दर उदाहरण देकर आचार्य जिनभद्र ने गुरु-शिष्य के गुण-दोषों का सरस, सरल एवं सफल चित्रण किया है।[2]

सामायिक द्वार :

व्याख्यान विधि का विवेचन करने के बाद आचार्य सामायिक संबन्धी द्वार-विधि की व्याख्या प्रारंभ करते हैं। वह द्वार-विधि इस प्रकार है : उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल, पुरुष, कारण, प्रत्यय, लक्षण, नय, समवतार, अनुमत, किम्, कतिविध, कस्य, कुत्र, केषु, कथम्, कियच्चिर, कति, सान्तर, अविरहित, भव, आकर्ष, स्पर्शन, निरुक्ति।[3]

उद्देश :

उद्देश का अर्थ है सामान्य निर्देश। वह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, समास, उद्देश और भाव भेद से आठ प्रकार का होता है। भाष्यकार ने इनका संक्षिप्त परिचय दिया है।[4]

---

१. गा० १४१९–१४२२. २. गा० १४४६–१४८२. ३. गा० १४८४–५.
४. गा० १४८६-१४९६.

निर्देश :

वस्तु का विशेष उल्लेख निर्देश है। इसके भी नामादि आठ भेद होते हैं। इनका भी भाष्यकार ने विशेष परिचय दिया है तथा नय दृष्टि से सामायिक की त्रिलिंगता का विस्तार से विचार किया है।[१]

निर्गम :

निर्गम का अर्थ है प्रसूति अर्थात् उत्पत्ति। निर्गम छः प्रकार का है : नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव। इन भेदों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जिस द्रव्य से सामायिक का निर्गम हुआ है वह द्रव्य यहाँ पर महावीर के रूप में है। जिस क्षेत्र मे उसका निर्गम है वह महसेन वन है। उसका काल प्रथम पौरुषी-प्रमाणकाल है। भाव वक्ष्यमाण लक्षण भावपुरुष है। ये संक्षेप मे सामायिक के निर्गमांग हैं।[२] सामायिक के निर्गम के साथ स्वयं महावीर के निर्गम की चर्चा करते हुए भाष्यकार निर्युक्तिकार के ही शब्दों मे कहते हैं कि महावीर किस प्रकार मिथ्यात्वादि तम से निकले, किस प्रकार उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ तथा कैसे सामायिक की उत्पत्ति हुई—आदि बातें बताऊँगा।[३] इतना कहने के बाद भाष्यकार एकदम गणधरवाद की व्याख्या प्रारम्भ कर देते है। टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र उपर्युक्त बातों की ओर हमारा ध्यान खींचते हुए कहते हैं कि ये सब बातें सूत्रसिद्ध ही हैं। इनमे जो कुछ कठिन प्रतीत हो वह मूलावश्यक-विवरण से जान लेना चाहिए।

गणधरवाद :

भगवान् महावीर तथा ग्यारह प्रमुख ब्राह्मण-पण्डितों के बीच विभिन्न दार्शनिक विषयों पर जो चर्चा हुई तथा भगवान् के मन्तव्यों से प्रभावित होकर उन पण्डितों ने महावीर के संघ में सम्मिलित होना स्वीकार किया, इसकी भाष्यकार जिनभद्र ने अपने ग्रन्थ मे विस्तृत एवं तर्कयुक्त चर्चा की है। इसी चर्चा का नाम गणधरवाद है। इस चर्चा मे दार्शनिक जगत् के प्रायः समस्त विषयों का समावेश कर लिया गया है।[४] इस चर्चा मे भाग लेनेवाले पण्डित

१. गा० १४९७-१५३०. २. गा० १५३१-१५४६. ३. गा० १५४८.

४. पं० श्री दलसुख मालवणियाकृत 'गणधरवाद' में आचार्य जिनभद्रकृत गणधरवाद का संवादात्मक गुजराती अनुवाद, टिप्पण, विस्तृत तुलनात्मक प्रस्तावना आदि हैं। गुजरात विद्यासभा, भद्र, अहमदाबाद की ओर से सन् १९५२ में इसका प्रकाशन हुआ है। श्री पृथ्वीराज जैन, एम० ए०, शास्त्री ने

जोकि बाद में भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य—गणधर के नाम से प्रसिद्ध हुए उनके नाम इस प्रकार हैं : १. इन्द्रभूति, २. अग्निभूति, ३. वायुभूति, ४. व्यक्त, ५. सुधर्मा, ६. मंडिक, ७. मौर्यपुत्र, ८. अकंपित, ९. अचलभ्राता, १०. मेतार्य, ११. प्रभास। इनके साथ जिन विषयों की चर्चा हुई वे क्रमशः इस प्रकार हैं : १. आत्मा का अस्तित्व, २. कर्म का अस्तित्व, ३. आत्मा और शरीर का भेद, ४. शून्यवादनिरास, ५. इहलोक और परलोक का वैचित्र्य, ६. बंध और मोक्ष, ७. देवों का अस्तित्व, ८. नारकों का अस्तित्व, ९. पुण्य और पाप, १०. परलोक का अस्तित्व, ११. निर्वाण का अस्तित्व।

आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व :

सर्वज्ञत्व की प्राप्ति के बाद भगवान् महावीर एक समय महसेन वन में विराजित थे। जनसमूह श्रद्धावश उनके दर्शन के लिए जा रहा था। यज्ञवाटिका मे स्थित ब्राह्मण पण्डितों के मन मे यह दृश्य देखकर जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ऐसे महापुरुष से अवश्य मिलना चाहिए जिसके दर्शन के लिए इतना बड़ा जनसमूह उमड़ रहा है। उन सभी के मन में वेदवाक्यों को लेकर नाना प्रकार की शकाएँ थीं। सर्वप्रथम इन्द्रभूति (गौतम) भगवान् महावीर के पास जाने के लिए तैयार हुए। जैसे ही वे अपनी शिष्य-मंडली सहित भगवान् के पास पहुँचे, भगवान् ने उनके मन में स्थित सन्देह की ओर संकेत करते हुए कहा—आत्मा के अस्तित्व के विषय में तुम्हारे मन मे इस प्रकार का संशय है कि यदि जीव (आत्मा) का अस्तित्व है तो वह घटादि पदार्थों की भाँति प्रत्यक्ष दिखाई देना चाहिए। चूँकि वह खपुष्प की भाँति सर्वथा अप्रत्यक्ष है, अतः उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि कोई यह कहे कि जीव अनुमान से सिद्ध

इसका हिन्दी में भी अनुवाद किया है जो अभी तक अप्रकाशित है। प्रस्तुत परिचय में इस ग्रंथ का उपयोग करने के लिए लेखक व अनुवादक दोनों का आभारी हूँ।

गणधरवाद के अंग्रेजी अनुवाद तथा विवेचन के लिए देखिए—श्रमण भगवान् महावीर, भा० ३ : सम्पा०–मुनि रत्नप्रभविजय; अनु०–प्रो० धीरुभाई पी० ठाकर; प्रका०–श्री जैनग्रन्थ प्रकाशक सभा, पांजरापोल, अहमदाबाद, सन् १९४२; श्री जैन सिद्धान्त सोसायटी, पांजरापोल, अहमदाबाद, सन् १९५० तथा डा० ई० ए० सोलोमन का अंग्रेजी अनुवाद : प्रका० गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, सन् १९६६.

है तो भी ठीक नहीं। इसका कारण यह है कि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है। जिसका प्रत्यक्ष ही नहीं उसकी सिद्धि अनुमान से कैसे हो सकती है? प्रत्यक्ष से निश्चित धूम तथा अग्नि के अविनाभावसंबन्ध का स्मरण होने पर ही धूम के प्रत्यक्ष से अग्नि का अनुमान किया जा सकता है। जीव के किसी भी लिंग का संबन्धग्रहण उसके साथ प्रत्यक्ष द्वारा नहीं होता, जिससे उस लिंग का पुनः प्रत्यक्ष होने पर उस संबन्ध का स्मरण हो जाए तथा उससे जीव का अनुमान किया जा सके। आगम प्रमाण से भी जीव का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि जिसका प्रत्यक्ष ही नहीं वह आगम का विषय कैसे हो सकता है? कोई ऐसा व्यक्ति नजर नहीं आता जिसे जीव का प्रत्यक्ष हो और जिसके वचनों को प्रमाणभूत मानकर जीव का अस्तित्व सिद्ध किया जा सके। दूसरी बात यह है कि आगम प्रमाण मानने पर भी जीव की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि विभिन्न आगम परस्पर विरोधी तत्त्वों को सिद्ध करते हैं। जिस बात की एक आगम सिद्धि करता है उसी का दूसरा खंडन करता है। ऐसी स्थिति में आगम के आधार पर भी जीव का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार किसी भी प्रमाण से जीव के अस्तित्व की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः उसका अभाव मानना चाहिए। ऐसा होते हुए भी लोग जीव का अस्तित्व क्यों मानते हैं?[1]

इस संशय का निवारण करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं—हे गौतम! तुम्हारा यह संदेह उचित नहीं। तुम्हारी यह मान्यता कि 'जीव प्रत्यक्ष नहीं है' ठीक नहीं, क्योंकि जीव तुम्हें प्रत्यक्ष है ही। यह कैसे? 'जीव है या नहीं' इस प्रकार का जो संशयरूप विज्ञान है वही जीव है क्योंकि जीव विज्ञानरूप है। तुम्हारा संशय तो तुम्हें प्रत्यक्ष ही है। ऐसी दशा में तुम्हें जीव का प्रत्यक्ष हो ही रहा है। इसके अतिरिक्त 'मैंने किया', 'मैं करता हूं', 'मैं करूंगा' इत्यादि रूप से तीनों काल सम्बन्धी विविध कार्यों का जो निर्देश किया जाता है उसमें 'मैं' (अहम्) रूप जो ज्ञान है वह भी आत्मप्रत्यक्ष ही है। दूसरी बात यह है कि यदि संशय करने वाला कोई न हो तो 'मैं हूं या नहीं' यह संशय किसे होगा? जिसे स्वरूप में ही संदेह हो उसके लिए संसार में कौन-सी वस्तु असंदिग्ध होगी? ऐसे व्यक्ति को सर्वत्र संशय होगा। अनुमान से जीव की सिद्धि करते हुए आगे कहा गया है कि आत्मा प्रत्यक्ष है क्योंकि उसके स्मरणादि विज्ञानरूप गुण स्वसंवेदन द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं। जिस गुणी के गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है उस गुणी का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है जैसे घट।

१. गा० १५४९–१५५३.

जीव के गुण प्रत्यक्ष हैं अतः जीव भी प्रत्यक्ष है। जिस प्रकार घट के प्रत्यक्ष का आधार उसके रूपादि गुण हैं उसी प्रकार आत्मा के प्रत्यक्ष अनुभव का आधार उसके ज्ञानादि गुण हैं। जो लोग गुण से गुणी को एकान्त भिन्न मानते हैं उनके मत मे रूपादि का ग्रहण होने पर भी घटादि गुणीरूप पदार्थों का ग्रहण न होगा। इन्द्रियों द्वारा मात्र रूपादि का ग्रहण होने से रूपादि को तो प्रत्यक्ष माना जा सकता है किन्तु रूपादि से एकान्त भिन्न घट का प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। इस प्रकार जब घटादि पदार्थ भी सिद्ध नहीं तो फिर आत्मा के अस्तित्व-नास्तित्व का विचार करने से क्या लाभ? अतः स्मरणादि गुणों के आधार पर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए।[1]

आत्मा और शरीर में भेद :

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर इन्द्रभूति यह बात मानने के लिए तैयार हो जाते है कि ज्ञानादि गुणों का प्रत्यक्ष होने के कारण उनका आधारभूत कोई गुणी अवश्य होना चाहिए। इतना स्वीकार करने पर वे एक नई शंका उठाते है। वे कहते हैं कि स्मरणादि गुणों का आधार आत्मा ही है, यह मान्यता ठीक नहीं क्योंकि कृशता, स्थूलता आदि गुणों के समान स्मरणादि गुण भी शरीर मे ही उपलब्ध होते हैं। ऐसी दशा मे उनका गुणीभूत आधार शरीर को ही मानना चाहिए, शरीर से भिन्न आत्मा को नहीं। इस शंका का समाधान करते हुए महावीर कहते हैं कि ज्ञानादि शरीर के गुण नहीं हो सकते क्योंकि शरीर घट के समान मूर्त अर्थात् चाक्षुष है जबकि ज्ञानादि गुण अमूर्त अर्थात् अचाक्षुष हैं। अतः ज्ञानादि गुणों के अनुरूप देह से भिन्न किसी अमूर्त गुणी की सत्ता अवश्य मानना चाहिए। यही गुणी आत्मा अर्थात् जीव है। इसके बाद इन्द्रभूति एक और शंका उठाते हैं। वे कहते है कि मैं अपनी देह में आत्मा का अस्तित्व मान सकता हूं किन्तु दूसरों की देह में भी आत्मा की सत्ता है, इसका क्या प्रमाण? महावीर कहते है कि इसी हेतु से अन्य आत्माओं की भी सिद्धि हो सकती है। दूसरों के शरीर में भी विज्ञानमय जीव है क्योंकि उनमे भी इष्टप्रवृत्ति, अनिष्टनिवृत्ति आदि विज्ञानमय क्रियाएँ देखी जाती है।[2]

आत्मा की सिद्धि के हेतु :

जिस प्रकार सांख्यदर्शन में पुरुष को प्रकृति से भिन्न सिद्ध करने के लिए अधिष्ठातृत्व, संघातपरार्थत्व आदि हेतु दिए गए उसी प्रकार विशेषावश्यकभाष्य में भी आत्मसिद्धि के लिए इसी प्रकार के कुछ हेतु दिए गए हैं। (१) इन्द्रियों

१. गा० १५५४–१५६०. २. गा० १५६१–४.

का कोई अधिष्ठाता अवश्य होना चाहिए क्योंकि वे करण हैं जैसे कि दंडादि करणों का अधिष्ठाता कुंभकार होता है। जिसका कोई अधिष्ठाता नहीं होता वह आकाश के समान करण भी नहीं होता। इन्द्रियों का जो अधिष्ठाता है वही आत्मा है। (२) देह का कोई कर्ता होना चाहिए क्योंकि उसका घट के समान एक सादि एवं नियत आकार है। जिसका कोई कर्ता नहीं होता उसका सादि एवं निश्चित आकार भी नहीं होता, जैसे बादल। इस देह का जो कर्ता है वही आत्मा है। (३) जब इन्द्रियों और विषयों में आदान-आदेयभाव है तब उनका कोई आदाता अवश्य होना चाहिए। जहाँ आदान-आदेयभाव होता है वहाँ कोई आदाता अवश्य होता है; जैसे संडासी (संदंशक) और लोहे में आदान-आदेय-भाव है तथा लुहार (लोहकार) आदाता है। इसी प्रकार इन्द्रिय और विषय मे आदान-आदेयभाव है तथा आत्मा आदाता है। (४) देहादि का कोई भोक्ता अवश्य होना चाहिए क्योंकि वह भोग्य है; जैसे भोजन, वस्त्रादि भोग्य पदार्थों का भोक्ता पुरुषविशेष है। देहादि का जो भोक्ता है वही आत्मा है। (५) देहादि का कोई स्वामी अवश्य होना चाहिए क्योंकि ये संघातरूप हैं। जो संघात रूप होता है उसका कोई स्वामी अवश्य होता है, जैसे गृह और उसका स्वामी गृहपति। देहादि संघातों का जो स्वामी है वही आत्मा है।[1]

व्युत्पत्तिमूलक हेतु :

शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से जीव का अस्तित्व सिद्ध करते हुए भगवान् महावीर इन्द्रभूति को समझाते हैं कि 'जीव' पद 'घट' पद के समान व्युत्पत्ति-युक्त शुद्ध पद होने के कारण सार्थक होना चाहिए अर्थात् 'जीव' पद का कुछ अर्थ अवश्य होना चाहिए। जो पद सार्थक नहीं होता वह व्युत्पत्तियुक्त शुद्ध पद भी नहीं होता, जैसे डित्थ, खरविषाण आदि। 'जीव' पद व्युत्पत्तियुक्त तथा शुद्ध है अतः उसका कोई अर्थ अवश्य होना चाहिए। इस तर्क को सुनकर इन्द्र-भूति फिर कहते हैं कि शरीर ही 'जीव' पद का अर्थ है, उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं। महावीर इस मत का खण्डन करते हुए पुनः कहते हैं—'जीव' पद का अर्थ शरीर नहीं हो सकता क्योंकि 'जीव' शब्द के पर्याय 'शरीर' शब्द के पर्यायों से भिन्न हैं। जीव के पर्याय हैं: जन्तु, प्राणी, सत्त्व, आत्मा आदि। शरीर के पर्याय हैं: देह, वपु, काय, कलेवर आदि। और फिर देह और जीव के लक्षण भी भिन्न-भिन्न हैं। जीव ज्ञानादि गुणयुक्त है जबकि देह जड़ है।[2] इसके बाद महावीर ने अपनी सर्वज्ञता के प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि सर्वज्ञ के वचनों

१. गा० १५६७–९.　२. गा० १५७५–६.

में सन्देह नहीं होना चाहिए क्योंकि वह राग, द्वेषादि दोषों से परे होता है जिनके कारण मनुष्य झूठ बोलता है।[1]

जीव की अनेकता :

जीव का लक्षण उपयोग है। जीव के मुख्य दो भेद हैं : संसारी और सिद्ध। संसारी जीव के पुनः दो भेद हैं : त्रस और स्थावर।[2]

जो लोग आकाश के समान एक ही जीव की सत्ता में विश्वास करते हैं[3] वे यथार्थवादी नहीं हैं। नारक, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि पिंडों में आकाश के समान एक ही आत्मा मानने मे क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि आकाश के समान सब पिंडों मे एक आत्मा संभव नहीं। आकाश का सर्वत्र एक ही लिंग अथवा लक्षण हमारे अनुभव में आता है अतः आकाश एक ही है। जीव के विषय मे ऐसा नहीं कहा जा सकता। जीव प्रत्येक पिण्ड में विलक्षण है अतः उसे सर्वत्र एक नहीं माना जा सकता। जीव अनेक हैं क्योंकि उनमें लक्षणभेद है, जैसे विविध घट। जो वस्तु अनेक नहीं होती उसमें लक्षण भेद भी नहीं होता, जैसे आकाश। फिर, एक ही जीव मानने पर सुख, दुःख, बंध, मोक्ष आदि की व्यवस्था भी नहीं बन सकती। एक ही जीव का एक ही समय में सुखी-दुःखी होना संभव नहीं, बद्ध-मुक्त होना संभव नहीं। अतः अनेक जीवों की सत्ता मानना युक्तिसंगत है। इन्द्रभूति महावीर के उपर्युक्त वक्तव्य से पूर्ण संतुष्ट नहीं होते। वे पुनः शंका करते हैं कि यदि जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग है और वह सब जीवों में विद्यमान है तो फिर प्रत्येक पिंड मे लक्षणभेद कैसे माना जा सकता है? इसका समाधान करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं कि सभी जीवों मे उपयोगरूप सामान्य लक्षण के विद्यमान होते हुए भी प्रत्येक शरीर में विशेष-विशेष उपयोग का अनुभव होता है। जीवों में उपयोग के अपकर्ष तथा उत्कर्ष के तारतम्य के अनन्त भेद हैं। यही कारण है कि जीवों की संख्या भी अनन्त है।[4]

जीव का स्वदेह-परिमाण :

जीवों को अनेक मानते हुए भी सर्वव्यापक मानने में क्या आपत्ति है?[5] जीव सर्वव्यापक नहीं अपितु शरीरव्यापी है क्योंकि उसके गुण शरीर में ही

---

१. गा० १५७७-९, २. गा० १५८०, ३. ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्, ११ आदि.
४. गा० १५८१-३. ५. जैसा कि सांख्य, नैयायिक आदि मानते हैं।

उपलब्ध होते हैं। जैसे घट के गुण घट से बाह्य देश में उपलब्ध नहीं होते अतः वह सर्वव्यापक नहीं माना जाता, उसी प्रकार आत्मा के गुण भी शरीर से बाहर उपलब्ध नहीं होते अतः वह स्वदेहपरिमाण ही है।[1] अथवा जहाँ जिसकी उपलब्धि प्रमाणसिद्ध नहीं होती वहाँ उसका अभाव मानना चाहिए जैसे घट में पट का अभाव है। शरीर से बाहर संसारी आत्मा की उपलब्धि नहीं है अतः शरीर से बाहर उसका अभाव मानना युक्तियुक्त है। जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बंध, मोक्ष, सुख, दुःख आदि सभी युक्तिसंगत सिद्ध हो सकते हैं, जब उसे अनेक और असर्वव्यापक-स्वशरीरव्यापी माना जाए। अतः जीव को अनेक और असर्वगत मानना चाहिए।[2]

जीव की नित्यानित्यता :

आत्मा पूर्व पर्याय के नाश और अपर पर्याय की उत्पत्ति की अपेक्षा से अनित्य स्वभाव वाली है। घटादि विज्ञानरूप उपयोग का नाश होने पर पटादि विज्ञानरूप उपयोग उत्पन्न होता है। इससे जीव में उत्पाद और व्यय दोनों सिद्ध होते हैं अतः जीव विनाशी है। ऐसा होते हुए भी विज्ञान-सन्तति की अपेक्षा से जीव अविनाशी अर्थात् नित्य—ध्रुव भी सिद्ध होता है। आत्मा में विज्ञानसामान्य का कभी अभाव नहीं होता, विज्ञानविशेष का अभाव होता है। अतः विज्ञानसन्तति अर्थात् विज्ञानसामान्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अविनाशी है। संसार के अन्य पदार्थों का भी यही स्वभाव है।[3]

जीव भूतधर्म नहीं :

कुछ लोग यह मानते हैं कि विज्ञान की उत्पत्ति भूतों से ही होती है, अतः विज्ञानरूप जीव भूतों का ही धर्म है।[4] उनकी यह मान्यता अनुपयुक्त है। विज्ञान का भूतों के साथ कोई अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। भूतों का अस्तित्व होने पर भी मृत शरीर में ज्ञान का अभाव देखा जाता है। भूतों के अभाव में भी मुक्तावस्था में ज्ञान का सद्भाव है। अतः भूतों के साथ ज्ञान का अन्वय व्यतिरेक असिद्ध है। इसीलिए ज्ञानरूप जीव भूतधर्म नहीं हो सकता। जिस प्रकार घट का सद्भाव होने पर नियमपूर्वक पट का सद्भाव नहीं होता

१. तुलना : अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, ९. २. गा० १५८६–७.
३. गा० १५९५. ४. चार्वाक की यही मान्यता है।

तथा घट के अभाव में भी पट का सद्भाव देखा जाता है, अतः पट को घट से भिन्न एवं स्वतन्त्र माना जाता है, उसी प्रकार ज्ञान को भी भूतों से भिन्न मानना चाहिए। अतः विज्ञानरूप जीव भूतधर्म नहीं हो सकता।[१]

इस प्रकार भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति का जीवविषयक संशय दूर किया और उन्होंने अपने पाँच सौ शिष्यों सहित महावीर से दीक्षा ग्रहण की।[२]

कर्म का अस्तित्व :

इसके बाद अग्निभूति महावीर के पास पहुँचे। भगवान् ने उन्हें आया हुआ देखकर नाम और गोत्र से सम्बोधित किया और कहा—अग्निभूति! तुम्हारे मन में यह सन्देह है कि कर्म है अथवा नहीं। मैं तुम्हारे इस सन्देह का निवारण करूँगा। तुम यह समझते हो कि कर्म प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, अतः वह खरविषाण की भाँति अभावरूप है। तुम्हारा यह सन्देह अनुपयुक्त है। मैं कर्म को प्रत्यक्ष देखता हूँ। यद्यपि तुम्हें उसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है तथापि अनुमान से तुम भी उसकी सिद्धि कर सकते हो। सुख-दुःखरूप कर्मफल तो तुम्हें प्रत्यक्ष ही है और उससे उसके कारणरूप कर्म की सत्ता का अनुमान किया जा सकता है। सुख-दुःख का कोई कारण अवश्य होना चाहिए क्योंकि वे कार्य हैं, जैसे अंकुररूप कार्य का हेतु बीज है। सुख-दुःखरूप कार्य का जो हेतु है वही कर्म है।[३]

अग्निभूति महावीर की यह बात मानकर आगे शंका करता है कि यदि सुख-दुःख का दृष्ट कारण सिद्ध हो तो अदृष्ट कारणरूप कर्म का अस्तित्व मानने की क्या आवश्यकता है? चन्दन आदि पदार्थ सुख के हेतु हैं और सर्पविष आदि दुःख के हेतु हैं। इन दृष्ट कारणों को छोड़कर अदृष्ट कर्म को मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसका समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं कि दृष्ट कारण में व्यभिचार दिखाई देता है अतः अदृष्ट कारण मानना अनिवार्य हो जाता है। यह कैसे? सुख-दुःख के दृष्ट कारणों के समानरूप से उपस्थित होने पर भी उनके कार्य में जो तारतम्य दिखाई देता है वह निष्कारण नहीं हो सकता। इसका जो कारण है वही कर्म है।[४]

१. गा० १५९७–९. २. गा० १६०४. ३. गा० १६१०–२.
४. गा० १६१२–३.

कर्म-साधक एक और प्रमाण देते हुए भगवान् महावीर कहते हैं—आद्य बालशरीर देहान्तरपूर्वक है क्योंकि वह इन्द्रियादि से युक्त है जैसे युवदेह बालदेह-पूर्वक है। आद्य बालशरीर जिस देहपूर्वक है वही कर्म—कार्मणशरीर है।[1]

कर्म-साधक तीसरा अनुमान इस प्रकार है: दानादि क्रिया का कुछ फल अवश्य होना चाहिए, क्योंकि वह सचेतन व्यक्तिकृत क्रिया है, जैसे कृषि। दानादि क्रिया का जो फल है वही कर्म है। अग्निभूति इस बात को मानता हुआ पुनः प्रश्न करता है कि जैसे कृषि आदि क्रिया का दृष्ट फल धान्यादि है, उसी प्रकार दानादि क्रिया का फल भी मनःप्रसाद आदि क्यों न मान लिया जाए? इस दृष्ट फल को छोड़कर अदृष्ट फलरूप कर्म की सत्ता मानने से क्या लाभ? महावीर इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—अग्निभूति! क्या तुम नहीं जानते कि मनःप्रसाद भी एक प्रकार की क्रिया है, अतः सचेतन की अन्य क्रियाओं के समान उसका भी फल मानना चाहिए। वही फल कर्म है। इस कर्म के कार्यरूप से सुखदुःख आदि आगे जाकर पुनः हमारे अनुभव में आते हैं।[2]

मूर्त कर्म :

यदि कार्य के अस्तित्व से कारण की सिद्धि होती है तो शरीर आदि कार्य के मूर्त होने के कारण उसका कारणरूप कर्म भी मूर्त ही होना चाहिए। इस संशय का निवारण करते हुए महावीर कहते हैं कि मैं कर्म को मूर्त ही मानता हूँ क्योंकि उसका कार्य मूर्त है। जैसे परमाणु का कार्य घट मूर्त है अतः परमाणु भी मूर्त हैं, वैसे ही कर्म का शरीरादि कार्य मूर्त है अतः कर्म भी मूर्त ही है।[3]

कर्म का मूर्तत्व सिद्ध करने वाले अन्य हेतु ये हैं: (१) कर्म मूर्त है क्योंकि उससे सम्बन्ध होने पर सुख आदि का अनुभव होता है, जैसे भोजन। जो अमूर्त होता है उससे सम्बन्ध होने पर सुख आदि का अनुभव नहीं होता, जैसे आकाश। (२) कर्म मूर्त है क्योंकि उसके सम्बन्ध से वेदना का अनुभव होता है, जैसे अग्नि। (३) कर्म मूर्त है क्योंकि उसमें बाह्य पदार्थों से बलाधान होता है। जैसे घटादि पदार्थों पर तैल आदि बाह्य वस्तु का विलेपन करने से बलाधान होता है—स्निग्धता आती है उसी प्रकार कर्म में भी माला, चन्दन, वनिता आदि बाह्य वस्तुओं के संसर्ग से बलाधान होता है अतः वह मूर्त है। (४) कर्म मूर्त है क्योंकि वह आत्मादि से भिन्न रूप मे परिणामी है, जैसे दूध।[4]

---

१. गा० १६१४. २. गा० १६१५–६. ३. गा० १६२५.
४. गा० १६२६–७.

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध :

कर्म को मूर्त मानने पर अमूर्त आत्मा से उसका सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? घट मूर्त है फिर भी उसका संयोग सम्बन्ध अमूर्त आकाश से होता है। ठीक इसी प्रकार मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध होता है। अथवा जिस प्रकार अंगुली आदि मूर्त द्रव्य का आकुञ्चन आदि अमूर्त क्रिया से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार कर्म और जीव का सम्बन्ध सिद्ध होता है।[1]

स्थूल शरीर मूर्त है किन्तु उसका आत्मा से सम्बन्ध प्रत्यक्ष ही है। इसी प्रकार भवान्तर मे जाते हुए जीव का कार्मण शरीर से सम्बन्ध होना ही चाहिए अन्यथा नये स्थूल शरीर का ग्रहण सम्भव नहीं हो सकता।[2]

मूर्त द्वारा अमूर्त का उपघात और अनुग्रह कैसे हो सकता है ? विज्ञानादि अमूर्त हैं किन्तु मदिरा, विष आदि मूर्त वस्तुओं द्वारा उनका उपघात होता है तथा घी, दूध आदि पौष्टिक भोजन से उनका उपकार होता है। इसी प्रकार मूर्त कर्म द्वारा अमूर्त आत्मा का अनुग्रह अथवा उपकार हो सकता है।[3]

अथवा यों कहिये कि संसारी आत्मा वस्तुतः एकान्तरूप से अमूर्त नहीं है। जीव तथा कर्म का अनादिकालीन सम्बन्ध होने के कारण कथञ्चित् जीव भी कर्म-परिणामरूप है, अतः वह उस रूप मे मूर्त भी है। इस प्रकार मूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म द्वारा होने वाले अनुग्रह और उपघात को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। देह और कर्म में परस्पर कार्य-कारणभाव है। जैसे बीज से अकुर और अंकुर से बीज की उत्पत्ति है और इस प्रकार बीजांकुर सन्तति अनादि है उसी प्रकार देह से कर्म और कर्म से देह का उद्‌भव समझना चाहिए। देह और कर्म की यह परम्परा अनादि है।[4]

ईश्वरकर्तृत्व का खंडन :

अग्निभूति एक और शंका उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं कि यदि ईश्वरादि को जगत्-वैचित्र्य का कारण मान लिया जाए तो कर्म की कोई आवश्यकता नहीं रहती। महावीर कहते हैं कि कर्म की सत्ता न मानकर मात्र शुद्ध जीव को ही देहादि की विचित्रता का कर्ता माना जाए अथवा ईश्वरादि को इस समस्त वैचित्र्य का कर्ता माना जाए तो हमारी सारी मान्यताएं असंगत सिद्ध होंगी। यह कैसे ? यदि शुद्ध जीव अथवा ईश्वरादि को कर्म-साधन की अपेक्षा नहीं है

१. गा० १६३५. २. गा० १६३६. ३. गा० १६३७. ४. गा० १६३८–९.

तो वह शरीरादि का आरंभ ही नहीं कर सकता क्योंकि उसके पास आवश्यक उपकरणों का अभाव है। जैसे कुंभकार दंडादि उपकरणों के अभाव में घटादि का निर्माण नहीं कर सकता उसी प्रकार ईश्वर कर्मादि साधनों के अभाव में शरीरादि का निर्माण नहीं कर सकता। इसी प्रकार निश्चेष्टता, अमूर्तता आदि हेतुओं से भी ईश्वर-कर्तृत्व का खण्डन किया जा सकता है।[1]

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अग्निभूति के संशय का निवारण कर दिया तो उन्होंने अपने ५०० शिष्यों सहित भगवान् से दीक्षा ग्रहण कर ली।[2]

आत्मा और शरीर का भेद :

इन्द्रभूति तथा अग्निभूति के दीक्षित होने के समाचार सुनकर वायुभूति भगवान् महावीर के पास पहुँचे। भगवान् ने उन्हें संबोधित करते हुए कहा—वायुभूति! तुम्हारे मन में यह संशय है कि जीव और शरीर एक ही हैं अथवा भिन्न-भिन्न हैं? तुम्हें वेद-पदों का सच्चा अर्थ मालूम नहीं है, इसीलिए तुम्हें इस प्रकार का संदेह हो रहा है।[3] तुम यह मानते हो कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चार भूतों के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है। जिस प्रकार मद्य उत्पन्न करने वाली पृथक्-पृथक् वस्तुओं में मदशक्ति दिखाई नहीं देती फिर भी उनके समुदाय से मदशक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि किसी भी पृथक् भूत में चैतन्यशक्ति दिखाई नहीं देती फिर भी उनके समुदाय से चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है। जिस प्रकार पृथक्-पृथक् द्रव्यों के समुदाय से मदशक्ति उत्पन्न होती है और कुछ समय तक स्थिर रह कर कालान्तर में विनाश की सामग्री उपस्थित होने पर पुनः नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार भूतों के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है और कुछ समय तक विद्यमान रहने पर कालान्तर में विनाश की सामग्री उपस्थित होने पर पुनः नष्ट हो जाता है। अतः चैतन्य भूतों का धर्म है और भूतरूप शरीर तथा चैतन्यरूप आत्मा अभिन्न है।[4]

भगवान् महावीर इस संशय का निराकरण करते हुए कहते हैं—हे वायुभूति! तुम्हारा यह संशय ठीक नहीं है क्योंकि चैतन्य केवल भूतों के समुदाय से उत्पन्न नहीं हो सकता। वह स्वतंत्ररूप से सत् है क्योंकि प्रत्येक भूत में उसकी सत्ता का अभाव है। जिसका प्रत्येक अवयव में अभाव हो वह समुदाय से भी उत्पन्न नहीं हो सकता। रेत के प्रत्येक कण में तेल नहीं है अतः रेत के

१. गा० १६४१–२. २. गा० १६४४. ३. गा० १६४९.
४. गा० १६५०–१.

समुदाय से भी तेल नहीं निकल सकता। तिल-समुदाय से तैल निकलता है क्योंकि प्रत्येक तिल में तेल की सत्ता है।[1] तुम्हारा यह कथन कि मद्य के प्रत्येक द्रव्य में मद अविद्यमान है, अयुक्त है। वस्तुतः मद्य के प्रत्येक अंग में मद की न्यून या अधिक मात्रा विद्यमान है ही इसीलिए वह समुदाय से उत्पन्न होता है।[2]

भूतों में भी मद्यांगों के समान प्रत्येक में चैतन्य की मात्रा विद्यमान है अतः वह समुदाय से भी उत्पन्न हो जाता है, ऐसा मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है? यह बात नहीं मानी जा सकती क्योंकि जिस प्रकार मद्य के प्रत्येक अंग—धातकीपुष्प, गुड़, द्राक्षा, इक्षुरस आदि में मदशक्ति दिखाई देती है उस प्रकार प्रत्येक भूत में चैतन्यशक्ति का दर्शन नहीं होता। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि केवल भूतसमुदाय से ही चैतन्य उत्पन्न होता है।[3]

मद्य के प्रत्येक अंग में भी यदि मदशक्ति न मानें तो क्या दोष है? यदि भूतों में चैतन्य के समान मद्य के भी प्रत्येक अंग में मदशक्ति न हो तो यह नियम ही नहीं बन सकता कि मद्य के धातकीपुष्प आदि तो कारण हैं और अन्य पदार्थ नहीं। ऐसी अवस्था में राख, पत्थर आदि कोई भी वस्तु मद का कारण बन जाएगी और किसी भी समुदाय से मद्य उत्पन्न हो जाएगा। किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता अतः मद्य के प्रत्येक अंगभूत पदार्थ में मदशक्ति का अस्तित्व अवश्य मानना चाहिए।[4]

इन्द्रिय-भिन्न आत्मसाधक अनुमान :

भूत अथवा इन्द्रियों से भिन्नस्वरूप किसी तत्त्व का धर्म चैतन्य है, क्योंकि भूत अथवा इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध पदार्थ का स्मरण होता है, जैसे पाँच झरोखों से उपलब्ध वस्तु का स्मरण होने के कारण झरोखों से भिन्नस्वरूप देवदत्त का धर्म चैतन्य है। जैसे क्रमशः पाँच झरोखों से देखने वाला देवदत्त एक ही है और वह उन झरोखों से भिन्न है क्योंकि वह पाँचों झरोखों द्वारा देखी गई चीजों का स्मरण करता है, उसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों द्वारा गृहीत पदार्थों का स्मरण करने वाला भी इन्द्रियों से भिन्न कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिए। इसी तत्त्व का नाम आत्मा अथवा जीव अथवा चेतना है। यदि स्वयं इन्द्रियों को ही उपलब्धिकर्ता मान लिया जाए तो क्या आपत्ति है? इन्द्रियव्यापार के बंद होने पर अथवा इन्द्रियों का नाश हो जाने पर भी इन्द्रियों द्वारा गृहीत वस्तु का

---

१. यह सत्कार्यवाद का मूलभूत सिद्धान्त है। २. गा० १६५२.
३. गा० १६५३. ४. गा० १६५४.

स्मरण होता है तथा कभी-कभी इन्द्रियव्यापार के अस्तित्व में भी अन्यमनस्क को वस्तु का ज्ञान नहीं होता, अतः यह मानना चाहिए कि किसी वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों को नहीं होता अपितु इन्द्रियभिन्न किसी अन्य को ही होता है। यही ज्ञाता आत्मा है।[१]

दूसरा अनुमान इस प्रकार है: आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है, क्योंकि वह एक इन्द्रिय द्वारा गृहीत पदार्थ का दूसरी इन्द्रिय से ग्रहण करती है। जैसे एक खिड़की से देखे गये घट को देवदत्त दूसरी खिड़की से ग्रहण करता है अतः देवदत्त दोनों खिड़कियों से भिन्न है, वैसे ही आत्मा भी एक इन्द्रिय से गृहीत वस्तु का दूसरी इन्द्रिय से ग्रहण करती है अतः वह इन्द्रियों से भिन्न है। दूसरी बात यह है कि वस्तु का ग्रहण एक इन्द्रिय से होता है किन्तु विकार दूसरी इन्द्रिय में होता है, जैसे आँखों द्वारा इमली आदि आम्ल पदार्थ देखते हैं किन्तु लालास्रवादि विकार (लार टपकना, मुँह में पानी भर आना) जिह्वा में होता है, अतः यह मानना पड़ता है कि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है।[२]

तीसरा अनुमान इस प्रकार है: जीव इन्द्रियों से भिन्न है, क्योंकि वह सभी इन्द्रियों द्वारा गृहीत अर्थ का स्मरण करता है। जिस प्रकार अपनी इच्छा से रूप आदि एक-एक गुण के ज्ञाता ऐसे पाँच पुरुषों से रूप आदि ज्ञान का ग्रहण करने वाला पुरुष भिन्न है, उसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों से उपलब्ध अर्थ का स्मरण करने वाला पाँचों इन्द्रियों से भिन्न कोई तत्त्व होना चाहिए। यही तत्त्व आत्मा है।[३]

आत्मा की नित्यता :

आत्मा शरीर से भिन्न सिद्ध होने पर भी शरीर के समान क्षणिक तो है ही। ऐसी दशा में वह शरीर के साथ ही नष्ट हो जाती है। तब फिर उसे शरीर से भिन्न सिद्ध करने से क्या लाभ ? यह शंका ठीक नहीं। पूर्व जन्म का स्मरण करने वाले जीव का उसके पूर्व भव के शरीर का नाश हो जाने पर भी क्षय नहीं माना जा सकता। जीव का क्षय मानने पर पूर्व भव का स्मरण करने वाला कोई नहीं रहता। जिस प्रकार बाल्यावस्था का स्मरण करने वाली वृद्ध की आत्मा का बाल्य-काल में सर्वथा नाश नहीं हो जाता क्योंकि वह बाल्यावस्था का स्मरण करती हुई प्रत्यक्ष दिखाई देती है, ठीक इसी प्रकार जीव भी पूर्व जन्म का स्मरण करता है, यह बात सिद्ध है। अथवा जिस प्रकार विदेश में गया हुआ कोई व्यक्ति स्वदेश की

१. गा० १६५७-८. २. गा० १६५९. ३. गा० १६६०.

बातों का स्मरण करता है अतः उसे नष्ट नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार पूर्व जन्म का स्मरण करने वाले जीव का भी सर्वथा नाश नहीं माना जा सकता।[1]

यदि कोई यह कहे कि जीवरूप विज्ञान को क्षणिक मानकर भी विज्ञान-संतति के सामर्थ्य से स्मरण की सिद्धि की जा सकती है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर का नाश हो जाने पर भी विज्ञान-संतति का नाश नहीं हुआ। अतः विज्ञान-संतति शरीर से भिन्न ही सिद्ध हुई। विज्ञान का सर्वथा क्षणिक होना सम्भव नहीं क्योंकि पूर्वोपलब्ध वस्तु का स्मरण होता हुआ दिखाई देता है। जो क्षणिक होता है उसे अतीत का स्मरण नहीं हो सकता। चूँकि हमें अतीत का स्मरण होता है अतः हमारा विज्ञान सर्वथा क्षणिक नहीं है। क्षणिकवाद के अनेक दोषों की ओर संकेत करते हुए भाष्यकार ने इस मत की स्थापना की है कि ज्ञान-संतति का जो सामान्य रूप है वह नित्य है अतः उसका कभी भी व्यवच्छेद नहीं होता। यही आत्मा के नाम से प्रसिद्ध है।[2]

आत्मा की अदृश्यता :

यदि आत्मा शरीर से भिन्न है तो वह शरीर में प्रविष्ट होते समय अथवा वहाँ से बाहर निकलते समय दिखाई क्यों नहीं देती? किसी भी वस्तु की अनुपलब्धि दो प्रकार की होती है : (१) जो वस्तु खरशृंगादि के समान सर्वथा असत् हो वह कभी भी उपलब्ध नहीं होती; (२) वस्तु सत् होने पर भी बहुत दूर, बहुत पास, अति सूक्ष्म आदि होने के कारण उपलब्ध नहीं होती। आत्मा स्वभाव से अमूर्त है तथा उसका कार्मण शरीर परमाणु के सदृश सूक्ष्म है अतः वह हमारे शरीर में प्रविष्ट होते समय अथवा शरीर से बाहर निकलते समय दिखाई नहीं देती।[3]

इस प्रकार जब भगवान् महावीर ने वायुभूति के संशय का निवारण किया तो उन्होंने अपने ५०० शिष्यों सहित भगवान् से दीक्षा अंगीकार कर ली।[4]

शून्यवाद का निरास :

इन्द्रभूति आदि तीनों को दीक्षित हुए सुनकर व्यक्त ने विचार किया कि मुझे भी महावीर के पास पहुँचना चाहिए। यह सोचकर वे भगवान् महावीर के पास पहुँचे। भगवान् ने उन्हें आया हुआ जान कर संबोधित करते हुए कहा—

---

१. गा० १६७१. २. गा० १६७२–१६८१. ३. गा० १६८२.
४. गा० १६८६.

हे व्यक्त ! तुम्हारे मन में यह संशय है कि भूतों का अस्तित्व है या नहीं ? तुम वेद-वाक्यों का यथार्थ अर्थ नहीं जानते, इसीलिए तुम्हें इस प्रकार की शंका है। मैं तुम्हें इनका सच्चा अर्थ बताऊँगा जिससे तुम्हारा संशय दूर होगा।[१]

हे व्यक्त ! तुम यह समझते हो कि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले ये सब भूत स्वप्नोपम हैं तथा जीव, पुण्य, पाप आदि परोक्ष पदार्थभी मायोपम हैं। इस प्रकार समस्त संसार यथार्थ में शून्यरूप है। तुम यह भी मानते हो कि संसार में सकल व्यवहार ह्रस्व-दीर्घ के समान सापेक्ष है, अतः वस्तु की सिद्धि स्वतः, परतः, उभयतः अथवा अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती। अतः सब कुछ शून्य है। इसी प्रकार पदार्थ के साथ अस्तित्व, एकत्व, अनेकत्व आदि का किसी प्रकार का सबन्ध सिद्ध नहीं हो सकता, अतः सब शून्य है। उत्पत्ति, अनुत्पत्ति, उभय, अनुभय आदि में भी इसी प्रकार के अनेक दोष उपस्थित होते है, अतः जगत् को शून्यरूप ही मानना चाहिए।[२]

इन शकाओं का निवारण इस प्रकार है : यदि ससार में भूतों का अस्तित्व ही न हो तो उनके विषय में आकाश कुसुम के समान संशय ही उत्पन्न न हो। जो वस्तु विद्यमान होती है उसी के विषय में संशय होता है जैसे स्थाणु और पुरुष के विषय में। ऐसी कौन सी विशेषता है जिसके कारण स्थाणु-पुरुष के विषय में तो सन्देह होता है किन्तु आकाश-कुसुम के विषय में सन्देह नहीं होता ? अथवा ऐसा क्यों नहीं होता कि आकाश-कुसुम आदि के विषय में ही सन्देह हो तथा स्थाणु-पुरुष के विषय में सन्देह न हो ? अतः यह मानना चाहिए कि आकाश-कुसुम के समान सब कुछ समानरूप से शून्य नहीं है। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम द्वारा पदार्थ की सिद्धि होती है, अतः इन प्रमाणों के विषयभूत पदार्थों के सम्बन्ध में ही संशय उत्पन्न होता है। जो सर्वप्रमाणातीत है उसके विषय में संशय कैसे हो सकता है ? इसीलिए स्थाणु-पुरुष आदि पदार्थों के विषय में तो सदेह होता है किन्तु आकाश-कुसुम आदि के विषय में नहीं। दूसरी बात यह है कि संशयादि ज्ञानपर्याय है। ज्ञान की उत्पत्ति बिना ज्ञेय के सभव नहीं। अतः यदि ज्ञेय ही नहीं तो संशय उत्पन्न ही कैसे होगा ?[३]

यहाँ पर कोई यह कह सकता है कि ऐसा कोई नियम नहीं कि यदि सबका अभाव हो तो संशय ही न हो। जैसे सोये हुए पुरुष के पास कुछ भी नहीं होता फिर भी वह स्वप्न मे सशय करता है कि 'यह गजराज है अथवा पर्वत ?' अतः

१. गा० १६८७-९. २. गा० १६९०-६. ३. गा० १६९७-१७००.

सब कुछ शून्य होने पर भी संशय हो सकता है। यह कथन ठीक नहीं। स्वप्न में जो संदेह होता है वह भी पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण से ही होता है। यदि सभी वस्तुओं का सर्वथा अभाव हो तो स्वप्न में भी संशय न हो। जिन कारणों से स्वप्न होता है वे इस प्रकार हैं: अनुभूत अर्थ—जैसे स्नानादि, दृष्ट अर्थ—जैसे हस्ति-तुरगादि, चिन्तित अर्थ—जैसे प्रियतमा आदि, श्रुत अर्थ—जैसे स्वर्ग-नरकादि, प्रकृति विकार—जैसे वात-पित्तादि, अनुकूल या प्रतिकूल देवता, सजल प्रदेश, पुण्य तथा पाप। अतः स्वप्न भी भावरूप है। स्वप्न भावरूप है क्योंकि घटविज्ञानादि के समान वह भी विज्ञानरूप है अथवा स्वप्न भावरूप है क्योंकि वह भी अपने कारणों से उत्पन्न होता है, जैसे घट आदि अपने कारणों से उत्पन्न होने के कारण भावरूप हैं।[1]

शून्यवाद में एक दोष यह भी है कि यदि सब कुछ शून्य हो तो स्वप्न-अस्वप्न, सत्य-मिथ्या, गन्धर्वनगर-पाटलिपुत्र, मुख्य-गौण, साध्य-साधन, कार्य-कारण, वक्ता-वचन, त्रि अवयव-पंचावयव, स्वपक्ष-परपक्ष आदि भेद भी न हों।[2]

यह कहना कि समस्त व्यवहार सापेक्ष है, अतः किसी पदार्थ की स्वरूप-सिद्धि नहीं हो सकती, अयुक्त है। हमारे सामने एक प्रश्न है कि ह्रस्व-दीर्घ का ज्ञान युगपद् होता है या क्रमशः? यदि युगपद् होता है तो जिस समय मध्यम अंगुली के विषय में दीर्घत्व का प्रतिभास हुआ उसी समय प्रदेशिनी में ह्रस्वत्व का प्रतिभास हुआ, ऐसा मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि ह्रस्वत्व-दीर्घत्व सापेक्ष हैं। यदि ह्रस्व-दीर्घ का ज्ञान क्रमशः होता है तो पहले प्रदेशिनी में ह्रस्वत्व का ज्ञान होता है जो मध्यम अंगुली के दीर्घत्व के प्रतिभास से निरपेक्ष है। अतः यह मानना पड़ता है कि ह्रस्वत्व दीर्घत्व का व्यवहार केवल सापेक्ष नहीं है। एक और दृष्टान्त लें। बालक जन्म लेने के बाद सर्वप्रथम आंखें खोल कर जो ज्ञान प्राप्त करता है उसमें किसकी अपेक्षा है? तथा दो सदृश पदार्थों का ज्ञान यदि एक साथ हो तो उसमें भी किसी की अपेक्षा दृष्टिगोचर नहीं होती। इन सब कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए यह मानना चाहिए कि किसी एक वस्तु का स्वविषयक ज्ञान अन्य वस्तु की अपेक्षा के बिना ही होता है। तत्प्रतिपक्षी पदार्थ का स्मरण होने पर इस प्रकार का व्यपदेश अवश्य होता है कि यह अमुक से ह्रस्व है, अमुक से दीर्घ है आदि। अतः पदार्थों को स्वतः सिद्ध मानना चाहिए।[3]

---

१. गा० १७०२-४. २. गा० १७०५-९. ३. गा० १७१०-१.

पदार्थ के अस्तित्व आदि धर्मों की सिद्धि इस प्रकार की जा सकती है : यदि पदार्थ के अस्तित्व आदि धर्म अन्यनिरपेक्ष न हों तो ह्रस्व पदार्थों का नाश होने पर दीर्घ पदार्थों का भी सर्वथा नाश हो जाना चाहिए, क्योंकि दीर्घ पदार्थों की सत्ता ह्रस्व पदार्थ सापेक्ष है। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः यही सिद्ध होता है कि पदार्थ के ह्रस्व आदि धर्मों का ज्ञान और व्यवहार ही परसापेक्ष है, उसके अस्तित्व आदि धर्म नहीं।' घटसत्ता घट का धर्म होने के कारण घट से अभिन्न है किन्तु पटादि से भिन्न है। घट के समान पटादि की सत्ता पटादि में है ही अतः घट के समान अघटरूप पटादि भी विद्यमान हैं। इस प्रकार अघट का अस्तित्व होने के कारण तद्भिन्न को घट कहा जा सकता है। यहाँ एक शंका उठ सकती है कि यदि घट और अस्तित्व एक ही हों तो यह नियम क्यों नहीं बन सकता कि 'जो जो अस्तिरूप है वह सब घट ही है?' ऐसा इसलिए नहीं होता कि घट का अस्तित्व घट में ही है, पटादि में नहीं। अतः घट और उसके अस्तित्व को अभिन्न मानकर भी यह नियम नहीं बन सकता कि 'जो जो अस्तिरूप है वह सब घट ही है।'[२] केवल 'अस्ति' अर्थात् 'है' कहने से जितने पदार्थों में अस्तित्व है उन सब का बोध होगा। इसमें घट और अघट सब का समावेश होगा। 'घट है' ऐसा कहने से तो इतना ही बोध होगा कि केवल घट है। इसका कारण यह है कि घट का अस्तित्व घट तक ही सीमित है। जैसे 'वृक्ष' कहने से आम्र, नीम आदि सभी वृक्षों का बोध होता है क्योंकि इन सब में वृक्षत्व समानरूपेण विद्यमान है। किन्तु 'आम्र' कहने से तो केवल आम्र वृक्ष का ही बोध होगा क्योंकि उसका वृक्षत्व उसी तक सीमित है।' इसी प्रकार ज्ञात-अज्ञात, दृश्य-अदृश्य आदि की भी सिद्धि की जा सकती है। इस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले भूतादि के विषय में सन्देह नहीं होना चाहिए। वायु तथा आकाश प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते अतः उनके विषय में सन्देह हो सकता है। इस संशय का निवारण अनुमान से हो सकता है।

वायु और आकाश का अस्तित्व :

स्पर्शादि गुणों का कोई गुणी अवश्य होना चाहिए क्योंकि वे गुण हैं, जैसे रूप गुण का गुणी घट है। स्पर्शादि गुणों का जो गुणी है वह वायु है।'

---

१. गा० १७१५. २. गा० १७२२–३. ३. गा० १७२४.
४. गा० १७४९.

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—इन सब का कोई आधार होना चाहिए क्योंकि ये सब मूर्त हैं। जो मूर्त होता है उसका आधार अवश्य होता है, जैसे कि पानी का आधार घट है। पृथ्वी आदि का जो आधार है वही आकाश है।[1]

इस प्रकार भगवान् महावीर व्यक्त की भूतविषयक शंका का समाधान करते हुए आगे कहते हैं कि जबतक शस्त्र से उपघात न हुआ हो तबतक ये भूत सचेतन हैं, शरीर के आधारभूत हैं, विविध प्रकार से जीवों के उपयोग में आते हैं।[2]

भूतों की सजीवता :

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु सचेतन हैं क्योंकि उनमें जीव के लक्षण दिखाई देते हैं। आकाश अमूर्त है। वह केवल जीव का आधार ही बनता है। वह सजीव नहीं है।[3] पृथ्वी सचेतन है क्योंकि उसमें जीव में दिखाई देनेवाले जन्म, जरा, जीवन, मरण, क्षतसंरोहण, आहार, दोहद, रोग, चिकित्सा आदि लक्षण पाये जाते हैं। स्पृष्टप्ररोदिका (लाजवंती) क्षुद्र जीव के समान स्पर्श से संकुचित हो जाती है। लता अपना आश्रय प्राप्त करने के लिए मनुष्य के समान वृक्ष की ओर बढ़ती हुई दिखाई देती है। शमी आदि में निद्रा, प्रबोध, संकोच आदि लक्षण माने जाते हैं। बकुल शब्द का, अशोक रूप का, कुरुबक गंध का, विरहक रस का, चंपक स्पर्श का उपभोग करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।[4] जल भी सचेतन है। भूमि खोदने से स्वाभाविक रूप से निकलने के कारण मेंढक के समान जल सजीव सिद्ध होता है। मत्स्य के समान स्वाभाविक रूप से व्योम से गिरने के कारण जल को सचेतन मानना चाहिए।[5] वायु की सचेतनता का प्रमाण यह है : जैसे गाय किसी की प्रेरणा के बिना ही अनियमित रूप से तिर्यक् गमन करती है उसी प्रकार वायु भी है अतः वह सजीव है। अग्नि भी सजीव है क्योंकि जैसे मनुष्य में आहार आदि से वृद्धि और विकार दिखाई देते हैं वैसे ही अग्नि में भी काष्ठादि आहार से वृद्धि और विकार दिखाई देते हैं।[6]

हिंसा-अहिंसा का विवेक :

यदि पृथ्वी आदि भूतों में अनन्त जीव विद्यमान हैं तो साधु को आहारादि लेने के कारण अनन्त जीवों की हिंसा का दोष लगेगा। ऐसी अवस्था में साधु को अहिंसक कैसे माना जाएगा? भूतों के सजीव होने पर भी साधु को हिंसा

---

१. गा० १७५०. २. गा० १७५१. ३. गा० १७५२. ४. गा० १७५३-५. ५ गा० १७५७. ६. गा० १७५८.

का दोष इसलिए नहीं लगता कि शस्त्रोपहत पृथ्वी आदि भूतों में जीव नहीं होता। ऐसे भूत निर्जीव ही होते हैं। यह कथन भी ठीक नहीं कि कोई व्यक्ति केवल जीव का घातक बनने से हिंसक हो जाता है। यह कथन भी अनुचित है कि एक व्यक्ति किसी भी जीव का घातक नहीं है अतः वह निश्चित रूप से अहिंसक है। यह मानना भी युक्तिसंगत नहीं कि थोड़े जीव हों तो हिंसा नहीं होती और अधिक जीव हों तो हिंसा होती है। हिंसक और अहिंसक की पहिचान यह है कि जीव की हत्या न करने पर भी दुष्ट भावों के कारण व्यक्ति हिंसक कहलाता है तथा जीव का घातक होने पर भी व्यक्ति शुद्ध भावों के कारण अहिंसक कहलाता है। पाँच समिति तथा तीन गुप्ति सम्पन्न ज्ञानी मुनि अहिंसक है। इससे विपरीत जो असंयमी है वह हिंसक है। सयमी किसी जीव का घात करे या न करे किन्तु वह हिंसक नहीं कहलाता क्योंकि हिंसा अहिंसा का आधार आत्मा का अध्यवसाय है, न कि क्रिया। वस्तुतः अशुभ परिणाम का नाम ही हिंसा है। यह अशुभ परिणाम बाह्य जीवघात की अपेक्षा रख भी सकता है और नहीं भी। जो जीववध अशुभ परिणामजन्य है अथवा अशुभ परिणाम का जनक है वह जीववध तो हिंसा ही है। जो जीववध अशुभ परिणाम का जनक नहीं वह हिंसा की कोटि से बाहर है। जिस प्रकार शब्दादि विषय वीतराग में राग उत्पन्न नहीं कर सकते क्योंकि वीतराग के भाव शुद्ध होते हैं उसी प्रकार सयमी का जीववध भी हिंसा नहीं कहलाता क्योंकि उसका मन शुद्ध है।[1]

इस प्रकार भगवान् महावीर ने व्यक्त का सशय दूर किया और उन्होंने अपने ५०० शिष्यों सहित भगवान् से दीक्षा ग्रहण की।[2]

इहलोक और परलोक की विचित्रता :

उपर्युक्त चार पडितों के दीक्षित होने का समाचार सुनकर सुधर्मा भगवान् महावीर के पास पहुँचे। महावीर ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—सुधर्मा ! तुम्हें यह सशय है कि जीव जैसा इस भव में है वैसा ही परभव में भी होता है या नहीं ? तुम्हें वेदपदों का अर्थ ज्ञात नहीं इसीलिए इस प्रकार का सशय होता है। मैं तुम्हारे सशय का निवारण करूँगा।[3]

यह मान्यता कि कार्य कारण के समान ही होता है, ठीक नहीं। यह कोई ऐकान्तिक नियम नहीं कि कार्य कारण के सदृश ही होता है। शृंग से भी शर—

१. गा० १७६२–८. २. गा० १७६९. ३. गा० १७७०–२.

नामक वनस्पति उत्पन्न होती है। उसी पर यदि सरसों का लेप किया जाए तो पुनः उसी में से एक विशेष प्रकार का घास पैदा होता है। गाय तथा बकरी के बालों से दूर्वा (दूब) उत्पन्न होती है। इस प्रकार नाना प्रकार के द्रव्यों के संयोग से विलक्षण वनस्पति की उत्पत्ति का वर्णन वृक्षायुर्वेद में मिलता है। अतः यह मानना चाहिए कि कार्य कारण से विलक्षण भी उत्पन्न हो सकता है। यह ऐकान्तिक नियम नहीं कि कार्य कारणानुरूप ही हो।[१]

कारणानुरूप कार्य मानने पर भी भवान्तर में विचित्रता संभव है। कारणानुरूप कार्य स्वीकार करने पर भी यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य मर कर मनुष्य ही बनता है। यह कैसे? बीज के अनुरूप अंकुर की उत्पत्ति मानने पर भी परभव में जीव में वैचित्र्य मानना ही पड़ेगा। मनुष्य का उदाहरण लें। भवांकुर का बीज मनुष्य स्वयं न होकर उसका कर्म होता है। चूंकि कर्म विचित्र है अतः उसका परभव भी विचित्र ही होगा।[२] कर्म की विचित्रता का प्रमाण यह है कि कर्म पुद्गल का परिणाम है अतः उसमें बाह्य अभ्रादि विकार के समान वैचित्र्य होना चाहिए। कर्म की विचित्रता के राग-द्वेषादि विशेष कारण हैं।[३]

कर्म के अभाव में भी भव मान लिया जाए तो क्या आपत्ति है? ऐसी स्थिति में भव का नाश भी निष्कारण मानना पड़ेगा और मोक्ष के लिए तपस्या आदि अनुष्ठान भी व्यर्थ सिद्ध होंगे। इसी प्रकार जीवों के वैसादृश्य को भी निष्कारण मानना पड़ेगा।[४] इस प्रकार कर्म के अभाव में भव की सत्ता मानने पर अनेक दोषों का सामना करना पड़ेगा।

कर्म के अभाव में स्वभाव से ही परभव मानने में क्या हानि है? इसका उत्तर देते हुए महावीर कहते हैं कि स्वभाव क्या है? वह कोई वस्तु है, निष्कारणता है अथवा वस्तुधर्म है? वस्तु मानने पर उसकी उपलब्धि होना चाहिए किन्तु आकाश-कुसुम के समान उसकी उपलब्धि नहीं होती अतः वह वस्तु नहीं है। यदि अनुपलब्ध होने पर भी स्वभाव का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है तो अनुपलब्ध होने पर कर्म का अस्तित्व स्वीकार करने में क्या आपत्ति है? दूसरी बात यह है कि स्वभाव की विसदृशता आदि की सिद्धि के लिए कोई हेतु नहीं मिलता जिससे कि जगत्-वैचित्र्य सिद्ध हो सके। स्वभाव की निष्कार-

१. गा० १७७३–५. २. गा० १७७६–८. ३. गा० १७८०.
४. गा० १७८४.

णता मे भी अनेक दोषों की संभावना है। स्वभाव को वस्तुधर्म भी नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें भी वैसादृश्य के लिए कोई स्थान नहीं रहता। स्वभाव को पुद्गलरूप मानकर वैसादृश्य की सिद्धि की जाए तो वह कर्मरूप ही सिद्ध होगा।[१]

इस प्रकार भगवान् महावीर ने सुधर्मा का संशय दूर किया और उन्होंने अपने ५०० शिष्यों सहित भगवती दीक्षा अंगीकार की।[२]

बंध और मोक्ष :

इसके बाद मंडिक भगवान् महावीर के पास पहुँचे। भगवान् ने उनके मन का संशय प्रकट करते हुए कहा—मंडिक! तुम्हारे मन में सन्देह है कि बंध और मोक्ष हैं कि नहीं? तुम वेदपदों का अर्थ ठीक तरह से नहीं समझते अतः तुम्हारे मन में इस प्रकार का संदेह उत्पन्न होता है। मैं तुम्हारा सन्देह दूर करूंगा।[३]

मंडिक! तुम यह सोचते हो कि यदि जीव का कर्म के साथ जो संयोग है वही बंध है तो वह बंध सादि है या अनादि? यदि वह सादि है तो क्या (१) प्रथम जीव और तत्पश्चात् कर्म उत्पन्न होता है अथवा (२) प्रथम कर्म और तत्पश्चात् जीव उत्पन्न होता है अथवा (३) वे दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं? इन तीनों विकल्पों मे निम्न दोष आते हैं :—

१. कर्म से पूर्व जीव की उत्पत्ति संभव नहीं क्योंकि खरशृंग के समान उसका कोई हेतु दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि जीव की उत्पत्ति निर्हेतुक मानी जाए तो उसका विनाश भी निर्हेतुक मानना पड़ेगा।

२. जीव से पहले कर्म की उत्पत्ति भी संभव नहीं क्योंकि जीव कर्म का कर्ता माना जाता है। यदि कर्ता ही न हो तो कर्म कैसे उत्पन्न हो सकता है? जीव के समान ही कर्म की निर्हेतुक उत्पत्ति भी सभव नहीं। यदि कर्म की उत्पत्ति बिना किसी कारण के मानी जाए तो उसका विनाश भी निर्हेतुक मानना पड़ेगा। अतः कर्म को जीव से पूर्व नहीं माना जा सकता।

३. यदि जीव तथा कर्म दोनों की युगपत् उत्पत्ति मानी जाए तो जीव को कर्ता तथा कर्म को उसका कार्य नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार लोक मे एक साथ उत्पन्न होने वाले गाय के सींगों में से एक को कर्ता तथा दूसरे को

---

१. गा० १७८५–१७९३. २. गा० १८०१. ३. गा० १८०२–४.

कार्य नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार एक साथ उत्पन्न होने वाले जीव और कर्म में कर्ता और कर्म का व्यवहार नहीं किया जा सकता।[१]

जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि ऐसा मानने पर जीव की मुक्ति कभी भी नहीं हो सकती। जो वस्तु अनादि होती है वह अनन्त भी होती है जैसे जीव तथा आकाश का सम्बन्ध। जीव तथा कर्म के सम्बन्ध को अनादि मानने पर अनन्त भी मानना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति मे जीव कभी भी मुक्त नहीं हो सकेगा।[२]

इन युक्तियों का समाधान करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं कि शरीर तथा कर्म की संतति अनादि है क्योंकि इन दोनों में परस्पर कार्य-कारणभाव है, जैसे बीज और अंकुर। जिस प्रकार बीज से अंकुर तथा अंकुर से बीज उत्पन्न होता है और यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है अतः इन दोनों की सन्तान अनादि है उसी प्रकार देह से कर्म और कर्म से देह की उत्पत्ति का क्रम अनादि काल से चला आ रहा है अतः इन दोनों की सन्तान अनादि है। अतः जीव और कर्मसम्बन्धी उपर्युक्त विकल्प व्यर्थ हैं। जीव और कर्म की संतति अनादि है। जीव कर्म द्वारा शरीर उत्पन्न करता है अतः वह शरीर का कर्ता है तथा शरीर द्वारा कर्म को उत्पन्न करता है अतः वह कर्म का भी कर्ता है। शरीर व कर्म की संतति अनादि है अतः जीव और कर्म की संतति को भी अनादि मानना चाहिए। इस प्रकार जीव और कर्म का बंध भी अनादि सिद्ध होता है।[३]

यह कथन कि जो अनादि है वह अनन्त भी होता ही है, अयुक्त है। बीज और अंकुर की सन्तति अनादि होते हुए भी सान्त हो सकती है। इसी प्रकार अनादि कर्मसंतति का भी अन्त हो सकता है। बीज तथा अंकुर मे से यदि किसी का भी अपना कार्य उत्पन्न करने के पूर्व ही नाश हो जाए तो उसकी संतान का भी अंत हो जाता है। यही नियम मुर्गी और अंडे के लिए भी है। दूसरा उदाहरण लीजिए। स्वर्ण तथा मिट्टी का संयोग अनादि संततिगत है फिर भी उपायविशेष से उस सयोग का नाश हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जीव तथा कर्म के अनादि संयोग का भी सम्यग्दर्शन आदि द्वारा नाश हो सकता है।[४] इसके बाद आचार्य ने मोक्षविषयक विवेचन करते हुए भव्य और अभव्य के स्वरूप की चर्चा की है।[५]

---

१. गा० १८०५–१८१०. २. गा १८११. ३. गा० १८१३–५. ४. गा० १८१७–९. ५. गा० १८२१–१८३६.

जीव तथा कर्म के संयोग का नाश उपायजन्य है अर्थात् मोक्ष की उत्पत्ति उपाय से होती है। जो उपायजन्य है वह कृतक है। जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, जैसे घट। अतः मोक्ष भी घटादि के समान कृतक होने के कारण अनित्य होना चाहिए। इस संशय का निवारण करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं कि यह नियम व्यभिचारी है कि जो कृतक होता है वह अनित्य ही होता है। घटादि का प्रध्वंसाभाव कृतक होने पर भी नित्य है। यदि प्रध्वंसाभाव को अनित्य माना जाए तो प्रध्वंसाभाव का अभाव हो जाने के कारण विनष्ट घटादि पदार्थ पुनः उत्पन्न हो जाने चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः प्रध्वंसाभाव को कृतक होने पर भी नित्य मानना पड़ता है। इसी प्रकार कृतक होने पर भी मोक्ष नित्य है।[1] इसके बाद आचार्य ने सिद्ध-मुक्त आत्माओं के स्वरूप की चर्चा की है तथा लोकाकाश, अलोकाकाश आदि का वर्णन किया है।[2]

इस प्रकार जब भगवान् महावीर ने मंडिक के संशय का निवारण कर दिया तब उन्होंने अपने साढ़े तीन सौ शिष्यों सहित जिनदीक्षा अंगीकार कर ली।[3]

देवों का अस्तित्व :

मंडिक के दीक्षित होने का समाचार सुनकर मौर्यपुत्र भी भगवान् के पास पहुँचे। भगवान् ने उन्हें संबोधित करते हुए कहा—मौर्यपुत्र ! तुम्हारे मन में यह संदेह है कि देव हैं अथवा नहीं ? मैं तुम्हारे संदेह का निराकरण करूंगा।[4]

मौर्यपुत्र ! तुम यह सोचते हो कि नारक तो परतन्त्र हैं तथा अत्यंत दुःखी हैं अतः वे हमारे सन्मुख उपस्थित होने में असमर्थ हैं। किंतु देव तो स्वच्छन्द-विहारी हैं तथा दिव्य प्रभावयुक्त हैं। फिर भी वे कभी दिखाई नहीं देते। अतः उनके अस्तित्व के विषय में संदेह होना स्वाभाविक है।[5]

इस संदेह का निवारण इस प्रकार किया जा सकता है : कम से कम सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क देव तो प्रत्यक्ष दिखाई ही देते हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि देव कभी दिखाई नहीं देते। इसके अतिरिक्त लोक में देवकृत अनुग्रह और पीड़ा दोनों ही हैं। इसके आधार पर भी देवों का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए।[6]

चन्द्र, सूर्य आदि शून्यनगर के समान दिखाई देते हैं। उनमें निवास करने वाला कोई भी नहीं है। अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि सूर्यादि का प्रत्यक्ष

---

१. गा० १८३७. २. गा० १८४०–१८६२. ३. गा० १८६३.
४. गा० १८६४–६. ५. गा० १८६७–८. ६. गा० १८७०.

होने से देवों का भी प्रत्यक्ष हो गया ? इस शंका का समाधान करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं कि सूर्य, चन्द्रादि को आलय मानने पर उनमें रहने वाला भी कोई न कोई मानना ही चाहिए अन्यथा उन्हें आलय नहीं कहा जा सकता।[१] यहाँ एक और शंका उत्पन्न होती है। जिन्हें आलय कहा गया है वे वास्तव में आलय हैं या नहीं, इसका निर्णय न होने की अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि वे निवासस्थान हैं अतः उनमें रहने वाला कोई होना चाहिए। संभव है कि वे रत्नों के गोले ही हों। इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि वे देवों के रहने के विमान ही हैं क्योंकि वे विद्याधरों के विमानों के समान रत्ननिर्मित हैं तथा आकाश में गमन करते हैं।[२]

सूर्य, चन्द्रादि विमानों को मायिक क्यों न मान लिया जाए ? वस्तुतः ये मायिक नहीं हैं। थोड़ी देर के लिए इन्हें मायिक मान भी लिया जाए तो भी इस माया को करने वाले देव तो मानने ही पड़ेंगे। बिना मायावी के माया संभव नहीं। दूसरी बात यह है कि माया तो कुछ ही देर में नष्ट हो जाती है जबकि उक्त विमान सर्वदा उपलब्ध होने के कारण शाश्वत हैं। अतः उन्हें मायिक नहीं कहा जा सकता।[३]

देवों के अस्तित्व की सिद्धि के लिए एक हेतु यह भी है कि इस लोक में जो प्रकृष्ट पाप करते हैं उनके लिए उस फलभोग के हेतु नारकों का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है उसी प्रकार प्रकृष्ट पुण्य करनेवालों के लिए देवों का अस्तित्व भी स्वीकार करना चाहिए।[४]

यदि देव हैं तो वे स्वैरविहारी होते हुए भी मनुष्य-लोक में क्यों नहीं आते ? सामान्यतः देव इस लोक में इसलिए नहीं आते कि वे स्वर्ग के दिव्य पदार्थों में ही आसक्त रहते हैं, वहाँ के विषयभोग में ही लिप्त रहते हैं। उन्हें वहीं के काम से अवकाश नहीं मिलता। मनुष्य-लोक की दुर्गन्ध भी उन्हें यहाँ आने से रोकती है और फिर उनके यहाँ आने का कोई विशेष प्रयोजन भी तो नहीं है। ऐसा होते हुए भी कभी-कभी वे इस लोक में आते भी हैं। तीर्थंकर के जन्म, दीक्षा, केवल-प्राप्ति, निर्वाण आदि शुभ प्रसंगों पर देव इस लोक में आया करते हैं। पूर्व भव के राग, वैर आदि के कारण भी उनका यहाँ आगमन होता रहता है।[५]

इस प्रकार भगवान् महावीर ने मौर्यपुत्र का देवविषयक संशय दूर किया और उन्होंने अपने साढ़े तीन सौ शिष्यों सहित भगवान् से दीक्षा ले ली।[६]

---

१. गा० १८७१. २. गा० १८७२. ३. गा० १८७३. ४. गा० १८७४.
५. गा० १८७५–७. ६. गा० १८८४.

नारकों का अस्तित्व :

मौर्यपुत्रपर्यन्त सब को दीक्षित हुए जान कर अकंपित भी महावीर के पास पहुँचे। महावीर ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—अकंपित ! तुम्हारे मन में यह संशय है कि नारक हैं या नहीं ? इस संशय का समाधान इस प्रकार है[१] :—

प्रकृष्ट पापफल का भोक्ता कोई न कोई अवश्य होना चाहिए क्योंकि वह भी जघन्य-मध्यम कर्मफल के समान कर्मफल है। जघन्य-मध्यम कर्मफल के भोक्ता तिर्यंच तथा मनुष्य हैं। प्रकृष्ट पापकर्मफल के जो भोक्ता हैं वे ही नारक हैं।[२]

अत्यन्त दुःखी तिर्यंच और मनुष्यों को ही प्रकृष्ट पापफल के भोक्ता मान लिया जाए तो क्या हर्ज है ? देवों में जैसा सुख का प्रकर्ष है वैसा दुःख का प्रकर्ष तिर्यंच और मनुष्यों मे नहीं है अतः उन्हें नारक नहीं मान सकते। ऐसा एक भी तिर्यञ्च अथवा मनुष्य नहीं है जो केवल दुःखी ही हो। अतः प्रकृष्ट पापकर्मफल के भोक्ता के रूप में तिर्यञ्च और मनुष्यों से भिन्न नारकों का अस्तित्व मानना चाहिए।[३]

इस प्रकार जब भगवान् ने अकंपित का संशय दूर कर दिया तब उन्होंने भी अपने साढ़े तीन सौ शिष्यों सहित भगवती दीक्षा अंगीकार कर ली।[४]

पुण्य-पाप का सद्भाव :

इन सब को दीक्षित हुए जानकर नवें पंडित अचलभ्राता भगवान् के पास पहुँचे। भगवान् ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—अचलभ्राता ! तुम्हे संदेह है कि पुण्य-पाप का सद्भाव है या नहीं ? मै तुम्हारे संदेह का निवारण करता हूँ।[५]

पुण्य-पाप के सम्बन्ध मे निम्न विकल्प हैं : (१) केवल पुण्य ही है, पाप नहीं; (२) केवल पाप ही है, पुण्य नहीं; (३) पुण्य और पाप एक ही साधारण वस्तु है, भिन्न भिन्न नहीं; (४) पुण्य और पाप भिन्न-भिन्न हैं; (५) स्वभाव ही सब कुछ है, पुण्य-पाप कुछ नहीं।[६]

१. केवल पुण्य का ही सद्भाव है, पाप का सर्वथा अभाव है। जैसे-जैसे पुण्य बढ़ता जाता है वैसे-वैसे सुख की वृद्धि होती जाती है। पुण्य की क्रमशः हानि होने पर सुख की भी क्रमशः हानि होती है। पुण्य का सर्वथा क्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है।[७]

---

१. गा० १८८५–७. २. गा० १८९९. ३. गा० १९००. ४. गा० १९०४. ५. गा० १९०५–७. ६. गा० १९०८. ७. गा० १९०९.

२. केवल पाप का ही सद्भाव है, पुण्य का सर्वथा अभाव है। जैसे-जैसे पाप की वृद्धि होती है वैसे-वैसे दुःख बढ़ता है। पाप की क्रमशः हानि होने पर तज्जनित दुःख का भी क्रमशः अभाव होता है। पाप का सर्वथा क्षय होने पर मुक्ति प्राप्त होती है।[1]

३. पुण्य और पाप भिन्न-भिन्न न होकर एक ही साधारण वस्तु के दो भेद हैं। इस साधारण वस्तु मे जब पुण्य की मात्रा बढ़ जाती है तब उसे पुण्य कहा जाता है तथा जब पाप की मात्रा बढ़ जाती है तब उसे पाप कहा जाता है। दूसरे शब्दों में पुण्यांश का अपकर्ष होने पर उसे पाप कहते हैं तथा पापांश का अपकर्ष होने पर उसे पुण्य कहते हैं।[2]

४. पुण्य व पाप दोनों स्वतन्त्र हैं। सुख का कारण पुण्य है और दुःख का कारण पाप है।

५. पुण्य-पाप जैसी कोई वस्तु इस संसार में नहीं है। समस्त भवप्रपञ्च स्वभाव से ही होता है।

इन पाँच प्रकार के विकल्पों में से चौथा विकल्प ही युक्तियुक्त है। पाप व पुण्य दोनों स्वतन्त्र हैं। एक दुःख का कारण है और दूसरा सुख का। स्वभाववाद आदि युक्ति से बाधित हैं।[3]

दुःख की प्रकृष्टता तदनुरूप कर्म के प्रकर्ष से सिद्ध होती है। जिस प्रकार सुख के प्रकृष्ट अनुभव का आधार पुण्य-प्रकर्ष है उसी प्रकार दुःख के प्रकृष्ट अनुभव का आधार पाप-प्रकर्ष है। अतः दुःखानुभव का कारण पुण्य का अपकर्ष नहीं अपितु पाप का प्रकर्ष है। इसी प्रकार केवल पापवाद का भी निरसन किया जा सकता है। संकीर्णपक्ष का निरास करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं कि कोई भी कर्म पुण्य-पाप उभयरूप नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा कर्म निर्हेतुक है। यह कैसे? कर्म-बन्ध का कारण योग है। किसी एक समय का योग या तो शुभ होगा या अशुभ। वह शुभाशुभ उभयरूप नहीं हो सकता। अतः उसका कार्य भी या तो शुभ होगा या अशुभ। वह उभयरूप नहीं हो सकता। जो शुभ कार्य है वही पुण्य है और जो अशुभ कार्य है वही पाप है।[4]

पुण्य और पाप का लक्षण बताते हुए आगे कहा गया है कि जो स्वयं शुभ वर्ण, गध, रस तथा स्पर्शयुक्त हो तथा जिसका विपाक भी शुभ हो वह पुण्य

---

१. गा० १९१०. २. गा० १९११. ३. गा० १९१२–१९२०.
४. गा० १९३१–५.

है। जो इससे विपरीत है वह पाप है। पुण्य व पाप दोनों पुद्गल हैं। वे मेरु आदि के समान अति स्थूल भी नहीं हैं और परमाणु के समान अति सूक्ष्म भी नहीं हैं।[१]

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अचलभ्राता के संदेह का निवारण किया। उन्होंने भी अपने तीन सौ शिष्यों सहित भगवान् से दीक्षा ग्रहण की।[२]

परलोक का सद्भाव :

इन सब की दीक्षा का समाचार सुन कर मेतार्य भी महावीर के पास पहुँचे। महावीर ने उन्हें नाम-गोत्र से सम्बोधित करते हुए कहा—मेतार्य ! तुम्हें संशय है कि परलोक है या नहीं ? मैं तुम्हारे संशय का निवारण करूँगा।[३]

मेतार्य ! तुम यह समझते हो कि मद्यांग और मद के समान भूत और चैतन्य में कोई भेद नहीं है अतः परलोक मानना अनावश्यक है। जब भूतसंयोग के नाश के साथ ही चैतन्य का भी नाश हो जाता है तब परलोक मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।[४] इसी प्रकार सर्वव्यापी एक ही आत्मा का अस्तित्व मानने पर भी परलोक की सिद्धि नहीं हो सकती।[५]

इन दोनों हेतुओं का निराकरण करते हुए महावीर कहते हैं कि भूत इन्द्रिय आदि से भिन्नस्वरूप आत्मा का धर्म चैतन्य है, इस बात की सिद्धि पहले हो चुकी है। अतः आत्मा को स्वतन्त्र द्रव्य मानना चाहिए। इसी प्रकार अनेक आत्माओं का अस्तित्व भी सिद्ध किया जा चुका है। इस लोक से भिन्न देवादि परलोकों का सद्भाव भी मौर्य तथा अकंपित के साथ हुई चर्चा में सिद्ध हो चुका है।[६] अतः परलोक का सद्भाव मानना युक्तिसंगत है। आत्मा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वभावयुक्त है अतः मृत्यु के पश्चात् उसका सद्भाव सिद्ध है।

इस प्रकार मेतार्य के संशय का निवारण हुआ और उन्होंने अपने तीन सौ शिष्यों सहित भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।[७]

निर्वाण की सिद्धि :

इन सब को दीक्षित हुए सुनकर ग्यारहवें पंडित प्रभास के मन में भी इच्छा हुई कि मैं भी महावीर के पास पहुँचूँ। यह सोचकर वे भगवान् के पास पहुँचे।

---

१. गा० १९४०. २. गा० १९४८. ३. गा० १९४९–१९५१. ४. गा० १९५२. ५. गा० १९५४. ६. गा० १९५६–८. ७. गा० १९७१.

भगवान् ने उन्हें उसी प्रकार सम्बोधित करते हुए कहा—प्रभास ! तुम्हारे मन में संशय है कि निर्वाण है अथवा नहीं ? इस विषय में मेरा मत सुनो।[1]

कोई कहता है कि दीप-निर्वाण के समान जीव का नाश ही निर्वाण अर्थात् मोक्ष है।[2] कोई मानता है कि विद्यमान जीव के राग, द्वेष आदि दुःखों का अन्त हो जाने पर जो एक विशिष्ट अवस्था प्राप्त होती है वही मोक्ष है।[3] इन दोनो मे से किसे ठीक कहा जाए ?[4] जीव तथा कर्म का संयोग आकाश के समान अनादि है अतः उसका कभी भी नाश नहीं हो सकता। फिर निर्वाण कैसे माना जाए ?[5]

जिस प्रकार कनक-पाषाण तथा कनक का संयोग अनादि है फिर भी प्रयत्न द्वारा कनक को कनकपाषाण से पृथक् किया जा सकता है उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान और क्रिया द्वारा जीव और कर्म के अनादि संयोग का अंत होकर जीव कर्म से मुक्त हो सकता है।[6]

जो लोग यह मानते हैं कि दीप-निर्वाण के समान मोक्ष मे जीव का भी नाश हो जाता है उनकी मान्यता मे दोष है। दीप की अग्नि का भी सर्वथा नाश नहीं होता। वह प्रकाशपरिणाम को छोड़कर अंधकारपरिणाम को धारण करता है, जैसे दूध दधिरूप तथा घट कपालरूप परिणाम को धारण करते हैं। अतः दीपक के समान जीव का भी सर्वथा उच्छेद नहीं माना जा सकता। यहाँ एक शंका होती है कि यदि दीप का सर्वथा नाश नहीं होता तो वह बुझने के बाद दिखाई क्यों नहीं देता ? इसका उत्तर यह है कि बुझने के बाद वह अंधकार मे परिणत हो जाता है जो प्रत्यक्ष ही है। अतः यह कथन ठीक नहीं कि वह दिखाई नहीं देता। दीप बुझने पर उतनी ही स्पष्टता से क्यों नहीं दिखाई देता ? इसका कारण यह है कि वह उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर परिणाम को धारण करता जाता

१. गा० १९७२-४.

२. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
—सौन्दरनन्द. १६, २८-९.

३. केवलसंविद्दर्शनरूपाः सर्वार्तिदुःखपरिमुक्ताः।
मोदन्ते मुक्तिगता जीवाः क्षीणान्तरारिगणाः॥

४. गा० १९७५. ५. गा० १९७६. ६. गा० १९७७.

है अतः विद्यमान होने पर भी वह स्पष्टतया दिखाई नहीं देता। जिस प्रकार बादल बिखर जाने के बाद विद्यमान होते हुए भी आकाश में दृष्टिगोचर नहीं होते तथा अंजन-रज विद्यमान होने पर भी आंखों से दिखाई नहीं देती उसी प्रकार दीपक भी बुझने पर विद्यमान होते हुए भी अपने सूक्ष्म परिणाम के कारण स्पष्टतया दिखाई नहीं देता।[1] इसी प्रकार निर्वाण में भी जीव का सर्वथा नाश नहीं होता।

जिस प्रकार दीप जब निर्वाण प्राप्त करता है तब वह परिणामान्तर को प्राप्त होता है और सर्वथा नष्ट नहीं होता उसी प्रकार जीव भी जब परिनिर्वाण प्राप्त करता है तब वह निराबाध सुखरूप परिणामान्तर को प्राप्त करता है और सर्वथा नष्ट नहीं होता। अतः जीव की दुःखक्षयरूप विशेषावस्था ही निर्वाण है, मोक्ष है, मुक्ति है।[2] मुक्त जीव को परम मुनि के समान स्वाभाविक प्रकृष्ट सुख होता है क्योंकि उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं होती।[3]

यह मान्यता भी ठीक नहीं कि मुक्तात्मा में ज्ञान का अभाव है।[4] ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है। जैसे परमाणु कभी अमूर्त नहीं हो सकता वैसे ही आत्मा कभी ज्ञानरहित नहीं हो सकती। अतः यह कथन परस्पर विरुद्ध है कि 'आत्मा' है और वह 'ज्ञानरहित' है। इसका क्या प्रमाण कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है? यह बात तो स्वानुभव से ही सिद्ध है कि हमारी आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इस प्रकार स्वात्मा की ज्ञानस्वरूपता स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से सिद्ध ही है। परदेह में विद्यमान आत्मा भी अनुमान से ज्ञानस्वरूप सिद्ध हो सकती है। वह अनुमान इस प्रकार है: परदेहगत आत्मा ज्ञानस्वरूप है क्योंकि उसमें प्रवृत्ति-निवृत्ति दिखाई देती हैं। यदि वह ज्ञानस्वरूप न हो तो स्वात्मा के समान इष्ट में प्रवृत्त और अनिष्ट से निवृत्त न हो। चूँकि उसमें इष्टप्रवृत्ति और अनिष्टनिवृत्ति देखी जाती है अतः उसे ज्ञानस्वरूप ही मानना चाहिए। जिस प्रकार प्रकाशस्वरूप प्रदीप को छिद्रयुक्त आवरण से आच्छादित कर देने पर वह अपना प्रकाश उन छिद्रों द्वारा थोड़ा-सा ही फैला सकता है उसी प्रकार ज्ञानप्रकाशस्वरूप आत्मा भी आवरणों का क्षयोपशम होने पर इन्द्रियरूप छिद्रों द्वारा अपना प्रकाश थोड़ा-सा ही फैला सकती है। मुक्तात्मा में आवरणों का सर्वथा अभाव होता है अतः वह अपने पूर्ण रूप में प्रकाशित होती है। उसे संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान होता है। इससे यह सिद्ध है कि मुक्त आत्मा ज्ञानी है।[5]

१. गा० १९८७-८. २. गा० १९९१. ३. गा० १९९२.
४. नैयायिकों की यही मान्यता है: न संविदानन्दमयी मुक्तिः।
५. गा० १९९७-२००१.

मुक्तात्मा का सुख निराबाध होता है, यह बात समझ में नहीं आती क्योंकि पुण्य से सुख होता है और पाप से दुःख। मुक्तात्मा में पुण्य-पापरूप किसी भी प्रकार के कर्म का सद्भाव नहीं होता अतः उसमें सुख-दुःख दोनों का अभाव होना चाहिए, जैसे आकाश में सुख-दुःख कुछ भी नहीं होता। दूसरी बात यह है कि सुख-दुःख का आधार देह है। मुक्ति में देह का अभाव है अतः वहाँ आकाश के समान सुख और दुःख दोनों का अभाव होना चाहिए। इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि वस्तुतः पुण्य का फल भी दुःख ही है क्योंकि वह कर्मजन्य है। जो कर्मजन्य होता है वह पापफल के समान दुःखरूप ही होता है। कोई इसका विरोधी अनुमान भी उपस्थित कर सकता है : पाप का फल भी वस्तुतः सुखरूप ही है क्योंकि वह कर्मजन्य है। जो कर्मजन्य होता है वह पुण्यफल के समान सुखरूप ही होता है। पाप का फल भी कर्मजन्य है अतः वह सुखरूप होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि पुण्यफल का संवेदन अनुकूल प्रतीत होने के कारण सुखरूप है। ऐसी अवस्था में पुण्यफल को दुःख-रूप कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। इस शंका का समाधान करते हुए महावीर कहते हैं कि जिसे प्रत्यक्ष सुख कहा जाता है वह सुख नहीं किंतु दुःख ही है। संसार जिसे सुख मानता है वह व्याधि (दाद आदि) के प्रतीकार के समान दुःखरूप ही है। अतः पुण्य के फल को भी तत्त्वतः दुःख ही मानना चाहिए। इसके लिए अनुमान भी दिया जा सकता है : विषयजन्य सुख दुःख ही है क्योंकि वह दुःख के प्रतीकार के रूप में है। जो दुःख के प्रतीकार के रूप में होता है वह कुष्ठादि रोग के प्रतीकाररूप क्वाथपान आदि चिकित्सा के समान दुःखरूप ही होता है। ऐसा होते हुए भी लोग इसे उपचार से सुख कहते हैं। औपचारिक सुख पारमार्थिक सुख के बिना संभव नहीं अतः मुक्त जीव के सुख को पारमार्थिक सुख मानना चाहिए। इसकी उत्पत्ति सर्वदुःख के क्षय द्वारा होती है जो बाह्य वस्तु के संसर्ग से सर्वथा निरपेक्ष है। अतः मुक्तावस्था का सुख मुख्य एवं विशुद्ध सुख है तथा प्रतीकाररूप सांसारिक सुख औपचारिक एवं वस्तुतः दुःखरूप है।[1]

इस प्रकार जब भगवान् महावीर ने प्रभास का संशय दूर किया तब उन्होंने भी अपने तीन सौ शिष्यों सहित भगवान् से जिनदीक्षा अंगीकार की।[2] यहाँ तक गणधरवाद का अधिकार है। भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने पर जिन ग्यारह पंडितों ने उनके साथ विविध दार्शनिक विषयों पर चर्चा की

१. गा० २००२-९. २. गा० २०२४.

तथा उस चर्चा से संतुष्ट होकर भगवान् के प्रमुख शिष्य बने वे ही जैन-साहित्य में ग्यारह गणधरों के रूप मे प्रसिद्ध हैं।

सामायिक की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल आदि द्वारों की ओर संकेत किया[1] तथा उनमे से तृतीय द्वार निर्गम अर्थात् उत्पत्ति की चर्चा करते हुए यह बताया कि जिस द्रव्य से सामायिक का निर्गम हुआ है वह द्रव्य यहाँ पर भगवान् महावीर के रूप मे है।[2] इस प्रकार भगवान् महावीर का प्रसंग सामने रखते हुए भाष्यकार ने गणधरवाद की विस्तृत चर्चा की।

क्षेत्र और काल :

क्षेत्र नामक चतुर्थ द्वार की चर्चा करते हुए आचार्य कहते हैं कि सर्वप्रथम महासेनवन नामक उद्यान मे भगवान् महावीर ने सामायिक का प्ररूपण किया और उसके बाद परपरा से अन्यत्र भी प्ररूपण किया गया। यह प्रथम प्ररूपण किस काल मे हुआ ? वैशाख शुक्ला एकादशी के पूर्वाह्ण काल अर्थात् प्रथम पौरुषी में सामायिक का निर्गम हुआ।[3] इस प्रकार क्षेत्र और काल के रूप मे चतुर्थ और पंचम द्वारसम्बन्धी चर्चा पूर्ण होती है।

पुरुष :

षष्ठ द्वार पुरुष की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि पुरुष के अनेक भेद हैं : द्रव्यपुरुष, अभिलापपुरुष, चिह्नपुरुष, वेदपुरुष, धर्मपुरुष, अर्थपुरुष, भोगपुरुष, भावपुरुष। शुद्धजीव तीर्थंकररूप पुरुष भावपुरुष कहलाता है। प्रकृत मे भावपुरुष का ग्रहण करना चाहिए।[4]

कारण :

सप्तम द्वार कारण का व्याख्यान करते हुए आचार्य कहते हैं कि कारण का निक्षेप चार प्रकार का है : नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इनमे से द्रव्य-कारण के दो भेद हैं : तद्द्रव्य और अन्यद्रव्य; अथवा निमित्त और नैमित्तिक; अथवा समवायी और असमवायी। इसके छः भेद भी हो सकते हैं : कर्ता, करण, कर्म, संप्रदान, अपादान, संनिधान।[5] इन सभी भेदों का भाष्यकार ने दार्शनिक दृष्टि से विशेष विवेचन किया है।[6] तीर्थंकर सामायिक का उपदेश क्यों देते हैं ?

१. गा० १४८४–५. २. गा० १५३१–१५४६. ३. गा० २०८३.
४. गा० २०९०–७. ५. गा० २०९८–९. ६. गा० २१००–२१२१.

इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि तीर्थंकरनामकर्म का उदय होने के कारण वे सामायिक आदि का उपदेश देते हैं। गौतम आदि गणधर सामायिक का उपदेश क्यों सुनते हैं? उन्हें भगवान् के वचन सुनकर तदर्थविषयक ज्ञान प्राप्त होता है। इससे शुभ और अशुभ पदार्थों में विवेक-बुद्धि जाग्रत होती है तथा शुभप्रवृत्ति और अशुभनिवृत्ति की भावना पैदा होती है। परिणामतः संयम और तप की वृद्धि होती है जिससे कर्मनिर्जरा होकर अन्ततोगत्वा मुक्ति प्राप्त होती है।[1]

प्रत्यय :

अष्टम द्वार प्रत्यय की चर्चा करते हुए कहा गया है कि प्रत्यय का भी नामादि निक्षेपपूर्वक विचार करना चाहिए। अवधि आदि ज्ञानत्रयरूप भाव-प्रत्यय है। केवलज्ञानी साक्षात् सामायिक का अर्थ जानकर ही सामायिक का कथन करते हैं। इसीलिए गणधर आदि श्रोताओं को उनके वचनों में प्रत्यय अर्थात् बोधनिश्चय होता है।[2]

लक्षण :

नवम द्वार लक्षण का व्याख्यान करते हुए बताया गया है कि नामादि भेद से लक्षण बारह प्रकार का होता है : नाम, स्थापना, द्रव्य, सादृश्य, सामान्य, आकार, गत्यागति, नानात्व, निमित्त, उत्पाद-विगम, वीर्य और भाव। भाष्यकार ने इनका विशेष स्पष्टीकरण किया है।[3] प्रस्तुत अधिकार भावलक्षण का है। सामायिक चार प्रकार की है : सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक, देशविरति-सामायिक और सर्वविरतिसामायिक। इनमें से सम्यक्त्वसामायिक और सर्वविरति अर्थात् चारित्रसामायिक क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भाव वाली होती हैं। श्रुतसामायिक और देशविरतिसामायिक केवल क्षायोपशमिक भाव वाली ही होती है।[4]

नय :

नय नामक दसवें द्वार का विचार करते हुए कहा गया है कि अनेक धर्मात्मक वस्तु का किसी एक धर्म के आधार पर विचार करना नय कहलाता है। वह नय सात प्रकार का है : नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़

१. गा० २१२२–८. २. गा० २१३१–४.
३. गा० २१४६–२१७६. ४. गा० २१७७–८.

और एवंभूत। आचार्य ने प्रत्येक नय का लक्षण, व्युत्पत्ति, उदाहरण आदि दृष्टियों से विस्तृत विवेचन किया है।[१] इस विवेचन में उन दार्शनिकों की मान्यताओं का युक्तिपुरस्सर खंडन किया गया है जो वस्तु को अनेक धर्मात्मक न मान कर किसी एक विशेष धर्मयुक्त ही मानते हैं। इसमें भारतीय दर्शन की समस्त एकान्तवादी परंपराओं का समावेश है।

समवतार :

ग्यारहवें द्वार समवतार का स्वरूप इस प्रकार है : कालिक श्रुत अर्थात् प्रथम और चरम पौरुषी में पढ़े जाने वाले श्रुत में नयों की अवतारणा नहीं होती। चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग का अपृथक् भाव से प्ररूपण होते समय नयों का विस्तारपूर्वक समवतार होता था। चरणकरणादि अनुयोगों का पृथक्त्व हो जाने पर नयों का समवतार नहीं होता। अनुयोगों का पृथक्करण कब व क्यों हुआ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि आर्य वज्र के बाद आर्य रक्षित हुए। उन्होंने भविष्य में मति-मेधा धारणा आदि का नाश होना जानकर अनुयोगों का विभाग कर दिया। उनके समय तक किसी एक सूत्र की व्याख्या चारों प्रकार के अनुयोगों से होती थी। उन्होंने विविध सूत्रों का निश्चित विभाजन कर दिया। चरणकरणानुयोग में कालिक श्रुतरूप ग्यारह अंग, महाकल्पश्रुत और छेदसूत्र रखे गए। धर्मकथानुयोग में ऋषिभाषितों का समावेश किया गया। गणितानुयोग में सूर्यप्रज्ञप्ति और द्रव्यानुयोग में दृष्टिवाद रखा गया।[२] इस प्रकार अनुयोग का पृथक्करण करने के बाद आर्य रक्षित ने पुष्पमित्र को गणिपद पर प्रतिष्ठित किया। यह देखकर गोष्ठामाहिल को बहुत ईर्ष्या हुई और वह मिथ्यात्व के उदय के कारण सप्तम निह्नव के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[३] अन्य छः निह्नवों के नाम इस प्रकार हैं : १. जमालि, २. तिष्यगुप्त, ३. आषाढ, ४. अश्वमित्र, ५. गंग और ६. षडुलूक। इन सात निह्नवों के जन्म स्थान ये हैं : १. श्रावस्ती, २. ऋषभपुर, ३. श्वेतविका, ४. मिथिला, ५. उल्लुकातीर, ६. अंतरंजिका और ७. दशपुर। इन सात निह्नवों के अतिरिक्त भाष्यकार ने एक निह्नव का उल्लेख और किया है जिसका नाम है शिवभूति बोटिक। उसका जन्म-स्थान रथवीरपुर है। इन आठ निह्नवों के उत्पत्ति-काल का क्रम इस प्रकार है : प्रथम दो भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के क्रमशः १४ एवं १६ वर्ष बाद निह्नवरूप में

१. गा० २१८०–२२७८. २. गा० २२८४–२२९५. ३. गा० २२९६–७.

उत्पन्न हुए। शेष महावीर का निर्वाण होने पर क्रमशः २१४, २२०, २२८, ५४४, ५८४ और ६०९ वर्ष बाद उत्पन्न हुए।[1]

निह्नववाद :

अपने अभिनिवेश के कारण आगम-प्रतिपादित तत्त्व का परंपरा से विरुद्ध अर्थ करने वाला निह्नव की कोटि में आता है। जैनदृष्टि से निह्नव मिथ्यादृष्टि का ही एक प्रकार है। अभिनिवेश के बिना होने वाले सूत्रार्थ के विवाद के कारण कोई निह्नव नहीं कहलाता क्योंकि इस प्रकार के विवाद का लक्ष्य सम्यक् अर्थ निर्णय है, न कि अपने अभिनिवेश का मिथ्या पोषण। सामान्य मिथ्यात्वी और निह्नव मे यह भेद है कि सामान्य मिथ्यात्वी जिनप्रवचन को ही नहीं मानता अथवा मिथ्या मानता है जबकि निह्नव उसके किसी एक पक्ष का अपने अभिनिवेश के कारण परंपरा से विरुद्ध अर्थ करता है तथा शेष पक्षों को परंपरा के अनुसार ही स्वीकार करता है। इस प्रकार निह्नव वास्तव में जैन-परंपरा के भीतर ही एक नया संप्रदाय खड़ा कर देता है। जिनभद्र आदि पीछे के आचार्यों ने तो दिगंबर संप्रदाय को भी निह्नव-कोटि मे डाल दिया है जिसका संबंध शिवभूति बोटिक निह्नव से है। भाष्यकार जिनभद्र ने जमालि आदि आठ निह्नवों का उल्लेख किया है तथा संक्षेप मे उनके मतों का भी वर्णन किया है।

प्रथम निह्नव :

प्रथम निह्नव का नाम जमालि है। उसने बहुरत मत का प्ररूपण किया। उसका जीवन-वृत्त इस प्रकार है : क्षत्रियकुमार जमालि ने वैराग्य उत्पन्न होने पर पाच सौ पुरुषों के साथ महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की तथा वह उनका आचार्य हुआ। जिस समय वह श्रावस्ती के तैन्दुक उद्यान में ठहरा हुआ था उस समय उसे कोई रोग हो गया। उसने अपने एक शिष्य से बिस्तर बिछाने के लिए कहा। कुछ देर बाद उसने उस शिष्य से पूछा—"बिस्तर हो गया?" उसने बिछाते-बिछाते ही उत्तर दिया—"हो गया है।" जमालि सोने के लिए खड़ा हुआ। उसने जाकर देखा तो बिस्तर अभी बिछाया ही जा रहा था। यह देख कर उसने सोचा—भगवान् महावीर जो 'क्रियमाणं कृतम्' अर्थात् 'किया जाने वाला कर दिया गया' का कथन करते हैं वह मिथ्या है। यदि 'क्रियमाण'

---

१. गा० २३०१–५.

(किया जाने वाला) 'कृत' (कर दिया गया) होता तो मैं इस विस्तर पर इसी समय सो सकता किन्तु बात ऐसी नहीं है। अतः महावीर का यह सिद्धान्त कि 'क्रियामाण कृत है' झूठा है। दूसरे साधुओं ने उसे 'क्रियमाणं कृतम्' का वास्तविक अर्थ समझाया किन्तु उसके मन में किसी की बात नहीं बैठी। उसने उसी समय से अपने विरोधी सिद्धान्त 'बहुरत' का प्रतिपादन प्रारंभ कर दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी क्रिया एक समय में न होकर बहुत समय मे होती है। भाष्यकार ने अनेक हेतु देकर इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया है। इसमे प्रियदर्शना (सुदर्शना—अनवद्या—ज्येष्ठा) का वृत्तान्त भी दिया गया है जिसने पहले तो पति के अनुराग के कारण जमालि के संघ मे जाना स्वीकार कर लिया था किन्तु बाद मे भगवान् महावीर के सिद्धान्त का वास्तविक अर्थ समझने पर पुनः महावीर के संघ मे सम्मिलित हो गई।[१]

द्वितीय निह्नव :

द्वितीय निह्नव तिष्यगुप्त ने जीवप्रादेशिक मत का प्ररूपण किया था। तिष्यगुप्त वसु नामक चौदहपूर्वधर आचार्य का शिष्य था। वह जिस समय राजगृह—ऋषभपुर मे था उस समय आत्मप्रवाद नामक पूर्व के आधार पर उसने एक नया तर्क उपस्थित किया और जीवप्रादेशिक मत की स्थापना की। कथानक इस प्रकार है : गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन्! क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कह सकते हैं?" महावीर ने कहा—"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। इसी प्रकार दो, तीन, संख्यात अथवा असंख्यात प्रदेशों को तो क्या, जीव के जो असंख्यात प्रदेश हैं उनमे से एक प्रदेश भी कम हो तो उसे जीव नहीं कह सकते। लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर सम्पूर्ण प्रदेशयुक्त होने पर ही वह जीव कहा जाता है।" इस संवाद को सुनकर तिष्यगुप्त ने अपने गुरु वसु से कहा—"यदि ऐसा ही है तो जिस प्रदेश के बिना वह जीव नहीं कहलाता और जिस एक प्रदेश से वह जीव कहलाता है उस चरम प्रदेश को ही जीव क्यों न मान लिया जाए? उसके अतिरिक्त अन्य प्रदेश तो उसके बिना अजीव ही हैं क्योंकि उसी से वे सब जीवत्व प्राप्त करते हैं।" गुरु ने उसे महावीर की जीवविषयक उपर्युक्त मान्यता का रहस्य समझाने का काफी प्रयत्न किया किन्तु उसने अपना मत नहीं छोड़ा तथा दूसरों को भी इसी प्रकार समझाने लगा। परिणामस्वरूप वह संघ से निकाल दिया गया और अपनी

---

१. गा० २३०६–२३३२.

जीवप्रदेशी मान्यता के कारण जीवप्रादेशिक के रूप में प्रसिद्ध हुआ। एक समय अमलकल्पा नामक नगरी के मित्रश्री नामक श्रमणोपासक ने तिष्यगुप्त के पात्र में अनेक प्रकार के पदार्थों का थोड़ा-थोड़ा अंतिम अंश रखा और कहने लगा—"मेरा अहोभाग्य है कि आज मैंने आपको इतने सारे पदार्थों का दान दिया।" यह सुनकर तिष्यगुप्त क्रुद्ध होकर बोला—"तुमने यह मेरा अपमान किया है।" मित्रश्री ने तुरन्त उत्तर दिया—"मैंने आप ही के मत के अनुसार इतना सारा दान दिया है।" यह सुनकर तिष्यगुप्त को अपने मिथ्या मत का भान हुआ। उसने अपने अभिनिवेश का प्रायश्चित्त किया और गुरु से क्षमा-याचना की।[१]

तृतीय निह्नव :

तीसरे निह्नव की मान्यता का नाम अव्यक्तमत है। श्वेतविका नगरी के पौलाषाढ चैत्य में आषाढ नामक आचार्य ठहरे हुए थे। उनके अनेक शिष्य योग की साधना में लग्न थे। आषाढ अकस्मात् रात्रि में मरकर देव हुए। उन्हें अपने योगसंलग्न शिष्यों पर दया आई और वे पुनः अपने मृत शरीर में रहने लगे तथा अपने शिष्यों को पूर्ववत् ही आचार आदि की शिक्षा देते रहे। जब योग-साधना समाप्त हुई तब उन्होंने अपने शिष्यों को वन्दना कर कहा—"हे श्रमणो! मुझे क्षमा करना कि मैंने असंयती होते हुए भी आप लोगों से आज तक वन्दना करवाई।" इतना कहकर वे अपना शरीर छोड़ कर देवलोक में चले गए। यह जानकर उनके शिष्यों को भारी पश्चात्ताप होने लगा कि हमने असंयती—देव को इतनी बार वंदना की। उन्हें धीरे-धीरे ऐसा मालूम होने लगा कि किसी के विषय में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह साधु है या देव। इसलिए किसी को वन्दना करनी ही नहीं चाहिए। वन्दना करने पर वह व्यक्ति साधु के बदले देव निकल जाता है तो असंयत-नमन का दोष लगता है; यदि यह कहा जाए कि वह साधु नहीं है और कदाचित् साधु ही हो तो मृषावाद का पाप लगता है। चूंकि किसी की साधुता का निश्चय हो ही नहीं सकता इसलिए किसी को भी वंदना नहीं करनी चाहिए। अन्य स्थविरों ने उन्हें बहुत समझाया कि ऐसा ऐकान्तिक आग्रह करना ठीक नहीं किन्तु उन्होंने किसी की न मानी और संघ से अलग होकर अव्यक्तमत का प्रचार करने लगे। एकबार राजगृह के बलभद्र राजा ने ऐसा आदेश निकाला कि इन सब

१. गा० २३३३–२३५५.

साधुओं को मार डालो। यह जानकर वे लोग बड़े व्याकुल हुए और राजा से कहने लगे—"हम लोग साधु हैं और तू श्रावक है। तू हमें कैसे मरवा सकता है?" राजा ने कहा—"आपका कहना तो ठीक है किन्तु मैं कैसे जान सकता हूँ कि तुम लोग चोर हो या साधु?" यह सुनकर उन लोगों का भ्रम दूर हुआ और यथोचित प्रायश्चित्त करके वे पुनः संघ मे सम्मिलित हुए।[1] आषाढ़ के कारण से अव्यक्तमत का उद्‌भव हुआ अतः उसके नाम के साथ यह मत जोड़ दिया गया।

चतुर्थ निह्नव :

यह निह्नव सामुच्छेदिक के नाम से प्रसिद्ध है। समुच्छेद का अर्थ है जन्म होते ही अत्यन्त नाश। इस प्रकार की मान्यता का समर्थक सामुच्छेदिक कहलाता है। इस मत की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार है: महागिरि का प्रशिष्य तथा कौण्डिन्य का शिष्य अश्वमित्र अनुप्रवाद नामक पूर्व का अध्ययन करता था। उसमे ऐसा वर्णन आया कि वर्तमान समय के नारक विच्छिन्न हो जाएँगे। इसी प्रकार द्वितीयादि समय के नारक भी विच्छिन्न हो जाएँगे। वैमानिक आदि के विषय मे भी यही बात समझनी चाहिए। यह जानकर उसके मन मे शंका हुई कि यदि इस प्रकार उत्पन्न होते ही जीव नष्ट हो जाता हो तो वह कर्म का फल कब भोगता है? उसकी इस शंका का समाधान करते हुए गुरु ने कहा कि पर्याय-रूप से नारकादि नष्ट होते हैं किन्तु द्रव्यरूप से तो वे विद्यमान ही रहते हैं अतः कर्मफल का वेदन घट सकता है। गुरु के समझाने पर भी वह अपने हठ पर दृढ रहा और एकान्त समुच्छेद का प्रचार करने लगा। परिणामतः वह संघ से बहिष्कृत कर दिया गया। एक समय अश्वमित्र विचरते विचरते राजगृह मे जा पहुँचा। वहाँ के श्रावकों ने उसे पीटना शुरू किया। यह देखकर वह कहने लगा—"तुम लोग श्रावक होकर साधु को पीटते हो!" श्रावकों ने उत्तर दिया—"जो साधु बना था वह अश्वमित्र और जो श्रावक बने थे वे लोग तो कभी के नष्ट हो चुके। तुम और हम तो कोई और ही हैं।" यह सुनकर अश्वमित्र को अपने मत की दुर्बलता महसूस हुई। उसने पुनः अपने गुरु के पास जाकर क्षमा-याचना की तथा महावीर के संघ का अनुयायी बना।[2]

पंचम निह्नव :

पंचम निह्नव का नाम गंग है। उसने इस मत का प्रतिपादन किया कि एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव हो सकता है। इसी मान्यता के कारण

१. गा० २३५६–२३८८.   २. गा० २३८९–२४१२.

उसे द्वैक्रिय निह्नव कहा जाता है। घटना इस प्रकार है : आर्य महागिरि का प्रशिष्य तथा धनगुप्त का शिष्य गंग एक समय शरद् ऋतु में अपने आचार्य को वंदना करने के लिए उल्लुकातीर नामक नगर से निकल कर चला। रास्ते में उल्लुका नदी में चलते समय उसे सिर पर लगती हुई सूर्य की गरमी तथा पैरों में लगती हुई नदी की ठंडक का अनुभव हुआ। यह देखकर उसने सोचा—'सूत्रों में तो कहा गया है कि एक समय में एक ही क्रिया का वेदन हो सकता है किन्तु मुझे तो एक ही साथ दो क्रियाओं का अनुभव हो रहा है।' उसने अपना अनुभव अपने गुरु के सामने रखा। गुरु ने कहा—"तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु बात यह है कि समय और मन इतने सूक्ष्म हैं कि हम लोग सामान्यतया उनके छोटे-छोटे भेदों को नहीं समझ सकते। वास्तव में किसी भी क्रिया का वेदन क्रमशः ही होता है।" गंग को गुरु की बात जँची नहीं। वह संघ से अलग होकर अपने मत का प्रचार करने लगा। एक समय राजगृह में अपने मत का प्रचार करते हुए मणिनाग द्वारा भयभीत होकर उसने पुनः अपने गुरु के पास आकर प्रायश्चित्त किया।[1]

षष्ठ निह्नव :

छठे निह्नव का नाम रोहगुप्त अथवा षडुलूक है। उसने त्रैराशिक मत का प्ररूपण किया। इस मत का अर्थ है जीव, अजीव और नोजीव—इस प्रकार की तीन राशियों का सद्भाव। कथानक इस प्रकार है : एक समय रोहगुप्त किसी अन्य ग्राम से अंतरंजिका नगरी के भूतगृह नामक चैत्य में ठहरे हुए अपने गुरु श्रीगुप्त को वंदना करने जा रहा था। मार्ग में उसने अनेक प्रवादियों को पराजित किया और सारा हाल अपने गुरु के सामने रखा। इसके बाद उसने मोरी, नकुली, बिडाली, व्याघ्री, सिंही, उलूकी और उलावकी विद्याओं को ग्रहण किया तथा पोट्टशाल नामक परिव्राजक को जो कि वृश्चिकी, सर्पी, मूषकी, मृगी, वराही, काकी तथा पोताकी विद्याओं में सिद्धहस्त था, वाद के लिए चुनौती दी। राजसभा में पोट्टशाल ने जीव और अजीव—इन दो राशियों की स्थापना की। उसे परास्त करने के लिए रोहगुप्त ने एक तीसरी राशि नोजीव की भी स्थापना की। इसी प्रकार अन्य विद्याओं में भी उसे अपनी मोरी आदि विरोधी विद्याओं से पराजित किया। जब उसने अपने गुरु के सामने यह सारा वृत्तान्त [illegible] गुरु ने कहा—"तू वापिस जा और राजसभा में जाकर कह कि राशित्रय का

1. गा० २४२४–२४५०.

सिद्धान्त कोई वास्तविक सिद्धान्त नहीं है। मैंने केवल वादी को पराजित करने के लिए ही इस सिद्धान्त की अपने बुद्धिबल से स्थापना की है। यथार्थ में राशित्रय का सिद्धान्त अपसिद्धान्त है।" रोहगुप्त ने गुरु की इस आज्ञा को न माना तथा अपने अभिनिवेश के कारण वह राशित्रय के सिद्धान्त पर ही डटा रहा। यह देखकर गुरु स्वयं उसे अपने साथ राजसभा में ले गये। वहाँ से राजा के साथ वे कुत्रिकापण (सब चीजों की दुकान) पर गये। वहाँ जाकर उन्होंने जीव मांगा तो जीव मिला, अजीव मांगा तो अजीव भी मिला। जब उन्होंने नोजीव मांगा तो कुछ नहीं मिला। यह देखकर सभा में रोहगुप्त की पराजय की घोषणा कर दी गयी। इतना होने पर भी उसका अभिनिवेश कम न हुआ और उसने वैशेषिक मत का प्ररूपण किया। रोहगुप्त का नाम षडुलूक कैसे हो गया, इसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि उसका नाम तो रोहगुप्त है किन्तु गोत्र से वह उलूक है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामक षट् पदार्थों का प्ररूपण करने के कारण उलूकगोत्रीय रोहगुप्त को षडुलूक कहा गया है।[1]

सप्तम निह्नव :

सप्तम निह्नव का नाम गोष्ठामाहिल है। उसने इस मान्यता का प्रचार किया कि जीव और कर्म का बंध नहीं अपितु स्पर्शमात्र होता है। इसी अबद्ध सिद्धान्त के कारण वह अबद्धिक निह्नव के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त की उत्पत्ति से सम्बद्ध कथा इस प्रकार है: आर्यरक्षित की मृत्यु के बाद आचार्य दुर्बलिकापुष्पमित्र गणिपद पर प्रतिष्ठित हुए। उसी गण में गोष्ठामाहिल नाम का एक साधु भी था। एक समय आचार्य दुर्बलिकापुष्पमित्र विन्ध्य नामक एक साधु को कर्मप्रवाद नामक पूर्व का कर्मबन्धाधिकार पढ़ा रहे थे। उसमें ऐसा वर्णन आया कि कोई कर्म केवल जीव का स्पर्श करके ही अलग हो जाता है। उसकी स्थिति अधिक समय की नहीं होती। जिस प्रकार किसी सूखी दीवाल पर मिट्टी डालते ही दीवाल का स्पर्श करते ही मिट्टी तुरन्त नीचे गिर पड़ती है उसी प्रकार कोई कर्म जीव का स्पर्श करके थोड़े ही समय में उससे अलग हो जाता है। जैसे गीली दीवाल पर मिट्टी डालने से वह उसी में मिल कर एक रूप हो जाती है तथा बहुत समय के बाद उससे अलग हो सकती है वैसे ही जो कर्म बद्ध, स्पृष्ट तथा निकाचित होता है वह जीव के साथ एकत्व को प्राप्त कर कालान्तर में उदय में आता है। यह सुनकर गोष्ठामाहिल कहने लगा—"यदि

1. गा० २४५१–२५०८.

ऐसी बात है तो जीव और कर्म कभी अलग नहीं होने चाहिए क्योंकि वे एकरूप हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में कर्मबद्ध को कभी मोक्ष ही नहीं हो सकता क्योंकि वह हमेशा कर्म से बंधा रहेगा। इसलिए वास्तव में जीव और कर्म का बंध ही नहीं मानना चाहिए। केवल जीव और कर्म का स्पर्श ही मानना चाहिए।" आचार्य ने उसे इन दोनों अवस्थाओं का रहस्य समझाया किन्तु ईर्ष्या एवं अभिनिवेश के कारण उसके मन में उनकी बात न जँची। अन्ततोगत्वा वह संघ से बहिष्कृत कर दिया गया।[१]

अष्टम निह्नव :

यह अन्तिम निह्नव है। इसकी प्रसिद्धि बोटिक—दिगंबर के रूप में है। कथानक इस प्रकार है : रथवीरपुर नामक नगर मे शिवभूति नामक एक साधु आया हुआ था। वहाँ के राजा ने उसे बहुमूल्य रत्नकम्बल दिया। यह देखकर शिवभूति के गुरु आर्यकृष्ण ने कहा—"साधु के मार्ग में अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाले इस कम्बल को ग्रहण करना ठीक नहीं।" उसने गुरु की आज्ञा की अवहेलना कर उस कम्बल को छिपाकर अपने पास रख लिया। गोचरचर्या से लौटने पर प्रतिदिन उसे संभाल लेता किन्तु कभी काम मे नहीं लेता। गुरु ने यह सब देखकर सोचा—'इसे इसमे मूर्च्छा हो गई है। उसे दूर करने का कोई उपाय करना चाहिए।' यह सोच कर उन्होंने उसके बाहर जाने पर बिना कुछ पूछे-ताछे उस रत्नकम्बल को फाड़कर उसके छोटे-छोटे टुकड़े करके साधुओं के पादप्रोञ्छनक बना दिए। यह जानकर शिवभूति मन ही मन जलने लगा। उसका कषाय दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। एक समय आचार्य जिनकल्पियों का वर्णन कर रहे थे : 'किन्हीं जिनकल्पियों के रजोहरण और मुखवस्त्रिका—ये दो ही उपधियां होती हैं, आदि।' यह सुनकर शिवभूति ने कहा—"यदि ऐसा ही है तो हम लोग इतना सारा परिग्रह क्यों कर रखते हैं? उसी जिनकल्प का पालन क्यों नहीं करते?" आचार्य ने उसे समझाया कि इस समय उपयुक्त संहनन आदि का अभाव होने से उसका पालन शक्य नहीं। शिवभूति ने कहा—"मेरे रहते हुए यह अशक्य कैसे हो सकता है? मैं अभी इसका आचरण करके दिखाता हूं।" यह कह कर वह अभिनिवेशवश अपने वस्त्रों को वहीं फेंक कर चला गया। बाद में उसने कौडिन्य और कोट्टवीर नामक दो शिष्यों को दीक्षा दी। इस प्रकार यह परंपरा आगे बढ़ती गई जो बोटिक मत के नाम से प्रसिद्ध हुई। बोटिकों के

१. गा० २५०९–२५४९.

मतानुसार वस्त्र कषाय का कारण होने से परिग्रहरूप है अतः त्याज्य है। भाष्यकार आर्यकृष्ण के शब्दों में इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जो जो कषाय का हेतु है वह वह यदि परिग्रह है और उसे त्याग देना चाहिए तो स्वकीय शरीर को भी त्याग देना पड़ेगा क्योंकि वह भी कषायोत्पत्ति का हेतु है अतः परिग्रह है।[1]

ग्यारहवें द्वार समवतार की व्याख्या करते समय गोष्ठामाहिल का प्रसंग आया और उसी प्रसंग से निह्नववाद की चर्चा प्रारम्भ हुई। इस चर्चा की समाप्ति के साथ समवतार द्वार की व्याख्या भी समाप्त होती है।

अनुमत द्वार :

बारहवें द्वार का नाम अनुमत है। व्यवहार-निश्चय नय की दृष्टि से कौनसी सामायिक मोक्षमार्ग का कारण है, इसका विचार करना अनुमत कहलाता है। नैगम, संग्रह और व्यवहार नय की अपेक्षा से सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्ररूप तीनों प्रकार की सामायिक मोक्षमार्गरूप मानी गई है। शब्द तथा ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से केवल चारित्रसामायिक ही मोक्षमार्ग है।[2]

किं द्वार :

सामायिक क्या है ? सामायिक जीव है अथवा अजीव ? जीव और अजीव में भी वह द्रव्य है अथवा गुण ? अथवा वह जीवाजीव उभयात्मक है ? अथवा जीव और अजीव दोनों से भिन्न कोई अर्थान्तर है ? आत्मा अर्थात् जीव ही सामायिक है, अजीवादि नहीं। जीव सावद्य योग का प्रत्याख्यान करते समय सामायिक होता है। दूसरे शब्दों में सामायिकभाव से परिणति होने के कारण जीव ही सामायिक है। अन्य सभी द्रव्य श्रद्धेय, ज्ञेय आदि क्रियारूप उपयोग के कारण उसके विषयभूत हैं।[3] द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय से सामायिक द्रव्य है तथा पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सामायिक गुण है।[4] यह तेरहवें किं द्वार की व्याख्या हुई।

कतिविध द्वार :

चौदहवें द्वार कतिविध की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सामायिक तीन प्रकार की है : सम्यक्त्व, श्रुत तथा चारित्र। चारित्र दो प्रकार का है :

---

१. गा० २५५०–२६०९. २. गा० २६११–२६३२. ३. गा० २६३३–२६४०. ४. गा० २६५८.

आगारिक तथा अनागारिक। श्रुत अर्थात् अध्ययन तीन प्रकार का है : सूत्र-विषयक, अर्थविषयक और उभयविषयक। सम्यक्त्व निसर्गज तथा अधिगमज भेद से दो प्रकार का है। इन दोनों में से प्रत्येक के औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक—ये पाँच भेद होते हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व दस प्रकार का भी है। अथवा कारक, रोचक और दीपक भेद से सम्यक्त्व के क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा औपशमिक—ये तीन भेद भी होते हैं। इसी प्रकार श्रुत और चारित्र के भी विविध भेद हो सकते हैं।[1]

कस्य द्वार :

जिसकी आत्मा संयम, नियम तथा तप में स्थित है उसके पास सामायिक होती है। जो त्रस और स्थावर सब प्राणियों के प्रति समभाव—माध्यस्थ्यभाव रखता है उसके पास सामायिक होती है।[2] जो न राग में प्रवृत्त होता है न द्वेष में, किन्तु दोनों के मध्य में रहता है वह मध्यस्थ है और शेष सब अमध्यस्थ हैं।[3]

कुत्र द्वार :

इस द्वार का निम्न उपद्वारों की दृष्टि से विचार किया गया है : क्षेत्र, दिक्, काल, गति, भव्य, संज्ञी, उच्छ्वास, दृष्टि, आहार, पर्याप्त, सुप्त, जन्म, स्थिति, वेद, संज्ञा, कषाय, आयुष्, ज्ञान, योग, उपयोग, शरीर, संस्थान, संहनन, मान, लेश्यापरिणाम, वेदना, समुद्घातकर्म, निर्वेष्टन, उद्वर्तन, आस्रवकरण, अलंकार, शयन, आसन, स्थान, चंक्रमण।[4]

केषु द्वार :

सामायिक किन द्रव्यों और पर्यायों में होती है? सम्यक्त्व सर्वद्रव्य-पर्यायगत है। श्रुत और चारित्र में द्रव्य तो सब होते हैं किन्तु पर्याय सब नहीं होते। देशविरति में न तो सब द्रव्य ही होते हैं और न सब पर्याय ही। भाष्यकार ने इसका विशेष स्पष्टीकरण किया है।[5]

कथं द्वार :

सामायिक कैसे प्राप्त होती है? इस द्वार की चर्चा भाष्यकार ने यहाँ नहीं की है। टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र ने इस ओर संकेत करते हुए लिखा है कि सामायिक महाकष्टलभ्य है। इसके लाभक्रम के लिए 'माणुस्स' से लेकर 'अब्भुट्ठाणे

---

१. गा० २६७३-७. २. गा० २६७९-२६८०. ३. गा० २६८१.
४. गा० २६९२-२७५०. ५. गा० २७५१-२७६०.

विणए' पर्यन्त की गाथाएँ देखनी चाहिए। कहीं कठिनाई होने पर मूलावश्यक-टीका से सहायता लेनी चाहिए।[1]

कियच्चिर द्वार :

उन्नीसवां द्वार कियच्चिर है। इसमें इस प्रश्न का विचार किया गया है कि सामायिक कितने समय तक रहती है। सम्यक्त्व और श्रुत की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम (पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक) है जबकि देशविरति और सर्वविरति की उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि देशोन है। सम्यक्त्व, श्रुत और देशविरति की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है जबकि सर्वविरति सामायिक की जघन्य स्थिति एक समय है। यह सब लब्धि का स्थितिकाल है। उपयोग की दृष्टि से तो सभी की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।[2]

कति द्वार :

सम्यक्त्वादि सामायिकों के विवक्षित समय में कितने प्रतिपत्ता, प्रतिपन्न अथवा प्रतिपतित होते हैं ? सम्यक्त्वी और देशविरत प्राणी (क्षेत्र) पल्योपम के असंख्यातवें भाग के बराबर होते हैं। श्रुतप्रतिपत्ता श्रेणि के असंख्यातवें भाग के बराबर होते हैं। सर्वविरतिप्रतिपत्ता सहस्राग्रशः होते हैं। यह सब प्रतिपत्ताओं की उत्कृष्ट संख्या है। पूर्वप्रतिपन्नों का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि वर्तमान समय में सम्यक्त्व और देशविरतिप्रतिपन्न असंख्येय हैं, सर्वविरतिप्रतिपन्न संख्येय हैं। इन तीनों को प्राप्त कर जो प्रतिपतित हो चुके हैं वे अनन्तगुण हैं। सम्प्रति श्रुतप्रतिपन्न प्रतर के असंख्यातवें भाग के बराबर है। शेष संसारस्थ जीव (भाषालब्धिरहित पृथ्वी आदि) भाषालब्धि को प्राप्त करके प्रतिपतित होने के कारण सामान्यश्रुत से प्रतिपतित माने गए हैं।[3]

सान्तर द्वार :

जीव को किसी एक समय सम्यक्त्वादि सामायिक प्राप्त होने पर पुनः उसका परित्याग हो जाने पर जितने समय के बाद उसे पुनः उसकी प्राप्ति होती है उसे अन्तरकाल कहते हैं। वह सामान्याक्षरात्मक श्रुत में जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्टतः अनन्तकाल है। शेष में जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्टतः देशोन अर्धपरावर्तक है।[4]

---

१. पृ० १०९७. २. गा० २७६१–३. ३. गा० २७६४–२७७४.
४. गा० २७७५.

अविरहित द्वार :

सम्यक्त्व, श्रुत तथा देशविरति सामायिक का उत्कृष्ट अविरह काल आवलिका का असंख्येय भाग है, चारित्र (सर्वविरति) का आठ समय है। जघन्यतः सब सामायिकों का दो समय है।[१]

सम्यक्त्व और श्रुत का उत्कृष्ट विरहकाल सप्त अहोरात्र है, देशविरति का द्वादश अहोरात्र है। सर्वविरति का पंचदश अहोरात्र है।[२]

भव द्वार :

सम्यग्दृष्टि तथा देशविरत उत्कृष्टतः पल्य के असंख्येय भाग जितने भवों को प्राप्त करते हैं। सर्वविरत उत्कृष्टतः आठ भवों को प्राप्त करता है। श्रुत-सामायिक वाला उत्कृष्टतः अनन्त भव प्राप्त करता है[३] (जघन्यतः सब के लिए एक भव है)।

आकर्ष द्वार :

आकर्ष का अर्थ है आकर्षण अर्थात् प्रथम बार अथवा छोड़े हुए का पुनर्ग्रहण। सम्यक्त्व, श्रुत और देशविरति सामायिक का एक भव में उत्कृष्ट आकर्ष सहस्रपृथक्त्व बार होता है, सर्वविरति का शतपृथक्त्व बार होता है (जघन्यतः सब का एक बार ही आकर्ष है)। नाना भवों की अपेक्षा से सम्यक्त्व और देशविरति के उत्कृष्टतः असंख्येय सहस्रपृथक्त्व आकर्ष होते हैं, सर्वविरति के सहस्रपृथक्त्व आकर्ष होते है, श्रुत के आकर्ष तो अनन्त है।[४]

स्पर्शन द्वार :

सम्यक्त्व-चरणयुक्त प्राणी उत्कृष्टतः सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करते हैं (जघन्यतः असंख्येय भाग का स्पर्श करते हैं)। श्रुत के सप्तचतुर्दशभाग ($\frac{७}{१४}$) तथा पंचचतुर्दशभाग ($\frac{५}{१४}$) स्पर्शनीय हैं। देशविरति के पंचचतुर्दशभाग ($\frac{५}{१४}$) स्पर्शनीय हैं।[५]

निरुक्ति द्वार :

अन्तिम द्वार का नाम निरुक्ति है। सम्यक्त्व सामायिक की निरुक्ति इस प्रकार है : सम्यग्दृष्टि, अमोह, शुद्धि, सद्भावदर्शन, बोधि, अविपर्यय, सुदृष्टि आदि सम्यक्त्व के निरुक्त—पर्याय हैं। श्रुत सामायिक की निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि अक्षर, संज्ञी, सम्यक्, सादिक, सपर्यवसित, गमिक और अंगप्रविष्ट—

---

१. गा० २७७७. २. गा० २७७८. ३. गा० २७७९.
४. गा० २७८०–८१. ५. गा० २७८२.

ये सात और सात इनके प्रतिपक्षी—इस प्रकार चौदह भेद-पूर्वक श्रुत का विचार करना चाहिए। विरताविरति, संवृतासंवृत, बालपण्डित, देशैकदेशविरति, अणुधर्म, अगारधर्म आदि देशविरति सामायिक के निरुक्त—पर्याय हैं। सामायिक, सामयिक, सम्यग्वाद, समास, संक्षेप, अनवद्य, परिज्ञा, प्रत्याख्यान—ये आठ सर्वविरति सामायिक के निरुक्त—पर्याय हैं।[1] यहाँ तक सामायिक के उपोद्घात का अधिकार है।

नमस्कारनिर्युक्ति :

सामायिक के इस सुविस्तृत उपोद्घात की समाप्ति के बाद भाष्यकार ने सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति का विस्तृत व्याख्यान किया है। नमस्कार (अन्तमंगलरूप) की चर्चा करते हुए कहा गया है कि उत्पत्ति, निक्षेप, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम, प्रयोजन और फल—इन ग्यारह द्वारों से नमस्कार का व्याख्यान करना चाहिए।[2] भाष्यकार ने इन सभी द्वारों का बहुत विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इस विवेचन में भी निक्षेपपद्धति का आश्रय लिया गया है जिसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, भेद, सम्बन्ध, काल, स्वामी आदि अनेक प्रभेदों का समावेश किया गया है। प्रत्येक द्वार के व्याख्यान में यथासम्भव नयदृष्टि का आधार भी लिया गया है। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को नमस्कार क्यों करना चाहिए, इसका युक्तियुक्त विचार किया गया है। राग, द्वेष, कषाय आदि दोषों की उत्पत्ति आदि का भी संक्षिप्त विवेचन किया गया है। सिद्ध के स्वरूप का वर्णन करते समय आचार्य ने कर्मस्थिति तथा समुद्घात की प्रक्रिया का भी वर्णन किया है। शैलेशी अवस्था का स्वरूप बताते हुए शुक्लध्यान आदि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है।[3] सिद्ध को साकार उपयोग होता है अथवा निराकार, इसकी चर्चा करते हुए भाष्यकार ने केवलज्ञान और केवलदर्शन के भेद और अभेद का विचार किया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् होते हैं या क्रमशः, इस प्रश्न पर आगमिक मान्यता के अनुसार विचार करते हुए इस मत की पुष्टि की है कि केवली को एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते।[4] सिद्धिगमनक्रिया का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने अलाबु, एरण्डफल, अग्निशिखा, शर आदि दृष्टान्तों का स्पष्टीकरण तथा विविध आक्षेपों का परिहार किया है। सिद्धसम्बन्धी अन्य आवश्यक बातों की जानकारी के साथ सिद्धनमस्कार का अधिकार समाप्त किया गया है।[5] इसी प्रकार आचार्य,

१. गा० २७६४–७. २. गा० २८०५. ३. गा० २८०६–३०८८.
४. गा० ३०८९–३१३५. ५. गा० ३१४०–३१८८.

उपाध्याय और साधुनमस्कार का विवेचन किया गया है।[1] नमस्कार के प्रयोजन, फल आदि द्वारों का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने परिणाम-विशुद्धि का समर्थन किया है और इसी दृष्टि से जिनादिपूजा का विवेचन किया है। यहाँ तक नमस्कारनिर्युक्ति का अधिकार है।[2]

पदव्याख्या :

'करेमि भंते !' इत्यादि सामायिकसूत्र के पदों की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने 'करेमि' पद के लिए 'करण' शब्द का विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया है। 'करण' का अर्थ है क्रिया; अथवा यथासम्भव अन्य अर्थ का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। करण नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेद से छः प्रकार का है।[3]

'भंते' अर्थात् 'भदन्त' की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'भदन्त' शब्द कल्याण और सुखार्थक है तथा निर्वाण का कारण है। सुख और कल्याण का साधन गुरु है। इसी प्रकार इस शब्द की और भी अनेक प्रकार की व्याख्याएँ की गई हैं।[4]

आगे की गाथाओं में सामायिक, सर्व, सावद्य, योग, प्रत्याख्यान, यावज्जीव, त्रिविध, करण, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, व्युत्सर्जन आदि पदों का सविस्तार व्याख्यान किया गया है।[5] प्रसंगवशात् संग्रहादि छः नयों की विशेष व्याख्या भी की गई है।[6] अन्तिम गाथा में भाष्यकार आचार्य जिनभद्र इस भाष्य को सुनने से जिस फल की प्राप्ति होती है उसकी ओर निर्देश करते हुए कहते हैं कि सर्वानुयोगमूलरूप इस सामायिक के भाष्य को सुनने से परिकर्मित मतियुक्त शिष्य शेष शास्त्रानुयोग के योग्य हो जाता है।[7]

विशेषावश्यकभाष्य के इस विस्तृत परिचय से स्पष्ट है कि आचार्य जिनभद्र ने इस एक ग्रंथ मे जैन विचारधाराओं का कितनी विलक्षणता से संग्रह किया है। आचार्य की तर्कशक्ति, अभिव्यक्तिकुशलता, प्रतिपादनप्रवणता एवं व्याख्यान-विदग्धता का परिचय प्राप्त करने के लिए यह एक ग्रंथ ही पर्याप्त है। वास्तव मे विशेषावश्यकभाष्य जैनज्ञानमहोदधि है। जैन आचार और विचार के मूलभूत समस्त तत्त्व इस ग्रंथ में संगृहीत हैं। दर्शन के गहनतम विषय से लेकर चारित्र की सूक्ष्मतम प्रक्रिया तक के सम्बन्ध मे इसमें पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

१. गा० ३१८९–३२००. २. गा० ३२३४. ३. गा० ३२९९–३४३८.
४. गा० ३४३९–३४७६. ५. गा० ३४७७–३५८३. ६. गा० ३५८४–३६०१.
७. गा० ३६०३.

तृतीय प्रकरण

जीतकल्पभाष्य

आचार्य जिनभद्र का दूसरा भाष्य जीतकल्प सूत्र पर है। यह सूत्र आचार्य की स्वयं की ही कृति है। इसमें १०३ प्राकृत गाथाएँ हैं जिनमें जीतव्यवहार के आधार पर दिए जाने वाले प्रायश्चित्तों का संक्षिप्त वर्णन है। मोक्ष के हेतुभूत चारित्र के साथ प्रायश्चित्त का विशेषरूप से सम्बन्ध है क्योंकि चारित्र के दोषों की शुद्धि का मुख्य आधार प्रायश्चित्त ही है। ऐसी दशा में मुमुक्षु के लिए प्रायश्चित्त का ज्ञान आवश्यक है। मूल सूत्र में आचार्य ने प्रायश्चित्त के आलोचना आदि दस भेद गिनाए हैं तथा प्रत्येक प्रायश्चित्त के अपराधस्थानों का निर्देश किया है और यह बताया है कि किस अपराध के लिए कौनसा प्रायश्चित्त करना चाहिए। आचार्य ने यह बताया है कि अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त चौदहपूर्वधर के समय तक दिए जाते थे अर्थात् चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के समय तक ये प्रायश्चित्त प्रचलित थे। उसके बाद उनका विच्छेद हो गया।

जीतकल्पभाष्य[1] उपर्युक्त सूत्र पर २६०६ गाथाओं में लिखा गया स्वोपज्ञ भाष्य है। इस भाष्य में बृहत्कल्प-लघुभाष्य, व्यवहारभाष्य, पंचकल्पमहाभाष्य, पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रंथों की अनेक गाथाएँ अक्षरशः मिलती है।

इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए यह भी कहा जाता है कि प्रस्तुत भाष्यग्रंथ कल्पभाष्य आदि ग्रंथों की गाथाओं का संग्रहरूप ग्रंथ है।[2] जीतकल्प सूत्र के प्रणेता आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं, यह निर्विवाद है। जीतकल्पभाष्य के कर्ता कौन हैं, इस प्रश्न का समाधान करते हुए यह कहा गया है कि प्रस्तुत भाष्य में भाष्यकार ने किसी भी स्थान पर अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर भाष्यकार के नाम का ठीक-ठीक निर्णय किया जा सके।

---

१. संशोधक—मुनि पुण्यविजय; प्रकाशक—बबलचंद्र केशवलाल मोदी, हाजापटेल की पोल, अहमदाबाद, वि० सं० १९९४.

२. जीतकल्प सूत्र (स्वोपज्ञ भाष्यसहित) : प्रस्तावना, पृ० ४–५.

ऐसी स्थिति में प्रस्तुत भाष्य की निम्न गाथा के आधार पर कुछ निर्णय किया जा सकता है:—

> तिसमयहारादीणं, गाहाणऽट्ठण्ह वी सरूवं तु।
> वित्थरयो वण्णेज्जा, जह हेट्ठाऽवस्सए भणियं॥ ६०॥

इस गाथा के 'जह हेट्ठाऽऽवस्सए भणियं' इस पाठ की ओर ध्यान देने से सहज ही प्रतीत होता है कि यहाँ 'जह आवस्सए भणियं' इतना सा पाठ ही काफी होते हुए भाष्यकार ने 'हेट्ठा' शब्द और क्यों बढ़ाया? 'हेट्ठा' शब्द कोई पादपूर्तिरूप शब्द नहीं कि वैसा मानने से काम चल जाए। वास्तव मे ग्रंथकार 'हेट्ठा' और 'उवरिं' इन दो शब्दों को अनुक्रम से 'पूर्व' और 'अग्रे' अर्थ मे ही काम में लाते हैं; उदाहरणार्थ 'हेट्ठा भणियं' अर्थात् 'पूर्व भणितम्' तथा 'उवरिं वोच्छं' अर्थात् 'अग्रे वक्ष्ये'। इससे यह फलित होता है कि प्रस्तुत भाष्यकार ने 'तिसमयहार' अर्थात् 'जावइया तिसमया' (आवश्यकनिर्युक्ति, गा० ३०) इत्यादि आठ गाथाओं का विवरण पहले आवश्यक मे अर्थात् आवश्यकभाष्य मे विस्तार से दे दिया है। आवश्यकनिर्युक्ति के अन्तर्गत 'जावइया तिसमया' आदि गाथाओं का भाष्य लिखकर विस्तृत व्याख्यान करने वाला आचार्य जिनभद्र के सिवाय अन्य कोई नहीं है। इसलिए जीतकल्पभाष्य के प्रणेता आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ही होने चाहिए।[1]

प्रायश्चित्त का अर्थ :

सर्वप्रथम आचार्य ने 'प्रवचन' शब्द का निरुक्तार्थ करते हुए प्रवचन को नमस्कार किया है। इसके बाद दस प्रकार के प्रायश्चित्त की व्याख्या करने का संकल्प करते हुए 'प्रायश्चित्त' शब्द का निरुक्तार्थ किया है। 'प्रायश्चित्त' के प्राकृत मे दो रूप प्रचलित हैं: 'पायच्छित्त' और 'पच्छित्त'। इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो पाप का छेद करता है वह 'पायच्छित्त' है एव प्रायः जिससे चित्त शुद्ध होता है वह 'पच्छित्त' है।[2]

आगमव्यवहार :

सूत्र की प्रथम गाथा में प्रयुक्त 'जीतव्यवहार' का व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार ने आगमादि व्यवहारपञ्चक—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत-

---

१. वही, पृ० ५–६.   २. गा० १–५.

व्यवहार का विवेचन किया है। आगमव्यवहार के दो भेद हैं : प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद हैं : इन्द्रियज और नोइन्द्रियज। इन्द्रियप्रत्यक्ष को पाँच विषयों के रूप में समझना चाहिए। 'अक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य ने 'अक्ष' के अर्थ के सम्बन्ध में अन्य मत का निर्देश एवं प्रतिषेध किया है। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष आगम तीन प्रकार का है : अवधि, मनःपर्यय और केवल। अवधिज्ञान या तो भवप्रत्ययिक होता है या गुणप्रत्ययिक। अवधि के छः भेद हैं : अनुगामिक, अनानुगामिक, वर्धमानक, हीयमानक, प्रतिपाती और अप्रतिपाती। द्रव्यावधि, क्षेत्रावधि, कालावधि और भावावधि की दृष्टि से अवधिज्ञान का विचार किया जाता है। मनःपर्यय के दो भेद हैं : ऋजुमति और विपुलमति। इसका भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावपूर्वक विचार किया जाता है। केवलज्ञान सर्वावरण का क्षय होने पर उत्पन्न होता है। भूत, वर्तमान और भविष्य का कोई ऐसा क्षण नहीं है जिसका केवली को प्रत्यक्ष न हो। क्षयोपशमजन्य मति आदि ज्ञानों का केवली में अभाव है क्योंकि उसका ज्ञान सर्वथा क्षयजन्य है।[1]

श्रुतधर आगमतः परोक्ष व्यवहारी हैं। चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर, नवपूर्वधर, गन्धहस्ती आदि इसी कोटि के हैं।[2]

प्रायश्चित्त के स्थान :

इसके बाद भाष्यकार अपने मूल विषय प्रायश्चित्त का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। प्रायश्चित्त की न्यूनता-अधिकता सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के बाद प्रायश्चित्त-दान के योग्य व्यक्ति का स्वरूप बताते हुए आलोचना के श्रवण का क्रम बताते हैं।[3] प्रायश्चित्त के अठारह, बत्तीस तथा छत्तीस स्थानों का विचार किया है। बत्तीस स्थानों के लिए आठ गणिसम्पदाओं का विवेचन किया है। आठ संपदाओं के प्रत्येक के चार-चार भेद किए गए हैं : १. चार प्रकार की आचारसम्पदा, २. चार प्रकार की श्रुतसम्पदा, ३. चार प्रकार की शरीरसम्पदा, ४. चार प्रकार की वचनसम्पदा, ५. चार प्रकार की वाचनासम्पदा, ६. चार प्रकार की मतिसम्पदा, ७. चार प्रकार की प्रयोगमतिसम्पदा, ८. चार प्रकार की संग्रहपरिज्ञासम्पदा। इनमें चार प्रकार की विनयप्रतिपत्ति और मिला देने से प्रायश्चित्त के छत्तीस स्थान बन जाते हैं। विनयप्रतिपत्ति के चार भेद इस प्रकार

१. गा० ७–१०९. २. गा० ११०–६.
३. गा० ११७–१४८.

हैं : आचारविनय, श्रुतविनय, विक्षेपणविनय और दोषनिर्घातविनय। इनमें से प्रत्येक के पुनः चार भेद हैं।[1]

प्रायश्चित्तदाता :

प्रायश्चित्त देनेवाले योग्य ज्ञानियों का अभाव होने पर प्रायश्चित्त कैसे सम्भव हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रायश्चित्त देने की योग्यता वाले महापुरुष केवली तथा चौदहपूर्वधर इस युग में नहीं हैं, यह बात सच है किन्तु प्रायश्चित्त की विधि का मूल प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु मे है और उसके आधार पर कल्प, प्रकल्प तथा व्यवहार ग्रन्थो का निर्माण हुआ है।[2] ये ग्रन्थ तथा इनके ज्ञाता आज भी विद्यमान हैं। अतः प्रायश्चित्त का व्यवहार इन ग्रन्थों के आधार पर सरलतापूर्वक किया जा सकता है और इस प्रकार चारित्र की शुद्धि हो सकती है।[3]

प्रायश्चित्तदान की सापेक्षता :

दस प्रकार के प्रायश्चित्त का नामोल्लेख करने के बाद प्रायश्चित्तदान का विभाग किया गया है तथा प्रायश्चित्तविधाताओं का सद्भाव सिद्ध किया गया है।[4] सापेक्ष प्रायश्चित्तदान के लाभ और निरपेक्ष प्रायश्चित्तदान की हानि की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि प्रायश्चित्तदान में दाता को दयाभाव रखना चाहिए तथा जिसे प्रायश्चित्त देना हो उसकी शक्ति की ओर भी ध्यान रखना चाहिए। ऐसा होने पर ही प्रायश्चित्त का प्रयोजन सिद्ध होता है तथा प्रायश्चित्त करने वाले की संयम मे दृढ़ता हो सकती है। ऐसा न करने से प्रायश्चित्त करने वाले में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और वह संयम में स्थिर होने के बजाय संयम का सर्वथा त्याग ही कर देता है। प्रायश्चित्त देने में इतना अधिक दयाभाव भी नहीं रखना चाहिए कि प्रायश्चित्त का विधान ही भंग हो जाए और दोषों की परम्परा इतनी अधिक बढ़ जाए कि चारित्रशुद्धि हो ही न सके। बिना प्रायश्चित्त के चारित्र स्थिर नहीं रह सकता। चारित्र के अभाव मे तीर्थ चारित्रशून्य हो जाता है। चारित्रशून्यता से निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। निर्वाणलाभ का अभाव हो जाने पर कोई दीक्षित भी नहीं होगा। दीक्षित साधुओं के अभाव में तीर्थ भी नहीं बनेगा। इस प्रकार प्रायश्चित्त के अभाव मे तीर्थ टिक ही नहीं सकता। इसलिए जहाँ तक तीर्थ की स्थिति है वहाँ तक प्रायश्चित्त की परम्परा चलनी ही चाहिए।[5]

---

१. गा० १४९–२४१. २. कल्प अर्थात् बृहत्कल्प; प्रकल्प अर्थात् निशीथ। ३. गा० २५५–२७३. ४. गा० २७४–२९९. ५. गा० ३००–३१८.

भक्तपरिज्ञा, इंगिनीमरण व पादपोपगमन :

प्रायश्चित्त के विधान का विशेष समर्थन करते हुए भाष्यकार ने प्रसंगवशात् भक्तपरिज्ञा, इंगिनीमरण तथा पादपोपगमन–इन तीन प्रकार की मारणांतिक साधनाओंका विस्तृत वर्णन किया है। भक्तपरिज्ञा की विधि की ओर संकेत करते हुए निर्व्याघात और सव्याघातरूपी सपराक्रमभक्तपरिज्ञा के स्वरूप का निम्न द्वारों से विचार किया है : १. गणिनिस्सरण, २. श्रिति, ३. संलेखना, ४. अगीत, ५. असंविग्न, ६. एक, ७. आभोग, ८. अन्य, ९. अनापृच्छा, १०. परीक्षा, ११. आलोचना, १२. स्थान—वसति, १३. निर्यापक, १४. द्रव्यदापना, १५. हानि, १६. अपरितान्त, १७. निर्जरा, १८. संस्तारक, १९. उद्वर्तना, २०. स्मारणा, २१. कवच, २२. चिह्नकरण, २३. यतना। इसी प्रकार निर्व्याघात और सव्याघातरूपी अपराक्रमभक्तपरिज्ञा, इंगिनीमरण और पादपोपगमन के स्वरूप का विवेचन किया गया है।[1] यहाँ तक आगमव्यवहार का अधिकार है।

श्रुतादिव्यवहार :

पूर्वनिर्दिष्ट आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार में से आगम व्यवहार का व्याख्यान समाप्त करके आचार्य ने श्रुतव्यवहार का संक्षिप्त विवेचन किया है। आज्ञाव्यवहार का व्याख्यान करते हुए अपरिणत, अतिपरिणत और परिणत शिष्यों की परीक्षा के स्वरूप की ओर निर्देश किया है। इसके बाद दर्प के दस तथा कल्पना के चौबीस भेदों का सम्यग् विवेचन किया है। इसी प्रकार धारणाव्यवहार का भी विचार किया गया है।[2]

जीतव्यवहार :

जो व्यवहार परंपरा से प्राप्त हो, श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा अनुमत हो, जिसका बहुश्रुतों ने अनेक बार सेवन किया हो तथा जिसका उनके द्वारा निवारण न किया गया हो वह जीतव्यवहार कहलाता है। जिसका आधार आगम, श्रुत, आज्ञा अथवा धारणा न हो वह जीतव्यवहार है। उसका मूल आधार आगमादि न होकर केवल परंपरा ही होती है। जिस जीतव्यवहार से चारित्र की शुद्धि होती हो उसी का आचरण करना चाहिए। जो जीतव्यवहार चारित्र-शुद्धि का कारण न हो उसका आचरण नहीं करना चाहिए। संभव है कि ऐसा भी कोई

१. गा० ३२२–५५९. २. गा० ५६०–६७४.

जीतव्यवहार हो जिसका आचरण किसी एक ही व्यक्ति ने किया हो फिर भी यदि वह व्यक्ति संवेगपरायण हो, दान्त हो तथा वह आचार शुद्धिकर हो तो उस जीतव्यवहार का अनुकरण करना चाहिए।[1] इसके बाद भाष्यकार ने व्यवहार के स्वरूप का उपसंहार किया है।[2] यहाँ तक मूल सूत्र की प्रथम गाथा का व्याख्यान है।

प्रायश्चित्त के भेद :

प्रायश्चित्त का माहात्म्य वर्णन करने के बाद आचार्य ने उसके दस भेदों की गणना व उनका संक्षिप्त स्वरूप-वर्णन किया है। प्रायश्चित्त के दस भेद ये हैं: १. *आलोचना*, २. *प्रतिक्रमण*, ३. *मिश्र*, ४. *विवेक*, ५. *व्युत्सर्ग*, ६. *तप*, ७. *छेद*, ८. *मूल*, ९. *अनवस्थाप्य*, १०. *पारांचिक*।[3]

आलोचना :

प्रथम प्रायश्चित्त आलोचना के अपराध-स्थानों की ओर संक्षेप मे संकेत करते हुए इसी प्रसंग मे 'छद्म' का अर्थ बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि छद्म कर्म को कहते हैं। वह कर्म चार प्रकार का है : ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। जब तक प्राणी इन चार प्रकार के कर्मों के बन्धन से मुक्त नहीं होता तब तक वह छद्मस्थ कहलाता है। आलोचना आदि प्रायश्चित्तों का विधान छद्मस्थो के लिए ही है।[4]

प्रतिक्रमण :

प्रतिक्रमण के अपराध स्थानों का वर्णन करते हुए गुप्ति और समिति का भी सोदाहरण वर्णन किया गया है। मनोगुप्ति के लिए जिनदास का उदाहरण दिया गया है। इसी प्रकार वचनगुप्ति और कायगुप्ति के लिए भी दो अन्य उदाहरण दिए गए हैं। समितियों का स्वरूप समझाते हुए ईर्यासमिति के लिए अर्हन्नक का उदाहरण दिया गया है। भाषासमिति का स्वरूप समझाने के लिए एक साधु का दृष्टान्त उपस्थित किया गया है। वसुदेव के जीव नंदिवर्धन का उदाहरण देकर एषणासमिति का स्वरूप बताया गया है। इसी प्रकार आदान-निक्षेपणासमिति के लिए भी एक उदाहरण दिया गया है। परिष्ठापनिकासमिति का स्वरूप समझाने के लिए धर्मरुचि का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है।[5] इस

---

१. गा० ६७५–६९४. २. गा० ६९५–७०५. ३. गा० ७०६–७३०.
४. गा० ७३५. ५. गा० ७८४–८६०.

प्रसंग पर भाष्यकार ने निम्न विषयों की चर्चा भी की है : गुरु की आशातना और उसका स्वरूप, गुरु और शिष्य का भाषा-प्रयोग, गुरु-विनय का भंग और उसका स्वरूप, विनय-भंग के सात प्रकार, इच्छादि दस प्रकार की अकरणता, लघुमृषावाद व उसका स्वरूप।[1]

प्रतिक्रमण से सम्बन्धित अविधि, कास, जृम्भा, क्षुत, वात, असंक्लिष्टकर्म, कन्दर्प, हास्य, विकथा, कषाय, विषयानुषंग, स्खलना, सहसा, अनाभोग, आभोग, स्नेह, भय, शोक और बाकुशिक अपराध-स्थानों का मूल सूत्र का अनुसरण करते हुए व्याख्यान किया गया है।[2]

मिश्र प्रायश्चित्त :

इस प्रायश्चित्त में आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों का समावेश है। इसमें आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों के संयुक्त अपराध-स्थानों का विवेचन किया गया है। संभ्रम, भय, आपत्, सहसा, अनाभोग, अनात्मवशता, दुश्चिंतित, दुर्भाषित, दुश्चेष्टित आदि अपराध-स्थान मिश्र कोटि के हैं। भाष्यकार ने इनकी विशेष व्याख्या की है।[3]

विवेक :

विवेक-प्रायश्चित्त के अपराध-स्थानों का विवेचन करते हुए आचार्य ने पिण्ड, उपधि, शय्या, कृतयोगी, कालातीत, अध्वातीत, शठ, अशठ, उद्गत, अनुद्गत, कारणगृहीत आदि पदों की व्याख्या की है।[4] व्याख्या बहुत संक्षिप्त एवं सारग्राही है। इसके बाद व्युत्सर्ग-प्रायश्चित्त का व्याख्यान प्रारंभ होता है।

व्युत्सर्ग :

पंचम प्रायश्चित्त व्युत्सर्ग के अपराध-स्थानों का विश्लेषण करने के लिए भाष्यकार ने मूल सूत्र में निर्दिष्ट गमन, आगमन, विहार, श्रुत, सावद्यस्वप्न, नाव, नदी, सन्तार आदि पदों का संक्षिप्त व्याख्यान किया है।[5] इसके बाद तपः-प्रायश्चित्त के अपराध-स्थानों की व्याख्या प्रारंभ होती है।

तप :

तप की चर्चा के प्रारंभ में ज्ञान और दर्शन के आठ-आठ अतिचारों का विचार किया गया है। ज्ञान के आठ अतिचार निम्नोक्त आठ विषयों से सम्बन्धित

---

१. गा० ८९१–९०५. २. गा० ९०६–९३२. ३. गा० ९३३–९५४.
४. गा० ९५५–९७१. ५. गा० ९७२–९९७.

हैं : १. काल, १. विनय, ३. बहुमान, ४. उपधान, ५. अनिह्नवन, ६. व्यञ्जन, ७. अर्थ, ८. तदुभय। दर्शन के अतिचारों का सम्बन्ध निम्न आठ विषयों से है : १. निःशंकित, २. निष्कांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढदृष्टि, ५. उपबृंहण, ६. स्थिरीकरण, ७. वात्सल्य, ८. प्रभावना।[1] इसके बाद छः व्रतरूप चारित्र के अतिचारों का वर्णन किया गया है।[2] चारित्रोद्गम का स्वरूप बताते हुए उद्गम के सोलह दोषों का भी विवेचन किया गया है।[3] ये सोलह दोष इस प्रकार हैं : १. आधाकर्म, २. औद्देशिक, ३. पूतिकर्म, ४. मिश्रजात, ५. स्थापना, ६. प्राभृतिका, ७. प्रादुष्करण, ८. क्रीत, ९. प्रामित्य, १०. परावर्तित, ११. अभ्याहृत, १२. उद्भिन्न, १३. मालाहृत, १४. आच्छेद्य, १५. अनिसृष्ट, १६. अध्यवपूरक।[4] उद्गम के बाद उत्पादना का स्वरूप बताया गया है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार प्रकार के निक्षेपों द्वारा उत्पादना का विश्लेषण किया गया है।[5] इसके भी सोलह दोष हैं : १. धात्रीदोष, २. दूतीदोष, ३. निमित्तदोष, ४. आजीवदोष, ५. वनीपकदोष, ६. चिकित्सादोष, ७. क्रोधदोष, ८. मानदोष, ९. मायादोष, १०. लोभदोष, ११. संस्तवदोष, १२. विद्यादोष, १३. मंत्रदोष, १४. चूर्णदोष, १५. योगदोष, १६. मूलकर्मदोष।[6] इन दोषों का भाष्यकार ने बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। क्रोध के लिए क्षपक का, मान के लिए क्षुल्लक का, माया के लिए आषाढभूति का, लोभ के लिए सिंहकेसर नामक मोदक की इच्छा रखने वाले क्षपक का, विद्या के लिए भिक्षु-उपासक अर्थात् बौद्ध-उपासक का, मंत्र के लिए पादलिप्त और मुरुण्डराज का, चूर्ण के लिए दो क्षुल्लकों का और योग के लिए ब्रह्मद्वैपिक तापसों का उदाहरण दिया है।[7]

ग्रहणैषणा का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने ग्रहणैषणा के दस प्रकारों का भी उल्लेख किया है। जिन दस पदोंसे ग्रहणैषणा की शुद्धि होनी चाहिए उनके नाम ये है : शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छर्दित।[8] इन दस प्रकार के दोषों का विशेष वर्णन करने के बाद ग्रासैषणा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसके लिए संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम,

---

१. गा० ९९८–१०६८. २. गा० १०६९–१०८६, ३. गा० १०९८–१२८६. ४. गा० १०९५–७. ५. गा० १३१३–८. ६. गा० १३१९–१३२०. ७. गा० १३९५–१४६७. ८. गा० १४७६.

कारण आदि दोषों के वर्जन का विधान किया गया है।[1] इसके बाद पिण्डविशुद्धि विषयक अतिचारों से सम्बन्धित प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है।[2]

तपःप्रायश्चित्त से सम्बन्धित अन्य सूत्र-गाथाओंकी विवेचना करते हुए भाष्यकार ने धावन, डेपन, संघर्ष, गमन, क्रीडा, कुधावना, उत्कृष्टि, गीत, सेण्टिका, जीवरुत आदि पदों का व्याख्यान किया है।[3] तपःप्रायश्चित्त की जघन्य, मध्यम, तथा उत्कृष्ट उपधियों का आश्रय लेते हुए विच्युत, विस्मृत, अप्रेक्षित, अनिवेदन आदि पदों की व्याख्या की है। इसी प्रकार कालातीतकरण, अध्वातीतकरण, तत्परिभोग, पानासंवरण, भूमित्रिकाप्रेक्षण, कायोत्सर्गभंग, कायोत्सर्ग अकरण, वेगवन्दना, रात्र्युत्सर्ग, दिवसशयन, चिरकषाय, लशुन, तर्णादि-बन्धन, पुस्तक-पञ्चक, तृणपंचक, दूष्यपञ्चक, स्थापनाकुल आदि सम्बन्धी दोष, दर्प, पंचेन्द्रिय-व्यपरोपण, संक्लिष्टकर्म, दीर्घाध्वकल्प, ग्लानकल्प, छेद, अश्रद्धान आदि अनेक पदों का आचार्य ने सम्यक् विवेचन किया है।[4]

सामान्य तथा विशेष आपत्ति की दृष्टि से तपःप्रायश्चित्त का क्या स्वरूप है, इसका विश्लेषण करने के बाद भाष्यकार ने तपोदान का विचार किया है। द्रव्य का क्या स्वरूप है और उस दृष्टि से तपोदान की क्या स्थिति है, क्षेत्र के स्वरूप की दृष्टि से तपोदान का क्या अर्थ है, काल के स्वरूप को दृष्टि मे रखते हुए तपोदान का किस प्रकार वर्णन किया जा सकता है, भाव के स्वरूप की दृष्टि से तपोदान का रूप क्या हो सकता है—इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का समाधान भाष्यकार ने बहुत संक्षिप्त एवं सरल ढंग से किया है।[5] इसी प्रकार पुरुष की दृष्टि से भी तपोदान का विचार किया गया है। इस प्रसंग पर गीतार्थ, अगीतार्थ, सहनशील, असहनशील, शठ, अशठ, परिणामी, अपरिणामी, अतिपरिणामी, धृतिसंहननोपेत, हीन, आत्मतर, परतर, उभयतर, नोभयतर, अन्यतर आदि अनेक प्रकार के पुरुषों का स्वरूप-वर्णन किया गया है।[6] कल्पस्थित और अकल्पस्थित पुरुषों का वर्णन करते हुए आचार्य ने 'स्थिति' शब्द के निम्न पर्याय दिए हैं : प्रतिष्ठा, स्थापना, स्थविति, संस्थिति, स्थिति, अवस्थान, अवस्था।[7] कल्पस्थिति छः प्रकार की है : सामायिक, छेद, निर्विशमान, निर्विष्ट, जिनकल्प और स्थविरकल्प।[8] कल्प दस प्रकार का है : १. आचेलक्य, २. औद्देशिक, ३. शय्यातर, ४. राजपिण्ड, ५. कृति-

१. गा० १६०५–१६७०. २. गा० १६८०–१७१९ ३. गा० १७२०–२४.
४. गा० १७२५–१७९४. ५. गा० १७९५–१९३७. ६. गा० १९३८–१९६४.
७. गा० १९६६. ८. गा० १९६७.

कर्म, ६. व्रत, ७. ज्येष्ठ, ८. प्रतिक्रमण, ९. मास, १०. पर्युषणा। भाष्यकार ने इन कल्पों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इसके साथ ही परिहारकल्प, जिनकल्प, स्थविरकल्प आदि के स्वरूप का भी वर्णन किया है। इसके बाद परिणत, अपरिणत, कृतयोगी, अकृतयोगी, तरमाण, अतरमाण आदि पुरुषों का स्वरूप बताते हुए कल्पस्थित आदि पुरुषों की दृष्टि से तपोदान का विभाग किया गया है।[१] आगे मूल सूत्र के पदों का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने जीतयन्त्र की विधि बताई है एवं प्रतिसेवना का स्वरूप बताते हुए उस दृष्टि से तपोदान का विभाग करके तपःप्रायश्चित्त का सुविस्तृत विवेचन समाप्त किया है।[२]

छेद और मूल :

छेदप्रायश्चित्त के अपराध-स्थानों के वर्णन के प्रसंग से उत्कृष्ट तपोभूमि की ओर भी निर्देश किया गया है। आदि जिन की उत्कृष्ट तपोभूमि एक वर्ष की होती है, मध्यम जिनों की उत्कृष्ट तपोभूमि आठ मास की होती है तथा अन्तिम जिन की तपोभूमि का समय छः मास है।[३] इसके बाद मूलप्रायश्चित्त के अपराध-स्थानों की ओर संकेत किया गया है।[४]

अनवस्थाप्य :

अनवस्थाप्य-प्रायश्चित्त के अपराध-स्थानों का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य ने हस्तताल, हस्तालंब, हस्तादान आदि का स्वरूप बताया है तथा अवसन्नाचार्य का दृष्टान्त देकर हस्तादान के स्वरूप की पुष्टि की है।[५] इसके बाद अंतिम प्रायश्चित्त पाराञ्चिक का वर्णन प्रारम्भ होता है।

पारांचिक :

पारांचिक-प्रायश्चित्त का स्वरूप बताते समय आचार्य ने तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य आदि की आशातना से सम्बन्ध रखने वाले पाराञ्चिक का निर्देश किया है। साथ ही कषायदुष्ट, विषयदुष्ट, स्त्यानर्द्धिप्रमत्त और अन्योन्य-कुर्वाण-पारांचिक का स्वरूप बताते हुए लिंग, क्षेत्र और काल की दृष्टि से पारांचिक का विवेचन किया है।[६] इसके बाद इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान खींचा है कि अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक-प्रायश्चित्त का सद्भाव चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु तक ही रहा है।[७] जीतकल्प का उपसंहार करते हुए जीतकल्प सूत्र के अध्ययन का

---

१. गा० १९६८–२१९५. २. गा० २१९६–२२७९. ३. गा० २२८५–६.
४. गा० २२८८–२३००. ५. गा० २३०१–२४१०. ६. गा० २४६३–२५८५.
७. गा० २५८६–७.

अधिकारी कौन है, इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो सूत्र और अर्थ दोनों से प्राप्त अर्थात् युक्त है वही जीतकल्प का योग्य अधिकारी है, शेष को उसके अयोग्य समझना चाहिए।[१] जीतकल्प के महत्त्व एवं आधार की ओर एक बार पुनः निर्देश करते हुए भाष्यकार ने भाष्य की समाप्ति की है।[२] आचार के नियमों और विशेषकर चारित्र के दोषों की शुद्धि का प्रायश्चित्त द्वारा विधान करने वाले जीतकल्प सूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य के इस संक्षिप्त परिचय से उसकी शैली एवं सामग्री का अनुमान लगाना कठिन नहीं है। जीतकल्पभाष्य आचार्य जिनभद्र की जैन आचारशास्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण कृति है, इसमें कोई सदेह नहीं।

१. गा० २५९४. २. गा० २६००-६.

चतुर्थ प्रकरण

बृहत्कल्प-लघुभाष्य

बृहत्कल्प-लघुभाष्य[1] के प्रणेता संघदासगणि क्षमाश्रमण हैं। इसमें बृहत्कल्प सूत्र के पदों का सुविस्तृत विवेचन किया गया है। लघुभाष्य होते हुए भी इसकी गाथा-संख्या ६४९० है। यह छः उद्देशों में विभक्त है। इनके अतिरिक्त भाष्य के प्रारंभ में एक विस्तृत पीठिका भी है जिसकी गाथा-संख्या ८०५ है। इस भाष्य में प्राचीन भारत की कुछ महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सामग्री भी सुरक्षित है। डा० मोतीचन्द्र ने अपनी पुस्तक सार्थवाह (प्राचीन भारत की पथ-पद्धति)[2] में इस भाष्य की कुछ सामग्री का 'यात्री और सार्थवाह' का परिचय देने की दृष्टि से उपयोग किया है। इसी प्रकार अन्य दृष्टियों से भी इस सामग्री का उपयोग हो सकता है। भाष्य के आगे दिए जानेवाले विस्तृत परिचय से इस बात का पता लग सकेगा कि इसमें प्राचीन भारतीय संस्कृति के इतिहास का कितना मसाला भरा पड़ा है।

पीठिका :

विशेषावश्यक-भाष्य की ही भाँति इस भाष्य में भी प्रारंभिक गाथाओं में मंगलवाद की चर्चा की गई है। 'मंगल' पद के निक्षेप, मंगलाचरण का प्रयोजन, आदि, मध्य और अंत में मंगल करने की विधि आदि विषयों की चर्चा करने के बाद नन्दी—ज्ञानपंचक का विवेचन किया गया है। श्रुतज्ञान के प्रसंग से सम्यक्त्व-प्राप्ति के क्रम का विचार करते हुए औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप बताया गया है।[3]

---

१. निर्युक्ति-लघुभाष्य-वृत्युपेत बृहत्कल्पसूत्र (६ भाग): सम्पादक—मुनि चतुरविजय एवं पुण्यविजय; प्रकाशक—श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३३, १९३६, १९३६, १९३८, १९३८, १९४२.

२. सार्थवाह (प्राचीन भारत की पथ-पद्धति): प्रकाशक—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, सन् १९५३.

३. गा० ४–१३१.

अनुयोग का स्वरूप बताते हुए निक्षेप आदि बारह प्रकार के द्वारों से अनुयोग का विचार किया गया है। उनके नाम ये हैं : १. निक्षेप, २. एकार्थिक, ३. निरुक्त, ४. विधि, ५. प्रवृत्ति, ६. केन, ७. कस्य, ८. अनुयोगद्वार, ९. भेद, १०. लक्षण, ११. तदर्ह, १२. पर्षद्।[1]

कल्प-व्यवहार के अनुयोग के लिए सुयोग्य मानी जानेवाली छत्रांतिक पर्षदा के गुणों का बहुश्रुतद्वार, चिरप्रव्रजितद्वार और कल्पिकद्वार—इन तीन द्वारों से विचार किया गया है। कल्पिकद्वार का आचार्य ने निम्न उपद्वारों से विवेचन किया है : सूत्रकल्पिकद्वार, अर्थकल्पिकद्वार, तदुभयकल्पिकद्वार, उपस्थापना-कल्पिकद्वार, विचारकल्पिकद्वार, लेपकल्पिकद्वार, पिण्डकल्पिकद्वार, शय्याकल्पिक-द्वार, वस्त्रकल्पिकद्वार, पात्रकल्पिकद्वार, अवग्रहकल्पिकद्वार, विहारकल्पिकद्वार, उत्सारकल्पिकद्वार, अचंचलद्वार, अवस्थितद्वार, मेधावीद्वार, अपरिस्रावीद्वार, यश्चविद्वान्द्वार, पत्तद्वार, अनुज्ञातद्वार और परिणामकद्वार। इनमें से विचार-कल्पिकद्वार का निरूपण करते हुए आचार्य ने विचारभूमि अर्थात् स्थण्डिलभूमि का सविस्तर निरूपण किया है। इस निरूपण में निम्न द्वारों का आधार लिया गया है : भेद, शोधि, अपाय, वर्जना, अनुज्ञा, कारण, यतना।[2] शय्याकल्पिक-द्वार का रक्षणकल्पिक और ग्रहणकल्पिक की दृष्टि से विचार किया है। इसी प्रकार अन्य द्वारों का भी विविध दृष्टियों से विवेचन किया गया है। यत्र-तत्र दृष्टान्तों का उपयोग भी हुआ है। उत्सारकल्पिकद्वार के योगविराधना दोष को समझाने के लिए घण्टाशृगाल का दृष्टान्त दिया गया है। परिणामकद्वार में परिणामक, अपरिणामक आदि शिष्यों की परीक्षा के लिए आम्र, वृक्ष, बीज आदि के दृष्टान्त दिए गए हैं।[3] छेदसूत्रों (बृहत्कल्पादि) के अर्थश्रवण की विधि की ओर संकेत करते हुए परिणामकद्वार के उपसंहार के साथ पीठिका की समाप्ति की गई है।[4]

प्रथम उद्देश—प्रलम्बसूत्र :

पीठिका के बाद भाष्यकार प्रत्येक मूल सूत्र का व्याख्यान प्रारंभ करते हैं। प्रथम उद्देश में प्रलम्बप्रकृत, मासकल्पप्रकृत आदि सूत्रों का समावेश है। प्रथम प्रलम्बसूत्र की निम्न द्वारों से व्याख्या की गई है : आदिनकारद्वार, ग्रन्थद्वार, आमद्वार, तालद्वार, प्रलम्बद्वार, भिन्नद्वार। ताल, तल और प्रलम्ब का अर्थ इस प्रकार है : तल वृक्षसम्बन्धी फल को ताल कहते हैं; तदाधारभूत वृक्ष का नाम

१. गा० १४९–३९९. २. गा० ४१७–४६९. ३. गा० ४००–८०२. ४. गा० ८०३–५.

तल है; उसके मूल को प्रलम्ब कहते हैं। प्रलम्ब शब्द से यहाँ मूलप्रलम्ब का ग्रहण करना चाहिए।[1]

प्रलम्बग्रहणसम्बन्धी प्रायश्चित्तों की ओर संकेत करते हुए तत्रप्रलम्बग्रहण अर्थात् जहाँ पर ताड़ आदि वृक्ष हों वहाँ जाकर गिरे हुए अचित्त प्रलम्बादि का ग्रहण करते समय जिन दोषों की संभावना रहती है उनका स्वरूप बताया गया है। इसी प्रकार सचित्त प्रलम्बादि से सम्बन्धित बातों की ओर भी निर्देश किया गया है। देव, मनुष्य तथा तिर्यंच के अधिकार में रहे हुए प्रलम्बादि का स्वरूप, तद्ग्रहणदोष आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।[2] प्रलम्बादि का ग्रहण करने से लगनेवाले आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और आत्मसंयमविराधना दोषों का विस्तृत वर्णन करते हुए आचार्य के अज्ञान और व्यसनों की ओर संकेत किया गया है।[3] गीतार्थ के विशिष्ट गुणों का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने गीतार्थ को प्रायश्चित्त न लगने के कारणों की मीमांसा की है। गीतार्थ की केवली के साथ तुलना करते हुए श्रुतकेवली के वृद्धि-हानि के षट्स्थानों की ओर संकेत किया है।[4]

द्वितीय प्रलम्बसूत्र के व्याख्यान में निम्न विषयों का समावेश किया गया है: निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों के लिए टूटे हुए ताल प्रलम्ब के ग्रहण से सम्बन्ध रखनेवाले अपवाद, निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के देशान्तर-गमन के कारण और उसकी विधि, रोग और आतंक का भेद, रुग्णावस्था के लिए विधि-विधान, वैद्य और उनके आठ प्रकार।[5]

शेष प्रलम्बसूत्रों का विवेचन निम्न विषयों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है: पक्वतालप्रलम्बग्रहण विषयक निषेध, 'पक्व' पद के निक्षेप, 'भिन्न' और 'अभिन्न' पदों की व्याख्या, तद्विषयक षड्भंगी, तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त, अविधिभिन्न और विधिभिन्न तालप्रलम्ब, तत्सम्बन्धी गुण, दोष और प्रायश्चित्त, दुष्काल आदि में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के एक दूसरे के अवगृहीत क्षेत्र में रहने की विधि, तत्सम्बन्धी १४४ भंग और तद्विषयक प्रायश्चित्त।[6]

मासकल्पप्रकृतसूत्र:

मासकल्पविषयक विवेचन प्रारंभ करते समय सर्वप्रथम आचार्य ने प्रलम्ब-प्रकृत और मासकल्पप्रकृत के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण किया है। प्रथम सूत्र की

१. गा० ८५०. २. गा० ८६३–९२३. ३. गा० ९२४–९५०.
४. गा० ९५१–१०००. ५. गा० १००१–१०३३. ६. गा० १०३४–१०८५.

विस्तृत व्याख्या के लिए ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, संबाध, घोष, अंशिका, पुटभेदन, शंकर आदि पदों का विवेचन किया है।[1] ग्राम का नामग्राम, स्थापनाग्राम, द्रव्य ग्राम, भूतग्राम, आतोद्यग्राम, इन्द्रियग्राम, पितृग्राम, मातृग्राम और भावग्राम—इन नौ प्रकार के निक्षेपों से विचार किया गया है। द्रव्यग्राम बारह प्रकार का होता है : १. उत्तानकमल्लक, २. अवाङ्मुखमल्लक, ३. सपुटकमल्लक, ४. उत्तानकखंडमल्लक, ५. अवाङ्मुखखंडमल्लक, ६. सम्पुटखंडमल्लक, ७. भित्ति, ८. पडालि, ९. वलभी, १०. अक्षाटक, ११. रुचक, १२. काश्यपक।[2]

'मास' पद का विविध निक्षेपों से व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने नक्षत्र मास, चन्द्रमास, ऋतुमास, आदित्यमास और अभिवर्धितमास का स्वरूप बताया है। इसके बाद मासकल्पविहारियों का स्वरूप बताते हुए जिनकल्पिक, स्थविरकल्पिक आदि के स्वरूप का विस्तृत वर्णन किया है।

जिनकल्पिक :

जिनकल्पिक की दीक्षा की दृष्टि से धर्म, धर्मोपदेशक और धर्मोपदेश के योग्य भवसिद्धिकादि जीवों का स्वरूप बताते हुए धर्मोपदेश की विधि और उसके दोषों का निरूपण किया गया है। जिनकल्पिक की शिक्षा का वर्णन करते हुए शास्त्राभ्यास से होने वाले आत्महित, परिज्ञा, भावसंवर, संवेग, निष्कम्पता, तप, निर्जरा, परदेशकत्व आदि गुणों की ओर संकेत किया गया है।[3] जिनकल्पिक कब हो ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जिनकल्पिक जिन अर्थात् तीर्थंकर के समय में अथवा गणधर आदि केवलियों के समय में हो।[4] इस प्रसंग का विशेष विस्तार करते हुए आचार्य ने तीर्थंकर के समवसरण (धर्मसभा) का वर्णन किया है। इस वर्णन में निम्न विषयों का परिचय दिया गया है : वैमानिक, ज्योतिष्क, भवनपति, व्यंतर आदि देव एक साथ एकत्रित हुए हों उस समय समवसरण की भूमि साफ करना, सुगन्धित पानी, पुष्प आदि की वर्षा बरसाना, समवसरण के प्राकार, द्वार, पताका, ध्वज, तोरण, चित्र, चैत्यवृक्ष, पीठिका, देवच्छदक, आसन, छत्र, चामर आदि की रचना और व्यवस्था, इन्द्र आदि महर्द्धिक देवों का अकेले ही समवसरण की रचना करना, समवसरण में तीर्थंकरों का किस समय किस दिशा से किस प्रकार प्रवेश होता है,

---

१. गा० १०८८–१०९३. २. गा० १०९४–१११९.
३. गा० ११४३–११७१. ४. गा० ११७२.

वे किस दिशा में मुख रख कर उपदेश देते हैं, प्रमुख गणधर कहाँ बैठता है, अन्य दिशाओं में तीर्थंकरों के प्रतिबिम्ब कैसे होते हैं, गणधर, केवली, साधु, साध्वियाँ, देव, देवियाँ, पुरुष, स्त्रियाँ आदि समवसरण में कहाँ बैठते हैं अथवा खड़े रहते हैं, समवसरण मे एकत्रित देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि की मर्यादाएँ और पारस्परिक ईर्ष्या आदि का त्याग, तीर्थंकर की अमोघ देशना, धर्मोपदेश के प्रारम्भ मे तीर्थंकरों द्वारा तीर्थ को नमस्कार और उसके कारण, समवसरण मे श्रमणों के आगमन की दूरी, तीर्थंकर, गणधर, आहारकशरीरी, अनुत्तरदेव, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की रूप, संहनन, संस्थान, वर्ण, गति, सत्त्व, उच्छ्वास आदि शुभाशुभ प्रकृतियाँ, तीर्थंकर के रूप की सर्वोत्कृष्टता का कारण, श्रोताओं के संशयों का समाधान, तीर्थंकर की एकरूप भाषा का विभिन्न भाषा-भाषी श्रोताओं के लिए विभिन्न रूपों मे परिणमन, तीर्थंकर के आगमन से सम्बन्धित समाचारों को बताने वाले को चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की ओर से दिया जाने वाला प्रीतिदान, देवमाल्य, देवमाल्यानयन, गणधरोपदेश और उससे होनेवाला लाभ इत्यादि।[1] जिनकल्पिक की शास्त्रार्थविषयक शिक्षा की ओर निर्देश करते हुए भाष्यकार ने संज्ञासूत्र, स्वसमयसूत्र, परसमयसूत्र, उत्सर्गसूत्र, अपवादसूत्र, हीनाक्षरसूत्र, अधिकाक्षरसूत्र, जिनकल्पिकसूत्र, स्थविरकल्पिकसूत्र, आर्यासूत्र, कालसूत्र, वचनसूत्र आदि सूत्रों के विविध प्रकारों की ओर संकेत किया है।[2] इसके बाद जिनकल्पिक के अनियतवास, निष्पत्ति, उपसम्पदा, विहार, भावनाओं आदि पर प्रकाश डाला है। भावनाएँ दो प्रकार की है : अप्रशस्त और प्रशस्त। अप्रशस्त भावनाएँ पाँच हैं : कान्दर्पी भावना, देवकिल्बिषिकी भावना, आभियोगी भावना, आसुरी भावना और साम्मोही भावना। इसी प्रकार पाँच प्रशस्त भावनाएँ हैं : तपोभावना, सत्त्वभावना, सूत्रभावना, एकत्वभावना और बलभावना।[3] जिनकल्प ग्रहण करने की विधि, जिनकल्प ग्रहण करने वाले आचार्य द्वारा कल्प ग्रहण करते समय गच्छपालन के लिए नवीन आचार्य की स्थापना, गच्छ और नये आचार्य के लिए सूचनाएँ, गच्छ, संघ आदि से क्षमापना—इन सभी बातों का संक्षिप्त वर्णन करने के बाद जिनकल्पिक की सामाचारी पर प्रकाश डाला गया है।[4] निम्न लिखित २७ द्वारों से इस सामाचारी का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है : १. श्रुत, २. संहनन, ३. उपसर्ग, ४. आतंक, ५. वेदना, ६. कतिजन, ७. स्थण्डिल, ८. वसति, ९. कियच्चिर, १०. उच्चार,

१. गा० ११७६–१२१७. २. गा० १२१९–१२२२. ३. गा० १२२३–१३५७. ४. गा० १३५६–१३८१.

११. प्रस्रवण, १२. अवकाश, १३. तृणफलक, १४. संरक्षणता, १५. संस्थापनता, १६. प्राभृतिका, १७. अग्नि, १८ दीप, १९. अवधान, २०. वत्स्यथ (कतिजन), २१. भिक्षाचर्या, २२. पानक, २३. लेपालेप, २४. अलेप, २५. आचाम्ल, २६. प्रतिमा, २७. मासकल्प।[1] जिनकल्पिक की स्थिति का विचार करते हुए आचार्य ने निम्न द्वारों का आधार लिया है : क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिग्रह, प्रव्राजना, मुण्डापना, प्रायश्चित्त, कारण, निष्प्रतिकर्म और भक्त।[2] इसके बाद भाष्यकार परिहारविशुद्धिक और यथालन्दिक कल्प का स्वरूप बताते हैं तथा गच्छवासियों—स्थविरकल्पिकों की मासकल्पविषयक विधि का वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

स्थविरकल्पिक :

स्थविरकल्पिकों के लिए प्रव्रज्या, शिक्षा, अर्थग्रहण, अनियतवास और निष्पत्ति का वर्णन जिनकल्पिकों के ही समान समझ लेना चाहिए। विहार के लिए निम्न बातों का विचार किया गया है : विहार का समय और मर्यादा, विहार करने के लिए गच्छ के निवास और निर्वाहयोग्य क्षेत्र की जाच करने की विधि, क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए क्षेत्रप्रत्युपेक्षकों को भेजने के पहले उसके लिए योग्य सम्मति और सलाह लेने के लिए सम्पूर्ण गच्छ को बुलाने की विधि, उत्सर्ग और अपवाद की दृष्टि से योग्य-अयोग्य क्षेत्रप्रत्युपेक्षक, गच्छ के रहनेयोग्य क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए कितने जनों को जाना चाहिए और किस प्रकार जाना चाहिए, क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए जाने की विधि और क्षेत्र में परीक्षा करने योग्य बातें, क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए जाने वाले क्षेत्रप्रत्युपेक्षकों द्वारा विहार के मार्ग, मार्ग मे स्थण्डिलभूमि, पानी, विश्रामस्थान, भिक्षा, वसति, चोर आदि के उपद्रव आदि बातों की जाच, प्रतिलेखना करने योग्य क्षेत्र मे प्रवेश करने की विधि, भिक्षाचर्या द्वारा उस क्षेत्र के लोगों की मनोवृत्ति की परीक्षा, भिक्षा, औषध आदि की सुलभता-दुर्लभता, महास्थण्डिल की प्रतिलेखना और उसके गुण-दोष, गच्छवासी यथालंदिकों के लिए क्षेत्र की परीक्षा, परीक्षित—प्रतिलिखित क्षेत्र की अनुज्ञा की विधि, क्षेत्रप्रत्युपेक्षकों द्वारा आचार्यादि के समक्ष क्षेत्र के गुण-दोष निवेदन करने तथा जाने योग्य क्षेत्र का निर्णय करने की विधि, विहार करने के पूर्व जिसकी वसति मे रहे हो उसे पूछने की विधि, अविधि से पूछने पर लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, विहार करने के पूर्व वसति के स्वामी

---

१. गा० १३८१–१४१२. २. गा० १४१३–१४२४.

को विधिपूर्वक उपदेश देते हुए विहार के समय का सूचन, विहार करते समय शुभ दिवस और शुभ शकुन देखने के कारण, शुभ शकुन और अशुभ शकुन, विहार करते समय आचार्य द्वारा वसति के स्वामी को उपदेश, विहार के समय आचार्य, बालसाधु आदि के सामान को किसे किस प्रकार उठाना चाहिए, अननुज्ञात क्षेत्र मे निवास करने से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, प्रतिलिखित क्षेत्र में प्रवेश और शुभाशुभ शकुनदर्शन, आचार्य द्वारा वसति में प्रवेश करने की विधि, वसति में प्रविष्ट होने के बाद गच्छवासियों की मर्यादाएँ और स्थापना-कुलों की व्यवस्था, वसति में प्रवेश करने के बाद झोली-पात्र लिये हुए अमुक साधुओं को साथ लेकर आचार्य आदि का जिनचैत्यवंदना के लिए निकलना, झोली-पात्र साथ रखने के कारण, जिनचैत्यों के वन्दन के लिए जाते हुए मार्ग में गृहजिन-मदिरो के दर्शनार्थ जाना और दानश्रद्धालु, धर्मश्रद्धालु, ईर्ष्यालु, धर्मपराङ्मुख आदि श्राद्धकुलों की पहचान करना, स्थापनाकुल आदि की व्यवस्था, उसके कारण और वीरशुनिका का उदाहरण, चार प्रकार के प्राघूर्णक साधु, स्थापना-कुलों मे जाने की विधि, एक-दो दिन छोड़ कर स्थापनाकुलों मे नहीं जाने से लगने वाले दोष, स्थापनाकुलों में जाने योग्य अथवा भेजने योग्य वैयावृत्यकर और उनके गुण-दोष, वैयावृत्य करने वाले के गुणों की परीक्षा करने के कारण, श्रावकों को गोचरचर्या के दोष समझाने से होनेवाले लाभ और इसके लिए लुब्धक का दृष्टान्त, स्थापनाकुलों में से विधिपूर्वक उचित द्रव्यों का ग्रहण, जिस क्षेत्र मे एक ही गच्छ ठहरा हुआ हो उस क्षेत्र की दृष्टि से स्थापनाकुलों मे से भिक्षा ग्रहण करने की सामाचारी, जिस क्षेत्र मे दो-तीन गच्छ एक वसति मे अथवा भिन्न-भिन्न वसतियों में ठहरे हुए हों उस क्षेत्र की दृष्टि से भिक्षा लेने की सामाचारी इत्यादि।[1] इसी प्रकार स्थविरकल्पिकों की सामान्य सामाचारी, स्थिति आदि का वर्णन किया गया है।[2]

गच्छवासियों—स्थविरकल्पिकों की विशेष सामाचारी का भी भाष्यकार ने विस्तृत वर्णन किया है।[3] इस वर्णन में निम्न बातों पर प्रकाश डाला गया है:—

१. **प्रतिलेखनाद्वार**—वस्त्रादि की प्रतिलेखना का काल, प्राभातिक प्रति-लेखना के समय से सम्बन्धित विविध आदेश, प्रतिलेखना के दोष और प्रायश्चित्त, प्रतिलेखना में अपवाद।

---

१. गा० १४८७-१६२२. २. गा० १६२३-१६५५.

३. गा० १६५६-२०३३.

२. **निष्क्रमणद्वार**—गच्छवासी आदि को उपाश्रय से बाहर कब और कितनी बार निकलना चाहिए ?

३. **प्राभृतिकाद्वार**—सूक्ष्म और बादर प्राभृतिका का वर्णन, गृहस्थादि के लिए तैयार किये गए घर, वसति आदि में रहने और न रहने सम्बन्धी विधि और प्रायश्चित्त।

४. **भिक्षाद्वार**—किस एषणा से पिण्ड आदि का ग्रहण करना चाहिए, कितनी बार और किस समय भिक्षा के लिए जाना चाहिए, मिलकर भिक्षा के लिए जाना, अकेले भिक्षा के लिए जाने के कल्पित कारण और तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त, भिक्षा के लिए उपकरण आदि की व्यवस्था।

५. **कल्पकरणद्वार**—पात्र धोने की विधि, लेपकृत और अलेपकृत द्रव्य, पात्र लेप से होनेवाले लाभ और तद्विषयक एक श्रमण का दृष्टान्त, पात्र धोने के कारण और तद्विषयक प्रश्नोत्तर।

६. **गच्छशतिकादिद्वार**—सात प्रकार की सौवीरिणियाँ : १. आधाकर्मिक, २. स्वगृहयतिमिश्र, ३. स्वगृहपाषण्डमिश्र, ४. यावदर्थिकमिश्र, ५. क्रीतकृत, ६. पूतिकर्मिक, ७. आत्मार्थकृत; इनके अवान्तर भेद-प्रभेद और एतद्विषयक विशोधि-अविशोधि कोटियाँ।

७. **अनुयानद्वार**—तीर्थङ्कर आदि के समय जब सैकड़ों गच्छ एक साथ रहते हों तब आधाकर्मिकादि पिण्ड से बचना कैसे संभव है—इस प्रकार की शिष्य की शंका और उसका समाधान तथा प्रसंगवशात् अनुयान अर्थात् रथयात्रा का वर्णन, रथयात्रा देखने जाते समय मार्ग में लगनेवाले दोष, वहाँ पहुँच जाने पर लगनेवाले दोष, साधर्मिक चैत्य, मंगलचैत्य, शाश्वत चैत्य और भक्तिचैत्य, रथयात्रा के मेले में जानेवाले साधु को लगनेवाला आधाकर्मिक दोष, उद्गम दोष, नवदीक्षित का भ्रष्ट होना, स्त्री, नाटक आदि देखने से लगनेवाले दोष, स्त्री आदि के स्पर्श से लगनेवाले दोष, मंदिर आदि स्थानों में लगे हुए जाले, नीड़, छत्ते आदि को गिराने के लिए कहने न कहने से लगनेवाले दोष, पार्श्वस्थ आदि के क्षुल्लक शिष्यों को अलंकारविभूषित देखकर क्षुल्लक श्रमण पतित हो जाएँ अथवा पार्श्वस्थ साधुओं के पारस्परिक कलहों को निपटाने का कार्य करना पड़े उससे लगनेवाले दोष, रथयात्रा के मेले में साधुओं को जाने के विशेष कारण—चैत्यपूजा, राजा और श्रावक का विशेष निमंत्रण, वादी की पराजय, तप और धर्म का माहात्म्य-वर्धन, धर्मकथा और व्याख्यान, शंकित अथवा विस्मृत सूत्रार्थ का

स्पष्टीकरण, गच्छ के आधारभूत योग्य शिष्य आदि की तलाश, तीर्थ-प्रभावना, आचार्य, उपाध्याय, राज्योपद्रव आदि सम्बन्धी समाचार की प्राप्ति, कुल-गण-संघ आदि का कार्य, धर्म-रक्षा तथा इसी प्रकार के अन्य महत्त्व के कारण—रथयात्रा के मेले में रखने योग्य यतनाएँ, चैत्यपूजा, राजा आदि की प्रार्थना आदि कारणों से रथयात्रा के मेले में जानेवाले साधुओं को उपाश्रय आदि की प्रतिलेखना किस प्रकार करनी चाहिए, भिक्षाचर्या किस प्रकार करनी चाहिए, स्त्री, नाटक आदि के दर्शन का प्रसंग उपस्थित होने पर किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, मंदिर मे जाले, नीड़ आदि होने पर किस प्रकार यतना रखनी चाहिए, क्षुल्लक शिष्य भ्रष्ट न होने पाएँ तथा पार्श्वस्थ साधुओं के विवाद किस प्रकार निपट जाएँ इत्यादि।

८. पुरःकर्मद्वार—पुरःकर्म का अर्थ है भिक्षादान के पूर्व शीतल जल से दाता द्वारा स्वहस्त आदि का प्रक्षालन। इस द्वार की चर्चा करते समय निम्न दृष्टियों से विचार किया गया है: पुरःकर्म क्या है, पुरःकर्म दोष किसे लगता है, कब लगता है, पुरःकर्म किसलिए किया जाता है, पुरःकर्म और उदकार्द्रदोष में अन्तर (उदकार्द्र और पुरःकर्म में अप्काय का समारंभ तुल्य होते हुए भी उदकार्द्र सूख जाने पर तो भिक्षा आदि का ग्रहण होता है किन्तु पुरःकर्म के सूख जाने पर भी ग्रहण का निषेध है), पुरःकर्मसम्बन्धी प्रायश्चित्त, पुरःकर्मविषयक अविधि-निषेध और विधिनिषेध, सात प्रकार के अविधिनिषेध, आठ प्रकार के विधिनिषेध, पुरःकर्मविषयक ब्रह्महत्या का दृष्टान्त।

९. ग्लानद्वार—ग्लान—रुग्ण साधु के समाचार मिलते ही उसका पता लगाने के लिए जाना चाहिए, वहाँ उसकी सेवा करने वाला कोई है कि नहीं—इसकी जाँच करनी चाहिए, जाँच न करने वाले के लिए प्रायश्चित्त, ग्लान साधु की श्रद्धा से सेवा करने वाले के लिए सेवा के प्रकार, ग्लान साधु की सेवा के लिए किसी की विनती या आज्ञा की अपेक्षा रखने वाले के लिए प्रायश्चित्त और तद्विषयक महर्द्धिक राजा का उदाहरण, ग्लान की सेवा करने में अशक्ति का प्रदर्शन करने वाले को शिक्षा, ग्लान साधु की सेवा के लिए जाने मे दुःख का अनुभव करने वाले के लिए प्रायश्चित्त, उद्गम आदि दोषों का बहाना करने वाले के लिए प्रायश्चित्त, ग्लान साधु की सेवा के बहाने से गृहस्थों के यहाँ से उत्कृष्ट पदार्थ, वस्त्र, पात्र आदि लाने वाले तथा क्षेत्रातिक्रान्त, कालातिक्रान्त आदि दोषों का सेवन करने वाले लोभी साधु को लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, ग्लान साधु के लिए पथ्यापथ्य किस प्रकार लाना चाहिए, कहाँ से लाना

चाहिए, कहाँ रखना चाहिए, उसकी प्राप्ति के लिए गवेषणा किस प्रकार करनी चाहिए, ग्लान साधु के विशोषणसाध्य रोग के लिए उपवास की चिकित्सा, आठ प्रकार के वैद्य (१. संविग्न, २. असंविग्न, ३. लिंगी, ४. श्रावक, ५. संज्ञी, ६. अनभिगृहीत असंज्ञी (मिथ्या-दृष्टि), ७. अभिगृहीत असंज्ञी, ८. परतीर्थिक), इनके क्रमभंग से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, वैद्य के पास जाने की विधि, वैद्य के पास ग्लान साधु को ले जाना या ग्लान साधु के पास वैद्य को लाना, वैद्य के पास कैसा साधु जाए, कितने साधु जाएँ, उनके वस्त्र आदि कैसे हों, जाते समय कैसे शकुन देखे जाएँ, वैद्य के पास जाने वाले साधु को किस काम में व्यस्त होने पर वैद्य से रोगी साधु के विषय मे बातचीत करनी चाहिए, किस काम में व्यस्त होने पर बातचीत नहीं करनी चाहिए, वैद्य के घर आने के लिए श्रावकों को संकेत, वैद्य के पास जाकर रुग्ण साधु के स्वास्थ्य के समाचार कहने का क्रम, ग्लान साधु के लिए वैद्य का संकेत, वैद्य द्वारा बताये गए पथ्यापथ्य लभ्य हैं कि नहीं इसका विचार और लभ्य न होने पर वैद्य से प्रश्न, ग्लान साधु के लिए वैद्य का उपाश्रय मे आना, उपाश्रय में आये हुए वैद्य के साथ व्यवहार करने की विधि, वैद्य के उपाश्रय मे आने पर आचार्य आदि के उठने, वैद्य को आसन देने और रोगी को दिखाने की विधि, अविधि से उठने आदि में दोष और उनका प्रायश्चित्त, औषध आदि के प्रबंध के विषय मे भद्रक वैद्य का प्रश्न, धर्मभावनारहित वैद्य के लिए भोजनादि तथा औषधादि के मूल्य की व्यवस्था, बाहर से वैद्य को बुलाने एवं उसके खानपान की व्यवस्था करने की विधि, रोगी साधु और वैद्य की सेवा करने के कारण, रोगी तथा उसकी सेवा करने वाले को अपवाद-सेवन के लिए प्रायश्चित्त, ग्लान साधु के स्थानान्तर के कारण तथा एक-दूसरे समुदाय के ग्लान साधु की सेवा के लिए परिवर्तन, ग्लान साधु की उपेक्षा करने वाले साधुओं को सेवा करने की शिक्षा नहीं देने वाले आचार्य के लिए प्रायश्चित्त, निर्दयता से रुग्ण साधु को उपाश्रय, गली आदि स्थानों मे छोड़कर चले जाने वाले आचार्य को लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, एक गच्छ रुग्ण साधु की सेवा कितने समय तक करे और बाद में उस साधु को किसे सौंपे, किन विशेष कारणों से किस प्रकार के विवेक के साथ किस प्रकार के ग्लान साधु को छोड़ा जा सकता है तथा इससे होने वाला लाभ इत्यादि।

१०. **गच्छप्रतिबद्धयथालंदिकद्वार**—इस द्वार में वाचना आदि के कारण गच्छ के साथ सम्बन्ध रखने वाले यथालंदिककल्पधारियों के वन्दनादि व्यवहार तथा मासकल्प की मर्यादा का वर्णन किया गया है।

११. उपरिदोषद्वार—इसमें वर्षाऋतु से अतिरिक्त समय में एक क्षेत्र में एक मास से अधिक रहने से लगने वाले दोषों का वर्णन किया गया है।

१२. अपवादद्वार—यह अन्तिम द्वार है। इसमें एक क्षेत्र में एक मास से अधिक रहने के आपवादिक कारण तथा उस क्षेत्र में रहने एवं भिक्षाचर्या करने की विधि पर प्रकाश डाला गया है।

मासकल्पविषयक द्वितीय सूत्र का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि यदि ग्राम, नगर आदि दुर्ग के अन्दर और बाहर इन दो विभागों मे बसे हुए हों तो अन्दर और बाहर मिलाकर एक क्षेत्र में दो मास तक रहा जा सकता है। इसके साथ ही ग्राम, नगरादि के बाहर दूसरा मासकल्प करते समय तृण, फलक आदि ले जाने की विधि की चर्चा की गई है तथा अविधि से ले जाने पर लगने वाले दोषों और प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है।[1]

निर्ग्रन्थियाँ—साध्वियाँ :

मासकल्पविषयक तृतीय सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने निर्ग्रन्थी-विषयक विशेष विधि-निषेध की चर्चा की है।[2] इस चर्चा में निम्न विषयों का समावेश किया गया है : निर्ग्रन्थी के मासकल्प की मर्यादा, विहार का वर्णन, निर्ग्रन्थियों के समुदाय का गणधर और उसके गुण, गणधर द्वारा क्षेत्र की प्रतिलेखना, स्वयं निर्ग्रन्थी द्वारा अपने रहने योग्य क्षेत्र की प्रतिलेखना करने का निषेध तथा भड़ौच मे बौद्ध श्रावकों द्वारा किये गए साध्वियों के अपहरण का वर्णन, साध्वियों के रहने योग्य क्षेत्र के गुण, साध्वियों के रहने योग्य वसति—उपाश्रय और उसका स्वामी, साध्वियों के योग्य स्थंडिलभूमि, साध्वियों को उनके रहने योग्य क्षेत्र में ले जाने की विधि, वारकद्वार, भक्तार्थनाविधिद्वार, विधर्मी आदि की ओर से होने वाले उपद्रवों से बचाव, भिक्षा के लिए जाने वाली साध्वियों की संख्या, समूहरूप से भिक्षाचर्या के लिए जाने के कारण और यतनाएँ, साध्वियों के ऋतुबद्ध काल के अतिरिक्त एक क्षेत्र में दो महीने तक रह सकने के कारण।

मासकल्पविषयक चतुर्थ सूत्र का विवेचन करते हुए यह बताया गया है कि ग्राम, नगर आदि दुर्ग के भीतर और बाहर बसे हुए हों तो भीतर और बाहर मिलाकर एक क्षेत्र मे चार मास तक साध्वियाँ रह सकती हैं। इससे अधिक

---

१. गा० २०३४-२०४६. २. गा० २०४७-२१०५.

रहने पर कुछ दोष लगते हैं जिनका प्रायश्चित्त करना पड़ता है। आपवादिक कारणों से अधिक समय तक रहने की अवस्था में विशेष प्रकार की यतनाओं का सेवन करना चाहिए।[1]

स्थविरकल्प और जिनकल्प इन दोनों में कौन प्रधान है? निष्पादक और निष्पन्न इन दो दृष्टियों से दोनों ही प्रधान हैं। स्थविरकल्पसूत्रार्थग्रहण आदि दृष्टियों से जिनकल्प का निष्पादक है, जबकि जिनकल्प ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि दृष्टियों से निष्पन्न है। इस प्रकार दोनों ही महत्त्वपूर्ण अवस्थाएँ होने के कारण प्रधान-महर्द्धिक हैं। इस दृष्टिकोण को विशेष स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने गुहासिंह, दो स्त्रियों और दो गोवर्गों के दृष्टान्त दिए हैं।[2]

वगडाप्रकृतसूत्र :

वगडा का अर्थ है परिक्षेप—कोट—परिखा—प्राचीर—चहारदीवारी। एक परिक्षेप और एक द्वार वाले ग्राम, नगर आदि में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को एक साथ नहीं रहना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने एतत्सम्बन्धी दोषों, प्रायश्चित्तों आदि पर प्रकाश डाला है। इस विवेचन में निम्न बातों का समावेश किया गया है: एक परिक्षेप और एक द्वार वाले क्षेत्र में निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थियों के एक समुदाय के रहते हुए दूसरे समुदाय के आकर रहने पर उसके आचार्य, प्रवर्तिनी आदि को लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए भेजे गए श्रमणों की प्रेरणा से साध्वियों द्वारा अवगृहीत क्षेत्र को दबाने का विचार करने वाले तथा उस क्षेत्र में जाने का निर्णय करने वाले आचार्य, उपाध्याय आदि के लिए प्रायश्चित्त, वेदोदय आदि दोषों का अग्नि, योद्धा और गारुडिक के दृष्टान्तों द्वारा समर्थन, श्रमण और श्रमणियां भिन्न-भिन्न उपाश्रय में रहते हुए एक-दूसरे के सहवास से दूर रह सकते हैं किन्तु ग्राम आदि में रहने वाले श्रमणों के लिए गृहस्थ स्त्रियों का सहवास तो अनिवार्य है, ऐसी दशा में श्रमणों के लिए वनवास ही श्रेष्ठ है—इस प्रकार की शंका का समाधान, श्रमणियों के सहवास वाले ग्राम आदि के त्याग के कारण, एक वगडा और एक द्वार वाले क्षेत्र में रहने वाले साधु-साध्वियों को विचारभूमि—स्थंडिलभूमि, भिक्षाचर्या, विहारभूमि, चैत्यवन्दन आदि कारणों से लगने वाले दोष और उनके लिए प्रायश्चित्त, एक वगडा आदि वाले जिस क्षेत्र में श्रमणियाँ रहती हों वहाँ रहने वाले श्रमणों से कुलस्थविरों द्वारा रहने के कारणों की पूछताछ, कारणवशात् एक क्षेत्र में रहने वाले श्रमण-श्रमणियों के लिए विचारभूमि,

१. गा० २१०६–८. २. गा० २१०९–२१२४.

भिक्षाचर्या आदि विषयक व्यवस्था, भिन्न-भिन्न समुदाय के श्रमण अथवा श्रमणियाँ एक क्षेत्र में एक साथ रहे हुए हों और उनमें परस्पर कलह होता हो तो उसकी शांति के लिए आचार्य, प्रवर्तिनी आदि द्वारा किए जाने वाले उपाय, न करने वाले को लगने वाले कलंकादि दोष और उनका प्रायश्चित्त।[1]

साधु-साध्वियों को एक वगडा और अनेक द्वार वाले स्थान में एक साथ रहने से जो दोष लगते हैं उनका निम्न द्वारों से विचार किया गया है : १. एक-शाखिकाद्वार—एक कतार में बने हुए बाड़ के अन्तर वाले घरों में साथ रहने वाले साधु-साध्वियों को परस्पर वार्तालाप, प्रश्नोत्तर आदि के कारण लगने वाले दोष, २. सप्रतिमुखद्वारद्वार—एक दूसरे के द्वार के सामने वाले घर में रहने से लगने वाले दोष, ३. पार्श्वमार्गद्वार—एक-दूसरे के पास के अथवा पीछे के दरवाजे वाले उपाश्रय में रहने से लगने वाले दोष, ४. उच्चनीचद्वार—श्रमण श्रमणियों की एक-दूसरे पर दृष्टि पड़नेवाले उपाश्रय में रहने से लगनेवाले दोष और तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त, दृष्टि-दोष से उत्पन्न होनेवाले दस प्रकार के कामविकार के आवेग : १. चिन्ता, २. दर्शनेच्छा, ३. दीर्घ निःश्वास, ४. ज्वर, ५. दाह, ६. भक्तारुचि, ७. मूर्च्छा, ८. उन्माद, ९. निश्चेष्टा और १०. मरण, ५. धर्म-कथाद्वार—जहाँ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ एक-दूसरे के पास में रहते हों वहाँ रात्रि के समय धर्मकथा, स्वाध्याय आदि करने की विधि, दुर्भिक्ष आदि कारणों से अकस्मात् एकवगडा-अनेकद्वार वाले ग्रामादि में एक साथ आने का अवसर उपस्थित होने पर उपाश्रय आदि की प्राप्ति का प्रयत्न तथा योग्य उपाश्रय के अभाव में एक-दूसरे के उपाश्रय के समीप रहने का प्रसंग आने पर एक-दूसरे के व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली यतनाएँ।[2]

अनेकवगडा-एकद्वार वाले ग्राम, नगर आदि में साधु-साध्वियों को साथ रहने से लगने वाले दोषों की ओर निर्देश करते हुए कुसुंबल वस्त्र की रक्षा के लिए नग्न होने वाले अगारी, अश्व, फुम्फुक और पेशी के उदाहरण दिये गये हैं।[3]

द्वितीय वगडासूत्र की व्याख्या करते हुए इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि श्रमण श्रमणियों को अनेकवगडा-अनेकद्वार वाले ग्राम, नगर आदि में रहना चाहिए। जिस ग्राम आदि में श्रमण और श्रमणियों की

१. गा० २१२५-२२३१. २. गा० २२३२-२२७७.
३. गा० २२७८-२२८७.

भिक्षाभूमि, स्थंडिलभूमि, विहारभूमि आदि भिन्न-भिन्न हों वहीं उन्हें रहना चाहिए।[1]

आपणगृहादिप्रकृतसूत्र :

आपणगृह, रथ्यामुख, शृङ्गाटक, चतुष्क, चत्वर, अंतरापण आदि पदों की व्याख्या करते हुए आचार्य ने इन स्थानों पर बने हुए उपाश्रय में रहने वाली श्रमणियों को लगने वाले दोषों और प्रायश्चित्तों का वर्णन किया है। सार्वजनिक स्थानों में बने हुए उपाश्रयों में रहने वाली श्रमणियों के मन में युवक, वेश्याएँ, वरघोड़े, राजा आदि अलंकृत व्यक्तियों को देखने से अनेक दोषों का उद्भव होता है। इस प्रकार आम रास्ते पर रहने वाली साध्वियों को देख कर लोगों के मन में अनेक प्रकार के अवर्णवादादि दोष उत्पन्न होते हैं। यदि किसी कारण से इस प्रकार के उपाश्रय में रहना ही पड़े तो उसके लिये आचार्य ने विविध यतनाओं का विधान भी किया है।[2]

अपावृतद्वारोपाश्रयप्रकृतसूत्र :

श्रमणियों को बिना द्वार के खुले उपाश्रय में नहीं रहना चाहिए। कदाचित् द्वारयुक्त उपाश्रय अप्राप्य हो तो खुले उपाश्रय में परदा बाँध कर रहना चाहिए। इस सूत्र की व्याख्या में निम्न बातों का समावेश किया गया है : निर्ग्रन्थीविषयक अपावृतद्वारोपाश्रय सूत्र आचार्य यदि प्रवर्तिनी को न समझावे, प्रवर्तिनी यदि अपनी साध्वियों को न सुनावे, साध्वियाँ यदि उसे न सुनें तो उन्हें लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, बिना दरवाजे के उपाश्रय में रहने वाली प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका और श्रमणियों को लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त, आपवादिक रूप से बिना द्वार के उपाश्रम में रहने की विधि, इस प्रकार के उपाश्रय में द्विदलकटादि बाँधने की विधि, द्वारपालिका श्रमणी और उसके गुण, गणिनी, द्वारपालिका—प्रतिहारसाध्वी एवं अन्य साध्वियों के निवास-स्थान का निर्देश, प्रस्रवण—पेशाब आदि के लिये बाहर जाने-आने में विलम्ब करने वाली श्रमणियों को फटकारने की विधि, श्रमणी के बजाय कोई अन्य व्यक्ति उपाश्रय में न घुस जाए इसके लिए उसकी परीक्षा करने की विधि, प्रतिहारसाध्वी द्वारा उपाश्रय के द्वार की रक्षा, शयनसम्बन्धी यतनाएँ, रात्रि के समय कोई मनुष्य उपाश्रय में घुस जाए तो उसे बाहर निकालने की विधि, विहार आदि के समय मार्ग में आने वाले गाँवों में सुरक्षित द्वार वाला उपाश्रय न मिले तथा कोई अनपेक्षित भयप्रद घटना

---

१. गा० २२८८-९. २. गा० २२९५-२३२५.

घट जाए तो तरुण और वृद्ध साध्वियों को किस प्रकार उसका सामना करना चाहिए इसका निर्देश।[1]

साधु बिना दरवाजे के उपाश्रय में रह सकते हैं। उन्हें उत्सर्गरूप से उपाश्रय का द्वार बन्द नहीं करना चाहिए किन्तु अपवादरूप से वैसा किया जा सकता है। अपवादरूप कारणों के विद्यमान रहते हुए द्वार बन्द न करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।[2]

घटीमात्रकप्रकृतसूत्र :

श्रमणियों के लिए घटीमात्रक—घड़ा रखना व उसका उपयोग करना विहित है किन्तु श्रमणों के लिए घटीमात्रक रखना अथवा उसका उपयोग करना निषिद्ध है। निष्कारण घटीमात्रक रखने से साधुओं को दोष लगते हैं। हाँ, अपवादरूप में उनके लिए घटीमात्रक रखना वर्जित नहीं है। श्रमण-श्रमणियाँ विशेष कारणों से घटीमात्रक रखते हैं व उसका प्रयोग करते हैं। घटीमात्रक पास न होने की अवस्था में उन्हें विविध यतनाओं का सेवन करना पड़ता है।[3]

चिलिमिलिकाप्रकृतसूत्र :

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ वस्त्र की चिलिमिलिका—परदा रख सकते हैं व उसका प्रयोग कर सकते हैं। चिलिमिलिका का स्वरूप वर्णन करने के लिए भाष्यकार ने निम्न द्वारों का आश्रय लिया है : १. भेदद्वार, २. प्ररूपणाद्वार—सूत्रमयी, रज्जुमयी, वल्कलमयी, दण्डकमयी और कटकमयी चिलिमिलिका, ३. द्विविधप्रमाणद्वार, ४. उपभोगद्वार।[4]

दकतीरप्रकृतसूत्र :

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए जलाशय, नदी आदि पानी के स्थानों के पास अथवा किनारे खड़ा रहना, बैठना, सोना, खाना-पीना, स्वाध्याय-ध्यान-कायोत्सर्ग आदि करना निषिद्ध है। इसके प्रतिपादन के लिए निम्नलिखित विषयों पर प्रकाश डाला गया है : दकतीर की सीमा, पानी के किनारे खड़े रहने, बैठने आदि से लगनेवाले अधिकरण आदि दोष, अधिकरणदोष का स्वरूप, जलाशय आदि के पास श्रमण-श्रमणियों को देख कर स्त्री, पुरुष, पशु, आदि की ओर से उत्पन्न होने वाले अधिकरण दोष का स्वरूप, पानी के पास खड़े रहने आदि दस स्थानों से सम्बन्धित सामान्य प्रायश्चित्त, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला और प्रचला-

१. गा० २३२६–२३५२. २. गा० २३५३–२३६१.
३. गा० २३६१–२३७०. ४. गा० २३७१–२३८२.

प्रचला का स्वरूप, संपातिम और असंपातिम जल के किनारे बैठने आदि दस स्थानों का सेवन करने वाले आचार्य, उपाध्याय, भिक्षु, स्थविर और क्षुल्लक—इन पाँच प्रकार के श्रमणों तथा प्रवर्तिनी, अभिषेका, भिक्षुणी, स्थविरा और क्षुल्लिका—इन पाँच प्रकार की श्रमणियों की दृष्टि से प्रायश्चित्त के विविध आदेश, असंपातिम और संपातिम का स्वरूप (जलज मत्स्य-मण्डूकादि असंपातिम हैं। उनसे युक्त जल के किनारे को असंपातिम दकतीर कहते हैं। शेष प्राणी संपातिम हैं। उनसे युक्त तीर को संपातिम दकतीर कहते हैं। अथवा, केवल पक्षी संपातिम हैं और तद्भिन्न शेष प्राणी असंपातिम हैं। उनसे युक्त जलतीर क्रमशः संपातिम और असंपातिम हैं।), यूपक-जलमध्यवर्ती तट का स्वरूप और तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त, जल के किनारे आतापना लेने से लगनेवाले दोष, दकतीरद्वार, यूपकद्वार और आतापनाद्वार सम्बन्धी अपवाद और यतनाएँ।[1]

चित्रकर्मप्रकृतसूत्र :

साधु-साध्वियों को चित्रकर्मवाले उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए। इस विषय का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने निर्दोष और सदोष चित्रकर्म का स्वरूप, आचार्य, उपाध्याय आदि की दृष्टि से चित्रकर्म वाले उपाश्रय में रहने से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त, चित्रकर्मयुक्त उपाश्रय में रहने से लगने वाले विकथा, स्वाध्याय-व्याघात आदि दोष, आपवादिक रूप से चित्रकर्मयुक्त उपाश्रय में रहना पड़े तो उसके लिए विविध यतनाएँ आदि बातों का स्पष्टीकरण किया है।[2]

सागारिकनिश्राप्रकृतसूत्र :

श्रमणियों को शय्यातर—वसति के स्वामी की निश्रा (संरक्षण) में ही रहना चाहिए। सागारिक—शय्यातर की निश्रा में न रहने वाली श्रमणियों को विविध दोष लगते हैं। इन दोषों का स्वरूप समझाने के लिए आचार्य ने गवादि-पशुवर्ग, अजा, पक्वान्न, इक्षु, घृत आदि के दृष्टान्त दिए हैं। अपवाद के रूप में सागारिक की निश्रा के अभाव में रहने का अवसर आने पर किस प्रकार के उपाश्रय में रहना चाहिए, इसका दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य ने यह भी बताया है कि योग्य उपाश्रय के अभाव में वृषभों को किस प्रकार श्रमणियों की रक्षा करनी चाहिए और वे वृषभ किस प्रकार के सद्गुणों से युक्त होने चाहिए।[3]

---

१. गा० २३८३–२४२५. २. गा० २४२६–२४३३.
३. गा० २४३४–२४४५.

जहाँ तक श्रमणों का प्रश्न है, वे उत्सर्गरूप से सागारिक की निश्रा में नहीं रह सकते किन्तु अपवादरूप से वैसा कर सकते हैं। जो निर्ग्रन्थ बिना किसी विशेष कारण के सागारिक की निश्रा में रहते हैं उन्हें दोष लगता है जिसका प्रायश्चित्त करना पड़ता है।[1]

सागारिकोपाश्रयप्रकृतसूत्र :

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए सागारिक के सम्बन्ध वाले उपाश्रय में रहना वर्जित है। इस विषय पर चर्चा करते हुए भाष्यकार ने निम्नोक्त बातों का विवेचन किया है : सागारिक पद का निक्षेप, द्रव्य-सागारिक के रूप, आभरण, वस्त्र, अलंकार, भोजन, गंध, आतोद्य, नाट्य, नाटक, गीत आदि प्रकार और तत्सम्बन्धी दोष एवं प्रायश्चित्त, भावसागारिक का स्वरूप, अब्रह्मचर्य के हेतुभूत प्राजापत्य, कौटुम्बिक और दण्डिकपरिगृहीत देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी रूप का स्वरूप तथा उसके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट प्रकार, देवप्रतिमा के विविध प्रकार, देवप्रतिमायुक्त उपाश्रयों में रहने से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त, देवता के सान्निध्यवाली प्रतिमाओं के प्रकार, मनुष्यप्रतिमा का स्वरूप, प्राजापत्य आदि दृष्टियों से विशेष विवरण, इस प्रकार की प्रतिमायुक्त वसति में ठहरने से लगने वाले दोष तथा तद्विषयक प्रायश्चित्त, तिर्यञ्चप्रतिमा का स्वरूप, भेद, तद्विषयक निवास-दोष और प्रायश्चित्त, मनुष्य के साथ मैथुन का सेवन करने वाले सिंहण का दृष्टान्त, सागारिकोपाश्रयसूत्र सम्बन्धी अपवाद और तत्सम्बन्धी यतनाएँ, सविकार पुरुष, पुरुषप्रकृति तथा स्त्रीप्रकृति वाले नपुंसक का स्वरूप, इनके मध्यस्थ, आभरणप्रिय, कान्दर्पिक और काथिक भेद, इनके सम्बन्ध वाले उपाश्रयों में रहने से लगने वाले संयमविराधनादि दोष और प्रायश्चित्त इत्यादि।[2]

प्रतिबद्धशय्याप्रकृतसूत्र :

प्रथम प्रतिबद्धशय्या सूत्र की व्याख्या करते हुए यह बताया गया है कि जिस उपाश्रय के समीप गृहस्थ रहते हों वहाँ निर्ग्रन्थों को नहीं रहना चाहिए। इसमें निम्न विषयों का समावेश किया गया है : 'प्रतिबद्ध' पद के निक्षेप, भावप्रतिबद्ध के प्रस्रवण, स्थान, रूप और शब्द ये चार भेद, द्रव्यप्रतिबद्ध-भावप्रतिबद्ध की चतुर्भंगी और तत्सम्बन्धी विधि-निषेध, निर्ग्रन्थों को 'द्रव्यतः प्रतिबद्ध भावतः अप्रतिबद्ध' रूप प्रथम भंग वाले उपाश्रय में रहने से लगने वाले अधिकर-

१. गा० २४४६–८. २. गा० २४४९–२५८२.

णादि दोष, उनका स्वरूप और तत्सम्बन्धी यतनाएँ, 'द्रव्यतः अप्रतिबद्ध भावतः प्रतिबद्ध' रूप द्वितीय भंग वाले उपाश्रय में रहने से लगने वाले दोष, उनका स्वरूप और तत्सम्बन्धी यतनाएँ, 'द्रव्य-भावप्रतिबद्ध' रूप तृतीय भंग वाले उपाश्रय में रहने से लगने वाले दोष आदि, 'द्रव्य-भावअप्रतिबद्ध' रूप चतुर्थ भंग वाले उपाश्रयों की निर्दोषता का प्ररूपण।[१]

द्वितीय सूत्र की व्याख्या में इसका प्रतिपादन किया गया है कि जिस उपाश्रय के समीप गृहस्थ रहते हों वहाँ निर्ग्रन्थियों का निवास विहित है। द्रव्य-प्रतिबद्ध तथा भावप्रतिबद्ध उपाश्रयों में रहने से निर्ग्रन्थियों को लगने वाले दोषों और यतनाओं का भी वर्णन किया गया है।[२]

गृहपतिकुलमध्यवासप्रकृतसूत्र :

श्रमणों का गृहपतिकुल के मध्य में रहना वर्जित है। इसके विचार के लिए आचार्य ने शालाद्वार, मध्यद्वार और छिंडिकाद्वार का आश्रय लिया है।

१. शालाद्वार—श्रमणों को शाला में रहने से लगने वाले दोषों का १. प्रत्यपाय, २. वैक्रिय, ३. अपावृत, ४. आदर्श, ५. कल्पस्थ, ६. भक्त, ७. पृथिवी, ८. उदक, ९. अग्नि, १०. बीज और ११. अवहन्न—इन ग्यारह द्वारों से वर्णन किया है।[३]

२. मध्यद्वार—श्रमणों को शाला के मध्य में बने हुए भवन आदि में रहने से लगने वाले दोषों का उपर्युक्त ग्यारह द्वारों के उपरान्त १. अतिगमन, २. अनाभोग, ३. अवभाषण, ४. मज्जन और ५. हिरण्य—इन पाँच द्वारों से निरूपण किया है।[४]

३. छिंडिकाद्वार—छिंडिका का अर्थ है पुरोहड अर्थात् वसति के द्वार पर बना हुआ प्रतिश्रय। छिंडिका में रहने से लगने वाले दोषों का विविध दृष्टियों से विचार किया है। इन द्वारों से सम्बन्ध रखने वाली यतनाओं का भी वर्णन किया गया है।[५]

श्रमणियों की दृष्टि से गृहपतिमध्यवास का विचार करते हुए आचार्य ने बताया है कि उन्हें भी गृहपतिकुल के मध्य में नहीं रहना चाहिए। शाला आदि में रहने से श्रमणियों को अनेक प्रकार के दोष लगते हैं।[६]

---

१. गा० २५८३–२६१५. २. गा० २६१६–२६२८. ३. गा० २६३३–२६४४. ४. गा० २६४५–२६५२. ५. गा० २६५३–२६६७. ६. गा० २६६८–२६७५.

व्यवशमनप्रकृतसूत्र :

इस सूत्र[1] में यह बताया गया है कि साधुओं में परस्पर क्लेश होने पर उपशम धारण करके क्लेश शान्त कर लेना चाहिए। जो उपशम धारण करता है वह आराधक है। जो उपशम धारण नहीं करता वह विराधक है। प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने निम्न विषयों का स्पष्टीकरण किया है: व्यवशमित के एकार्थक शब्द—क्षामित, व्यवशमित, विनाशित और क्षपित; प्राभृत शब्द के पर्याय—प्राभृत, प्रहेणक और प्रणयन; अधिकरण पद के निक्षेप; द्रव्याधिकरण के निर्वर्तना निक्षेपणा, संयोजना और निसर्जना—ये चार भेद, भावाधिकरण—कषाय द्वारा जीव किस प्रकार विभिन्न गतियों में जाते हैं; निश्चय और व्यवहारनय की अपेक्षा से द्रव्य का गुरुत्व, लघुत्व, गुरुलघुत्व और अगुरुलघुत्व; जीवों द्वारा कर्म-ग्रहण और तज्जन्य विविध गतियाँ; उदीर्ण और अनुदीर्ण कर्म; भावाधिकरण उत्पन्न होने के छः प्रकार के कारण—सचित्त, अचित्त, मिश्र, वचोगत, परिहार और देशकथा; निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों में परस्पर अधिकरण—क्लेश होता हो उस समय उपेक्षा, उपहास आदि करने वाले के लिए प्रायश्चित्त; निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के पारस्परिक क्लेश की उपेक्षा करने वाले आचार्य आदि को लगने वाले दोष और तत्सम्बन्धी जलचर और हस्तियूथ का दृष्टान्त; साधु-साध्वियों के आपसी झगड़े को निपटाने की विधि; आचार्य आदि के उपदेश से दो कलहकारियों में से एक तो शान्त हो जाए किन्तु दूसरा शान्त न हो उस समय क्या करना चाहिए इस ओर संकेत; 'पर' का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, आदेश, क्रम, बहु, प्रधान और भाव निक्षेपों से विवेचन, अधिकरण—क्लेश के लिए अपवाद।[2]

चारप्रकृतसूत्र :

प्रथम चारसूत्र का व्याख्यान करते हुए यह कहा गया है कि श्रमणश्रमणियों को वर्षाऋतु मे एक गांव से दूसरे गांव नहीं जाना चाहिए। वर्षावास दो प्रकार

---

१. इस प्रकृत को भाष्यकार ने गा० ३२४२ में प्राभृतसूत्र के रूप में तथा चूर्णिकार और विशेषचूर्णिकार ने अधिकरणसूत्र के रूप में दिया है। मुनि श्री पुण्यविजयजी ने सूत्र के वास्तविक आशय को ध्यान में रखते हुए इसका नाम व्यवशमनसूत्र रखा है।

—बृहत्कल्पसूत्र, ३ य विभाग, विषयानुक्रम, पृ० ३०.

२. गा० २६७६–२७३१.

का होता है: प्रावृट् और वर्षा। इनमें विहार करने से तथा वर्षाऋतु पूर्ण हो जाने पर विहार न करने से लगने वाले दोषों का प्रायश्चित्त करना पड़ता है। आपवादिक कारणों से वर्षाऋतु में विहार करने का प्रसंग उपस्थित होने पर विशेष यतनाओं के सेवन का विधान है।[१]

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को हेमन्त और ग्रीष्मऋतु के आठ महीनों मे विहार करना चाहिए। इन महीनो में विहार करने से अनेक लाभ होते हैं तथा न करने से अनेक दोष लगते हैं। विहार करते हुए मार्ग मे आने वाले मासकल्प के योग्य ग्राम-नगरादि क्षेत्रों को चैत्यवन्दनादि के निमित्त छोड़ कर चले जाने से अनेक दोष लगते हैं। हाँ, किन्हीं आपवादिक कारणो से वैसा करना पड़े तो उसमे कोई दोष नहीं है।[२]

वैराज्यप्रकृतसूत्र :

इस सूत्र की व्याख्या मे यह बताया गया है कि निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को वैराज्य अर्थात् विरुद्धराज्य में पुनः पुनः गमनागमन नहीं करना चाहिए। इस व्याख्या में निम्न विषयो पर विचार किया गया है: वैराज्य, विरुद्धराज्य, सद्योगमन, सद्योआगमन, वैर आदि पद, वैराज्य के चार प्रकार (अराजक, यौवराज्य, वैराज्य और द्वैराज्य), वैराज्य—विरुद्धराज्य में आने-जाने से लगने वाले आत्मविराधना आदि दोष, वैराज्य—विरुद्धराज्य में गमनागमन से सम्बन्धित अपवाद और यतनाएं।[३]

अवग्रहप्रकृतसूत्र :

प्रथम अवग्रहसूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि भिक्षाचर्या के लिए गए हुए निर्ग्रन्थ से यदि गृहपति वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि के लिए प्रार्थना करे तो उसे चाहिए कि उस उपकरण को लेकर आचार्य के समक्ष प्रस्तुत करे और आचार्य की आज्ञा लेकर ही उसे रखे अथवा काम में ले। वस्त्र दो प्रकार का है: याचनावस्त्र और निमंत्रणावस्त्र। याचनावस्त्र का स्वरूप पहले बताया जा चुका है।[४] निमंत्रणावस्त्र का स्वरूप वर्णन करते हुए आचार्य ने निम्नोक्त बातो का स्पष्टीकरण किया है: निमंत्रणावस्त्र सम्बन्धी सामाचारी, उसमे विरुद्ध आचरण करने से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, निमंत्रणावस्त्र की शुद्धता का स्वरूप, गृहीत वस्त्र का स्वामित्व आदि।[५]

१. गा० २७३२–२७४७. २. गा० २७४८–२७५८. ३. गा० २७५९–२७९१. ४. गा० ६०३–६४८. ५. गा० २७९२–२८१३.

द्वितीय अवग्रहसूत्र की व्याख्या में बताया गया है कि स्थंडिलभूमि आदि के लिए जाते समय यदि कोई निर्ग्रन्थ से वस्त्रादि की प्रार्थना करे तो उसे प्राप्त उपकरणादि को आचार्य के पास ले जाकर उपस्थित करना चाहिए तथा उनकी आज्ञा मिलने पर ही उनका उपयोग करना चाहिए।[1]

तृतीय और चतुर्थ सूत्र की व्याख्या में निर्ग्रन्थियों की दृष्टि से वस्त्रग्रहण आदि का विचार किया गया है। निर्ग्रन्थी गृहपतियों से मिलने वाले वस्त्र-पात्रादि को प्रवर्तिनी की आज्ञा से ही अपने काम में ले सकती है।[2]

रात्रिभक्तप्रकृतसूत्र :

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को रात्रि के समय अथवा विकाल में अशन-पानादि का ग्रहण नहीं कल्पता। प्रस्तुत सूत्र का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने निम्न विषयों की चर्चा की है : 'रात्रि' और 'विकाल' पदों की व्याख्या; रात्रि में खाने-पीने से लगने वाले आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व, संयमविराधना आदि दोष; रात्रि-भोजनविषयक 'दिवा गृहीतं दिवा भुक्तम्', 'दिवा गृहीतं रात्रौ भुक्तम्', 'रात्रौ गृहीतं दिवा भुक्तम्' और 'रात्रौ गृहीतं रात्रौ भुक्तम्' रूप चतुर्भङ्गी एवं तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त; रात्रिभोजनग्रहणसम्बन्धी आपवादिक कारण; रुग्ण, क्षुधित, पिपासित, असहिष्णु, चन्द्रवेध अनशन आदि से सम्बन्धित अपवाद; अध्वगमन अर्थात् देशान्तरगमन की अनुज्ञा; अध्वगमनोपयोगी उपकरण; १. चर्मद्वार—तलिका, पुट, वर्ध्र, कोशक, कृत्ति, सिक्कक, कापोतिका आदि; २. लोहग्रहणद्वार—पिप्पलक, सूची, आरी, नखहरणिका आदि; ३. नन्दीभाजनद्वार; ४. धर्मकरकद्वार; ५. परतीर्थिकोपकरणद्वार; ६. गुलिकाद्वार; ७. खोलद्वार; अध्वगमनोपयोगी उपकरण न लेने वाले के लिए प्रायश्चित्त; प्रयाण करते समय शकुनावलोकन; सिंहपर्षदा, वृषभपर्षदा और मृगपर्षदा का स्वरूप; मार्ग में अन्न-जल प्राप्त न होने पर उसकी प्राप्ति की विधि और तद्विषयक द्वार—१. प्रतिसार्थद्वार, २. स्तैनपल्लीद्वार, ३. शून्यग्रामद्वार, ४. वृक्षादिप्रलोकनद्वार, ५. नन्दिद्वार, ६. द्विविधद्रव्यद्वार; उत्सर्गरूप से रात्रि में संस्तारक, वसति आदि ग्रहण करने से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त; रात्रि में वसति आदि ग्रहण करने के आपवादिक कारण; गीतार्थ निर्ग्रन्थों के लिए वसति ग्रहण करने की विधि; अगीतार्थमिश्रित गीतार्थ निर्ग्रन्थों के लिए वसति-ग्रहण की विधि; अंधेरे में वसति की प्रतिलेखना के लिए प्रकाश का उपयोग करने की विधि व यतनाएं; ग्रामादि

---

१. गा० २८१४. २. गा० २८१५–२८१५.

के बाहर वसति ग्रहण करने के लिए यतनाएं; कुल, गण, संघ आदि की रक्षा के निमित्त लगने वाले अपराधों की निर्दोषता और तद्विषयक सिंहत्रिकघातक कृतकरण श्रमण का उदाहरण।[१]

रात्रिवस्त्रादिग्रहणप्रकृतसूत्र :

श्रमण-श्रमणियों को रात्रि के समय अथवा विकाल में वस्त्रादिग्रहण नहीं कल्पता। इस नियम का विश्लेषण करते हुए भाष्यकार ने निम्नलिखित बातों का स्पष्टीकरण किया है: रात्रि मे वस्त्रादि ग्रहण करने से लगने वाले दोष एवं प्रायश्चित्त; इस नियम से सम्बन्धित अपवाद; संयतभद्र, गृहिभद्र, संयतप्रान्त और गृहिप्रान्त चौरविषयक चतुर्भङ्गी; संयतभद्र-गृहिप्रान्त चौर द्वारा लूटे गये गृहस्थ को वस्त्रादि देने की विधि; गृहिभद्र-सयतप्रान्त चोर द्वारा श्रमण और श्रमणी इन दो मे से कोई एक लूट लिया गया हो तो परस्पर वस्त्र आदान-प्रदान करने की विधि; श्रमण-गृहस्थ, श्रमण-श्रमणी, समनोज्ञ-अमनोज्ञ अथवा संविग्न-असंविग्न ये दोनों पक्ष लूट लिये गये हों उस समय एक दूसरे को वस्त्र आदान-प्रदान करने की विधि।[२]

हृताहृतिका-हरिताहृतिकाप्रकृतसूत्र :

पहले हृत अर्थात् हरा गया हो और बाद में आहृत अर्थात् लाया गया हो उसे हृताहृत कहते हैं। हरित अर्थात् वनस्पति में आहृत अर्थात् प्रक्षिप्त को हरिताहृत कहते है। चोरों द्वारा जिस वस्त्र का पहले हरण किया गया हो और बाद में वापस कर दिया गया हो अथवा जिसे चुराकर वनस्पति आदि मे फेंक दिया गया हो उसके ग्रहणसम्बन्धी नियमों पर प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या मे प्रकाश डाला गया है। प्रसगवशात् मार्ग में आचार्य को गुप्त रखने की विधि और आवश्यकता का भी विवेचन किया गया है।[३]

अध्वगमनप्रकृतसूत्र :

श्रमण-श्रमणियों के लिए रात्रि मे अथवा विकाल मे अध्वगमन निषिद्ध है। अध्व पथ और मार्ग भेद से दो प्रकार का है। जिसके बीच में ग्राम, नगर आदि कुछ भी न हों उसे पंथ कहते हैं। जो ग्रामानुग्राम की परंपरा से युक्त हो उसे मार्ग कहते हैं। रात्रि में मार्गरूप अध्वगमन करने से मिथ्यात्व, उड्डाह, संयमविराधना आदि अनेक दोष लगते हैं। पंथ दो प्रकार का होता

---

१. गा० २८३६–२९६८. २. गा० २९६९–३०००.
३. गा० ३००१–३०३७.

है : छिन्नाध्वा और अछिन्नाध्वा। रात्रि के समय पंथगमन करने से भी अनेक दोष लगते हैं। अपवादरूप से रात्रिगमन की छूट है किन्तु उसके लिए अध्वोपयोगी उपकरणों का संग्रह तथा योग्य सार्थ का सहयोग आवश्यक है। सार्थ पाँच प्रकार के हैं : १. भंडी, २. बहिलक, ३. भारवह, ४. औदरिक और ५. कार्पटिक। इनमें से किस प्रकार के सार्थ के साथ श्रमण श्रमणियों को जाना चाहिए, इसकी ओर निर्देश करते हुए आचार्य ने आठ प्रकार के सार्थवाहों और आठ प्रकार के आदियात्रिकों अर्थात् सार्थव्यवस्थापकों का उल्लेख किया है। इसके बाद सार्थवाह की अनुज्ञा लेने की विधि और भिक्षा, भक्तार्थना, वसति, स्थंडिल आदि से सम्बन्ध रखने वाली यतनाओं का वर्णन किया है। अध्वगमनोपयोगी अध्वकल्प का स्वरूप बताते हुए अध्वगमनसम्बन्धी अशिव, दुर्भिक्ष, राजद्विष्ट आदि व्याघातों और तत्सम्बन्धी यतनाओं का विस्तृत विवेचन किया है।[1]

संखडिप्रकृतसूत्र :

'संखडि' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है : **सम्-इति सामस्त्येन खण्ड्यन्ते त्रोट्यन्ते जीवानां वनस्पतिप्रभृतीनामायूंषि प्राचुर्येण यत्र प्रकरणविशेषे सा खलु संखडिरित्युच्यते** अर्थात् जिस प्रसंग विशेष पर सामूहिक रूप से वनस्पति आदि का उपभोग किया जाता हो उसे संखडि कहते हैं।[2] प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या मे यह बताया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को रात्रि के समय संखडि मे अथवा संखडि को लक्ष्य मे रख कर कहीं नहीं जाना चाहिए। माया, लोलुपता आदि कारणों से संखडि में जाने वाले को लगने वाले दोष, यावन्तिका, प्रगणिता, सक्षेत्रा, अक्षेत्रा, बाह्या, आकीर्णा आदि संखडि के विविध भेद और तत्सम्बन्धी दोषों का प्रायश्चित्त, संखडि मे जाने योग्य आपवादिक कारण और आवश्यक यतनाएँ आदि विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है।[3]

विचारभूमि-विहारभूमिप्रकृतसूत्र :

निर्ग्रन्थों को रात्रि के समय विचारभूमि—नीहारभूमि अथवा विहारभूमि—स्वाध्यायभूमि में अकेले नहीं जाना चाहिए। विचारभूमि दो प्रकार की है : कायिकीभूमि और उच्चारभूमि। इनमें रात्रि के समय अकेले जाने से अनेक दोष लगते हैं। अपवादरूप से अकेले जाने का प्रसङ्ग आनेपर विविध प्रकार की

१. गा० ३०३८-३१३८. २. गा० ३१४०. ३. गा० ३१४१-३२०६.

यतनाओं के सेवन का विधान किया गया है। इसी प्रकार निर्ग्रन्थी के लिए भी रात्रि के समय अकेली विचारभूमि और विहारभूमि में जाने का निषेध है।[1]

आर्यक्षेत्रप्रकृतसूत्र :

इस सूत्र की व्याख्या में आचार्य ने श्रमण-श्रमणियों के विहारयोग्य क्षेत्र की मर्यादाओं का विवेचन किया है। साथ ही आर्यक्षेत्रविषयक प्रस्तुत सूत्र अथवा सम्पूर्ण कल्पाध्ययन का ज्ञान न रखनेवाले अथवा ज्ञान होते हुए भी उसका आचरण न करनेवाले आचार्य की अयोग्यता का दिग्दर्शन कराया है। इस प्रसङ्ग पर साँप के सिर और पूँछ का सवाद, खसद्रुमशृगाल का आख्यान, बदर और चिड़िया का संवाद, वैद्यपुत्र का कथानक आदि उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। 'आर्य' पद का १. नाम, २. स्थापना, ३. द्रव्य, ४. क्षेत्र, ५. जाति, ६. कुल, ७. कर्म, ८. भाषा, ९. शिल्प, १०. ज्ञान, ११. दर्शन और १२. चारित्ररूप बारह प्रकार के निक्षेपों से विचार किया है। आर्यजातियाँ छः हैं : अम्बष्ठ, कलिन्द, वैदेह, विदक, हारित और तन्तुण। आर्यकुल भी छः हैं : उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, ज्ञात—कौरव और इक्ष्वाकु। आर्यक्षेत्र के बाहर विचरने से लगनेवाले दोषों का निरूपण करते हुए स्कन्दकाचार्य का दृष्टान्त दिया गया है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र की रक्षा और वृद्धि को दृष्टि में रखते हुए आर्यक्षेत्र के बाहर विचरने के विधान की दृष्टि से सम्प्रतिराज का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।[2] यहाँ तक प्रथम उद्देश का अधिकार है।

द्वितीय उद्देश :

द्वितीय उद्देश की व्याख्या मे निम्नलिखित सात प्रकार के सूत्रों का अधिकार है : १. उपाश्रयप्रकृत, २. सागारिकपारिहारिकप्रकृत, ३. आहृतिका-निहृतिकाप्रकृत, ४. अंशिकाप्रकृत, ५. पूज्यभक्तोपकरणप्रकृत, ६. उपधिप्रकृत, ७. रजोहरणप्रकृत।[3]

उपाश्रयप्रकृतसूत्रों के विवेचन में उपाश्रय के व्याघातों का विस्तृत वर्णन है। जिसमें शालि, व्रीहि आदि सचेतन धान्यकण बिखरे हुए हों उस उपाश्रय में श्रमण-श्रमणियों के लिए थोड़े से समय के लिए रहना भी वर्जित है। बीजाकीर्ण आदि उपाश्रयों में रहने से लगने वाले दोषों और प्रायश्चित्तों का निर्देश करते हुए भाष्यकार ने तद्विषयक अपवादों और यतनाओं की ओर भी संकेत किया है। प्रसंगवशात् उत्सर्गसूत्र, आपवादिकसूत्र, उत्सर्गापवादिकसूत्र, अपवादोत्स-

१. गा० ३२०७–३२३९. २. गा० ३२४०–३२८९.

गिकसूत्र, उत्सर्गोत्सर्गिकसूत्र, अपवादापवादिकसूत्र, देशसूत्र, निरवशेषसूत्र, उत्क्रमसूत्र और क्रमसूत्र का स्वरूप बताया है। आगे यह भी बताया है कि सुराविकटकुंभ, शीतोदकविकटकुंभ, ज्योति, दीपक, पिंड, दुग्ध, दधि, नवनीत, आगमन, विकट, वंशी, वृक्ष, अभ्रावकाश आदि पदार्थों से युक्त स्थानों मे रहना साधु-साध्वियों के लिए निषिद्ध है।[1]

सागारिकपारिहारिकप्रकृतसूत्रों का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने वसति के एक अथवा अनेक सागारिकों के आहार आदि के त्याग की विधि बताई है। इसका नौ द्वारों से विचार किया गया है: १. सागारिकद्वार, २. कः सागारिकद्वार, ३. कदा सागारिकद्वार, ४. कतिविधः सागारिकपिण्डद्वार, ५. अशय्यातरो वा कदाद्वार, ६. शय्यातरः कस्य परिहर्तव्यद्वार, ७. दोषद्वार, ८. कल्पनीयकारणद्वार ९. यतनाद्वार—पिता-पुत्रद्वार, सपत्नीद्वार, वणिग्द्वार, घटाद्वार और व्रजद्वार।[2]

आहृतिका-निहृतिकाप्रकृतसूत्रों की व्याख्या में दूसरों के यहां से आने वाली भोजन-सामग्री का दान करने वाले सागारिक और ग्रहण करने वाले श्रमण के कर्तव्यों का वर्णन किया गया है।[3]

अंशिकाप्रकृतसूत्र की व्याख्या में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि जब तक सागारिक की अंशिका (भाग) अलग न कर दी गई हो तब तक दूसरे का अंशिकापिण्ड श्रमण के लिए अग्रहणीय है। सागारिक की अंशिका का पांच प्रकार के द्वारों से वर्णन किया गया है: १. क्षेत्रद्वार, २. यन्त्रद्वार, ३. भोज्यद्वार, ४. क्षीरद्वार और ५. मालाकारद्वार।[4]

पूज्यभक्तोपकरणप्रकृतसूत्रों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि विशिष्ट व्यक्तियों के लिए निर्मित भक्त अथवा उपकरण सागारिक स्वयं अथवा उसके परिवार का कोई सदस्य श्रमण को दे तो उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए।[5]

उपधिप्रकृतसूत्र की व्याख्या में जाङ्गिक, भाङ्गिक, सानक, पोतक और तिरीटपट्टक—इन पांच प्रकार के वस्त्रों का स्वरूप, उपधि के परिभोग की विधि, उसकी संख्या, अपवाद आदि पर प्रकाश डाला गया है।[6]

---

१. गा० ३२९०–३५१७. २. गा० ३५१८–३६१५. ३. गा० ३६१६–३६४२. ४. गा० ३६४३–३६५२. ५. गा० ३६५३–८. ६. गा० ३६५९–३६७२.

रजोहरणप्रकृतसूत्र की व्याख्या में औणिक, औष्ट्रिक, सानक, वच्चकचिप्पक और मुञ्जचिप्पक—इन पांच प्रकार के रजोहरणों के स्वरूप, उनके ग्रहण की विधि, क्रम और कारणों का विचार किया गया है।[1]

तृतीय उद्देश—उपाश्रयप्रवेशप्रकृतसूत्र :

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि निर्ग्रन्थों को निर्ग्रन्थियों के और निर्ग्रन्थियों को निर्ग्रन्थों के उपाश्रय में शयन, आहार, विहार, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि करना वर्जित है। इस प्रसंग पर स्थविरादि से पूछकर अथवा बिना पूछे निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में बिना कारण जाने से आचार्यादि को लगनेवाले दोषों और ओघ प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है। किसी कारण से निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में प्रवेश करने का प्रसंग उपस्थित होने पर तद्विषयक आज्ञा, विधि और कारणों पर निम्नलिखित छः द्वारों से प्रकाश डाला गया है : १. कारणद्वार, २. प्राघुणकद्वार, ३. गणधरद्वार, ४. महर्द्धिकद्वार, ५. प्रच्छादनाद्वार, ६. असहिष्णुद्वार।[2]

चर्मप्रकृतसूत्र :

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थीविषयक चर्मोपयोग से सम्बन्धित विषयों का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने निर्ग्रन्थियों को सलोम चर्म के उपभोग से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त, तद्विषयक अपवाद, निर्ग्रन्थियों के लिए सलोम चर्म के निषेध के कारण, उत्सर्गरूप से निर्ग्रन्थों के लिए भी सलोम चर्म अकल्प्य, पुस्तकपंचक, तृणपंचक, दूष्यपंचकद्वय और चर्मपंचक का स्वरूप, तद्विषयक दोष, प्रायश्चित्त और यतनाएँ, निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए कृत्स्नचर्म अर्थात् वर्ण-प्रमाणादि से प्रतिपूर्ण चर्म के उपभोग अथवा संग्रह का निषेध, सकलकृत्स्न, प्रमाणकृत्स्न, वर्णकृत्स्न और बंधनकृत्स्न का स्वरूप, तत्सम्बन्धी दोष और प्रायश्चित्त, कृत्स्नचर्म के उपभोगादि से लगने वाले दोषों का गर्व, निर्मार्दवता, निरपेक्ष, निर्दय, निरन्तर और भूतोपघात द्वारों से निरूपण, तत्सम्बन्धी अपवाद और यतनाएँ, वर्ण-प्रमाणादि से रहित चर्म के उपभोग और संग्रह का विधान, सकारण अकृत्स्न का उपभोग और निष्कारणक उपभोग से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, अकृत्स्नचर्म के अष्टादश खण्ड आदि विषयों का विवेचन किया है।[3]

---

१. गा० ३६७३-८. २. गा० ३६७९-३८०४. ३. गा० ३८०५-३८७८.

कृत्स्नाकृत्स्नवस्त्रप्रकृतसूत्र :

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए कृत्स्नवस्त्र का संग्रह और उपभोग अकल्प्य है। उन्हें अकृत्स्नवस्त्र का संग्रह एवं उपयोग करना चाहिए। कृत्स्नवस्त्र का निक्षेप छः प्रकार का है: १. नामकृत्स्न, २. स्थापनाकृत्स्न, ३. द्रव्यकृत्स्न, ४. क्षेत्र-कृत्स्न, ५. कालकृत्स्न और ६. भावकृत्स्न। द्रव्यकृत्स्न के दो भेद हैं: सकलकृत्स्न और प्रमाणकृत्स्न। भावकृत्स्न दो प्रकार का है: वर्णयुत भावकृत्स्न और मूल्ययुत भावकृत्स्न। वर्णयुत भावकृत्स्न के पाँच भेद हैं: कृष्ण, नील, लोहित, पीत और शुक्ल। मूल्ययुत भावकृत्स्न के तीन भेद हैं: जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। इनके लिए विविध दोष, प्रायश्चित्त और अपवाद हैं।[1]

भिन्नाभिन्नवस्त्रप्रकृतसूत्र :

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए अभिन्न वस्त्र का संग्रह एवं उपयोग अकल्प्य है। इसका विवेचन करते हुए आचार्य ने निम्न विषयों का व्याख्यान किया है: कृत्स्न और अकृत्स्न पदों की भिन्न और अभिन्न पदों के साथ चतुर्भङ्गी; अभिन्न पद का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावदृष्टि से विचार; तद्ग्रहणसम्बन्धी विधि, प्रायश्चित्त आदि; भिन्न वस्त्र उपलब्ध न होने की अवस्था में अभिन्न वस्त्र का फाड़कर उपयोग करना; वस्त्र फाड़ने से लगनेवाली हिंसा-अहिंसा की चर्चा; द्रव्यहिंसा और भावहिंसा का स्वरूप; राग, द्वेष और मोह की विविधता के कारण कर्मबन्ध में न्यूनाधिकता; हिंसा करने मे रागादि की तीव्रता से तीव्र कर्मबन्ध और रागादि की मन्दता से मन्द कर्मबन्ध; हिंसक के ज्ञान और अज्ञान के कारण कर्मबन्ध में न्यूनाधिकता; हिंसक के क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक आदि भावों की विचित्रता के कारण कर्मबन्ध का वैचित्र्य; अधिकरण की विविधता के कारण कर्मबन्ध का वैविध्य; हिंसक के देहादि बल के कारण कर्मबन्ध की विविधता; जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक की उपधि और उसकी संख्या; स्थविरकल्पिक के पात्रकबन्ध और रजोहरण का माप; ग्रीष्म, शिशिर और वर्षाऋतु की दृष्टि से पटलकों की संख्या और माप; रजोहरण का स्वरूप और माप; संस्तारक, उत्तरपट्ट एवं चोलपट्ट; रजोहरण की ऊनी और सूती निषद्याएँ; मुखवस्त्रिका, गोच्छक, पात्रप्रत्युपेक्षणिका और पात्रस्थापन का माप; प्रमाणातिरिक्त उपधिसम्बन्धी अपवाद; न्यूनाधिक उपधि से लगने वाले दोष; वस्त्र का

---

१. गा० ३८७९-३९१७.

परिकर्म अर्थात् सन्धि; विधिपरिकर्म और अविधिपरिकर्म; विभूषा के लिए उपधि के प्रक्षालन आदि से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त; मूर्च्छायुक्त होकर उपधि रखने वाले को लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त; पात्रविषयक विधि; संख्या से अधिक अथवा न्यून और माप से बड़े अथवा छोटे पात्र रखने से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त; पात्र का माप; तद्विषयक अपवाद; पात्र के सुलक्षण और अपलक्षण; तुम्ब, काष्ठ और मृत्पात्र तथा यथाकृत, अल्पपरिकर्म और सपरिकर्म पात्र, ग्रहण के क्रम-भंग से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त; पात्र लाने वाले निर्ग्रन्थ की योग्यता; पात्र की याचना का समय; पात्र-याचना के दिवस; पात्र-प्राप्ति के स्थान; तन्दुलधावन, उष्णोदक आदि से भावित कल्प्य पात्र और उनके ग्रहण की विधि; पात्रग्रहणविषयक जघन्य यतना; तद्विषयक शंका समाधान; प्रमाणयुक्त पात्र की अनुपलब्धि की अवस्था में उपयोगपूर्वक पात्र का छेदन; पात्र के मुख का मान; मात्रकविषयक विधि, प्रमाण, अपवाद आदि; निर्ग्रन्थियों के लिए पचीस प्रकार की ओघोपधि; निर्ग्रन्थियों के शरीर के अधोभाग को ढंकने के लिए अवग्रहानंतक, पट्ट, अर्द्धोरुक, चलनिका, अन्तर्निवसनी और बहिर्निवसनी; ऊर्ध्वभाग को ढंकने के लिए कञ्चुक, औपकक्षिकी, वैकक्षिकी, संघाटी और स्कन्धकरणी; जिनकल्पिक, स्थविरकल्पिक और श्रमणियों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट उपधि का विभाग इत्यादि।[1]

अवग्रहानन्तक-अवग्रहपट्टकप्रकृतसूत्र :

निर्ग्रन्थियों को अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक नहीं रखने से अनेक दोष लगते हैं। इसके विषय में कुछ अपवाद भी हैं। निर्ग्रन्थियों को हमेशा पूरे वस्त्रों सहित विधिपूर्वक बाहर निकलना चाहिए। अविधिपूर्वक बाहर निकलने से लगने वाले दोषों का निरूपण करते हुए भाष्यकार ने नर्तकी आदि के उदाहरण दिए हैं। धर्षित—अपहृत निर्ग्रन्थी के परिपालन की विधि का निर्देश करते हुए उसका अवर्णवाद—अवहेलना आदि करने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है। इसी प्रसंग पर आचार्य ने यह भी बताया है कि पुरुषसंसर्ग के अभाव में भी पाँच कारणों से गर्भाधान हो सकता है। वे पाँच कारण ये हैं : १. दुर्विवृत एवं दुर्निषण्ण स्त्री की योनि में पुरुषनिसृष्ट शुक्रपुद्गल किसी प्रकार प्रविष्ट हो जाएँ, २. स्त्री स्वयं पुत्रकामना से उन्हें अपनी योनि में प्रवेश कराए, ३. अन्य कोई उन्हें उसकी योनि में रख दे, ४. वस्त्र के संसर्ग से शुक्रपुद्गल स्त्री-योनि में प्रविष्ट हो जाएँ, ५. उदकाचमन से स्त्री के भीतर शुक्रपुद्गल प्रविष्ट हो जाएँ।[2]

१. गा० ३९१८–४०९९. २. गा० ४१००–४१४७.

निश्राप्रकृत एवं त्रिकृत्स्नप्रकृतसूत्र :

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भिक्षा के लिए गई हुई निर्ग्रन्थी को वस्त्र आदि का ग्रहण करना हो तो प्रवर्तिनी की निश्रा में करना चाहिए। यदि प्रवर्तिनी साथ में न हो तो उस क्षेत्र में जो आचार्य आदि हों उनकी निश्रा में करना चाहिए।[1]

त्रिकृत्स्नप्रकृतसूत्र की व्याख्या में इस विधान का प्रतिपादन किया गया है कि प्रथम दीक्षा ग्रहण करने वाले श्रमण के लिए रजोहरण, गोच्छक और प्रतिग्रहरूप तीन प्रकार की उपधि का ग्रहण विहित है। यदि दीक्षा लेने वाले ने पहले भी दीक्षा ली हो तो वह नई उपधि लेकर प्रव्रजित नहीं हो सकता। इस प्रसंग पर आचार्य ने निम्न विषयों का विवेचन किया है : प्रथम दीक्षा ग्रहण करने वाले शिष्य के लिए चैत्य, आचार्य, उपाध्याय, भिक्षु आदि की पूजा-सत्कार की विधि; तद्विषयक विशोधिकोटि-अविशोधिकोटि का स्वरूप; रजोहरण, गोच्छक और प्रतिग्रहरूप त्रिकृत्स्न के क्रय के योग्य कुत्रिकापण; कुत्रिकापण वाले नगर; निर्ग्रन्थी के लिए चतुःकृत्स्न उपधि इत्यादि।[2]

समवसरणप्रकृतसूत्र :

श्रमण-श्रमणियों को प्रथम समवसरण अर्थात् वर्षाकाल से सम्बन्धित क्षेत्र-काल में प्राप्त वस्त्रों का ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस नियम की परिपुष्टि के लिए निम्न बातों का व्याख्यान किया गया है : वर्षाऋतु में अधिक उपधि लेने की आज्ञा, उसके कारण, तत्सम्बन्धी कुटुम्बी का दृष्टान्त, वर्षाऋतुयोग्य अधिक उपकरण नहीं रखने से सम्भावित दोष, वर्षाऋतु के योग्य उपकरण, तत्सम्बन्धी अपवाद, वर्षाऋतु की कालमर्यादा, वर्षावास के क्षेत्र से निकले हुए श्रमण-श्रमणियों के लिए वस्त्रादि ग्रहण करने की विधि, अपवाद आदि।[3]

यथारत्नाधिकवस्त्रपरिभाजनप्रकृतसूत्र :

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में वस्त्र-विभाजन की विधि की ओर निर्देश किया गया है। इसमें बताया गया है कि यथारत्नाधिक परिभाजन का क्या अर्थ है, क्रमभंग में क्या दोष हैं, गुरुओं के योग्य वस्त्र कौन-से हैं, रत्नाधिक कौन हैं, उनका क्या क्रम है, सम्मिलित रूप से लाए गए वस्त्रों के परिभाजन—विभाजन का क्या क्रम है, लोभी साधु के साथ वस्त्र-विभाजन के समय कैसा व्यवहार करना चाहिए

---

१. गा० ४१४८–४१८८. २. गा० ४१८९–४२३४; ३. गा० ४२३५–४३०७.

आदि।[1] सचित्त, अचित्त और मिश्रग्रहण का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने बताया है कि जल, अग्नि, चौर, दुर्भिक्ष, महारण्य, ग्लान, श्वापद आदि भयप्रद प्रसंगों की उपस्थिति में आचार्य, उपाध्याय, भिक्षु, क्षुल्लक और स्थविर—इन पाँच निर्ग्रन्थों तथा प्रवर्तिनी, उपाध्याया, स्थविरा, भिक्षुणी और क्षुल्लिका—इन पाँच निर्ग्रन्थियों में से किसकी किस क्रम से रक्षा करनी चाहिए।[2] इसी प्रकार यथारत्नाधिकशय्यासंस्तारकपरिभाजनप्रकृतसूत्र की भी व्याख्या की गई है।[3]

कृतिकर्मप्रकृतसूत्र :

कृतिकर्म दो प्रकार का है : अभ्युत्थान और वन्दनक। निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को पार्श्वस्थ आदि अन्यतीर्थिक, गृहस्थ, यथाछंद आदि को देखकर अभ्युत्थान नहीं करना चाहिए अर्थात् खड़े नहीं होना चाहिए। आचार्यादि को आते देख कर अभ्युत्थान न करनेवाले को दोष लगता है. वन्दनक कृतिकर्म का स्वरूप बताते हुए निम्नोक्त बातों की चर्चा की गई है : दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण में आचार्य, उपाध्याय आदि को वंदना न करने, वंदना के पदों को न पालने तथा हीनाधिक वंदनक करने से लगनेवाले दोषों का प्रायश्चित्त; वन्दनक-विषयक पचीस आवश्यक क्रियाएँ; अनादृत, स्तब्ध, प्रवृद्ध, परिपिण्डित, टोलगति, अंकुश आदि बत्तीस दोष और उनके लिए प्रायश्चित्त; आचार्यादि को वन्दना करने की विधि; विधि का विपर्यास करनेवाले के लिए प्रायश्चित्त; आचार्य से पर्यायज्येष्ठ को आचार्य वन्दन करे या नहीं—इसका विधान; आचार्य के रत्नाधिकों का स्वरूप; वन्दना किसे करनी चाहिए और किसे नहीं करनी चाहिए—इसका निर्णय; श्रेणिस्थितों को वन्दना करने की विधि; व्यवहार और निश्चयनय से श्रेणिस्थितों की प्रामाणिकता की स्थापना; संयमश्रेणि का स्वरूप; अपवादरूप से पार्श्वस्थादि के साथ किन स्थानों में किस प्रकार के अभ्युत्थान और वन्दनक का व्यवहार रखना चाहिए इत्यादि।[4]

अन्तरगृहस्थानादिप्रकृतसूत्र :

साधु साध्वियों के लिए घर के अन्दर अथवा दो घरों के बीच में रहना, बैठना, सोना आदि वर्जित है। इसी प्रकार अन्तरगृह में चार-पाँच गाथाओं का आख्यान, पंच महाव्रतों का व्याख्यान आदि निषिद्ध है। खड़े-खड़े एकाध श्लोक

१. गा० ४३०८–४३२९. २. गा० ४३३३–४३५२. ३. गा० ४३६७–४४१३. ४. गा० ४४१४–४५५३.

अथवा गाथा का आख्यान करने में कोई दोष नहीं है। इससे अधिक गाथाओं अथवा श्लोकों का व्याख्यान करने से अनेक प्रकार के दोषों की सम्भावना रहती है अतः वैसा करना निषिद्ध है।[1]

शय्या-संस्तारकप्रकृतसूत्र :

प्रथम शय्यासंस्तारकसूत्र की व्याख्या में यह बताया गया है कि शय्या और संस्तारक के परिशाटी और अपरिशाटी ये दो भेद हैं। श्रमण-श्रमणियों को माँग कर लाया हुआ शय्या-संस्तारक स्वामी को सौंप कर ही अन्यत्र विहार करना चाहिए। ऐसा न करनेवाले को अनेक दोष लगते हैं।

द्वितीय सूत्र की व्याख्या में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को अपने तैयार किये हुए शय्या-संस्तारक को बिखेर कर ही अन्यत्र विहार करना चाहिए।

तृतीय सूत्र के व्याख्यान में इस बात पर जोर दिया गया है कि शय्या-संस्तारक की चोरी हो जाने पर साधु-साध्वियों को उसकी खोज करनी चाहिए। खोज करने पर मिल जाने पर उसी स्वामी को वापिस सौंपना चाहिए। न मिलने पर दूसरी बार याचना करके नया शय्या-संस्तारक जुटाना चाहिए। संस्तारक आदि चुरा न लिये जाएँ इसके लिए उपाश्रय को सूना नहीं छोड़ना चाहिए। सावधानी रखने पर भी उपकरण आदि की चोरी हो जाने पर उन्हें ढूँढने के लिए राजपुरुषों को विधिपूर्वक समझाना चाहिए।[2]

साधर्मिकावग्रहप्रकृतसूत्र :

जिस दिन श्रमणों ने अपनी वसति और संस्तारक का त्याग किया हो उसी दिन यदि दूसरे श्रमण वहाँ आ जायँ तो भी एक दिन तक पहले के श्रमणों का ही अवग्रह बना रहता है। प्रस्तुत सूत्र-विवेचन में शैक्षविषयक अवग्रह का भी विचार किया गया है। वास्तव्य और वाताहृत—आगन्तुक शैक्ष का अभ्याघात आदि ग्यारह द्वारों से वर्णन किया गया है। साथ ही अवस्थितावग्रह, अनवस्थितावग्रह, राजावग्रह आदि का स्वरूप-वर्णन भी किया गया है।[3]

सेनादिप्रकृतसूत्र :

परचक्र, अशिव, अवमौदर्य, बोधिकस्तेनभय आदि की संभावना होने पर निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को पहले से ही उस क्षेत्र से बाहर निकल जाना चाहिए।

१. गा० ४५५४–४५९७. २. गा० ४५९८–४६४९. ३. गा० ४६५०–४७९४.

वैसा न करने से अनेक प्रकार के दोष लगते हैं। परचक्रागमन और नगररोध की स्थिति में वहाँ से न निकल सकने की दशा में भिक्षा, भक्तार्थना, वसति, स्थण्डिल और शरीरविवेचन सम्बन्धी विविध यतनाओं का सेवन करना चाहिए।[1]

श्रमण-श्रमणियों को चारों दिशा-विदिशाओं मे सवा योजन का अवग्रह लेकर ग्राम, नगर आदि में रहना चाहिए। इस प्रसंग पर भाष्यकार ने सव्याघात और निर्व्याघात क्षेत्र, क्षेत्रिक और अक्षेत्रिक, आभाव्य और अनाभाव्य, अचल और चल क्षेत्र, व्रजिका, सार्थ, सेना, संवर्त आदि का स्वरूप बताया है और एतत्सम्बन्धी अवग्रह की मर्यादा का निर्देश किया है।[2]

चतुर्थ उद्देश :

इस उद्देश मे अनुद्घातिक आदि से सम्बन्ध रखनेवाले सोलह प्रकार के सूत्र हैं। भाष्यकार ने जिन विषयों का इनकी व्याख्या में समावेश किया है उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

१. अनुद्घातिकप्रकृतसूत्र—इसकी व्याख्या मे यह बताया गया है कि हस्तकर्म, मैथुन और रात्रिभोजन अनुद्घातिक अर्थात् गुरु प्रायश्चित्त के योग्य हैं। हस्तकर्म का स्वरूप वर्णन करते हुए असंक्लिष्ट भावहस्तकर्म के छेदन, भेदन, घर्षण, पेषण, अभिघात, स्नेह, काय और क्षाररूप आठ भेद बताये गए हैं। मैथुन का स्वरूप बताते हुए देव, मनुष्य और तिर्यञ्चसम्बन्धी मैथुन की ओर निर्देश किया गया है और बताया गया है कि मैथुनभाव रागादि से रहित नहीं होता अतः उसके लिए किसी प्रकार के अपवाद का विधान नहीं किया गया है। रात्रिभोजन का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने तत्सम्बन्धी अपवाद, यतनाएँ, प्रायश्चित्त आदि का निरूपण किया है।[3]

२. पाराञ्चिकप्रकृतसूत्र—दुष्ट, प्रमत्त और अन्योन्यकारक पारांचिक प्रायश्चित्त के योग्य हैं। पारांचिक के आशातनापारांचिक और प्रतिसेवनापारांचिक ये दो भेद हैं। आशातनापारांचिक का सम्बन्ध १. तीर्थंकर, २. प्रवचन, ३. श्रुत, ४. आचार्य, ५. गणधर और ६. महर्द्धिक से है। प्रतिसेवनापारांचिक के तीन भेद हैं : दुष्ट, प्रमत्त और अन्योन्यकारक। दुष्टपारांचिक दो प्रकार का है : कषायदुष्ट और विषयदुष्ट। प्रमाद पाँच प्रकार का है : कषाय, विकथा, विकट,

१. गा० ४७९५–४८३९. २. गा० ४८४०–४८७६. ३. गा० ४८७७–४९९८.

इन्द्रियाँ और निद्रा। प्रस्तुत अधिकार स्त्यानर्द्धि निद्रा का है। अन्योन्यकारक-पारांचिक का उपाश्रय, कुल, निवेशन, लिंग, तप, काल आदि दृष्टियों से विचार किया गया है।[1]

३. अनवस्थाप्यप्रकृतसूत्र—अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य तीन प्रकार के अपराध हैं: साधर्मिकस्तैन्य, अन्यधार्मिकस्तैन्य और हस्तताल। साधर्मिकस्तैन्य का निम्न द्वारों से विचार किया गया है: १. साधर्मिकोपधिस्तैन्य, २. व्यापारणा, ३. ध्यामना, ४. प्रस्थापना, ५. शैक्ष, ६. आहारविधि। अन्यधार्मिकस्तैन्य का प्रव्रजितान्यधार्मिकस्तैन्य और गृहस्थान्यधार्मिकस्तैन्य की दृष्टि से विवेचन किया गया है। हस्तताल का अर्थ है हस्त, खड्ग आदि से आताडन। हस्तताल के स्वरूप के साथ ही आचार्य ने हस्तालम्ब और अर्थादान का स्वरूप भी बताया है।[2]

४. प्रव्राजनादिप्रकृतसूत्र—पंडक, क्लीब और वातिक प्रव्रज्या के लिए अयोग्य हैं। पंडक के सामान्यतया छः लक्षण हैं: १. महिलास्वभाव, २. स्वर-भेद, ३. वर्णभेद, ४. महन्मेढ्र—प्रलम्ब अङ्गादान, ५. मृदुवाक्, ६. सशब्द और अफेनक मूत्र। पंडक के दो भेद हैं: दूषितपंडक और उपघातपंडक। दूषितपंडक के पुनः दो भेद हैं: आसिक्त और उपसिक्त। उपघातपंडक के भी दो भेद हैं: वेदोपघातपंडक और उपकरणोपघातपंडक। वेदोपघातपंडक का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने हेमकुमार का उदाहरण दिया है तथा उपकरणोपघातपंडक का वर्णन करते हुए एक ही जन्म में पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेद का अनुभव करनेवाले कपिल का दृष्टान्त दिया है। मैथुन के विचारमात्र से जिसके अंगादान में विकार उत्पन्न हो जाता है तथा बीजबिन्दु गिरने लग जाते हैं वह क्लीब है। महामोहकर्म का उदय होने पर ऐसा होता है। सनिमित्तक अथवा अनिमित्तक मोहोदय से किसी के प्रति विकार उत्पन्न होने पर जब तक उसकी प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक मानसिक स्थिरता नहीं रहती। इसी को वातिक कहते हैं। अपवादरूप से पंडक आदि को दीक्षा दी जा सकती है किन्तु उनके रहन-सहन आदि की विशेष व्यवस्था करनी पड़ती है। पंडक, क्लीब और वातिक जैसे प्रव्रज्या के लिए अयोग्य हैं वैसे ही मुंडन, शिक्षा, उपस्थापना, सहभोजन, सहवास आदि के लिए भी अनुपयुक्त हैं।[3]

---

१. गा० ४९९९–५०५७. २. गा० ५०५८–५११७. ३. गा० ५११८–५१९६.

५. **वाचनाप्रकृतसूत्र**—अविनीत, विकृतिप्रतिबद्ध और अव्यवशमित-प्राभृत वाचना के अयोग्य हैं। इसके विपरीत विनीत, विकृतिहीन और उपशान्त-कषाय वाचना के योग्य हैं।[१]

६. **संज्ञाप्यप्रकृतसूत्र**—दुष्ट, मूढ़ और व्युद्ग्राहित उपदेश आदि के अनधिकारी हैं। अदुष्ट, अमूढ़ और अव्युद्ग्राहित उपदेश आदि के वास्तविक अधिकारी हैं।[२]

७. **ग्लानप्रकृतसूत्र**—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ रुग्णावस्था में हों उस समय उनकी विविध यतनाओं के साथ सेवा करनी चाहिए।[३]

८. **काल-क्षेत्रातिक्रान्तप्रकृतसूत्र**—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए कालातिक्रान्त तथा क्षेत्रातिक्रान्त अशनादि अकल्प्य है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक के लिए कालातिक्रान्त और क्षेत्रातिक्रान्त की भिन्न-भिन्न मर्यादाएँ हैं।[४]

९. **अनेषणीयप्रकृतसूत्र**—भिक्षाचर्या में कदाचित् अनेषणीय—अशुद्ध स्निग्ध अशनादि ले लिया गया हो तो उसे अनुपस्थापित (अनारोपितमहाव्रत) शिष्य को दे देना चाहिए। यदि कोई वैसा शिष्य न हो तो उसका प्रासुक भूमि में विसर्जन कर देना चाहिए।[५]

१०. **कल्पाकल्पस्थितप्रकृतसूत्र**—जो अशनादि कल्पस्थित श्रमणों के लिए कल्प्य है वह अकल्पस्थित श्रमणों के लिए अकल्प्य है। इसी प्रकार जो अशनादि अकल्पस्थित श्रमणों के लिए कल्प्य है वह कल्पस्थित श्रमणों के लिए अकल्प्य है।[६]

११. **गणान्तरोपसम्पत्प्रकृतसूत्र**—किसी भी निर्ग्रन्थ को किसी कारण से अन्य गण में उपसम्पदा ग्रहण करनी हो तो आचार्य आदि से पूछकर ही वैसा करना चाहिए। ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि के लिए ही *गणान्तरोपसम्पदा* स्वीकार की जाती है। ज्ञानोपसम्पदा, दर्शनोपसम्पदा और चारित्रोपसम्पदा के ग्रहण की विभिन्न विधियाँ हैं।[७]

१२. **विष्वग्भवनप्रकृतसूत्र**—इसमें मृत्युप्राप्त भिक्षु आदि के शरीर की परिष्ठापना का विचार किया गया है। इसके लिए निम्नलिखित द्वारों का आश्रय लिया गया है: १. प्रत्युपेक्षणाद्वार, २. दिग्द्वार, ३. णन्तकद्वार, ४. कालगत-द्वार, ५. जागरण-बन्धन-छेदनद्वार, ६. कुशप्रतिमाद्वार, ७. निवर्तनद्वार, ८. मात्रकद्वार, ९. शीर्षद्वार, १०. तृणादिद्वार, ११. उपकरणद्वार, १२. कायोत्सर्ग-

---

१. गा० ५१९७–५२१०. २. गा० ५२११–५२३५. ३. गा० ५२३६–५२६२. ४. गा० ५२६३–५३१४. ५. गा० ५३१५–५३३८. ६. गा० ५३३९–५३६१. ७. गा० ५३६२–५४९६.

द्वार, १३. प्रादक्षिण्यद्वार, १४. अभ्युत्थानद्वार, १५. व्याहरणद्वार, १६. परिष्ठापक-कायोत्सर्गद्वार, १७. क्षपण-स्वाध्यायमार्गणाद्वार, १८. व्युत्सर्जनद्वार, १९. अवलोकनद्वार।[1]

१३. **अधिकरणप्रकृतसूत्र**—भिक्षु का गृहस्थ के साथ अधिकरण—झगड़ा हो गया हो तो उसे शान्त किए बिना भिक्षाचर्या आदि करना अकल्प्य है।[2]

१४. **परिहारिकप्रकृतसूत्र**—परिहारतप में स्थित भिक्षु को इन्द्रमहादि उत्सवों के दिन विपुल भक्त-पानादि दिया जा सकता है। बाद में नहीं। उनकी अन्य प्रकार की सेवा तो बाद मे भी की जा सकती है।[3]

१५. **महानदीप्रकृतसूत्र**—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को गंगा, यमुना, सरयू, कोशिका, मही आदि महानदियों को महीने मे एक से अधिक बार पार नहीं करना चाहिए। ऐरावती आदि कम गहरी नदियाँ महीने मे दो-तीन बार पार की जा सकती हैं। नदी पार करने के लिए संक्रम, स्थल और नोस्थल—इस प्रकार तीन तरह के मार्ग बताये गये हैं।[4]

१६. **उपाश्रयविधिप्रकृतसूत्र**—इन सूत्रों की व्याख्या में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए वर्षाऋतु एवं अन्य ऋतुओं में रहने योग्य उपाश्रयों का वर्णन किया गया है।[5]

पंचम उद्देश :

इस उद्देश में ब्रह्मापाय आदि ग्यारह प्रकार के सूत्र हैं। भाष्यकार ने इन सूत्रों की व्याख्या में निम्न विषयों का समावेश किया है:—

१. **ब्रह्मापायप्रकृतसूत्र**—गच्छसम्बन्धी शास्त्र स्मरणविषयक व्याघातों का धर्मकथा, महर्द्धिक, आवश्यकी, नैषेधिकी, आलोचना, वादी, प्राघूर्णक, महाजन, ग्लान आदि द्वारों से निरूपण, शास्त्रस्मरण के लिए गुरु की आज्ञा, गच्छवास के गुणों का वर्णन।[6]

२. **अधिकरणप्रकृतसूत्र**—अधिकरण—क्लेश की शान्ति न करते हुए स्वगण को छोड़कर अन्य गण में जाने वाले भिक्षु, उपाध्याय, आचार्य आदि से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, क्लेश के कारण गच्छ का त्याग न करते हुए क्लेशयुक्त चित्त से गच्छ मे रहने वाले भिक्षु आदि को शान्त करने की विधि, शान्त न होने वाले को लगने वाले दोष, प्रायश्चित्त आदि।[7]

---

१. गा० ५४९७–५५६५. २. गा० ५५६६–५५९३. ३. गा० ५५९४–५६१७. ४. गा० ५६१८–५६६४. ५. गा० ५६६५–५६८१. ६. गा० ५६८२–५७२५. ७. गा० ५७२६–५७८३.

३. संस्तृतनिर्विचिकित्सप्रकृतसूत्र—सशक्त अथवा अशक्त भिक्षु आदि सूर्य के उदय और अस्ताभाव के प्रति निःशंक होकर आहार आदि ग्रहण करते हों और बाद में ऐसा मालूम हो कि सूर्योदय हुआ ही नहीं है अथवा सूर्यास्त हो गया है। ऐसी दशा मे आहार आदि का त्याग कर देने पर उनकी रात्रि-भोजनविरति अखंडित ही रहती है। जो सूर्योदय और सूर्यास्त के प्रति शंकाशील होकर आहारादि ग्रहण करते हैं उनकी रात्रिभोजनविरति खंडित होती है—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन।[१]

४. उद्गारप्रकृतसूत्र—भिक्षु, आचार्य आदि सम्बन्धी उद्गार—वमनादि विषयक दोष, प्रायश्चित्त आदि, उद्गार के कारण, उद्गार की दृष्टि से भोजन विषयक विविध आदेश, तद्विषयक अपवाद आदि।[२]

५. आहारविधिप्रकृतसूत्र—जिस प्रदेश मे आहार, जल आदि जीवादि से संसक्त ही मिलते हों उस प्रदेश में जाने का विचार, प्रयत्न आदि करने से लगने वाले दोष, प्रायश्चित्त आदि, अशिव, दुर्भिक्ष आदि कारणों से ऐसे प्रदेश में जाने का प्रसंग आने पर तद्विषयक विविध यतनाएँ।[३]

६. पानकविधिप्रकृतसूत्र—पानक अर्थात् पानी के ग्रहण की विधि, उसके परिष्ठापन की विधि, तद्विषयक अपवाद आदि।[४]

७. ब्रह्मरक्षाप्रकृतसूत्र—पशु-पक्षी के स्पर्श आदि से सभावित दोष, प्रायश्चित्त आदि, अकेली रहने वाली निर्ग्रन्थी को लगने वाले दोष, प्रायश्चित्त, अपवाद आदि, नग्न निर्ग्रन्थी को लगने वाले दोष आदि, पात्ररहित निर्ग्रन्थी को लगने वाले दोष आदि, निर्ग्रन्थी के लिए व्युत्सृष्ट काय की अकल्प्यता, निर्ग्रन्थी के लिए ग्राम, नगर आदि के बाहर आतापना लेने का निषेध, जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट आतापना का स्वरूप, निर्ग्रन्थी के लिए उपयुक्त आतापनाएँ, स्थानायत, प्रतिमास्थित, निषद्या, उत्कटिकासन, वीरासन, दण्डासन, लगण्डशायी, अवाङ्मुख, उत्तान, आम्रकुब्ज, एकपार्श्वशायी आदि आसनों का स्वरूप और निर्ग्रन्थियों के लिए तद्विषयक विधि-निषेध, निर्ग्रन्थियों के लिए आकुंचनपट्ट के उपयोग का निषेध, निर्ग्रन्थियों के लिए सावश्रय आसन, सविषाण पीठफलक, सवृन्त अलाबु, सवृन्त पात्रकेसरिका और दारुदण्डक के उपयोग का प्रतिषेध।[५]

---

१. गा० ५७८४–५८२८. २. गा० ५८२९–५८६०. ३. गा० ५८६१–५८९६. ४. गा० ५८९७–५९१८. ५. गा० ५९१९–५९७५.

८. मोकप्रकृतसूत्र—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए परस्पर मोक के आचमन आदि का निषेध।[1]

९. परिवासितप्रकृतसूत्र—परिवासित आहार का स्वरूप, परिवासित आहार और अनाहार विषयक दोष, अपवाद आदि, परिवासित आलेपनद्रव्य के उपयोग का निषेध, परिवासित तैल आदि से अभ्यंगन आदि करने का निषेध।[2]

१०. व्यवहारप्रकृतसूत्र—परिहारकल्पस्थित भिक्षु को लगने वाले कारण-जन्य अतिक्रमादि दोष और उनका प्रायश्चित्त आदि।[3]

११. पुलाकभक्तप्रकृतसूत्र—धान्यपुलाक, गंधपुलाक और रसपुलाक का स्वरूप, पुलाकभक्तविषयक दोषों का वर्णन, निर्ग्रन्थियों के लिए पुलाकभक्त का निषेध।[4]

षष्ठ उद्देश :

इस उद्देश मे वचन आदि से सम्बन्धित सात प्रकार के सूत्र हैं। भाष्यकार संघदासगणि क्षमाश्रमण ने इन सूत्रों की व्याख्या मे जिन विषयों पर प्रकाश डाला है उनका क्रमशः परिचय इस प्रकार है :—

१. वचनप्रकृतसूत्र—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को अलीक, हीलित, खिंसित, परुष, अगारस्थित और व्यवशमितोदीरण वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इन्हें अवचन अर्थात् दुर्वचन कहा गया है। अलीक वचन के निम्नलिखित सत्रह स्थान हैं : १. प्रचला, २. आर्द्र, ३. मरुक, ४. प्रत्याख्यान, ५. गमन, ६. पर्याय, ७. समुद्देश, ८. संखडी, ९. क्षुल्लक, १०. पारिहारिक, ११. घोटकमुखी, १२. अवश्यगमन, १३. दिग्विषय, १४. एककुलगमन, १५. एकद्रव्यग्रहण, १६. गमन, १७. भोजन।[5]

२. प्रस्तारप्रकृतसूत्र—इस सूत्र की व्याख्या में प्राणवधवाद, मृषावाद, अदत्तादानवाद, अविरतिवाद, अपुरुषवाद और दासवादविषयक प्रायश्चित्तों के प्रस्तारों—रचना के विविध प्रकारों का निरूपण किया गया है। साथ ही प्रस्तार-विषयक अपवादों का भी विधान किया गया है।[6]

१. गा० ५९७६–५९९६. २. गा० ५९९७–६०३२. ३. गा० ६०३३–६०४६. ४. गा० ६०४७–६०५९. ५. गा० ६०६०–६१२८. ६. गा० ६१२९–६१६२.

३. कण्टकाद्युद्धरणप्रकृतसूत्र—इस प्रसंग पर निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थीविषयक कंटक आदि के उद्धरण से सम्बन्धित उत्सर्गमार्ग, विपर्यासजन्य दोष, प्रायश्चित्त, अपवाद, यतनाएँ आदि बातों का विचार किया गया है।[१]

४. दुर्गप्रकृतसूत्र—इस प्रसंग पर यह बताया गया है कि श्रमण-श्रमणियों को दुर्ग अर्थात् विषम मार्ग से नहीं जाना चाहिये। इसी प्रकार पंक आदि वाले मार्ग से भी नहीं जाना चाहिए।[२]

५. क्षिप्तचित्तादिप्रकृतसूत्र—विविध कारणों से क्षिप्तचित्त हुई निर्ग्रन्थी को समझाने का क्या मार्ग है, क्षिप्तचित्त निर्ग्रन्थी की देख-रेख की क्या विधि है, दीप्तचित्त होने के क्या कारण हैं, दीप्तचित्त श्रमणी के लिए किन यतनाओं का परिपालन आवश्यक है—आदि प्रश्नों का विचार करते हुए आचार्य ने उन्माद, उपसर्ग, अधिकरण—क्लेश, प्रायश्चित्त, भक्तपान, अर्थजात आदि विषयों की दृष्टि से निर्ग्रन्थीविषयक विधि-निषेधों का विवेचन किया है।[३]

६. परिमन्थप्रकृतसूत्र—साधुओं के लिए छः प्रकार के परिमन्थ अर्थात् व्याघात माने गए हैं: १. कौकुचिक, २. मौखरिक, ३. चक्षुर्लोल, ४. तिंतिणिक, ५. इच्छालोम, ६. भिज्जानिदानकरण। प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में इन परिमन्थों के स्वरूप, दोष, अपवाद आदि का विचार किया गया है।[४]

७. कल्पस्थितिप्रकृतसूत्र—इस सूत्र का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने निम्नलिखित छः प्रकार की कल्पस्थितियों का वर्णन किया है: १. सामायिककल्पस्थिति, २. छेदोपस्थापनीयकल्पस्थिति, ३. निर्विशमानकल्पस्थिति, ४. निर्विष्टकायिककल्पस्थिति, ५. जिनकल्पस्थिति, ६. स्थविरकल्पस्थिति। छेदोपस्थापनीयकल्पस्थिति का दस स्थानों द्वारा निरूपण किया है: १. आचेलक्यकल्पद्वार—अचेलक का स्वरूप, अचेलक-सचेलक का विभाग, वस्त्रों का स्वरूप आदि, २. औद्देशिककल्पद्वार, ३. शय्यातरपिण्डकल्पद्वार, ४. राजपिण्डकल्पद्वार—राजा का स्वरूप, आठ प्रकार के राजपिण्ड आदि, ५. कृतिकल्पद्वार, ६. व्रतकल्पद्वार—पंचव्रतात्मक और चतुर्व्रतात्मक धर्म की व्यवस्था, ७. ज्येष्ठकल्पद्वार, ८. प्रतिक्रमणकल्पद्वार, ९. मासकल्पद्वार, १०. पर्युषणाकल्पद्वार। बृहत्कल्पसूत्र के प्रस्तुत भाष्य की समाप्ति करते हुए आचार्य ने कल्पाध्ययन शास्त्र के अधिकारी और अनधिकारी का संक्षिप्त निरूपण किया है।[५]

---

१. गा० ६१६३–६१८१. २. गा० ६१८२–६१९३. ३. गा० ६१९४–६३१०. ४. गा० ६३११–६३४८. ५. गा० ६३४९–६४९०.

बृहत्कल्प-लघुभाष्य के इस सारग्राही संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि इसमें जैन साधुओं—मुनियों—श्रमणों—निर्ग्रन्थों—भिक्षुओं के आचार-विचार का अत्यन्त सूक्ष्म एवं सतर्क विवेचन किया गया है। विवेचन के कुछ स्थल ऐसे भी हैं जिनका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अच्छा अध्ययन हो सकता है। तत्कालीन भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री का भी इसमें बाहुल्य है। इन सब दृष्टियों से प्रस्तुत भाष्य का भारतीय साहित्य के इतिहास में निःसन्देह एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन साहित्य के इतिहास के लिए इसका महत्त्व और भी महान् है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। संघदासगणि क्षमाश्रमण का भारतीय साहित्य पर और विशेषकर जैन साहित्य पर महान् उपकार है कि जिन्होंने जैन आचार पर इस प्रकार के समृद्ध, सुव्यवस्थित एवं सर्वांगसुन्दर ग्रंथ का निर्माण किया।

पंचम प्रकरण

व्यवहारभाष्य

व्यवहार सूत्र भी बृहत्कल्प सूत्र की ही भाँति साधु-साध्वियों के आचार से सम्बन्ध रखता है। इसमें दस उद्देश हैं। इन उद्देशों में आलोचना, प्रायश्चित्त, गच्छ, पदवी, विहार, मृत्यु, उपाश्रय, उपकरण, प्रतिमाएँ आदि विषयों का वर्णन किया है। प्रस्तुत भाष्य[1] इन्हीं विषयों पर विशेष प्रकाश डालता है। व्यवहारभाष्य के कर्तृत्व के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। बृहत्कल्प-लघुभाष्य का परिचय देते समय हमने जैन श्रमणों के आचारसम्बन्धी नियमों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। व्यवहारभाष्य के परिचय में उन्हीं विषयों की ओर विशेष ध्यान दिया जाएगा जिनका विशेष विवेचन बृहत्कल्प के भाष्य मे नहीं किया गया है।

पीठिका :

बृहत्कल्पभाष्यकार की भाँति व्यवहारभाष्यकार ने भी अपने भाष्य के प्रारम्भ मे पीठिका दी है। पीठिका में सर्वप्रथम व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य का निक्षेप-पद्धति से स्वरूप-वर्णन किया गया है। जो स्वयं व्यवहार से अभिज्ञ है वह गीतार्थ है। जिसे व्यवहार का कोई ज्ञान नहीं है वह अगीतार्थ है। अगीतार्थ के साथ पुरुष को व्यवहार नहीं करना चाहिए क्योंकि यथोचित व्यवहार करने पर भी वह यही समझेगा कि मेरे साथ उचित व्यवहार नहीं किया गया। अतः गीतार्थ के साथ ही व्यवहार करना चाहिए।[2]

व्यवहार आदि मे दोषों की सम्भावना रहती है अतः उनके लिए प्रायश्चित्तों का भी विधान किया जाता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए भाष्यकार ने प्रायश्चित्त का अर्थ, भेद, निमित्त, अध्ययनविशेष, तदर्हपर्षद् आदि दृष्टियों से

---

१. निर्युक्ति-भाष्य-मलयगिरिविवरणसहित : संशोधक-मुनि माणेक; प्रकाशक-केशवलाल प्रेमचन्द मोदी व त्रिकमलाल उगरचन्द, अहमदाबाद, वि० सं० १९८२-५.

२. प्रथम विभाग : गा० २७.

विवेचन किया है।[1] प्रस्तुत भाष्य में प्रायश्चित्त का ठीक वही अर्थ किया गया है जो जीतकल्पभाष्य में उपलब्ध है।[2] प्रतिसेवना, संयोजना, आरोपणा और परिकुञ्चना—इन चारों के लिए चार प्रकार के प्रायश्चित्त बताये गए हैं।[3] प्रतिसेवना आदि के स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्तों का अनेक प्रकार के भेद-प्रभेदों के साथ विचार किया गया है। बृहत्कल्पभाष्यकार की भाँति व्यवहार-भाष्यकार ने भी अनेक बातों का दृष्टान्तपूर्वक स्पष्टीकरण किया है।[4]

प्रथम उद्देश :

पीठिका की समाप्ति के बाद आचार्य सूत्र-स्पर्शिक निर्युक्ति का व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं। प्रलम्ब आदि के सम्बन्ध में आचार्य ने संकेत किया है कि कल्प नामक अध्ययन में जिस प्रकार इनका निषेध किया गया है उसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिए।[5] प्रथम सूत्र में आने वाले 'भिक्षु' शब्द का नाम, स्थापना, द्रव्य और भावदृष्टि से विचार किया गया है।[6] 'मास' शब्द का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावनिक्षेप से प्ररूपण किया गया है और बताया गया है कि प्रस्तुत अधिकार कालमास का है।[7] 'परिहार' शब्द का निम्न दृष्टियों से विवेचन किया गया है : १. नाम, २. स्थापना, ३. द्रव्य, ४. परिरय, ५. परिहरण, ६. वर्जन, ७. अनुग्रह, ८. आपन्न, ९. शुद्ध।[8] इसी प्रकार 'स्थान', 'प्रतिसेवना', 'आलोचना' आदि पदों की व्याख्या की गई है। आलोचना की विधि की ओर निर्देश करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार एक छोटा बालक अपने माता-पिता के सामने सरल भाव से अपने मन की सब बातें रख देता है उसी प्रकार आलोचक को भी सरल भाव से अपने गुरु के समक्ष अपने प्रत्येक प्रकार के अपराध को रख देना चाहिए। ऐसा करने से उसमें आर्जव, विनय, निर्मलता, निःशल्यता आदि अनेक गुणों की वृद्धि होती है।[9] प्रायश्चित्त के

---

१. गा० ३४.

२. पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं तु भण्णए तेणं।
पाएण वा वि चित्तं, विसोहए तेण पच्छित्तं॥
—व्यवहारभाष्य, ३५.

पावं छिंदति जम्हा, पायच्छित्तं ति भण्णते तेणं।
पायेण वा वि चित्तं, सोहयई तेण पच्छित्तं॥
—जीतकल्पभाष्य, ५.

३. गा० ३६. ४. गा० ३७–१८४. ५. द्वितीय विभाग : गा० २. ६. गा० ३–१२. ७. गा० १३–२६. ८. गा० २७–९. ९. गा० १३४.

विविध विधानों की ओर संकेत करते हुए इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि कपटपूर्वक आलोचना करने वाले के लिए कठोर प्रायश्चित्त का आदेश है। मासिकादि प्रायश्चित्त का सेवन करते हुए प्रायश्चित्त में वृद्धि-हानि क्यों होती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि इस वृद्धि-हानि का कारण सर्वज्ञों ने राग-द्वेष-हर्ष आदि अध्यवसायों की मात्रा बताया है।[1]

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार—इन चार प्रकार के आधाकर्मादि विषयक अतिचारों के लिए भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्तों का विधान है। अतिक्रम के लिए मासगुरु, व्यतिक्रम के लिए मासगुरु और काललघु, अतिचार के लिए तपोगुरु और कालगुरु और अनाचार के लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त है। ये सब प्रायश्चित्त स्थविरकल्पिकों की दृष्टि से हैं। जिनकल्पिकों के लिए भी इनका विधान है किन्तु प्रायः वे इन अतिचारों का सेवन नहीं करते।[2]

किस प्रकार के दोष के लिए किस प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान किया जाता है, इसे समझाने के लिए भाष्यकार ने वातादि रोग की उपशान्ति के लिए प्रयुज्यमान घृतकुट के चार भंगों का दृष्टान्त दिया है। ये चार भंग इस प्रकार हैं: कभी एक घृतकुट से एक रोग का नाश होता है, कभी एक घृतकुट से अनेक रोगों का नाश होता है, कभी अनेक घृतकुटों से एक रोग दूर होता है और कभी अनेक घृतकुटों से अनेक रोग नष्ट होते हैं। इसी प्रकार विविध दोषों के लिए विविध प्रायश्चित्तों का विधान किया जाता है।[3] मूलगुण और उत्तरगुण के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए आचार्य ने बताया है कि एक की रक्षा एवं परिवृद्धि के लिए दूसरे का परिपालन आवश्यक है। यही कारण है कि दोनों प्रकार के गुणों के दोषों की परिशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है और बताया गया है कि दोनों की शुद्धि से ही चारित्र शुद्ध रहता है।[4]

उत्तरगुणों की संख्या की ओर अपना ध्यान खींचते हुए भाष्यकार कहते हैं कि पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा और अभिग्रह उत्तरगुणान्तर्गत हैं। इनके क्रमशः बयालीस, आठ, पचीस, बारह, बारह और चार भेद हैं।[5] प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष दो प्रकार के होते हैं: निर्गत और वर्तमान। जो तपोर्ह प्रायश्चित्त से अतिक्रान्त हो चुके होते हैं उन्हें निर्गत कहते हैं तथा जो उसमें विद्यमान

१. गा० ११६. २. गा० २५१-३. ३. गा० २५७-२६२.
४. गा० २८१-८. ५. गा० २८९-२९०.

होते हैं उन्हें वर्तमान कहते हैं। वर्तमान के पुनः दो भेद हैं: संचयित और असंचयित। ये दोनों पुनः दो-दो प्रकार के हैं: उद्घात और अनुद्घात। निर्गत तप से तो निकल जाते हैं किन्तु छेदादि प्रायश्चित्तों में विद्यमान रहते हैं। संचयित, असंचयित आदि के लिए भिन्न-भिन्न काल की प्रस्थापनाएं होती हैं। असंचयित प्रायश्चित्त के लिए यथावसर एक मास से छः मास तक की प्रस्थापना होती है जबकि संचयित प्रायश्चित्त के लिए नियमतः छः मास की प्रस्थापना होती है।[1]

प्रायश्चित्तार्ह अर्थात् प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष चार प्रकार के होते हैं: उभयतर, आत्मतर, परतर और अन्यतर। जो पुरुष तप करता हुआ दूसरों की सेवा भी कर सकता हो वह उभयतर है। जो केवल तप ही कर सकता है वह आत्मतर है। जो केवल आचार्य आदि की सेवा ही कर सकता है वह परतर है। जो तप और सेवा इन दोनों में से एक समय में किसी एक का ही सेवन कर सकता हो वह अन्यतर है।[2]

निकाचना आदि प्रायश्चित्तों का वर्णन करते हुए इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि निकाचना वस्तुतः आलोचना ही है। आलोचना आलोचनार्ह और आलोचक के बिना नहीं होती अतः आलोचनार्ह और आलोचक का विवेचन करना चाहिए। आलोचनार्ह निरपलापी होता है तथा निम्नलिखित आठ विशेषणों से युक्त होता है: आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडक, प्रकुर्वी, निर्यापक, अपायदर्शी और अपरिश्रावी। आलोचक निम्नलिखित दस विशेषणों से युक्त होता है: जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चरणसम्पन्न, क्षान्त, दान्त, अमायी और अपश्चात्तापी।[3] इसी प्रकार भाष्यकार ने आलोचना के दोष, तद्विषयभूत द्रव्यादि, प्रायश्चित्तदान की विधि आदि का भी विवेचन किया है।[4]

परिहार आदि तपों का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने तपसहभावी सेवा—वैयावृत्य का स्वरूप-वर्णन किया है। वैयावृत्य के तीन भेद हैं: अनुशिष्टि, उपालम्भ और अनुग्रह। इन तीनों में से प्रत्येक के पुनः तीन भेद हैं: आत्मविषयक, परविषयक और उभयविषयक।[5] इनका स्वरूप समझाने के लिए सुभद्रा, मृगावती आदि के उदाहरण भी दिये गये हैं।

---

१. गा० २९३–४. २. गा० २९८–९. ३. गा० ३१६–३४०.
४. गा० ३४१–३५३. ५. गा० ३७४.

मूल सूत्र में आने वाले 'पट्ठव'—'प्रस्थापना' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रायश्चित्तप्रस्थापना दो प्रकार की होती है : एक और अनेक। संचयित प्रायश्चित्तप्रस्थापना नियमतः षाण्मासिकी होती है अतः वह एक प्रकार की ही है। शेष अनेक प्रकार की हैं।[1]

'आरोपणा' पांच प्रकार की है : प्रस्थापनिका, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना और हाडहडा। यह पाँच प्रकार की आरोपणा प्रायश्चित्त की है। आचार्य ने इन प्रकारों का स्वरूप बताते हुए हाडहडा का विशेष वर्णन किया है।[2]

प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष दो प्रकार के होते हैं : कृतकरण और अकृतकरण। कृतकरण के पुनः दो भेद हैं: सापेक्ष और निरपेक्ष। जिनादि निरपेक्ष कृतकरण हैं। सापेक्ष कृतकरण तीन प्रकार के हैं: आचार्य, उपाध्याय और भिक्षु। अकृतकरण दो प्रकार के हैं: अनधिगत और अधिगत। जिन्होंने सूत्रार्थ का ग्रहण नहीं किया होता है वे अनधिगत हैं। गृहीतसूत्रार्थ अधिगत कहलाते हैं। अथवा प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष दो प्रकार के हैं: सापेक्ष और निरपेक्ष। निरपेक्ष पुरुष नियमतः कृतकरण होते हैं। सापेक्ष पुरुष तीन प्रकार के हैं: आचार्य, उपाध्याय और भिक्षु। ये तीनों दो प्रकार के हैं : कृतकरण और अकृतकरण। ये दोनों पुनः दो प्रकार के हैं : गीतार्थ और अगीतार्थ। इन दोनों के पुनः दो भेद हैं : स्थिर और अस्थिर।[3] इन भेद-प्रभेदों का वर्णन करने के बाद आचार्य ने परिहारतप का बहुत विस्तार से विवेचन किया है। तदनन्तर साधुओं और साध्वियों की निस्तारणविधि का प्रतिपादन किया है। विविध भावनाओं का विवेचन करते हुए आचार्य ने मासिकी, द्वैमासिकी आदि प्रतिमाओं का परिचय दिया है तथा शिथिलतावश गच्छ छोड़ कर पुनः गच्छ में सम्मिलित होने वाले श्रमण के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान किया है। पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द, कुशील, अवसन्न और संसक्त की व्युत्पत्ति, उत्पत्ति, प्रायश्चित्त आदि पर भी भाष्यकार ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। पार्श्वस्थ के दो भेद हैं : देशतः पार्श्वस्थ और सर्वतः पार्श्वस्थ। सर्वतः पार्श्वस्थ के तीन विकल्प हैं : पार्श्वस्थ, प्रास्वस्थ और पाशस्थ। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप आदि के पार्श्व अर्थात् तट पर विचरता है वह पार्श्वस्थ है। जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के प्रति स्वस्थ भाव तो रखता है किन्तु उनमें उद्यमशील नहीं होता अर्थात् उनकी प्राप्ति के लिए परिश्रम नहीं करता वह प्रास्वस्थ है। जो मिथ्यात्व

---

१. गा० ४१२. २. गा० ४१३–७. ३. गा० ४१८–४२०.

आदि बन्धहेतुरूप पाशों में स्थित होता है वह पार्श्वस्थ है। देशतः पार्श्वस्थ शय्यातरपिण्ड आदि का भोग करता हुआ विचरता है।[1] जो स्वयं उत्सूत्र का आचरण करता है अर्थात् परिभ्रष्ट है तथा दूसरों को भी वैसे ही आचरण की शिक्षा देता है वह यथाच्छन्द है। जो ज्ञानाचार आदि की विराधना करता है वह कुशील है। अवसन्न दो प्रकार का है: देशतः और सर्वतः। आवश्यकादि में हीनता, अधिकता, विपर्यय आदि दोषों का सेवन करने वाला देशावसन्न कहलाता है। जो समय पर संस्तारक आदि का प्रत्युपेक्षण नहीं करता वह सर्वावसन्न है। जो पार्श्वस्थादि का संसर्ग प्राप्त कर उन्हीं के समान हो जाता है वह संसक्त कहलाता है। संसक्त दो प्रकार का है: असंक्लिष्ट और संक्लिष्ट। जो पार्श्वस्थ में मिल कर पार्श्वस्थ हो जाता है, यथाच्छन्द में मिलकर यथाच्छन्द हो जाता है और इसी प्रकार कुशीलादि में मिल कर कुशीलादि के समान हो जाता है वह असंक्लिष्ट संसक्त है। जो पाँच प्रकार के आस्रव में प्रवृत्त होते हुए भी तीन प्रकार के गौरव से प्रतिबद्ध होता है तथा स्त्री आदि में बँधा होता है वह संक्लिष्ट संसक्त है। इन सब प्रकार के व्यक्तियों के लिए विभिन्न प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है।[2]

साधुओं के विहार की चर्चा करते हुए एकाकी विहार का निषेध किया गया है तथा तत्सम्बन्धी अनेक दोषों का वर्णन किया गया है। बिना किसी विशेष कारण के आचार्यादि को छोड़कर नहीं रहना चाहिए। जिस गच्छ में आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक, प्रवर्तक और स्थविर—इन पाँच में से एक भी विद्यमान न हो उस गच्छ में नहीं रहना चाहिए क्योंकि वहाँ अनेक दोषों की संभावना रहती है। भाष्यकार ने इन दोषों का स्वरूप समझाते हुए एक वणिक् का दृष्टान्त दिया है। वह इस प्रकार है: किसी बनिये के पास बहुत-सा धन इकट्ठा हो गया। तब उसने सोचा—मैं कहाँ जाकर रहूँ कि इस धन का अच्छी तरह उपभोग कर सकूँ? ऐसा विचार करते हुए उसने निश्चय किया कि जहाँ पर ये पाँच आधार न हों वहाँ रहना ठीक नहीं। वे पाँच आधार ये हैं: राजा, वैद्य, धनिक, नियतिक और रूपयक्ष अर्थात् धर्मपाठक। जहाँ राजादि पाँच प्रकार के लोग न हों वहाँ धन का अथवा जीवन का नाश हुए बिना नहीं रहता। परिणामतः द्रव्योपार्जन विफल सिद्ध होता है। अथवा राजा, युवराज, महत्तरक, अमात्य तथा कुमार—इन पाँच प्रकार के व्यक्तियों से परिगृहीत राज्य गुणविशाल होता है। इस प्रकार के गुणविशाल राज्य में रहना चाहिए।

---

1. तृतीय विभाग: गा० २२६-२३०. 2. गा० २३४ से आगे.

राजा कैसा होना चाहिए ? जो उभय योनि अर्थात् मातृपक्ष और पितृपक्ष से शुद्ध है, प्रजा से आय का दशम भागमात्र ग्रहण करता है, लोकाचार, दार्शनिक सिद्धान्त एवं नीतिशास्त्र मे निपुण है तथा धर्म में श्रद्धा रखता है वह वास्तव में राजा है, शेष राजाभास हैं। राजा स्वभुजोपार्जित पाँच प्रकार के (रूप-रसादि) गुणों का निरुद्विग्न होकर उपभोग करता है तथा देशपरिपन्थनादि व्यापार से विप्रमुक्त होता है। युवराज कैसा होना चाहिए ? जो प्रातःकाल उठकर शरीरशुद्धि आदि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर आस्थानिका मे जाकर सब कामों की विचारणा करता है वह युवराज है। महत्तरक के लक्षण ये हैं: जो गम्भीर है, मार्दवोपेत है, कुशल है, जाति और विनयसम्पन्न है तथा युवराजसहित राज्यकार्यों का प्रेक्षण करता है वह महत्तरक है। अमात्य कैसा होना चाहिए ? जो व्यवहारकुशल और नीतिसम्पन्न होकर जनपद, पुरवर (राजधानी) और नरपति का हित-चिन्तन करता है वह अमात्य है। अमात्य राजा को भी शिक्षा देता है। इस प्रसंग पर भाष्यकार ने राजा और पुरोहित अपनी-अपनी भार्या द्वारा किस प्रकार घसीटे गए, इसका बहुत रोचक उदाहरण दिया है। कुमार का स्वरूप इस प्रकार है: जो दुर्दान्त आदि लोगों का दमन करता हुआ संग्रामनीति मे अपनी कुशलता का परिचय देता है वह कुमार है।[1] इस प्रकार राजा आदि के स्वरूप का वर्णन करने के बाद आचार्य वैद्य आदि का स्वरूप बताते हैं। जो वैद्यकशास्त्रों का सम्यग्ज्ञाता है तथा माता-पिता आदि से सम्बन्धित रोगों का नाश कर स्वास्थ्य प्रदान करता है वह वैद्य है। जिसके पास पिता-पितामह आदि परम्परा से प्राप्त करोड़ों की सम्पत्ति विद्यमान हो वह धनिक है। नियतिक अथवा नैयतिक का स्वरूप इस प्रकार है: जिसके पास भोजन के लिए निम्नलिखित सत्रह प्रकार के धान्य के भाण्डार भरे हुए हों वह नैयतिक—नियतिक है: १. शालि, २. यव, ३. कोद्रव, ४. व्रीहि, ५. रालक, ६. तिल, ७. मुद्ग, ८. माष, ९. चवल, १०. चणक, ११. तुवरी, १२. मसुरक, १३. कुलत्थ, १४. गोधूम, १५. निष्पाव, १६. अतसी, १७. सण। रूपयक्ष का स्वरूप बताते हुए भाष्यकार कहते है कि जो माढर और कौण्डिन्य की दण्डनीति मे कुशल है, किसी से भी उत्कोच नहीं लेता तथा किसी प्रकार का पक्षपात नहीं करता वह रूपयक्ष अर्थात् मूर्तिमान् धर्मैकनिष्ठ देव है। यहाँ तक वणिक् दृष्टान्त का अधिकार है।[2] इस दृष्टान्त को साधुओं पर घटाते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार राजा आदि के अभाव में

१. तृतीय विभाग : पृ० १२७-१३१. २. वही, पृ० १३१-२.

उपर्युक्त वणिक् का कहीं वास करना उचित नहीं उसी प्रकार साधु के लिए भी जिस गच्छ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गीतार्थ न हों उस गच्छ में रहना ठीक नहीं। इसके बाद भाष्यकार ने आचार्य आदि के स्वरूप का वर्णन किया है।[1]

द्वितीय उद्देश :

द्वितीय उद्देश के प्रथम सूत्र की सूत्र-स्पर्शिक व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने 'द्वि', 'साधर्मिक' और 'विहार' का निक्षेप-पद्धति से विवेचन किया है। 'द्वि' शब्द का छः प्रकार का निक्षेप होता है : नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। 'साधर्मिक' शब्द के निम्नलिखित बारह निक्षेप हैं : नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रवचन, लिंग, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, अभिग्रह और भावना। 'विहार' शब्द का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप से विचार होता है। जिससे विविध प्रकार के कर्मरज का हरण होता है वह भावविहार है। भावविहार दो प्रकार का होता है : गीतार्थ और गीतार्थनिश्रित। गीतार्थ दो प्रकार के हैं : गच्छगत और गच्छनिर्गत। गच्छनिर्गत जिनकल्पिक गीतार्थ है। इसी प्रकार परिहारविशुद्धिक और यथालन्दकल्पिकप्रतिमापन्न भी गीतार्थ हैं। गच्छगत गीतार्थ में दो प्रकार की ऋद्धियाँ हैं : आचार्य और उपाध्याय। शेष गीतार्थनिश्रित हैं।[2] जो स्वयं अगीतार्थ है अथवा अगीतार्थनिश्रित है वह आत्मविराधना, संयमविराधना आदि दोषों का भागी होता है। इन आत्मविराधना आदि दोषों का भाष्यकार ने मार्ग, क्षेत्र, विहार, मिथ्यात्व, एषणा, शोधि, ग्लान और स्तैन—इन आठ द्वारों से निरूपण किया है।[3] गीतार्थ और गीतार्थनिश्रित भावविहार पुनः दो प्रकार का है : समासकल्प और असमासकल्प। समासकल्प के पुनः दो भेद हैं : जघन्य और उत्कृष्ट। तीन गीतार्थों का विहार जघन्य समासकल्प है। उत्कृष्ट समासकल्प तो बत्तीस हजार का होता है। तीन का समासकल्प जघन्य होता है अतः दो विचरने वालों को लघुक मास प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसी प्रकार अगीतार्थों के लिए भी विविध प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है। दो के विहार में अनेक दोषों की संभावना रहती है अतः दो का विहार अकल्प्य है।[4] उपद्रव, दुर्भिक्ष आदि अवस्थाओं में अपवादरूप से दो के विहार का भी विधान है। कारणवशात् दो साधु साथ विचरें और दोनों को कोई दोष लगे तो एक की तपस्या के समय

1. वही, पृ० १३२–७. 2. चतुर्थ विभाग : गा० ३–२१.
3. गा० २४–९. 4. गा० ३१–४९.

दूसरे को उसकी सेवा करनी चाहिए और दूसरे की तपस्या के समय पहले को उसकी सेवा करनी चाहिए। अनेक समान साधु साथ विचरते हों और उन सबको एक साथ कोई दोष लगा हो तो उनमें से किसी एक को प्रधान बनाकर अन्य साधुओं को तपश्चर्या करनी चाहिए। अन्त में उस प्रधान साधु को उचित प्रायश्चित्त करना चाहिए।[1]

परिहार तप करने वाला यदि रुग्ण हो जाए और उसे किसी प्रकार का दोष लगे तो उसकी आलोचना करते हुए उसे तप करना चाहिए तथा अशक्ति की अवस्था में दूसरों को उसकी सेवा करनी चाहिए। इस विषय का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने परिहार तप के विविध दोषों और प्रायश्चित्तों का वर्णन किया है। इसी प्रकार अनवस्थाप्य, पारांचित आदि से सम्बन्धित वैयावृत्य का भी विधान किया गया है।[2] क्षिप्तचित्त की सेवा का विवेचन करते हुए आचार्य कहते हैं कि संक्षेप में दो प्रकार के क्षिप्तचित्त होते हैं : लौकिक और लोकोत्तरिक। व्यक्ति क्षिप्तचित्त क्यों होता है? आचार्य ने क्षिप्तचित्त होने के तीन कारण बताये हैं : राग, भय अथवा अपमान। इन तीन प्रकार के कारणों से व्यक्ति क्षिप्तचित्त होता है। इनका स्वरूप समझाने के लिए विविध उदाहरण भी दिये गये हैं। क्षिप्तचित्त को अपने हीनभाव से किस प्रकार मुक्त किया जा सकता है, इसका भाष्यकार ने विविध दृष्टान्त देते हुए अत्यन्त रोचक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है।[3] क्षिप्तचित्त से ठीक विरोधी स्वभाव वाले दीप्तचित्त का विश्लेषण करते हुए आचार्य कहते हैं कि क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त में यह अन्तर है कि क्षिप्तचित्त प्रायः मौन रहता है जबकि दीप्तचित्त अनावश्यक बक-झक किया करता है। दीप्तचित्त होने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि क्षिप्तचित्त होने का मुख्य कारण अपमान है जबकि विशिष्ट सम्मान के मद के कारण व्यक्ति दीप्तचित्त बनता है। लाभमद से मत्त होने पर अथवा दुर्जय शत्रुओं की जीत के मद से उन्मत्त होने पर अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य कारण से व्यक्ति दीप्तचित्त बनता है।[4] आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा मे कहा जाए तो महद्भाव जो कि हीनभाव से सर्वथा विपरीत है, दीप्तचित्त होने का मूल कारण है। इसी प्रकार आचार्य ने यक्षाविष्ट, उन्मत्त, मोहित, उपसर्गप्राप्त, साधिकरण, सप्रायश्चित्त, अर्थजात, अनवस्थाप्य, पारां-

१. गा० ५०–६१. २. गा० ६२–१०१. ३. गा० १०२–११६.
४. गा० १४९–१५१.

चित आदि की शुश्रूषा, यतना आदि का वर्णन किया है।[1] सूत्रस्पर्शिक विवेचन करते हुए भाष्यकार ने एकपाक्षिक के दो भेद किये हैं : प्रव्रज्याविषयक और सूत्रविषयक। इसी प्रसंग पर आचार्य, उपाध्याय आदि की स्थापना की विधि, दोष, प्रायश्चित्त, अपवाद आदि तथा पारिहारिक और अपारिहारिक के पारस्परिक व्यवहार, खान-पान, रहन-सहन आदि का भी विचार किया गया है।[2]

तृतीय उद्देश :

गणधारण की इच्छा करने वाले भिक्षु की योग्यता-अयोग्यता का निरूपण करते हुए भाष्यकार ने सर्वप्रथम 'इच्छा' का नामादि निक्षेपों से व्याख्यान किया है। तदनन्तर 'गण' का निक्षेप-पद्धति से विवेचन किया है। गणधारण क्यों किया जाता है, इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार ने बताया है कि निर्जरा के लिए ही गणधारण किया जाता है, न कि पूजा आदि के निमित्त। गणधारण करने वाला यति महातडाग के समान होता है जो अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं में भी गंभीर एवं शान्त रहता है।[3] इसी प्रकार आचार्य ने अन्य अनेक उदाहरण देकर गणधारण करने वाले की योग्यता का दिग्दर्शन कराया है। भावपरिच्छिन्न शिष्य के विद्यमान होने पर आचार्य को उसे गणधारण की अनुमति देनी चाहिए तथा अपने पास शिष्य होने पर कम से कम तीन शिष्य उसे देने चाहिए। ऐसा क्यों ? इसलिए कि तीन शिष्यों में से एक किसी भी समय उसके पास रह सके तथा दो भिक्षा आदि के लिए आ सकें।[4]

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर आदि पदवियों के धारण करने वालों की योग्यता-अयोग्यता का विचार करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो एकादशाङ्गसूत्रार्थधारी हैं, नवम पूर्व के ज्ञाता हैं, कृतयोगी हैं, बहुश्रुत हैं, बह्वागम है, सूत्रार्थविशारद हैं, धीर हैं, श्रुतनिघर्ष हैं, महाजन-नायक हैं वे आचार्य, उपाध्याय आदि पदों के योग्य हैं।[5]

आचार्य आदि की स्थापना का वर्णन करते हुए भाष्यकार ने नव, डहरक, तरुण, मध्यम, स्थविर आदि विभिन्न अवस्थाओं का स्वरूप बताया है और लिखा है कि आचार्य के मर जाने पर विधिपूर्वक अन्य गणधर का अभिषेक करना चाहिए। वैसा न करने वालों के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। अन्य गणधर की स्थापना किये बिना आचार्य की मृत्यु का समाचार प्रकाशित नहीं करना चाहिए। इस विधान की पुष्टि के लिए राजा का दृष्टान्त दिया गया है। अन्य

१. गा० १६६–२११. २. गा० ३३१–३८२. ३. चतुर्थ विभाग—तृतीय उद्देश : गा० ६–१६. ४. गा० १०–१. ५. गा० १२१–३.

गणधर की स्थापना किये बिना आचार्य की मृत्यु का समाचार प्रकाशित करने से गच्छक्षोभ का सामना करना पड़ता है। कोई यह सोचने लगता है कि हम लोग अब अनाथ हो गए। कुछ लोग स्वच्छन्दचारिता का प्रश्रय ले लेते हैं। कोई क्षिप्तचित्त हो जाते हैं। कभी-कभी स्वपक्ष और परपक्ष मे स्तेन उठ खड़े होते हैं। कुछ साधु लता की भाँति काँपने लगते हैं। कुछ तरुण आचार्य की पिपासा से अन्यत्र चले जाते हैं।[1]

प्रवर्तिनी के गुणों का वर्णन करते हुए भाष्यकार ने साध्वियों की दुर्बलताओं का चित्रण किया है तथा स्त्रियो के विषय में लिखा है कि स्त्री उत्पन्न होने पर पिता के वश में होती है, विवाहित होने पर पति के वश में हो जाती है तथा विधवा होने पर पुत्र के वश में हो जाती है। इस प्रकार नारी कभी भी खुद के वश मे नहीं रहती। पैदा होने पर नारी की माता-पिता रक्षा करते हैं, विवाह हो जाने पर पति, श्वशुर, श्वश्रू आदि रक्षा करते हैं, विधवा हो जाने पर पिता, भ्राता, पुत्र आदि रक्षा करते हैं। इसी प्रकार आर्यिका की भी आचार्य, उपाध्याय, गणिनी—प्रवर्तिनी आदि रक्षा करते हैं।[2]

मैथुनसेवन के दोषों का स्वरूप बताते हुए आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक, साधु आदि के लिए भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्तों, परिस्थितियों एवं प्रव्रज्या के नियमों पर प्रकाश डाला गया है। मैथुनसेवन के दो भेद हैं: सापेक्ष और निरपेक्ष। जो मैथुनसेवन की इच्छा होने पर अपने गुरु से पूछ लेते हैं वे सापेक्ष मैथुनसेवक हैं। जो गुरु से बिना पूछे ही मैथुन का सेवन करते रहते हैं वे निरपेक्ष मैथुन-सेवक हैं। इन दोनों प्रकार के साधुओं के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रायश्चित्त हैं।[3] इसी प्रकार गणावच्छेदक, उपाध्याय, आचार्य आदि के लिए भी विभिन्न प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है।[4] मृषावाद आदि अन्य अतिचारों के सेवन का वर्णन करते हुए तत्सम्बन्धी विविध प्रायश्चित्तों का विवेचन किया गया है। व्यवहारी और अव्यवहारी का स्वरूप बताते हुए भाष्यकार ने एक आचार्य का उदाहरण दिया है। आचार्य के पास सोलह शिष्य बैठे हुए थे जिनमे से आठ व्यवहारी थे और आठ अव्यवहारी। निम्नलिखित आठ प्रकार के व्यवहारियों की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए: १. ककटुक, २. कुणप, ३. पक्क, ४. उत्तर, ५. चार्वाक, ६. बधिर, ७. गुण्ठसमान, ८. अम्लसमान। इन आठों प्रकार के व्यवहारियो का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।[5]

---

१. गा० २२०-९. २. गा० २३३-४. ३. गा० २३८-२५४.
४. गा० २५५-२७८. ५. गा० ३३८-३७२.

चतुर्थ उद्देश :

इस उद्देश में मुख्यरूप से साधुओं के विहार का विधि-विधान है। शीत और उष्णकाल के आठ महीनों में आचार्य और उपाध्याय को कोई अन्य साधु साथ में न हो तो विहार नहीं करना चाहिए। गणावच्छेदक को अन्य साधु साथ में हो तो भी विहार नहीं करना चाहिए। उसे साथ में दो साधु होने पर ही विहार करना चाहिए। इसी प्रकार आचार्य और उपाध्याय को अन्य साधु साथ में हो तो भी अलग चातुर्मास नहीं करना चाहिए। उन्हें अन्य दो साधुओं के साथ मे होने पर ही अलग चातुर्मास करना चाहिए। गणावच्छेदक के लिए चातुर्मास में कम-से-कम तीन साधुओं का सहवास अनिवार्य है। साधु जिस नायक के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा रहे हों उसका मार्ग में देहावसान हो जाए तो उन साधुओं को अपने में से श्रेष्ठ गीतार्थ और चारित्रवान् को नायक बना लेना चाहिए। इस प्रकार के योग्य नायक का अभाव प्रतीत होने पर उन्हें जहाँ अपने अन्य साधु विचरते हों वहाँ चले जाना चाहिए। वैसा न करने पर छेद अथवा परिहार तप का प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसी प्रकार चातुर्मास में किसी नायक का देहावसान हो जाए तो योग्य साधु को नया नायक नियुक्त कर लेना चाहिए। कदाचित् वैसा न हो सके तो अपने समुदाय के अन्य साधुओं के साथ मिल जाना चाहिए। बने जहाँ तक चातुर्मास में विहार करने का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होने देना चाहिए। आचार्य अथवा उपाध्याय बीमार पड़ जाएँ और समुदाय के साधुओं से कहें कि अमुक साधु को मेरी पदवी प्रदान करना और वे इस लोक मे न रहे तो उस साधु को उस समय पदवी के योग्य होने की अवस्था में ही पदवी प्रदान करनी चाहिए, अयोग्यता की अवस्था मे नहीं। कदाचित् उसे पदवी प्रदान कर दी गई हो किन्तु उसमें आवश्यक योग्यता न हो तो अन्य साधुओं को उसे कहना चाहिए कि तुम इस पदवी के अयोग्य हो अतः इसे छोड़ दो। ऐसी अवस्था में यदि वह पदवी का त्याग कर देता है तो उसे किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है। एक समुदाय के दो साधु साथ विचरते हों, उनमें एक चारित्र—पर्याय की दृष्टि से छोटा हो और दूसरा उसी दृष्टि से बड़ा हो तथा छोटा साधु शिष्यवाला हो और बड़े साधु के पास कोई शिष्य न हो तो छोटे साधु को बड़े साधु की आज्ञा में रहना चाहिए तथा उसे आहार-पानी आदि के लिए अपने शिष्य देने चाहिए। यदि बड़ा साधु शिष्य-परिवार से युक्त हो और छोटे साधु के पास एक भी शिष्य न हो तो छोटे को अपनी आज्ञा में रखना अथवा न रखना बड़े की इच्छा पर निर्भर है। इसी प्रकार अपना शिष्य उसकी

सेवा के लिए नियुक्त करना या न करना उसकी इच्छा पर है। सारांश यह है कि साथ विचरनेवाले साधुओं में जो गीतार्थ और रत्नाधिक हो उसी को नायक बनाना चाहिए एवं उसकी आज्ञा में रहना चाहिए।

प्रस्तुत उद्देश के सूत्रों का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने निम्न विषयों का वर्णन किया है : चार कल्प—जातसमाप्तकल्प, जातअसमाप्तकल्प, अजातसमाप्तकल्प और अजातअसमाप्तकल्प, वर्षाकाल और विहार, वर्षावास के लिए उपयुक्त स्थान (चिक्खल, प्राण, स्थण्डिल, वसति, गोरस, जनसमाकुल, वैद्य, औषध, निचय, अधिपति, पाषण्ड, भिक्षा और स्वाध्याय—इन तेरह द्वारों से विचार), त्रैवर्षिकस्थापना, गणधरस्थापन की उपयुक्त विधि, उपस्थापना के नियम, ग्लान की वैयावृत्य, अवग्रह का विभाग, तीन प्रकार की अनुकम्पा—गव्यूत, द्व्यर्धगव्यूत और द्विगव्यूतसम्बन्धी अथवा आहार, उपधि और शय्याविषयक इत्यादि।[1]

पंचम उद्देश :

इस उद्देश मे साध्वियों के विहार के नियमों पर प्रकाश डाला गया है। प्रवर्तिनी आदि विभिन्न पदों को दृष्टि में रखते हुए विविध विधि-विधानों का निरूपण किया गया है। प्रवर्तिनी के लिए शीत और उष्णऋतु में एक साध्वी को साथ रखकर विहार करने का निषेध है। इन ऋतुओं मे कम से कम दो साध्वियाँ उसके साथ रहनी चाहिए। गणावच्छेदिनी के लिए कम से कम तीन साध्वियों को साथ रखने का नियम है। वर्षाऋतु के लिए उक्त संख्याओं में एक की वृद्धि की गई है। नायिका का देहावसान हो जाने पर अन्य नायिका की नियुक्ति के लिए वे ही नियम हैं जो चतुर्थ उद्देश मे साधुओं के लिए बताये गये हैं। साधु को रात्रि के समय, संध्या के समय अथवा अन्य किसी समय साँप काट खाए तो सर्वप्रथम साधु और बाद में साध्वी, अन्य पुरुष अथवा स्त्री अपनी योग्यता के अनुसार उपचार करें। ऐसा करने पर साधु-साध्वी के लिए परिहारतप अथवा अन्य किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। यह नियम स्थविरकल्पियों के लिए है। जिनकल्पी को यदि साँप काट खाए तो भी वह दूसरे से किसी प्रकार का उपचार आदि नहीं करा सकता। भाष्यकार ने 'जे निग्गंथा निग्गंथीओ य संभोइया···' (सूत्र १९) की व्याख्या करते हुए 'संभोगिक' का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। 'संभोग' छः प्रकार का होता है : ओघ, अभिग्रह, दानग्रहण, अनुपालना, उपपात और संवास। ओघसंभोग के बारह भेद हैं : उपधि, श्रुत, भक्तपान, अंजलीग्रह, दापना, निकाचन, अभ्युत्थान, कृतिकर्म, वैयावृत्य, सम-

१. चतुर्थ उद्देश : गा० १–५७५.

चरण, सन्निषद्या और कथाप्रबन्धनविषयक। उपसंभोग के छः भेद हैं : उद्गमशुद्ध, उत्पादनाशुद्ध, एषणाशुद्ध, परिकर्मणासंभोग, परिहरणासंभोग और संयोगविषयक। इस प्रकार निशीथ के पञ्चम उद्देश मे वर्णित संभोगविधि, प्रायश्चित्त आदि के अनुसार यहाँ भी 'संभोग' का वर्णन समझ लेना चाहिए।[1]

षष्ठ उद्देश :

इस उद्देश में बताया गया है कि साधु को अपने सम्बन्धी के यहाँ से आहार आदि ग्रहण करने की इच्छा होने पर अपने से वृद्ध स्थविर आदि की आज्ञा लिए बिना वैसा करना अकल्प्य है। बिना स्थविर आदि की आज्ञा के अपने सम्बन्धी के यहाँ से आहार लेनेवाले के लिए छेद अथवा परिहारतप के प्रायश्चित्त का विधान है। आज्ञा मिलने पर भी यदि जानेवाला साधु अल्पबोधवाला हो तो उसे अकेले न जाकर किसी बहुश्रुत साधु के साथ ही जाना चाहिए। वहाँ जाने पर उसके पहुँचने के पूर्व यदि भोजन तैयार किया हुआ हो तो उसे लेना चाहिए अन्यथा नहीं।

आचार्य तथा उपाध्याय के पाँच अतिशय होते हैं जिनका समुदाय के अन्य साधुओं को विशेष ध्यान रखना चाहिए : (१) उनके बाहर से आने पर पैरों की रज आदि को साफ करना तथा प्रमार्जन करना, (२) उनके उच्चार-प्रस्रवण आदि (अशुचि) को निर्दोष स्थान में फेंकना, (३) उनकी इच्छा होने पर वैयावृत्य करना, (४) उनके साथ उपाश्रय के भीतर रहना, (५) उनके साथ उपाश्रय के बाहर रहना। गणावच्छेदक के अन्तिम दो अतिशय होते हैं।

ग्राम, नगर आदि में चारों ओर दीवाल से घिरे एक ही द्वार वाले मकान मे आचार्य से भिन्न खण्ड मे अगीतार्थ साधुओं का निवास निषिद्ध है। यदि उनमे कोई गीतार्थ साधु हो तो ऐसा कोई निषेध नहीं है। केवल अगीतार्थ साधुओं के इस प्रकार के स्थान में निवास करने पर उन्हें छेद अथवा परिहारतप के प्रायश्चित्त का भागी बनना पड़ता है। इसी प्रकार अनेक द्वारों से युक्त घर आदि में रहने के लिए भी गीतार्थ का साहचर्य अनिवार्य है। एतद्विषयक विस्तृत विवेचन बृहत्कल्पलघुभाष्य का परिचय देते समय किया जा चुका है।[2]

अनेक स्त्री-पुरुषों को किसी स्थान पर मैथुन सेवन करते हुए देखकर यदि कोई साधु विकारयुक्त हो हस्तकर्म आदि से अपने वीर्य का क्षय करे तो उसके लिए एक मास के अनुद्धाती परिहारतप के प्रायश्चित्त का विधान है; यदि वह

१. पंचम उद्देश : गा० ४६–५२. २. देखिए—बृहत्कल्पसूत्र : गा० २१२५–२२८९ (बृहत्कल्प-लघुभाष्य).

किसी अचित्त प्रतिमादि मे अपने शुक्रपुद्गलों को बहाता हुआ मैथुनप्रतिसेवना में प्रसक्त होता है तो उसके लिए चार मास के अनुद्घाती परिहारतप के प्रायश्चित्त का विधान है।

अन्य गण से आये हुए क्षीण आचार वाले साधु-साध्वियों को बिना उनकी परिशुद्धि किए अपने गण मे नहीं मिलाना चाहिए और न उनके साथ आहार आदि ही करना चाहिए। जो साधु-साध्वी अपने दोषों को खुले दिल से आचार्य के सामने रख दें तथा यथोचित प्रायश्चित्त करके पुनः वैसा कृत्य न करने की प्रतिज्ञा करें उन्हीं के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।

भाष्यकार ने षष्ठ उद्देश की व्याख्या में निम्न विषयों का भी समावेश किया है : 'ज्ञातविधि' पद का एकादश द्वारपूर्वक व्याख्यान—१. आक्रन्दनस्थान, २. क्षिप्त, ३. प्रेरणा, ४. उपसर्ग, ५. पथिरोदन, ६. अपभ्राजना, ७. घात, ८. अनुलोम, ९. अभियोग्य, १० विष, ११. कोप; सप्तविध कूरों की गणना—शालिकूर, व्रीहिकूर, कोद्रवकूर, यवकूर, गोधूमकूर, रालककूर और आरण्य-व्रीहिकूर; आचार्य की वसति के बाहर रहने से लगने वाले दोष; आचार्य स्वयं भिक्षा के लिए जाए अथवा न जाए, जाने के कारण, न जाने के कारण, तत्सम्बन्धी दोष और प्रायश्चित्त; अभ्युत्थान के निराकरण के कारण; चार प्रकार की विकथा की व्याख्या; आक्षेप, आरोपणा, प्ररूपणा आदि पदों का व्याख्यान; आचार्य के पाँच अतिशय—उत्कृष्ट भक्त, उत्कृष्ट पान, मलिनोपधिधावन, प्रशंसन और हस्तपादशौच; मतिभेद, पूर्वव्युद्ग्राह, संसर्ग और अभिनिवेश के कारण मिथ्यादृष्टि की उत्पत्ति और इनके लिए क्रमशः जमालि, गोविन्द, श्रावकभिक्षु, और गोष्ठामाहिल के दृष्टान्त; वसतिविषयक विविध यतनाएँ; घर के अन्दर व बाहर की अभिनिर्विगडा, उसके विविध भेद, तद्विषयक विविध दोष, यतनाएँ एवं प्रायश्चित्त।[1]

सप्तम उद्देश :

सप्तम उद्देश के भाष्य में निम्न विषयों का विवेचन किया गया है :—

जो साधु-साध्वी सांभोगिक हैं अर्थात् एक ही आचार्य के संरक्षण मे हैं उन्हें (साध्वियों को) अपने आचार्य से पूछे बिना अन्य समुदाय से आने वाली अतिचार आदि दोषों से युक्त साध्वी को अपने संघ मे नहीं लेना चाहिए। जिस साध्वी को आचार्य प्रायश्चित्त आदि से शुद्ध कर दें उसे अपने संघ में न लेने वाली साध्वियों को आचार्य को यथोचित दण्ड देना चाहिए।

---

१. षष्ठ विभाग : गा० १–३८७.

जो साधु-साध्वी एक गुरु की आज्ञा में हैं वे (साधु) अन्य समुदाय के साधुओं के साथ गोचरी का व्यवहार कर सकते हैं। यदि अन्य संघ के साधु आचारविरुद्ध व्यवहार करते हों तो उनके साथ पीठ पीछे व्यवहार बन्द नहीं करना चाहिए अपितु उन्हें अपनी त्रुटियों का प्रत्यक्ष भान करवाना चाहिए। यदि वे पश्चात्ताप करके अपनी त्रुटि सुधार लें तो उनके साथ व्यवहार भंग नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा करते हुए भी वे अपनी भूल न सुधारें तो उनके साथ व्यवहार बन्द कर देना चाहिए। साध्वियों के लिए दूसरे प्रकार का नियम है। उन्हें प्रत्यक्ष दोष देखने पर भी गोचरी का व्यवहार नहीं तोड़ना चाहिए किन्तु अपने आचार्य की आज्ञा लेकर अशुद्ध आचार वाली साध्वी के गुरु को उसकी सूचना देनी चाहिए। वैसा करने पर भी यदि वह अपना आचार न सुधारे तो उसे सूचना दे देनी चाहिए कि तुम्हारे साथ हमारा व्यवहार बन्द है।

किसी भी साधु को अपनी वैयावृत्य के लिए स्त्री को दीक्षा देना अकल्प्य है। उसे दीक्षा देकर अन्य साध्वी को सौंप देना चाहिए। साध्वी किसी भी पुरुष को दीक्षा नहीं दे सकती। उसे तो किसी योग्य साधु के पास ही दीक्षा ग्रहण करना पड़ता है।

साध्वी को एक संघ में दीक्षा लेकर दूसरे संघ की शिष्या बनना हो तो उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिए। उसे जहाँ रहना हो वहीं जाकर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। साधु के लिए ऐसा नियम नहीं है। वह कारणवशात् एक संघ में दीक्षा लेकर दूसरे संघ के गुरु को अपना गुरु बना सकता है।

तीन वर्ष की पर्यायवाला साधु सुयोग्य होने पर तीस वर्ष की पर्यायवाली साध्वी का उपाध्याय हो सकता है। इसी प्रकार पाँच वर्ष की पर्यायवाला साधु साठ वर्ष की पर्यायवाली साध्वी का आचार्य हो सकता है।

जिस मकान में साधु रहना चाहे उसके स्वामी, उसकी विधवा पुत्री, पुत्र, भाई आदि किसी की भी आज्ञा लेना अनिवार्य है। मार्ग में जाते समय कहीं ठहरने का प्रसंग आए तो भी यथावसर किसी न किसी गृहस्थ की आज्ञा लेना चाहिए। राज्य में एक राजा के किसी कारण से न रहने पर दूसरे राजा की निश्चित रूप से स्थापना हो जाए तो उसकी पुनः आज्ञा लेकर ही उसके राज्य में रहना चाहिए।

साध्वी की दीक्षा के प्रसंग का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने एक कोशलक आचार्य और एक श्राविका का दृष्टान्त दिया है और बताया है कि कोशलक अपने देशस्वभाव से ही अनेक दोषों से युक्त होता है। इस मत की पुष्टि करते

हुए अन्ध्र आदि प्रदेशों के निवासियों के स्वभाव की ओर भी संकेत किया गया है। अन्ध्र देश में उत्पन्न हुआ हो और अक्रूर हो, महाराष्ट्र में पैदा हुआ हो और अवाचाल हो, कोशल में उत्पन्न हुआ हो और अदुष्ट हो—ऐसा सौ में एक भी मिलना कठिन है।[१]

साधु-साध्वियों के स्वाध्याय के लिए उपयुक्त तथा अनुपयुक्त काल का भाष्यकार ने अति विस्तृत वर्णन किया है। साथ ही स्वाध्याय की विधि आदि अन्य आवश्यक बातों पर भी पूर्ण प्रकाश डाला है। परस्पर वाचना देने के क्या नियम हैं, इसका भी विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है।[२]

अष्टम उद्देश :

इस उद्देश के भाष्य मे मुख्यरूप से निम्नलिखित बातों की चर्चा की गई है:—

शयन करने अथवा अन्य प्रयोजन के लिए पाटे की आवश्यकता प्रतीत होने पर साधु एक हाथ से उठा सकने योग्य हल्का पाटा गाँव अथवा परगाँव से मांग कर ला सकता है। परगाँव से लाने की अवस्था में तीन दिन की दूरी वाले गाँव से लाया जा सकता है, इससे अधिक नहीं। वृद्ध साधु के लिए आवश्यकता होने पर पाँच दिन की दूरी वाले स्थान से भी लाया जा सकता है। वापिस लौटाने की शर्त पर लायी हुई वस्तु अन्य मकान मे ले जानी हो तो उसके लिए पुनः स्वामी की आज्ञा लेनी चाहिए। इसी प्रकार किसी मकान में ठहरना हो तो उसके स्वामी की आज्ञा लेकर ही ठहरना चाहिए। किसी साधु को गोचरी आदि के लिए जाते समय किसी अन्य साधु का छोटा-बड़ा उपकरण मिले तो पूछ-ताछ कर जिसका हो उसे दे देना चाहिए। स्वामी का पता न लगने की अवस्था मे उसका निर्दोष स्थान मे विसर्जन कर देना चाहिए। विशेष कारण उपस्थित होने पर दूसरे साधु के लिए पात्रादि सामग्री स्वीकार करना कल्प्य है। वह सामग्री उस साधु से पूछकर उसके ग्रहण न करने की अवस्था में ही गुरु की आज्ञा से अन्य साधु को दी जानी चाहिए। कुक्कुटी के अण्डे के बराबर अथवा कुक्षी (पेट) में सुखपूर्वक भरा जा सके उतने आहार के बत्तीसवें भाग अर्थात् कुक्षीअण्ड के बराबर के आठ कौर खाने वाला साधु अल्पाहारी, बारह कौर खाने वाला अपार्धाहारी, सोलह कौर खाने वाला अर्धाहारी, चौबीस कौर खाने वाला प्राप्तावमौदर्य, इकतीस कौर खाने वाला किंचिदवमौदर्य और बत्तीस कौर खाने वाला

---

१. सप्तम उद्देश : गा० १२३–६. २. गा० १८१–४०१.

प्रमाणाहारी कहलाता है। कुक्कुटी अथवा कुकुटी का व्याख्यान करते हुए कहा गया है कि 'कुत्सिता कुटी कुकुटी' अर्थात् शरीर। उस शरीररूप कुकुटी का अण्डक अर्थात् अण्डे के समान जो मुख है वह कुकुटीअण्डक है। मुख को अण्डक क्यों कहा गया? क्योंकि गर्भ में सर्वप्रथम शरीर का मुख बनता है और बाद में शेष भाग; अतः प्रथम निष्पन्न होने के कारण मुख को अण्डक कहा गया है।[1]

नवम उद्देश :

इस उद्देश का मुख्य विषय है शय्यातर अर्थात् सागारिक के ज्ञातिक, स्वजन, मित्र आदि आगंतुकों से सम्बन्धित आहार के ग्रहण-अग्रहण का विवेक तथा साधुओं की विविध प्रतिमाओं का विधान। सागारिक के घर के अन्दर या बाहर कोई आगन्तुक भोजन कर रहा हो और उस भोजन से सागारिक का सम्बन्ध हो अर्थात् उसे यह कहा गया हो कि तुम्हारे खाने के बाद जो कुछ बचे वापिस सौंपना तो उस आहार में से साधु आगन्तुक के आग्रह करने पर भी कुछ न ले। यदि उस आहार से सागारिक का कुछ भी सम्बन्ध न रह गया हो तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। इसी प्रकार सागारिक के दास-दासी आदि के आहार के विषय मे भी समझना चाहिए। औषध आदि के विषय में भी यही नियम है कि जिसका उस वस्तु पर पूर्ण अधिकार हो उसी की इच्छा से उस वस्तु को ग्रहण करना चाहिए।

भाष्यकार ने प्रस्तुत उद्देश की व्याख्या में आदेश अथवा आवेश, चक्रिका, गोलिका, दौषिका, सौत्रिका, बोधिका, कार्पासा, गन्धिकाशाला, शौण्डिकशाला, आपण, भाण्ड, औषधि आदि पदों का समावेश किया है।[2]

प्रतिमाओं के विवेचन में तत्सम्बन्धी काल, भिक्षापरिमाण, करण और करणान्तर, मोक प्रतिमा का शब्दार्थ, कल्पादिग्रहण का प्रयोजन, मोक का स्वरूप, महती मोकप्रतिमा का लक्षण आदि आवश्यक बातों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।[3]

दशम उद्देश :

इस उद्देश मे यवमध्य-प्रतिमा और वज्रमध्य-प्रतिमा की विधि पर विशेष रूप से विचार किया गया है। पांच प्रकार के व्यवहार का विस्तृत विवेचन करते हुए बालदीक्षा की विधि पर भी प्रकाश डाला गया है। दस प्रकार की सेवा का वर्णन करते हुए उससे होने वाली महानिर्जरा का भी निरूपण किया गया है।

१. अष्टम उद्देश : गा० ३००. २. नवम उद्देश : गा० १-७२.
३. गा० ७४-१२८.

यवमध्य-प्रतिमा का स्वरूप बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि इस प्रतिमा को यव और चन्द्र की उपमा दी गई है। जिसका मध्य यव के समान है वह यवमध्य-प्रतिमा है। इसका आकार चन्द्र के समान होता है। वज्रमध्य-प्रतिमा मध्य मे वज्र के समान होती है। इसे भी चन्द्र की उपमा दी जाती है। यवमध्य-प्रतिमा मध्य मे विपुल—स्थूल होती है तथा आदि और अन्त मे तनु—कृश होती है। जिस प्रकार शुक्लपक्ष का चन्द्र क्रमशः वृद्धि की ओर जाकर पुनः ह्रास की ओर आता है उसी प्रकार यवमध्य-प्रतिमा भी क्रमशः भिक्षा की वृद्धि की ओर जाती हुई पुनः ह्रास की ओर आती है। वज्रमध्य-प्रतिमा में चन्द्र की उपमा दूसरी तरह से घटित होती है। इसमें बहुलपक्ष का आदि मे ग्रहण होता है। जिस प्रकार कृष्णपक्ष का चन्द्र पहले क्रमशः ह्रास को प्राप्त होता है और फिर क्रमशः बढ़ता है उसी प्रकार वज्रमध्य-प्रतिमा में भी क्रमशः भिक्षा का ह्रास होकर पुनः उसकी वृद्धि होती है। इस प्रकार यह प्रतिमा आदि और अन्त मे तो स्थूल होती है किन्तु मध्य में कृश होती है।[1]

व्यवहार पांच प्रकार का है : आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत।[2] इन पाचों प्रकारों का स्वरूपवर्णन जीतकल्पभाष्य का परिचय देते समय किया जा चुका है अतः यहां उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।[3]

निर्ग्रन्थ पांच प्रकार के होते है : पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक। इनके लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है। प्रायश्चित्त दस प्रकार के हैं : १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. मिश्र, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८.मूल, ९. अनवस्थाप्य और १०. पारंचित या पारांचिक। पुलाक के लिए आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, तप और व्युत्सर्ग—ये छः प्रकार के प्रायश्चित्त है। बकुश और कुशील के लिए सभी अर्थात् दस प्रायश्चित्त हैं। यथालन्द-कल्प में आठ प्रकार के प्रायश्चित्त हैं (क्योंकि उसमें अनवस्थाप्य और पारंचित का अभाव है)। निर्ग्रन्थ के लिए आलोचना और विवेक इन दो प्रायश्चित्तों का विधान है। स्नातक के लिए केवल एक प्रायश्चित्त—विवेक का विधान किया गया है। अब पांच प्रकार के संयतों के लिए प्रायश्चित्तों का विधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि सामायिकसंयत स्थविरकल्पिकों के लिए छेद और मूल को छोड़कर शेष आठ प्रायश्चित्त—आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, अनवस्थाप्य और पारंचित हैं; जिनकल्पिकों के लिए

१. दशम उद्देश : गा० ३–५. २. गा० ५३. ३. जीतकल्पभाष्य, गा० ७–६९४ तथा प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २०३–२०७.

आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग और तप–ये छः प्रायश्चित्त हैं। छेदोपस्थापनीय संयम में स्थित स्थविरों के लिए सब प्रकार के प्रायश्चित्त हैं; जिनकल्पिकों के लिए आठ प्रकार के प्रायश्चित्त हैं। परिहारविशुद्धिक संयम में स्थित स्थविरों के लिए भी मूलपर्यन्त आठ ही प्रायश्चित्त हैं; जिनकल्पिकों के लिए छेद और मूल को छोड़कर छः प्रकार के प्रायश्चित्त हैं। सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात संयम में विद्यमान के लिए आलोचना और विवेक–ये दो ही प्रायश्चित्त हैं।[1]

आगमादि पांच प्रकार के व्यवहार का सुविस्तृत विवेचन करने के बाद चार प्रकार के पुरुषजात की चर्चा प्रारंभ की गई है: १. अर्थकर, २. मानकर, ३. उभयकर और ४. नोभयकर। इनमें से प्रथम और तृतीय सफल माने गए हैं और द्वितीय और चतुर्थ निष्फल। इन चारों प्रकार के पुरुषों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उज्जयिनी नगरी और शकराजा का दृष्टान्त दिया गया है।[2] इसी प्रकार १. गणार्थकर, २. मानकर, ३. उभयकर और ४. अनुभयकर का वर्णन करने के बाद गणसंग्रहकर, गणशोभाकर, गणशोधिकर आदि चार-चार प्रकार के पुरुषों का स्वरूप समझाया गया है।[3] अन्त में तीन प्रकार की स्थविरभूमि, तीन प्रकार की शैक्षकभूमि, आठ वर्ष से कम आयु वाले की दीक्षा का निषेध, आचारप्रकल्प (निशीथ) के अध्ययन की योग्यता, सूत्रकृत आदि अन्य सूत्रों के अध्ययन की योग्यता, दस प्रकार की सेवा आदि का विचार किया गया है।[4]

१. गा० ३५२–३६४.   २. दशम उद्देश: सू० १७, गा० १–७.
३. गा० १५–४४.   ४. गा० ४५–१४०.

षष्ठ प्रकरण

ओघनिर्युक्ति-लघुभाष्य

प्रस्तुत प्रकरण के प्रारंभ में भाष्यों का सामान्य परिचय देते समय हमने आवश्यकादि सूत्रों पर लिखे गए भाष्यों के जो नाम गिनाए हैं उनमें से निम्नलिखित छः भाष्य प्रकाशित हो चुके हैं : १. विशेषावश्यकभाष्य, २. जीतकल्पभाष्य, ३. बृहत्कल्पलघुभाष्य, ४. व्यवहारभाष्य, ५. ओघनिर्युक्तिलघुभाष्य और ६. पिण्डनिर्युक्तिभाष्य। इनमें से प्रथम चार का विस्तृत परिचय दिया जा चुका है। ओघनिर्युक्तिलघुभाष्य और पिण्डनिर्युक्तिभाष्य की गाथा-संख्या बहुत बड़ी नहीं है। प्रथम में ३२२ और द्वितीय में ४६ गाथाएँ हैं। ये गाथाएँ निर्युक्तियों में मिश्रितरूप में उपलब्ध हैं तथा गिनती में निर्युक्तियों की गाथाओं से कम हैं। व्यवहारभाष्यकार की भाँति इन दोनों भाष्यकारों के नाम का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता।

ओघनिर्युक्तिलघुभाष्य[1] में निम्न विषयों का समावेश है : ओघ, पिण्ड, समास और संक्षेप एकार्थक हैं; व्रत, श्रमणधर्म, संयम, वैयावृत्य, ब्रह्मचर्यगुप्ति, ज्ञानादित्रिक, तप और क्रोधनिग्रहादि चरण हैं; पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिरोध, प्रतिलेखना, गुप्ति और अभिग्रह करण हैं; अनुयोग चार प्रकार का होता है : चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग; ग्लान साधु की परिचर्या क्यों करनी चाहिए व उसकी क्या विधि है; भोजन ग्रहण की निर्दोष विधि व तत्सम्बन्धी यतनाएं; साधुओं के विचरण का समय और तद्विषयक मर्यादाएं आदि; ग्राम में प्रवेश तथा शकुनापशकुन का विचार; स्थापनाकुलों की स्थापना व उसकी अनिवार्यता; कायोत्सर्ग करने की विधि और उसके लिए उपयुक्त स्थान, आसन आदि; औपघातिक के तीन भेद : आत्मौपघा-

---

१. निर्युक्ति-भाष्य-द्रोणाचार्यसूत्रितवृत्तिभूषित : प्रकाशक—शाह वेणीचन्द्र सुरचन्द्र, आगमोदय समिति, मैसाना, सन् १९१९.

तिक, प्रवचनौपघातिक और संयमौपघातिक; पात्रलेप की विधि, यतनाएं और दोष; भिक्षाग्रहण का उपयुक्त काल; भिक्षाटन की निर्दोष विधि; दाता की योग्यता, अयोग्यता का विवेक; स्त्री-पुरुष का विचार; गमनागमन के समय विविध उपकरण ग्रहण करने के नियम व धर्मरुचि का दृष्टान्त; आहार का उपभोग करने की निर्दोष विधि इत्यादि।[1]

१. भाष्यगाथा १-३२२.

सप्तम प्रकरण

ओघनिर्युक्ति-बृहद्भाष्य

मुनि श्री पुण्यविजयजी के पास ओघनिर्युक्ति-बृहद्भाष्य की एक हस्तलिखित प्रति है जिसमें २५१७ गाथाएं हैं जिनमें निर्युक्ति-गाथाएँ भी सम्मिलित हैं। प्रारंभ में निर्युक्ति की निम्न गाथाएं हैं :

अरिहंते वंदित्ता चोद्दसपुव्वी तहेव दसपुव्वी।
एक्कारसंगसुत्तत्थधारए सव्वसाहू य॥ १॥
ओहेण य निज्जुत्तिं वोच्छं चरणकरणाणुओगातो।
अप्पक्खरं महत्थं अणुग्गहत्थं सुविहियाणं॥ २॥

इन गाथाओं में निर्युक्तिकार ने अरिहंत, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी तथा एकादशांगसूत्रार्थधारक सर्व साधुओं को नमस्कार करके ओघनिर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा की है। भाष्यकार ने इसी निर्युक्ति की गाथाओं के विवेचन के रूप में प्रस्तुत भाष्य का निर्माण किया है। ग्रंथ में भाष्यकार के नाम आदि के विषय में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं है। द्रोणाचार्य की वृत्ति लघुभाष्य पर है, बृहद्भाष्य पर नहीं।

अष्टम प्रकरण

पिण्डनिर्युक्ति-भाष्य

पिण्डनिर्युक्ति-भाष्य[1] में निम्न विषयों का संक्षिप्त व्याख्यान है : 'गौण' शब्द की व्युत्पत्ति, 'पिण्ड' का स्वरूप, लौकिक और सामयिक की तुलना, पिण्डस्थापना के दो भेद : सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना, पिण्डनिक्षेप और वातकाय, आधाकर्म का स्वरूप, अधःकर्मताहेतु, विभागौद्देशिक के भेद, मिश्रजात का स्वरूप, स्वस्थान के स्थानस्वस्थान, भाजनस्वस्थान आदि भेद, सूक्ष्म प्राभृतिका के अपसर्पण और उत्सर्पण रूप दो भेद, विशोधि और अविशोधि की कोटियाँ, चूर्ण का स्वरूप व तत्सम्बन्धी दो क्षुल्लकों का दृष्टान्त।[2]

---

१. निर्युक्ति-भाष्य-मलयगिरिविवृतियुक्त—प्रकाशक : देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१८.

२. भाष्यगाथा १–४६.

नवम प्रकरण

पञ्चकल्प-महाभाष्य

यह भाष्य[1] पञ्चकल्पनिर्युक्ति के विवेचन के रूप में है। इसमें कुल मिलाकर २६६५ गाथाएँ हैं जिनमें केवल भाष्य की २५७४ गाथाएँ हैं। प्रारम्भ में निर्युक्तिकारकृत निम्न गाथा है:

वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसगलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसाण कप्पे य ववहारे॥ १॥

यह गाथा दशाश्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति तथा चूर्णि में भी प्रारम्भ में ही है। इस गाथा का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने 'भद्रबाहु' का अर्थ 'सुन्दर बाहुओं वाला' किया है। अन्य भद्रबाहुओं से प्रस्तुत भद्रबाहु का पृथक्करण करने के लिए 'प्राचीन' (गोत्र), 'चरमसकलश्रुतज्ञानी' और 'दशा-कल्प-व्यवहार-सूत्रकार' विशेषण दिये गये हैं। एतद्विषयक गाथाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण होने के कारण यहाँ उद्धृत की जाती हैं:

भद्दत्ति सुंदर त्ति य तुल्लत्थो जत्थ सुंदरा बाहू।
सो होति भद्दबाहू गोण्णं जेणं तु बालत्ते॥ ७॥
पाएणं लक्खिजइ पेसलभावो तु बाहुजुयलस्स।
उववण्णमतो णामं तस्सेयं भद्दबाहु त्ति॥ ८॥
अण्णे वि भद्दबाहू विसेसणं गोत्तगहण पाईणं।
अण्णेसिं पऽविसिट्ठे विसेसणं चरिमसगलसुत्तं॥ ९॥
चरिमो अपच्छिमो खलु चोद्दसपुव्वा उ होति सगलसुत्तं।
सेसाण वुदासट्ठा सुत्तकरज्झयणमेयस्स॥ १०॥

---

1. इस भाष्य की हस्तलिखित प्रति मुनि श्री पुण्यविजयजी की कृपा से प्राप्त हुई है। यह प्रति मुनि श्री ने वि० सं० १९८३ में लिखकर तैयार की है।

किं तेण कयं सुत्तं जं भण्णति तस्स कारतो सो उ।
भण्णति गणधारीहिं सव्वसुयं चेव पुव्वकतं ॥११॥
तत्तो च्चिय णिज्जूढं अणुग्गहट्ठाय संपयजतीणं।
सो सुत्तकारओ खलु स भवति दसकप्पववहारे ॥१२॥

कल्प (कप्प) का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि कल्प दो प्रकार का होता है: जिनकल्प और स्थविरकल्प। इन दोनों प्रकार के कल्पों का द्रव्य और भावपूर्वक विचार करना चाहिए।[1] इसके बाद कल्प्य और अकल्प्य वस्तुओं का विचार किया गया है।

कल्पियों अर्थात् साधुओं की ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप त्रिविध सम्पदा का वर्णन करते हुए भाष्यकार ने पाँच प्रकार के चारित्र का स्वरूप बताया है: सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मराग—सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात। इसी प्रकार चारित्र के क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक—इन तीन भेदों का भी वर्णन किया गया है। ज्ञान दो प्रकार का होता है: क्षायिक और क्षायोपशमिक। केवलज्ञान क्षायिक है और शेष ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। दर्शन तीन प्रकार का है: क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक। चारित्र का पालन कौन करता है? निर्ग्रन्थ और संयत। निर्ग्रन्थ और संयत के पाँच-पाँच भेद होते हैं:

कस्सेतं चारित्तं णियंठ तह संजयाण ते कतिहा।
पंच णियंठा पंचेव संजया होंतिमे कमसो ॥८३॥

पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ ये हैं: पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक। संयत के सामायिक आदि उपर्युक्त पाँच भेद हैं। इन दस प्रकार के श्रमणों के प्रस्तुत भाष्य में और भी अनेक भेद-प्रभेद किये गए हैं।

'कल्प' शब्द का प्रयोग किन-किन अर्थों में किया गया है, इसका विचार करते हुए कहा गया है कि 'कल्प' शब्द निम्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है: सामर्थ्य, वर्णना, काल, छेदन, करण, औपम्य और अधिवास:

सामत्थे वण्णणा काले छेयणे करणे तहा।
ओवम्मे अहिवासे य कप्पसद्दो वियाहिओ ॥ १५४ ॥

---

१. गा० ५९.

इन सब का भेदपुरःसर विस्तृत विवेचन नवम पूर्व में किया गया है। प्रस्तुत भाष्य मे केवल पञ्चकल्प—पाँच प्रकार के कल्प का संक्षिप्त वर्णन है। जैसा कि स्वयं भाष्यकार लिखते हैं :

> सो पुण पंचविकप्पो, कप्पो इह वण्णिओ समासेणं।
> वित्थरतो पुव्वगतो, तस्स इमे होंति भेदा तु ॥१७४॥

पाँच प्रकार के कल्प के क्रमशः छः, सात, दस, बीस और बयालीस भेद हैं : छव्विह सत्तविहे य, दसविह वीसतिविहे य बायाले।[1] छः प्रकार के कल्प का छः प्रकार से निक्षेप करना चाहिए। वह छः प्रकार का निक्षेप है : नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।[2] द्रव्यकल्प तीन प्रकार का है : जीव, अजीव और मिश्र। जीवकल्प के पुनः तीन भेद हैं : द्विपद, चतुष्पद और अपद। प्रस्तुत अधिकार द्विपद का है और उसमें भी मनुष्यद्विपद का। मनुष्य-द्विपद में भी कर्मभूमिज का अधिकार अभीष्ट है।[3] वह मनुजजीवकल्प छः प्रकार का है : प्रव्राजन, मुंडन, शिक्षण, उपस्थापन, भोग और संवसन :

> पव्वावण मुंडावण सिक्खावणुवट्ठ भुंज संवसणा।
> एसोत्थ (तु) जीवकप्पो, छब्भेदो होति णायव्वो ॥ १८६ ॥

भाष्यकार ने इन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रव्राजन का विवेचन करते हुए जाति, कुल, रूप और विनयसम्पन्न व्यक्ति को ही प्रव्रज्या के योग्य माना है। बाल, वृद्ध, नपुंसक, जड़, क्लीब, रोगी, स्तेन, राजापकारी, उन्मत्त, अदर्शी, दास, दुष्ट, मूढ, अज्ञानी, जुंगित, भयभीत, पलायित, निष्कासित, गर्भिणी और बालवत्सा—इन बीस प्रकार के व्यक्तियों को प्रव्रज्या—दीक्षा देना अकल्प्य है :

> बाले वुड्ढे नपुंसे य, जड्डे कीवे य वाहिए।
> तेणे रायावगारी य उन्मत्ते य अदंसणे ॥ २०० ॥
> दासे दुट्ठे य मूढे य, अणत्ते जुंगितेइ य।
> ओबद्धए य भयए, सेहणिप्फेडितेति य ॥ २०१ ॥
> गुव्विणी बालवच्छा य, पव्वावेतुं ण कप्पए।
> एसिं परूवणा दुविहा, चरसग्गववायसंजुत्ता ॥ २०२ ॥

इसी से मिलता-जुलता विधान निशीथभाष्य में भी है। एतद्विषयक अनेक गाथाएँ दोनों भाष्यों में समान हैं।[4]

---

१. गा० १७५. २. गा० १८०. ३. गा० १८२–४.
४. तुलना : निशीथ-भाष्य, गा० ३५०६–८.

अचित्त अर्थात् अजीव-द्रव्यकल्प का विवेचन करते हुए आचार्य ने निम्नलिखित सोलह विषयों पर प्रकाश डाला है : १. आहार, २. उपधि, ३. उपाश्रय, ४. प्रस्रवण, ५. शय्या, ६. निषद्या, ७. स्थान, ८. दंड, ९. चर्म, १०. चिलिमिली, ११. अवलेखनिका, १२. दंतधावन, १३. कर्णशोधन, १४. पिप्पलक, १५. सूची, १६. नखछेदन ।[1]

मिश्र द्रव्यकल्प का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने बताया है कि जीव और अजीव के संयोग आदि से निष्पन्न कल्प मिश्रकल्प कहलाता है ।[2] इसके विविध भंग होते हैं । यहाँ तक द्रव्यकल्प का व्याख्यान है ।

क्षेत्रकल्प का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने अर्धषट्‌विंशति (अद्धछब्बीस) अर्थात् साढ़े पचीस देशों को आर्यक्षेत्र बताया है जिसमें साधुओं को विचरना चाहिए । इन देशों के साथ ही इनकी राजधानियों के नाम भी दिये हैं । यहाँ एतद्विषयक भाष्य की छः गाथाएँ उद्धृत की जाती हैं जिनसे आर्यक्षेत्रीय देशों और उनकी राजधानियों के नामों का ठीक-ठीक पता लग सकेगा :

रायगिह मगह चंपा, अंगा तह तामलित्ति वंगा य ।
कंचणपुरं कलिंगा, वाराणसि चेव कासी य ।। ९६९ ।।
साए य कोसला गयपुरं च कुरु सोरियं कुसट्टा य ।
कंपिल्लं पंचाला, अहिछत्ता जंगला चेव ।। ९७० ।।
बारवती य सुरट्ठा, महिल विदेहा य वच्छ कोसंबी ।
णंदिपुरं संदिभा, भद्दिलपुरमेव वलया य ।। ९७१ ।।
वयराडवच्छ वरणा, अच्छा तह मत्तियावति दसण्णा ।
सोत्तियमती य चेती, वीतिभयं सिंधु सोवीरा ।। ९७२ ।।
महुरा य सुरसेणा, पावा भंगी य मासपुरिवट्टा ।
सावत्थी य कुणाला, कोडीवरिसं च लाढा य ।। ९७३ ।।
सेयवियाऽविय णगरी केततिअद्धं च आरियं भणितं ।
जत्थुप्पत्ति जिणाणं चक्कीणं रामकिण्हाणं ।। ९७४ ।।

---

१. आहारे उवहिम्मि य, उवस्सए तह य पस्सवणए य ।
सेज्ज णिसेज्ज ट्ठाणे, दंडे चम्मे चिलिमिली य ।। ७२३ ।।
अवलेहणिया दंताण, धोवणे कण्णसोहणे चेव ।
पिप्पलग सूति णक्खाण, छेदणे चेव सोलसमे ।। ७२४ ।।

२. गा० ९०१.

आर्य जनपद और उनकी मुख्य नगरियों के नाम ये हैं :

देश	राजधानी
१–मगध	राजगृह
२–अंग	चम्पा
३–वंग	ताम्रलिप्ति
४–कलिंग	कांचनपुर
५–काशी	वाराणसी
६–कोशल	साकेत
७–कुरु	गजपुर
८–कुशावर्त	सौरिक
९–पांचाल	काम्पिल्य
१०–जांगल	अहिच्छत्रा
११–सौराष्ट्र	द्वारवती
१२–विदेह	मिथिला
१३–वत्स	कौशाम्बी
१४–शांडिल्य	नन्दिपुर
१५–मलय	भद्दिलपुर
१६–मत्स्य	वैराटपुर
१७–वरण	अच्छापुरी
१८–दशार्ण	मृत्तिकावती
१९–चेदि	शौक्तिकावती
२०–सिंधु सौवीर	वीतिभय
२१–शूरसेन	मथुरा
२२–भंगि	पापा
२३–वट्ट	मासपुरी
२४–कुणाल	श्रावस्ती
२५–लाट	कोटिवर्ष
२५½–केकयार्ध	श्वेताम्बिका

क्षेत्रकल्प के बाद कालकल्प का वर्णन करते हुए आचार्य ने निम्न विषयों का व्याख्यान किया है : मासकल्प, पर्युषणाकल्प, वृद्धवासकल्प, पर्यायकल्प,

उत्सर्ग, प्रतिक्रमण, कृतिकर्म, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, ध्यान, भिक्षा, भक्त, विकार, निष्क्रमण और प्रवेश।[1]

भावकल्प के वर्णन में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, संयम, समिति, गुप्ति आदि का विवेचन किया गया है।[2] यहाँ तक प्रथम कल्प के अन्तर्गत छः प्रकार के कल्पों का अधिकार है। इसके बाद द्वितीय कल्प के सात भेदों का व्याख्यान प्रारंभ होता है।

सात प्रकार के कल्प में निम्न कल्पों का समावेश किया गया है : स्थितकल्प, अस्थितकल्प, जिनकल्प, स्थविरकल्प, लिंगकल्प, उपधिकल्प और संभोगकल्प।[3] भाष्यकार ने इनका विस्तार से वर्णन किया है।

तृतीय कल्प के अन्तर्गत दस प्रकार के कल्पों का वर्णन किया गया है: कल्प, प्रकल्प, विकल्प, संकल्प, उपकल्प, अनुकल्प, उत्कल्प, अकल्प, दुष्कल्प और सुकल्प।[4] पिण्डैषणा, भावना, भिक्षुप्रतिमा आदि यतिगुणों की वृद्धि करना कल्प है। उत्सारकल्प, लोकानुयोग, प्रथमानुयोग, संग्रहणी, संभोग, शृंगनादित आदि प्रकल्प हैं।[5] अतिरेक, परिकर्म, भंडोत्पादना आदि विकल्प हैं : अतिरेगं परिकम्मण तह भंडुपायणा···।[6] प्रकल्प सकारण होता है जबकि विकल्प निष्कारण होता है : कारणे पकप्पो होती, विकप्पो णिक्कारणे मुणेयव्वो।[7] संकल्प प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार का होता है। दर्शन-ज्ञान-चारित्रविषयक संकल्प प्रशस्त है। इंद्रिय-विषय-कषायविषयक संकल्प अप्रशस्त है।[8] उपकल्प, क्रिया और उपनयन एकार्थक हैं: उवकप्पत्ती करेति उवणेइ व होति एगट्ठा।[9] ज्ञान और चारित्र से समृद्ध पूर्वाचार्यों का अनुकरण करना अनुकल्प है।[10] ऊर्ध्वकल्पी होना अथवा छिन्नकल्पी होना उत्कल्प कहलाता है।[11] निष्कृप अर्थात् कृपाहीन तथा निरनुकम्प अर्थात् अनुकम्पाहीन होकर प्रवृत्ति करना अकल्प कहलाता है।[12] नित्य निंदित प्रवृत्ति करना दुष्कल्प है।[13] नित्य प्रशंसित प्रवृत्ति करना सुकल्प है।[14]

---

१. गा० १०२४–११३५. २. गा० ११३६–१२६७. ३. गा० १२६८. ४. गा० १५१४.

५. उस्सारकप्प लोगाणुओग पढमाणुओग संगहणी।
संभोग सिंगणाइय एवमादी पकप्पो उ ॥ १५३२ ॥

६. गा० १५९१. ७. गा० १६०३. ८. गा० १६२९–१६३०. ९. गा० १६३५. १०. गा० १६४२. ११. गा० १६४९. १२. गा० १६५९. १३. गा० १६६५. १४. गा० १६६७.

चतुर्थ कल्प के अन्तर्गत निम्नलिखित बीस कल्पों का समावेश किया गया है : १. नामकल्प, २. स्थापनाकल्प, ३. द्रव्यकल्प, ४. क्षेत्रकल्प, ५. कालकल्प, ६. दर्शनकल्प, ७. श्रुतकल्प, ८. अध्ययनकल्प, ९. चारित्रकल्प, १०. उपधिकल्प, ११. संभोगकल्प, १२. आलोचनाकल्प, १३. उपसम्पदाकल्प, १४. उद्देशकल्प, १५. अनुज्ञाकल्प, १६. अध्वकल्प, १७. अनुवासकल्प (स्थित और अस्थित), १८. जिनकल्प, १९. स्थविरकल्प और २०. अनुपालनाकल्प। इसकी निम्नोक्त तीन द्वारगाथाएँ हैं :

कप्पेसु णामकप्पो, ठवणाकप्पो य दवियकप्पो य।
खित्ते काले कप्पो, दंसणकप्पो य सुयकप्पो ॥१६७०॥
अज्झयण चरित्तम्मि य, कप्पो उवही तहेव संभोगो।
आलोयण उवसंपद तहेव उद्देसणुण्णाए ॥१६७१॥
अद्धाणम्मि य कप्पो, अणुवासे तह य होइ ठितकप्पो।
अट्ठितकप्पो य तहा, जिणथेर अणुवालणाकप्पो ॥१६७२॥

भाष्यकार ने इन बीस प्रकार के कल्पों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। पंचम कल्प के बयालीस भेद हैं : १. द्रव्य, २. भाव, ३. तदुभय, ४. करण, ५. विरमण, ६. सदाचार, ७. निर्वेश, ८. अन्तर, ९. नयांतर, १०. स्थित, ११. अस्थित, १२. स्थान, १३. जिन, १४. स्थविर, १५. पर्युषण, १६. श्रुत, १७. चारित्र, १८. अध्ययन, १९. उद्देश, २०. वाचना, २१. प्रत्येषणा, २२. परिवर्तना, २३. अनुप्रेक्षा, २४. यात, २५. अयात, २६. चीर्ण, २७. अचीर्ण, २८. संधान, २९. च्यवन, ३०. उपपात, ३१. निशीथ, ३२. व्यवहार, ३३. क्षेत्र, ३४. काल, ३५. उपधि, ३६. संभोग, ३७. लिंग, ३८. प्रतिसेवना, ३९. अनुवास, ४०. अनुपालना, ४१. अनुज्ञा, ४२. स्थापना। इसकी चार द्वारगाथाएँ हैं जिनका भाष्यकार ने विवेचन किया है :

दव्वे भावे तदुभय करणे वेरमणनेव साहारो।
निव्वेस अंतर णयंतरे य ठिय अट्ठिए चेव ॥२१६२॥
ठाण जिण थेर पज्जुसणमेव सुत्ते चरित्तमज्झयणे।
उद्देस वायण पडिच्छणा य परियट्टणुप्पेहा ॥२१६३॥
जायमजाए चिण्णमचिण्णे संधाणमेव चयणे य।
उववाय णिसीहे या, ववहारे खेत्तकाले य ॥२१६४॥
उवही संभोगे लिंगकप्प पडिसेवणा य अणुवासे।
अणुपालणा अणुण्णा, ठवणाकप्पे य बोधव्वे ॥२१६५॥

इस तरह पाँच प्रकार के कल्पों का विवेचन करने के बाद प्रस्तुत भाष्य जिसका कि नाम पंचकल्पमहाभाष्य है और जिसमें पंचकल्पलघुभाष्य का भी समावेश है, समाप्त होता है। प्रति के अन्त में भाष्य एवं भाष्यकार के नाम का इस प्रकार उल्लेख है : महत्पञ्चकल्पभाष्यं संघदासक्षमाश्रमणविरचितं समाप्तमिति। भाष्य का कलेवर-प्रमाण बताते हुए कहा गया है : गाहग्गेणं पंचवीससयाइं चउहत्तराइं। सिलोयग्गाणं एगतीससयाइं पंचत्तीसाणि। यह भाष्य २५७४ गाथाप्रमाण अथवा ३१३५ श्लोकप्रमाण है।

दशम प्रकरण

बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य

यह भाष्य जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, बृहत्कल्प-लघुभाष्य से आकार में बड़ा है। दुर्भाग्य से यह अपूर्ण ही उपलब्ध है।[1] इसमें पीठिका और प्रारंभ के दो उद्देश तो पूर्ण है किन्तु तृतीय उद्देश अपूर्ण है। अन्त के तीन उद्देश अनुपलब्ध हैं। भाष्य का यह अंश लिखा अवश्य गया है, जैसा कि आचार्य क्षेमकीर्ति की टीका से स्पष्ट है।[2] प्रस्तुत भाष्य मे लघुभाष्य समाविष्ट है।

लघुभाष्य की प्रथम गाथा है :

काऊण नमोक्कारं, तित्थयराणं तिलोगमहियाणं।
कप्पव्ववहाराणं, वक्खाणविहिं पवक्खामि ॥ १ ॥

बृहद्भाष्य की भी प्रथम गाथा है :

काऊण नमोक्कारं, तित्थकराणं तिलोकमहिताणं।
कप्पव्ववहाराणं, वक्खाणविधिं पवक्खामि ॥

इन दोनो गाथाओं मे कहीं-कहीं अक्षरभेद अर्थात् अक्षर-परिवर्तन है। इसी प्रकार का परिवर्तन अन्य गाथाओं मे भी दृष्टिगोचर होता है।

लघुभाष्य की दूसरी गाथा है :

सक्कयपाययवयणाण विभासा जत्थ जुज्जते जं तु।
अज्झयणनिरुत्ताणि य, वक्खाणविही य अणुओगो ॥ २ ॥

यह गाथा बृहद्भाष्य में बहुत दूर है।[3] लगभग सौ गाथाओं के बाद यह

---

१. यह भाष्य मुनि श्री पुण्यविजयजी की असीम कृपा से हस्तलिखितरूप में प्राप्त हुआ एतदर्थ मुनि श्री का अत्यन्त आभारी हूँ।

२. आह च बृहद्भाष्यकृत्—रत्तिं दवपरिवासे, लहुगा दोसा हवंत णेगविहा।—बृहत्कल्पलघुभाष्य, गा० ५९८१ की व्याख्या (उद्देश ५, पृ० १५८०).

३. पृ० १४.

गाथा दी गई है। बीच की ये सब गाथाएँ प्रथम गाथा के विवेचन के रूप में हैं। बृहद्भाष्य में उपर्युक्त गाथा कुछ परिवर्तन के साथ इस प्रकार है :

सव्भगपायतवयणाण विभासा जच्छ कुज्झते जातु।
अव्भयणिरुत्ताणिय वत्तव्वाइं जहाकमसो ॥

इस गाथा में कुछ अशुद्धियाँ हैं। इस प्रकार की अनेक अशुद्धियाँ प्रस्तुत प्रति में भरी पड़ी हैं। यह दोष प्रस्तुत प्रति का नहीं अपितु उस मूल प्रति का है जिसकी यह प्रतिलिपि है।

बृहद्भाष्य के प्रारंभ में ऐसी कुछ गाथाएँ हैं जो लघुभाष्य में बाद में आती हैं। उदाहरण के रूप में कुछ गाथाएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :

कडकरणं दव्वे सासणं तु सच्चेव दव्वतो आणा।
दव्वनिमित्तं वुभयं दोण्ह वि भावे इमं चेव ॥ ३६ ॥
दव्ववती दव्वातिं जातिं गहितातिं मुंचति ण ताव।
आराहणि दव्वस्स तु दोण्ह वि पडिपक्खे भाववई ॥ ३७ ॥
दव्वाण दव्वभूतो दव्वट्ठाए व वेज्जमातीया।
अध दव्वे उवदेसो पण्णवणा आगमो चेव ॥ ३८ ॥
अणुयोगो (य णियोगो) भास विभासा य वत्तियं चेव।
एते अणुयोगस्स तु णामा एगट्ठया पंच ॥ ४१ ॥

—बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य, पृ० ५–६ (संशोधित).

कडकरणं दव्वे सासणं तु दव्वे व दव्वओ आणा।
दव्वनिमित्तं वुभयं, दुन्नि वि भावे इमं चेव ॥ १८४ ॥
दव्ववती दव्वाइं गहियाइं मुंचइ न ताव।
आराहणि दव्वस्स वि, दोहि वि भावस्स पडिवक्खो ॥ १८५ ॥
दव्वाण दव्वभूओ, दव्वट्ठाए व विज्जमाईया।
अह दव्वे उवएसो, पन्नवणा आगमे चेव ॥ १८६ ॥
अणुयोगो य नियोगो, भास विभासा य वत्तियं चेव।
एए अणुओगस्स उ, नामा एगट्ठिया पंच ॥ १८७ ॥

—बृहत्कल्प-लघुभाष्य, भा० १.

उपर्युक्त गाथाओं से यह स्पष्ट है कि दोनों भाष्यों की कुछ गाथाओं में कहीं-कहीं आगे-पीछे हेर-फेर भी हुआ है। बृहद्भाष्यकार ने लघुभाष्य की कुछ गाथाएँ बिना किसी व्याख्यान के वैसी की वैसी भी अपने भाष्य में

उद्धृत की हैं। जिनका व्याख्यान करना उन्हें आवश्यक प्रतीत न हुआ उन गाथाओं के विषय में उन्होंने यही नीति अपनायी है। उदाहरण के तौर पर लघुभाष्य की नाम और स्थापना मंगलविषयक छठी, सातवीं और आठवीं ये तीन गाथाएँ बृहद्भाष्य में क्रमशः एक साथ दे दी गई हैं।[1] इनका बृहद्भाष्यकार ने उस प्रसंग पर कोई अतिरिक्त विवेचन नहीं किया है। द्रव्यमंगलविषयक नौवीं गाथा के विषय में यह बात नहीं है। इस गाथा के व्याख्यान के रूप में बृहद्भाष्यकार ने चार नई गाथाओं की रचना की है।[2] इस प्रकार बृहद्भाष्य में लघुभाष्य के विषयों का ही विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। ऐसी दशा में पूरा बृहद्भाष्य एक विशालकाय ग्रन्थ होना चाहिए जिसका कलेवर लगभग पंद्रह हजार गाथाओं के बराबर हो। अपूर्ण उपलब्ध प्रति जिसका कलेवर पूरे ग्रन्थ का लगभग आधा है, अनुमानतः सात हजार गाथाप्रमाण है। ये गाथाएँ लघुभाष्य की गाथाओं (तीन उद्देश) से करीब दुगुनी हैं। लगभग इतनी ही गाथाएँ अनुपलब्ध अंश में भी होंगी, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है।

बृहद्भाष्य की प्रति में जो अक्षरपरावर्तन दृष्टिगोचर होता है उसके कुछ रूप नीचे दिये जाते हैं:[3]

प्रचलित रूप			परिवर्तित रूप
ण···	····	····	···म
ज्ञ	···	···	··· स्व
घि···	···	···	···वि
ऊ···	···	···	···ज
घा अथवा हा	····	····	····द्धा
व	···	····	···प
त	···	····	····न
द	····	···	· व
त	····	···	···व[4]

१. पृ० १८.

२. पृ० १८–९.

३. मुनि श्री पुण्यविजयजी के अध्ययन के आधार पर।

४. निशीथभाष्य के परिचय के लिए आगे निशीथचूर्णि का परिचय देखिये।

चू र्णि याँ

प्रथम प्रकरण

चूर्णियाँ और चूर्णिकार

आगमों की प्राचीनतम पद्यात्मक व्याख्याएँ निर्युक्तियों और भाष्यों के रूप में प्रसिद्ध हैं। वे सब प्राकृत मे हैं। जैनाचार्य इन पद्यात्मक व्याख्याओं से ही सन्तुष्ट होने वाले न थे। उन्हें उसी स्तर की गद्यात्मक व्याख्याओं की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। इस आवश्यकता की पूर्ति के रूप में जैन आगमों पर प्राकृत अथवा संस्कृतमिश्रित प्राकृत में जो व्याख्याएँ लिखी गई हैं, वे चूर्णियों के रूप मे प्रसिद्ध हैं। आगमेतर साहित्य पर भी कुछ चूर्णियाँ लिखी गई, किन्तु वे आगमों की चूर्णियों की तुलना मे बहुत कम हैं। उदाहरण के लिए कर्मप्रकृति, शतक आदि की चूर्णियाँ उपलब्ध हैं।

चूर्णियाँ :

निम्नांकित आगम-ग्रन्थों पर आचार्यों ने चूर्णियाँ लिखी हैं : १. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ४. जीवाभिगम, ५. निशीथ, ६. महानिशीथ, ७. व्यवहार, ८. दशाश्रुतस्कन्ध, ९. बृहत्कल्प, १०. पंचकल्प, ११. ओघनिर्युक्ति, १२. जीतकल्प, १३. उत्तराध्ययन, १४. आवश्यक, १५. दशवैकालिक, १६. नन्दी, १७. अनुयोगद्वार, १८. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति। निशीथ और जीतकल्प पर दो-दो चूर्णियाँ लिखी गई, किन्तु वर्तमान मे एक-एक ही उपलब्ध है। अनुयोगद्वार, बृहत्कल्प एवं दशवैकालिक पर भी दो-दो चूर्णियाँ हैं।

चूर्णियों की रचना का क्या क्रम है, इस विषय में निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। चूर्णियों में उल्लिखित एक-दूसरे के नाम के आधार पर क्रम-निर्धारण का प्रयत्न किया जा सकता है। श्री आनन्दसागर सूरि के मत से जिनदासगणिकृत निम्नलिखित चूर्णियों का रचनाक्रम इस प्रकार है : नन्दीचूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, दशवैकालिकचूर्णि, उत्तराध्ययनचूर्णि, आचारांगचूर्णि, सूत्रकृतांगचूर्णि और व्याख्याप्रज्ञप्तिचूर्णि।[1]

१. आर्हत आगमोनी चूर्णिओ अने तेनुं मुद्रण—सिद्धचक्र, भा. ९, अं. ८, पृ. १६५.

आवश्यकचूर्णि में ओघनिर्युक्तिचूर्णि का उल्लेख है।[1] इससे प्रतीत होता है कि ओघनिर्युक्तिचूर्णि आवश्यकचूर्णि से पूर्व लिखी गई है। दशवैकालिकचूर्णि मे आवश्यकचूर्णि का नामोल्लेख है[2] जिससे यह सिद्ध होता है कि आवश्यकचूर्णि दशवैकालिकचूर्णि से पूर्व की रचना है। उत्तराध्ययनचूर्णि में दशवैकालिकचूर्णि का निर्देश है[3] जिससे प्रकट होता है कि दशवैकालिकचूर्णि उत्तराध्ययचूर्णिके पहले लिखी गई है। अनुयोगद्वारचूर्णि में नंदीचूर्णि का उल्लेख किया गया है[4] जिससे सिद्ध होता है कि नंदीचूर्णि की रचना अनुयोगद्वारचूर्णि के पूर्व हुई है। इन उल्लेखों को देखते हुए श्री आनन्दसागर सूरि के मत का समर्थन करना अनुचित नहीं है। हाँ, उपर्युक्त रचना-क्रम में अनुयोगद्वारचूर्णि के बाद तथा आवश्यकचूर्णि के पहले ओघनिर्युक्तिचूर्णि का भी समावेश कर लेना चाहिए क्योंकि आवश्यकचूर्णि मे ओघनिर्युक्तिचूर्णि का उल्लेख है जो आवश्यकचूर्णि के पूर्व की रचना है।

भाषा की दृष्टि से नन्दीचूर्णि मुख्यतया प्राकृत में है। इसमें संस्कृत का बहुत कम प्रयोग किया गया है। अनुयोगद्वारचूर्णि भी मुख्यरूप से प्राकृत मे ही है, जिसमें यत्र-तत्र संस्कृत के श्लोक और गद्यांश उद्धृत किये गये हैं। जिनदासकृत दशवैकालिकचूर्णि की भाषा मुख्यतया प्राकृत है, जबकि अगस्त्यसिंहकृत दशवैकालिकचूर्णि प्राकृत मे ही है। उत्तराध्ययनचूर्णि संस्कृतमिश्रित प्राकृत में है। इसमें अनेक स्थानों पर संस्कृत के श्लोक उद्धृत किये गये हैं। आचारांगचूर्णि प्राकृत-प्रधान है, जिसमे यत्र-तत्र संस्कृत के श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं। सूत्रकृतागचूर्णि की भाषा एवं शैली आचारांगचूर्णि के ही समान है। इसमे सस्कृत का प्रयोग अन्य चूर्णियों की अपेक्षा अधिक मात्रा मे हुआ है। जीतकल्पचूर्णि मे प्रारम्भ से अन्त तक प्राकृत का ही प्रयोग है। इसमे जितने उद्धरण हैं वे भी प्राकृत-ग्रन्थों के ही हैं। इस दृष्टि से यह चूर्णि अन्य चूर्णियों से विलक्षण है। निशीथविशेषचूर्णि अल्प-संस्कृतमिश्रित प्राकृत में है। दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि प्रधानतया प्राकृत मे है। बृहत्कल्पचूर्णि संस्कृतमिश्रित प्राकृत में है।

चूर्णिकार :

चूर्णिकार के रूप में मुख्यतया जिनदासगणि महत्तर का नाम प्रसिद्ध है। इन्होंने वस्तुतः कितनी चूर्णियाँ लिखी हैं, इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया

---

१. आवश्यकचूर्णि (पूर्वभाग), पृ. ३४१. २. दशवैकालिकचूर्णि, पृ. ७१. ३. उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. २७४. ४. अनुयोगद्वारचूर्णि, पृ. १.

जा सकता। परंपरा से निम्नांकित चूर्णियाँ जिनदासगणि महत्तर की कही जाती हैं: निशीथविशेषचूर्णि, नन्दीचूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, दशवैकालिकचूर्णि, उत्तराध्ययनचूर्णि और सूत्रकृतांगचूर्णि। उपलब्ध जीतकल्पचूर्णि सिद्धसेनसूरि की कृति है। बृहत्कल्पचूर्णिकार का नाम प्रलम्बसूरि है।[1] आचार्य जिनभद्र की कृतियों में एक चूर्णि का भी समावेश है। यह चूर्णि अनुयोगद्वार के अंगुल पद पर है जिसे जिनदास की अनुयोगद्वारचूर्णि में अक्षरशः उद्धृत किया गया है।[2] इसी प्रकार दशवैकालिक सूत्र पर भी एक और चूर्णि है। इसके रचयिता अगस्त्यसिंह हैं। अन्य चूर्णिकारों के नाम अज्ञात हैं।

जिनदासगणि महत्तर के जीवन-चरित्र से सम्बन्धित विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। निशीथविशेषचूर्णि के अन्त में चूर्णिकार का नाम जिनदास बताया गया है तथा प्रारंभ मे उनके विद्यागुरु के रूप में प्रद्युम्न क्षमाश्रमण के नाम का उल्लेख किया गया है। उत्तराध्ययनचूर्णि के अन्त में चूर्णिकार का परिचय दिया गया है किन्तु उनके नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। इसमें उनके गुरु का नाम वाणिज्यकुलीन, कोटिकगणीय, वज्रशाखीय गोपालगणि महत्तर बताया गया है। नन्दीचूर्णि के अन्त में चूर्णिकार ने अपना जो परिचय दिया है वह अस्पष्ट रूप में उपलब्ध है। जिनदास के समय के विषय में इतना कहा जा सकता है कि ये भाष्यकार आचार्य जिनभद्र के बाद एवं टीकाकार आचार्य हरिभद्र के पूर्व हुए हैं क्योंकि आचार्य जिनभद्र के भाष्य की अनेक गाथाओं का उपयोग इनकी चूर्णियों में हुआ है, जबकि आचार्य हरिभद्र ने अपनी टीकाओं मे इनकी चूर्णियों का पूरा उपयोग किया है। आचार्य जिनभद्र का समय विक्रम संवत् ६००-६६० के आसपास है[3] तथा आचार्य हरिभद्र का समय वि. सं. ७५७-८२७ के बीच का है।[4] ऐसी दशा में जिनदासगणि महत्तर का समय वि. सं. ६५०-७५० के बीच में मानना चाहिए। नन्दीचूर्णि के अन्त मे उसका रचना-काल शक संवत् ५९८ अर्थात् वि. सं. ७३३ निर्दिष्ट है।[5] इससे भी यही सिद्ध होता है।

---

१. जैन ग्रंथावली, पृ. १२, टि. ५. २. गणधरवाद, पृ. २११.
३. गणधरवाद : प्रस्तावना, पृ. ३२–३.
४. जैन आगम, पृ. २७.
५. A History of the Canonical Literature of the Jainas, पृ० १९१; नन्दीसूत्र-चूर्णि (प्रा. टे. सो.), पृ० ८३.

उपलब्ध जीतकल्पचूर्णि के कर्ता सिद्धसेनसूरि हैं। प्रस्तुत सिद्धसेन सिद्धसेन-दिवाकर से भिन्न ही कोई आचार्य हैं। इसका कारण यह है कि सिद्धसेन दिवाकर जीतकल्पकार आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं। प्रस्तुत चूर्णि की एक व्याख्या (विषमपदव्याख्या) श्रीचन्द्रसूरि ने वि. सं. १२२७ में पूर्ण की है अतः चूर्णिकार सिद्धसेन वि. सं. १२२७ के पहले होने चाहिए। ये सिद्धसेन कौन हो सकते हैं, इसकी संभावना का विचार करते हुए पं. दलसुख मालवणिया लिखते हैं कि आचार्य जिनभद्र के पश्चात्वर्ती तत्त्वार्थभाष्य-व्याख्याकार सिद्धसेनगणि और उपमितिभवप्रपंचा कथा के लेखक सिद्धर्षि अथवा सिद्धव्याख्यानिक—ये दो प्रसिद्ध आचार्य तो प्रस्तुत चूर्णि के लेखक प्रतीत नहीं होते, क्योंकि यह चूर्णि भाषा का प्रश्न गौण रखते हुए देखा जाय तो भी कहना पड़ेगा कि बहुत सरल शैली में लिखी गई है, जबकि उपर्युक्त दोनों आचार्यों की शैली अति क्लिष्ट है। दूसरी बात यह है कि इन दोनों आचार्यों की कृतियों मे इसकी गिनती भी नहीं की जाती। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत सिद्धसेन कोई अन्य ही होने चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य जिनभद्रकृत बृहत्क्षेत्रसमास की वृत्ति के रचयिता सिद्धसेनसूरि प्रस्तुत चूर्णि के भी कर्ता होने चाहिए क्योंकि इन्होंने उपर्युक्त वृत्ति वि. सं. ११९२ में पूर्ण की थी। दूसरी बात यह है कि इन सिद्धसेन के अतिरिक्त अन्य किसी सिद्धसेन का इस समय के आसपास होना ज्ञात नहीं होता। ऐसी स्थिति में बृहत्क्षेत्रसमास की वृत्ति के कर्ता और प्रस्तुत चूर्णि के लेखक संभवतः एक ही सिद्धसेन हैं। यदि ऐसा ही है तो मानना पड़ेगा कि चूर्णिकार सिद्धसेन उपकेशगच्छ के थे तथा देवगुप्तसूरि के शिष्य एवं यशोदेवसूरि के गुरुभाई थे। इन्हीं यशोदेवसूरि ने उन्हें शास्त्रार्थ सिखाया था।[1]

उपर्युक्त मान्यता पर अपना मत प्रकट करते हुए पं. श्री सुखलालजी लिखते हैं कि जीतकल्प एक आगमिक ग्रंथ है। यह देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी चूर्णि के कर्ता कोई आगमिक होने चाहिए। इस प्रकार के एक आगमिक सिद्धसेन क्षमाश्रमण का निर्देश पंचकल्पचूर्णि तथा हारिभद्रीयवृत्ति मे है। संभव है कि जीतकल्पचूर्णि के लेखक भी यही सिद्धसेन क्षमाश्रमण हों।[2] जब तक एतद्विषयक निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं होते तब तक प्रस्तुत चूर्णिकार सिद्धसेन सूरि के विषय में निश्चित रूप से विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता।

---

१. गणधरवाद : प्रस्तावना, पृ. ४४. २. वही : वृद्धिपत्र, पृ. २११.

पं० दलसुख मालवणिया ने निशीथ-चूर्णि की प्रस्तावना में संभावना की है कि ये सिद्धसेन आचार्य जिनभद्र के साक्षात् शिष्य हों। ऐसा इसलिए संभव है कि जीतकल्पभाष्य-चूर्णि का मंगल इस बात की पुष्टि करता है। साथ ही यह भी संभावना की है कि बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ भाष्य के भी कर्ता ये हों।[1]

बृहत्कल्पचूर्णिकार प्रलंबसूरि के जीवन-चरित्र पर प्रकाश डालने वाली कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। ताड़पत्र पर लिखित प्रस्तुत चूर्णि की एक प्रति का लेखन-समय वि. स. १३३४ है।[2] अतः इतना निश्चित है कि प्रलंबसूरि वि. सं० १३३४ के पहले हुए हैं। हो सकता है कि ये चूर्णिकार सिद्धसेन के समकालीन हों अथवा उनसे भी पहले हुए हों।

दशवैकालिकचूर्णिकार अगस्त्यसिंह कोटिगणीय वज्रस्वामी की शाखा के एक स्थविर हैं। इनके गुरु का नाम ऋषिगुप्त है। इनके समय आदि के विषय में प्रकाश डालने वाली कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनकी चूर्णि अन्य चूर्णियों से विशेष प्राचीन नहीं है। इसमे तत्त्वार्थ-सूत्र आदि के संस्कृत उद्धरण भी हैं। चूर्णि के प्रारंभ मे ही 'सम्यग्दर्शनज्ञान···' (तत्त्वा. अ. १, सू. १) सूत्र उद्धृत किया गया है। शैली आदि की दृष्टि से चूर्णि सरल है।

---

१. निशीथ सूत्र (सन्मति ज्ञानपीठ), भा. ४ : प्रस्तावना, पृ० ३८ से.

२. जैन ग्रंथावली, पृ. १२–३, टि. ५.

द्वितीय प्रकरण

नन्दीचूर्णि

यह चूर्णि[1] मूल सूत्रानुसारी है तथा मुख्यतया प्राकृत में लिखी गयी है। इसमें यत्र-तत्र संस्कृत का प्रयोग है अवश्य किन्तु वह नहीं के बराबर है। इसकी व्याख्यानशैली संक्षिप्त एवं सारग्राही है। इसमें सर्वप्रथम जिन और वीरस्तुति की व्याख्या की गई है, तदनन्तर संघस्तुति की। मूल गाथाओं का अनुसरण करते हुए आचार्य ने तीर्थंकरों, गणधरों और स्थविरों की नामावली भी दी है। इसके बाद तीन प्रकार की पर्षद् की ओर संकेत करते हुए ज्ञानचर्चा प्रारंभ की है। जैनागमों में प्रसिद्ध आभिनिबोधिक (मति), श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल—इन पाँच प्रकार के ज्ञानों का स्वरूप-वर्णन करने के बाद आचार्य ने प्रत्यक्ष-परोक्ष की स्वरूप-चर्चा की है। केवलज्ञान की चर्चा करते हुए चूर्णिकार ने पन्द्रह प्रकार के सिद्धों का भी वर्णन किया है: १. तीर्थसिद्ध, २. अतीर्थसिद्ध, ३. तीर्थंकरसिद्ध, ४. अतीर्थंकरसिद्ध, ५. स्वयबुद्ध-सिद्ध, ६. प्रत्येकबुद्धसिद्ध, ७. बुद्धबोधितसिद्ध, ८. स्त्रीलिंगसिद्ध, ९. पुरुषलिंग-सिद्ध, १०. नपुंसकलिंगसिद्ध, ११. स्वलिंगसिद्ध, १२. अन्यलिंगसिद्ध, १३. गृहलिंगसिद्ध, १४. एकसिद्ध, १५. अनेकसिद्ध। ये अनन्तरसिद्धकेवलज्ञान के भेद हैं। इसी प्रकार केवलज्ञान के परम्परसिद्धकेवलज्ञान आदि अनेक भेदोपभेद हैं। इन सब का मूल सूत्रकार ने स्वयं ही निर्देश किया है।

केवलज्ञान और केवलदर्शन के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए आचार्य ने तीन मत उद्धृत किये हैं: १. केवलज्ञान और केवलदर्शन का यौगपद्य, २. केवलज्ञान और केवलदर्शन का क्रमिकत्व, ३. केवलज्ञान और केवलदर्शन का अभेद। एतद्विषयक गाथाएँ इस प्रकार हैं:

> केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली णियमा।
> अण्णे एगंतरियं इच्छंति सुतोवदेसेणं॥ १॥

१. श्रीविशेषावश्यकसरका अमुद्रितगाथाः श्रीनन्दीसूत्रस्य चूर्णिः हारिभद्रीया वृत्तिश्च—श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९२८. नंदिसूत्रम् चूर्णिसहितम्—प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी, सन् १९६६.

अण्णे ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिंदस्स ।
जं चिय केवलणाणं तं चिय से दंसणं बेंति ॥ २ ॥

इन तीनों मतों के समर्थन के रूप में भी कुछ गाथाएँ दी गई हैं। आचार्य ने केवलज्ञान और केवलदर्शन के क्रमभावित्व का समर्थन किया है। एतद्विषयक विस्तृत चर्चा विशेषावश्यकभाष्य में देखनी चाहिए।[१]

श्रुतनिश्रित, अश्रुतनिश्रित आदि भेदों के साथ आभिनिबोधिकज्ञान का सविस्तर विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने श्रुतज्ञान का अति विस्तृत व्याख्यान किया है। इस व्याख्यान में संज्ञीश्रुत, असंज्ञीश्रुत, सम्यक्श्रुत, मिथ्याश्रुत, सादिश्रुत, अनादिश्रुत, गमिकश्रुत, अगमिकश्रुत, अंगप्रविष्टश्रुत, अंगबाह्यश्रुत, उत्कालिकश्रुत, कालिकश्रुत आदि श्रुत के विविध भेदों का समावेश किया गया है। द्वादशांग की आराधना के फल की ओर संकेत करते हुए आचार्य ने निम्न गाथा में अपना परिचय देकर ग्रन्थ समाप्त किया है :

णिरेणगगमत्तणहसदा जिया, पसुपतिसंखगजट्ठिताकुला ।
कमट्ठिता धीमतचिंतियक्खरा, फुडं कहेयंतभिधाणकत्तुणो ॥ १ ॥
—नन्दीचूर्णि (प्रा. टे. सो.), पृ. ८३.

१. विशेषावश्यकभाष्य, गा० ३०८९-३१३५.

तृतीय प्रकरण

अनुयोगद्वारचूर्णि

यह चूर्णि[1] मूल सूत्र का अनुसरण करते हुए मुख्यतया प्राकृत में लिखी गई है। इसमें संस्कृत का बहुत कम प्रयोग हुआ है। प्रारम्भ में मंगल के प्रसंग से भावनंदी का स्वरूप बताते हुए 'णाणं पंचविधं पण्णत्तं' इस प्रकार का सूत्र उद्धृत किया गया है और कहा गया है कि इस सूत्र का जिस प्रकार नंदीचूर्णि मे व्याख्यान किया गया है उसी प्रकार यहाँ भी व्याख्यान कर लेना चाहिए।[2] इस कथन से स्पष्ट है कि नन्दीचूर्णि अनुयोगद्वारचूर्णि से पहले लिखी गई है। प्रस्तुत चूर्णि में आवश्यक, तंदुलवैचारिक आदि का भी निर्देश किया गया है।[3] अनुयोगविधि और अनुयोगार्थ का विचार करते हुए चूर्णिकार ने आवश्यकाधिकार पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। आनुपूर्वी का विवेचन करते हुए कालानुपूर्वी के स्वरूप-वर्णन के प्रसंग से आचार्य ने पूर्वांगों का परिचय दिया है। 'णामाणि जाणि' आदि की व्याख्या करते हुए नाम शब्द का कर्म आदि दृष्टियों से विचार किया गया है। सात नामों के रूप मे सप्तस्वर का संगीतशास्त्र की दृष्टि से सूक्ष्म विवेचन किया गया है। नवविध नाम का नौ प्रकार के काव्यरस के रूप मे सोदाहरण वर्णन किया गया है: वीर, शृंगार, अद्भुत, रौद्र, व्रीडनक, बीभत्स, हास्य, करुण और प्रशान्त। इसी प्रकार प्रस्तुत चूर्णि मे आत्मांगुल, उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल, कालप्रमाण, औदारिकादि शरीर, मनुष्यादि प्राणियों का प्रमाण, गर्भजादि मनुष्यों की संख्या, ज्ञान और प्रमाण, संख्यात, असंख्यात, अनन्त आदि विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है।

---

१. हरिभद्रकृत वृत्तिसहित—श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९२८

२. इमस्स सुत्तस्स जहा नंदिचुण्णीए वक्खाणं तथा इहंपि वक्खाणं दट्ठव्वं—अणुयोगद्वारचूर्णि, पृ. १-२. तुलना : नन्दीचूर्णि, पृ. १० और आगे।

३. अनुयोगद्वारचूर्णि, पृ. ३.

चतुर्थ प्रकरण

आवश्यकचूर्णि

यह चूर्णि[1] मुख्यरूप से निर्युक्ति का अनुसरण करते हुए लिखी गई है। कहीं-कहीं पर भाष्य की गाथाओं का भी उपयोग किया गया है। इसकी भाषा प्राकृत है किन्तु यत्र-तत्र संस्कृत के श्लोक, गद्यांश एवं पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। भाषा में प्रवाह है। शैली भी ओजपूर्ण है। कथानकों की तो इसमें भरमार है और इस दृष्टि से इसका ऐतिहासिक मूल्य भी अन्य चूर्णियों से अधिक है। विषय-विवेचन का जितना विस्तार इस चूर्णि में है उतना अन्य चूर्णियों में दुर्लभ है। जिस प्रकार विशेषावश्यकभाष्य में प्रत्येक विषय पर सुविस्तृत विवेचन उपलब्ध है उसी प्रकार इसमें भी प्रत्येक विषय का अति विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया गया है। विशेषकर ऐतिहासिक आख्यानों के वर्णन में तो अन्त तक दृष्टि की विशालता एवं लेखनी की उदारता के दर्शन होते हैं। इसमें गोविंदनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति-चूर्णि (एत्थंतरे ओहनिज्जुत्तिचुन्नी भाणियव्वा जाव सम्मत्ता), वसुदेवहिण्डि आदि अनेक ग्रन्थों का निर्देश किया गया है।[2]

उपोद्घातचूर्णि के प्रारम्भ में मंगलचर्चा की गई है और भावमंगल के रूप में ज्ञान का विस्तृत विवेचन किया गया है। श्रुतज्ञान के अधिकार को दृष्टि में रखते हुए आवश्यक का निक्षेप-पद्धति से विचार किया गया है। द्रव्यावश्यक और भावावश्यक के विशेष विवेचन के लिए अनुयोगद्वार सूत्र की ओर निर्देश कर दिया गया है।[3] श्रुतावतार की चर्चा करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि तीर्थंकर भगवान् से श्रुत का अवतार होता है। तीर्थंकर कौन होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर चूर्णिकार ने निम्न शब्दों में दिया है: **जेहिं एवं दंसणणाणादिसंजुत्तं तित्थं कयं ते तित्थकरा भवंति, अहवा तित्थं गणहरा तं जेहिं कयं ते तित्थकरा, अहवा तित्थं चाउव्वण्णो संघो तं जेहिं कयं ते तित्थकरा।** भगवान् की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है: **भगो जेसिं अत्थि ते**

---

१. श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, पूर्वभाग, सन् १९२८, उत्तरभाग, सन् १९२९. २. पूर्वभाग, पृ. ३१, ३४१; उत्तरभाग, पृ. ३२४. ३. आवश्यकचूर्णि (पूर्वभाग), पृ. ७९.

भगवंतो। भग क्या है? इसका उत्तर देते हुए चूर्णिकार ने निम्न श्लोक उद्धृत किया है:[1]

> माहात्म्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः।
> धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतींगना॥ १॥

सामायिक नामक प्रथम आवश्यक का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार ने सामायिक का दो दृष्टियों से विवेचन किया है: द्रव्यपरंपरा से और भावपरंपरा से। द्रव्यपरंपरा की पुष्टि के लिए यासासासा और मृगावती के आख्यानक दिये हैं।[2] आचार्य और शिष्य के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए निम्न श्लोक उद्धृत किया है:[3]

> आचार्यस्यैव तज्जाड्यं, यच्छिष्यो नावबुध्यते।
> गावो गोपालकेनैव, अतीर्थेनावतारिताः॥ १॥

सामायिक का उद्देश, निर्देश, निर्गम आदि २६ द्वारों से विचार करना चाहिए,[4] इस ओर संकेत करने के बाद आचार्य ने निर्गमद्वार की चर्चा करते हुए भगवान् महावीर के (मिथ्यात्वादि से) निर्गम की ओर संकेत किया है तथा उनके भवों की चर्चा करते हुए भगवान् ऋषभदेव के धनसार्थवाह आदि भवों का विवरण दिया है। ऋषभदेव के जन्म, विवाह, अपत्य आदि का बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन करने के बाद तत्कालीन शिल्प, कर्म, लेख आदि पर भी समुचित प्रकाश डाला है। ऋषभदेव के पुत्र भरत की दिग्विजय का वर्णन करने में तो चूर्णिकार ने सचमुच कमाल कर दिया है। युद्धकला के चित्रण में आचार्य ने सामग्री एवं शैली दोनों दृष्टियों से सफलता प्राप्त की है। चूर्णि के इसी एक अंश से चूर्णिकार के प्रतिपादन-कौशल एवं साहित्यिक अभिरुचि का पता लग सकता है। सैनिक प्रयाण का एक दृश्य देखिए:

असिखेवणिखग्गचावणारायकणमकप्पणिसूललउडाभिंडिमालधणुतोण-सरपहरणेहि य काललणीलरुहिरपीतसुविकलउलअणेगचिंधसयसण्णिविट्ठं अप्फोडितसीहणायच्छेलितहयहेसितहत्थिगुलगुलाइतअणेगरहसयसहस्स-घणघणेंतणिहम्ममाणसद्दसहितेण जमगं समकं भंभाहोरंभकिणितखर-मुहिमुगंदसंखीयपरिलिवव्वयपीरव्वायणिवंसवेणुवीणाविपंचिमहतिकच्छ-

---

१. वही, पृ० ८५. २. वही पृ० ८७-९१ ३. वही, पृ० १११.
४. देखिए—आवश्यकनिर्युक्ति, गा. १४०-१.

भिरिगिसिगिकलतालकंसतालकरधाणुत्थिदेण संनिनादेण सकलमवि जीव-लोगं पूरयंते ।[1]

भरत का राज्याभिषेक, भरत और बाहुबलि का युद्ध, बाहुबलि को केवलज्ञान की प्राप्ति आदि घटनाओं का वर्णन भी आचार्य ने कुशलतापूर्वक किया है। इस प्रकार ऋषभदेवसम्बन्धी वर्णन समाप्त करते हुए चक्रवर्ती, वासुदेव आदि का भी थोड़ा सा परिचय दिया गया है तथा अन्य तीर्थंकरों की जीवनी पर भी किंचित् प्रकाश डाला गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि भगवान् महावीर के पूर्वभव के जीव मरीचि ने किस प्रकार भगवान् ऋषभदेव से दीक्षा ग्रहण की और किस प्रकार परीषहों से भयभीत होकर स्वतंत्र सम्प्रदाय की स्थापना की। इस वर्णन में मूल बातें वही हैं जो आवश्यकनिर्युक्ति मे हैं।[2]

निर्गमद्वार के प्रसग से इतनी लम्बी चर्चा होने के बाद पुनः भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र प्रारंभ होता है। मरीचि का जीव किस प्रकार अनेक भवों मे भ्रमण करता हुआ ब्राह्मणकुण्डग्राम मे देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि मे आता है, किस प्रकार गर्भापहरण होता है, किस प्रकार राजा सिद्धार्थ के पुत्र के रूप मे उत्पन्न होता है, किस प्रकार सिद्धार्थसुत वर्धमान का जन्माभिषेक किया जाता है आदि बातों का विस्तृत वर्णन करने के बाद आचार्य ने महावीर के कुटुम्ब का भी थोड़ा सा परिचय दिया है। वह इस प्रकार है[3] :

समणे भगवं महावीरे कासवगोत्तेणं, तस्स णं ततो णामधेज्जा एवमाहिज्जंति, तंजहा–अम्मापिउसंतिए वद्धमाणे सहसंमुदिते समणे अयले भयभेरवाणं खंता पडिमासतपारए अरतिरतिसहे दविए धितिविरिय संपन्ने परीसहोवसग्गसहेत्ति देवेहिं से कतं णामं समणे भगवं महावीरे। भगवतो माया चेडगरस भगिणी, भोयी चेडगरस धुआ, णाता णाम जे उसभसामिस्स सयाणिज्जगा ते णातवंसा, पित्तिज्जए सुपासे, जेट्ठे भाता णंदिवद्धणे, भगिणी सुदंसणा, भारिया जसोया कोडिन्नागोत्तेणं, धूया कासवीगोत्तेणं तीसे दो नामधेज्जा, तं०–अणोज्जगित्ति वा पियदंसणाविति वा, णत्तुई कोसीगोत्तेणं, तीसे दो नामधेज्जा (जसवतीति वा) सेसवतीति वा, एवं (यं) नामाहिगारे दरिसितं।

---

१. आवश्यकचूर्णि (पूर्वभाग), पृ० १८७. २. देखिए—आवश्यकनिर्युक्ति, गा० ३३५–४४०. ३. आवश्यकचूर्णि (पूर्वभाग), पृ० २४५.

भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित निम्न घटनाओं का विस्तृत वर्णन चूर्णिकार ने किया है : धर्मपरीक्षा, विवाह, अपत्य, दान, सम्बोध, लोकान्तिका-गमन, इन्द्रागमन, दीक्षामहोत्सव, उपसर्ग, इन्द्र-प्रार्थना, अभिग्रहपंचक, अच्छंदक-वृत्त, चण्डकौशिकवृत्त, गोशालकवृत्त, संगमककृत उपसर्ग, देवीकृत उपसर्ग, वैशाली आदि में विहार, चन्दनबालावृत्त, गोपकृत शलाकोपसर्ग, केवलोत्पाद, समवसरण, गणधरदीक्षा आदि। देवीकृत उपसर्ग का वर्णन करते समय आचार्य ने देवियों के रूप-लावण्य, स्वभाव-चापल्य, शृंगार-सौन्दर्य आदि का सरस एवं सफल चित्रण किया है। इसी प्रकार भगवान् के देह-वर्णन में भी आचार्य ने अपना साहित्य-कौशल दिखाया है।

क्षेत्र, काल आदि शेष द्वारों का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार ने नयाधि-कार के अन्तर्गत वज्रस्वामी का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया है और यह बताया है कि आर्य वज्र के बाद होने वाले आर्य रक्षित ने कालिक का अनुयोग पृथक् कर दिया। इस प्रसंग पर आर्य रक्षित का जीवन-चरित्र भी दे दिया गया है। आर्य रक्षित के मातुल गोष्ठामाहिल का वृत्त देते हुए यह बताया गया है कि वह भगवान् महावीर के शासन में सप्तम निह्नव के रूप में प्रसिद्ध हुआ। जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंगसूरि और षडुलूक—ये छः निह्नव गोष्ठामाहिल के पूर्व हो चुके थे। इन सातों निह्नवों के वर्णन में चूर्णिकार ने निर्युक्तिकार का अनुसरण किया है। साथ ही भाष्यकार का अनुसरण करते हुए चूर्णिकार ने अष्टम निह्नव के रूप में बोटिक—दिगंबर का वर्णन किया है और कथानक के रूप में भाष्य की गाथा उद्धृत की है।[१]

इसके बाद आचार्य ने सामायिकसम्बन्धी अन्य आवश्यक बातों का विचार किया है, जैसे सामायिक के द्रव्य-पर्याय, नयदृष्टि से सामायिक, सामायिक के भेद, सामायिक का स्वामी, सामायिक-प्राप्ति का क्षेत्र, काल, दिशा आदि, सामा-यिक की प्राप्ति करनेवाला, सामायिक की प्राप्ति के हेतु, एतद्विषयक आनन्द, कामदेव आदि के दृष्टान्त, अनुकम्पा आदि हेतु और मेठ, इन्द्रनाग, कृतपुण्य, पुण्यशाल, शिवराजर्षि, गंगदत्त, दशार्णभद्र, इलापुत्र आदि के उदाहरण, सामा-यिक की स्थिति, सामायिकवालों की संख्या, सामायिक का अन्तर, सामायिक का आकर्ष, समभाव के लिए दमदन्त का दृष्टान्त, समता के लिए मेतार्य का उदा-

१. वही, पृ० ४२७. (निह्नववाद के लिए देखिए—विशेषावश्यकभाष्य, गा० २३०६–२६०९.)

हरण, समास के लिए चिलातिपुत्र का दृष्टान्त, संक्षेप और अनवद्य के लिए तपस्वी और धर्मरुचि के उदाहरण, प्रत्याख्यान के लिए तेतलीपुत्र का दृष्टान्त। यहाँ तक उपोद्‌घातनिर्युक्ति की चूर्णि का अधिकार है।

सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति की चूर्णि में निम्न विषयों का प्रतिपादन किया गया है: नमस्कार की उत्पत्ति, निक्षेपादि, राग के निक्षेप, स्नेहराग के लिए अरहन्नक का दृष्टान्त, द्वेष के निक्षेप और धर्मरुचि का दृष्टान्त, कषाय के निक्षेप और जमदग्न्यादि के उदाहरण, अर्हन्नमस्कार का फल, सिद्धनमस्कार और कर्म सिद्धादि, औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी बुद्धि, कर्मक्षय और समुद्‌घात, अयोगिगुणस्थान और योगनिरोध, सिद्धों का सुख, अवगाह आदि, आचार्यनमस्कार, उपाध्यायनमस्कार, साधुनमस्कार, नमस्कार का प्रयोजन आदि। यहाँ तक नमस्कारनिर्युक्ति की चूर्णि का अधिकार है।

सामायिकनिर्युक्ति की चूर्णि में 'करेमि' इत्यादि पदों की पदच्छेदपूर्वक व्याख्या की गई है तथा छः प्रकार के करण का विस्तृत निरूपण किया गया है। यहाँ तक सामायिकचूर्णि का अधिकार है।

सामायिक अध्ययन की चूर्णि समाप्त करने के बाद आचार्य ने द्वितीय अध्ययन चतुर्विंशतिस्तव पर प्रकाश डाला है। इसमें निर्युक्ति का ही अनुसरण करते हुए स्तव, लोक, उद्योत, धर्म, तीर्थंकर आदि पदों का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ का स्वरूप बताते हुए चूर्णिकार कहते हैं: वृष उद्वहने, उव्वूढं तेन भगवता जगत्संसारभग्गं तेन ऋषभ इति, सर्वे एव भगवन्तो जगदुद्वहन्ति अतुलं नाणदंसणचरित्तं वा, एते सामण्णं वा, विसेसो ऊरुसु दोसुवि भगवतो उसभा ओपरामुहा तेण निव्वत्त बारसाहस्स नामं कतं उसभो त्ति....।[1] इसी प्रकार अन्य तीर्थंकरों का स्वरूप भी बताया गया है।

तृतीय अध्ययन वन्दना का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने अनेक दृष्टान्त दिये हैं। वन्दनकर्म के साथ-ही-साथ चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म का भी सोदाहरण विवेचन किया है। वन्द्यावन्द्य का विचार करते हुए चूर्णिकार ने वन्द्य श्रमण का स्वरूप इस प्रकार बताया है: श्रमु तपसि खेदे च, श्राम्यतीति श्रमणः तं वंदेज्ज, केरिसं? 'मेधाविं' मेरया धावतीति मेधावी, अहवा मेधावी—विज्ञानवान् तं; पाठान्तरं वा समणं वंदेज्जु मेधावी।

---

१. आवश्यकचूर्णि (उत्तरभाग), पृ० ९.

तेण मेधाविणा मेधावी वंदितव्वो, चउभंगी, चउत्थे भंगे कितिकंमफलं भवतीति, सेसएसु भयणा। तथा 'संजतं' संमं पावोवरतं, तहा 'सुसमाहितं' सुट्ठु समाहितं सुसमाहितं णाणदंसणचरणेसु समुज्जतमिति यावत्, को य सो एवंभूतः ? पंचसमितो तिगुत्तो अट्ठहिं पवयणमाताहिं ठितो····।[१] मेधावी, संयत और सुसमाहित श्रमण की वन्दना करनी चाहिए। निम्नलिखित पाँच प्रकार के श्रमण अवन्द्य हैं : १. आजीवक, २. तापस, ३. परिव्राजक, ४. तच्चंणिय, ५. बोटिक। इसी प्रकार पार्श्वस्थ आदि भी अवंद्य हैं। चूर्णिकार स्वयं लिखते हैं : किं च, इमेवि पंच ण वंदियव्वा समणसद्दे वि सति, जहा आजीवगा तावसा परिव्वायगा तच्चंणिया बोडिया समणा वा इमं सासणं पडिवन्ना, ण य ते अन्नतित्थे ण य सतित्थे जे वि सतित्थे न प्रतिज्ञामणुपालयन्ति ते वि पंच पासत्थादी ण वंदितव्वा।[२] आगे आचार्य ने कुशीलसंसर्गत्याग, लिंग, ज्ञान-दर्शन चारित्रवाद, आलंबनवाद, वंद्यवंदकसंबंध, वंद्यावंद्यकाल, वंदनसंख्या, वंदनदोष, वंदनफल आदि का दृष्टान्तपूर्वक विचार किया है।

प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ अध्ययन का विवेचन करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि प्रतिक्रमण का शब्दार्थ है प्रतिनिवृत्ति। प्रमाद के वश अपने स्थान (प्रतिज्ञा) से हट कर अन्यत्र जाने के बाद पुनः अपने स्थान पर लौटने की जो क्रिया है वही प्रतिक्रमण है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने दो श्लोक उद्धृत किये हैं :[३]

स्वस्थानाद्यत्परं स्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥ १ ॥
क्षायोपशमिकाद्वापि, भावादौदयिकं गतः।
तत्रापि हि स एवार्थः, प्रतिकूलगमात् स्मृतः ॥ २ ॥

इसी प्रकार चूर्णिकार ने प्रतिक्रमण का स्वरूप समझाते हुए एक प्राकृत गाथा भी उद्धृत की है जिसमे बताया गया है कि शुभ योग में पुनः प्रवर्तन करना प्रतिक्रमण है। वह गाथा इस प्रकार है :[४]

पति पति पवत्तणं वा सुभेसु जोगेसु मोक्खफलदेसु।
निस्सल्लस्स जतिस्सा जं तेणं तं पडिक्कमणं ॥ १ ॥

---

१. पृ० १९–२०. २. पृ० २०.
३. पृ० ५२. ४. वही.

चूर्णिकार ने निर्युक्तिकार की भाँति प्रतिक्रमक, प्रतिक्रमण और प्रतिक्रांतव्य—इन तीनों दृष्टियों से प्रतिक्रमण का व्याख्यान किया है। इसी प्रकार प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि और आलोचना का विवेचन करते हुए आचार्य ने तत्तद्विषयक कथानक भी दिये हैं। प्रतिक्रमण-सम्बन्धी सूत्र के पदों का अर्थ करते हुए कायिक, वाचिक और मानसिक अतिचार, ईर्यापथिकी विराधना, प्रकामशय्या, भिक्षाचर्या, स्वाध्याय आदि में लगने वाले दोषों का स्वरूप समझाया गया है। इसी प्रसंग पर चार प्रकार की विकथा, चार प्रकार का ध्यान, पाँच प्रकार की क्रिया, पाँच प्रकार के कामगुण, पाँच प्रकार के महाव्रत, पाँच प्रकार की समिति, परिष्ठापना, प्रतिलेखना आदि का अनेक आख्यानों एवं उद्धरणों के साथ प्रतिपादन किया गया है। एकादश उपासकप्रतिमाओं का स्वरूप समझाते हुए चूर्णिकार ने 'एत्थं कहवि अण्णोवि पाढो दीसति'' इन शब्दों के साथ पाठांतर भी दिया है। इसी प्रकार द्वादश भिक्षु प्रतिमाओं का भी वर्णन किया गया है। तेरह क्रियास्थान, चौदह भूतग्राम एवं गुणस्थान, पंद्रह परमाधार्मिक, सोलह अध्ययन (सूत्रकृत के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययन), सत्रह प्रकार का असंयम, अठारह प्रकार का अब्रह्म, उत्क्षिप्तना आदि उन्नीस अध्ययन, बीस असमाधि-स्थान, इक्कीस शबल (अविशुद्ध चारित्र), बाईस परीषह, तेईस सूत्रकृत के अध्ययन (पुंडरीक आदि), चौबीस देव, पचीस भावनाएँ, छब्बीस उद्देश (दशाश्रुतस्कन्ध के दस, कल्प—बृहत्कल्प के छः और व्यवहार के दस),[2] सत्ताईस अनगार-गुण, अट्ठाईस प्रकार का आचारकल्प, उनतीस पापश्रुत, तीस मोहनीय-स्थान, इकतीस सिद्धादिगुण, बत्तीस प्रकार का योगसंग्रह आदि विषयों का प्रतिपादन करने के बाद आचार्य ने ग्रहणशिक्षा और आसेवनशिक्षा—इन दो प्रकार की शिक्षाओं का उल्लेख किया है और बताया है कि आसेवनशिक्षा का वर्णन उसी प्रकार करना चाहिए जैसा कि ओघसामाचारी और पदविभागसामाचारी में किया गया है: **आसेवणसिक्खा जथा ओहसामायारीए पयविभागसामाचारीए य वण्णितं।**[3] शिक्षा का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए अभयकुमार का विस्तृत वृत्त भी दिया गया है। इसी प्रसंग पर चूर्णिकार ने श्रेणिक, चेल्लणा, सुलसा, कोणिक, चेटक, उदायी, महापद्मनंद,

१. पृ. १२०.

२. दस उद्देसणकाला दसाण कप्पस्स होंति छच्चेव।
दस चेव य ववहारस्स होंति सव्वेवि छव्वीसं॥—पृ. १४८.

३. पृ. १५७–८.

शकटाल, वररुचि, स्थूलभद्र आदि से संबंधित अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक आख्यानों का संग्रह किया है। अज्ञातोपधानता, अलोभता, तितिक्षा, आर्जव, शुचि, सम्यग्दर्शनविशुद्धि, समाधान, आचारोपगत्व, विनयोपगत्व, धृतिमति, संवेग, प्रणिधि, सुविधि, संवर, आत्मदोषोपसंहार, प्रत्याख्यान, व्युत्सर्ग, अप्रमाद, ध्यान, वेदना, संग, प्रायश्चित्त, आराधना, आशातना, अस्वाध्यायिक, प्रत्युपेक्षणा आदि प्रतिक्रमणसम्बन्धी अन्य आवश्यक विषयों का दृष्टान्तपूर्वक प्रतिपादन करते हुए प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ अध्ययन का व्याख्यान समाप्त किया है। आत्मदोषोपसंहार का वर्णन करते हुए व्रत की महत्ता बताने के लिए आचार्य ने एक सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है जिसे यहाँ देना अप्रासंगिक न होगा। वह श्लोक इस प्रकार है :[1]

वरं प्रविष्टं ज्वलितं हुताशनं, न चापि भग्नं चिरसंचितं व्रतम्।
वरं हि मृत्युः परिशुद्धकर्मणो, न शीलवृत्तस्खलितस्य जीवितम्॥ १॥

अर्थात् जलती हुई अग्नि में प्रवेश कर लेना अच्छा है किन्तु चिरसंचित व्रत को भंग करना ठीक नहीं। विशुद्धकर्मशील होकर मर जाना अच्छा है किन्तु शील से स्खलित होकर जीना ठीक नहीं।

पंचम अध्ययन कायोत्सर्ग की व्याख्या के प्रारंभ में व्रणचिकित्सा (वणतिगिच्छा) का प्रतिपादन किया गया है और कहा गया है कि व्रण दो प्रकार का होता है: द्रव्यव्रण और भावव्रण। द्रव्यव्रण की औषधादि से चिकित्सा होती है। भावव्रण अतिचाररूप है जिसकी चिकित्सा प्रायश्चित्त से होती है। वह प्रायश्चित्त दस प्रकार का है: आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक। चूर्णि का मूल पाठ इस प्रकार है: सो य वणो दुविधो—दव्वे भावे य, दव्ववणो ओसहादीहिं तिगिच्छिज्जति, भाववणो संजमातियारो तस्स पायच्छित्तेण तिगिच्छणा, एतेणावसरेण पायच्छित्तं परूविज्जति। वणतिगिच्छा अणुगमो य, तं पायच्छित्तं दसविहं······।[2] दस प्रकार के प्रायश्चित्तों का विशद वर्णन जीतकल्प सूत्र में देखना चाहिए। कायोत्सर्ग में काय और उत्सर्ग दो पद हैं। काय का निक्षेप नाम आदि बारह प्रकार का है। उत्सर्ग का निक्षेप नाम आदि छः प्रकार का है। कायोत्सर्ग के दो भेद हैं: चेष्टाकायोत्सर्ग और अभिभवकायोत्सर्ग। अभिभवकायोत्सर्ग हार कर अथवा हरा कर किया जाता है। चेष्टाकायोत्सर्ग चेष्टा अर्थात् गमनादि प्रवृत्ति के कारण किया जाता है। हूणादि से पराजित होकर कायोत्सर्ग करना अभिभवकायोत्सर्ग है। गमनागमनादि के कारण जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह चेष्टाकायोत्सर्ग

१. पृ. २०२. २. पृ. २४६.

है : सो पुण काउस्सग्गो दुविधो-चेट्ठाकाउस्सग्गो य अभिभवकाउस्सग्गो य, अभिभवो णाम अभिभूतो वा परेण परं वा अभिभूय कुणति, परेणाभिभूतो, तथा हूणादीहिं अभिभूतो सव्वं सरीरादि वोसिरामिति काउस्सग्गं करेति, परं वा अभिभूय काउस्सग्गं करेति, जथा तित्थगरो देवमणुयादिणो अणुलोमपडिलोमकारिणो भयादी पंच अभिभूय काउस्सग्गं कातुं प्रतिज्ञां पूरेति, चेट्ठाकाउस्सग्गो चेट्ठातो निप्फण्णो जथा गमणागमणादिसु काउस्सग्गो कीरति······।[1] कायोत्सर्ग के प्रशस्त और अप्रशस्त ये दो अथवा उच्छ्रित आदि नौ भेद भी होते हैं।[1] इन भेदों का वर्णन करने के बाद श्रुत, सिद्ध आदि की स्तुति का विवेचन किया गया है तथा क्षामणा की विधि पर प्रकाश डाला गया है। कायोत्सर्ग के दोष, फल आदि का वर्णन करते हुए पंचम अध्ययन का व्याख्यान समाप्त किया गया है।

षष्ठ अध्ययन प्रत्याख्यान की चूर्णि में प्रत्याख्यान के भेद, श्रावक के भेद, सम्यक्त्व के अतिचार, स्थूलप्राणातिपातविरमण और उसके अतिचार, स्थूलमृषावादविरमण और उसके अतिचार, स्थूलअदत्तादानविरमण और उसके अतिचार, स्वदारसंतोष और परदारप्रत्याख्यान एवं तत्सम्बन्धी अतिचार, परिग्रहपरिमाण एवं तद्विषयक अतिचार, तीन गुणव्रत और उनके अतिचार, चार शिक्षाव्रत और उनके अतिचार, दस प्रकार के प्रत्याख्यान, छः प्रकार की विशुद्धि, प्रत्याख्यान के गुण और आगार आदि का विविध उदाहरणों के साथ व्याख्यान किया गया है। बीच-बीच में यत्र-तत्र अनेक गाथाएँ एवं श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं। अन्त में प्रस्तुत संस्करण की प्रति के विषय में लिखा गया है कि सं० १७७४ में पं० दीपविजयगणि ने प० न्यायसागरगणि को आवश्यकचूर्णि प्रदान की : सं० १७७४ वर्षे पं० दीपविजयगणिना आवश्यकचूर्णिः पं० श्रीन्यायसागरगणिभ्यः प्रदत्ता।[3]

आवश्यकचूर्णि के इस परिचय से स्पष्ट है कि चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर ने अपनी प्रस्तुत कृति में आवश्यकनिर्युक्ति में निर्दिष्ट सभी विषयों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है तथा विवेचन की सरलता, सरसता एवं स्पष्टता की दृष्टि से अनेक प्राचीन ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यान उद्धृत किये हैं। इसी प्रकार विवेचन में यत्र-तत्र अनेक गाथाओं एवं श्लोकों का समावेश भी किया है। यह सामग्री भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

१. पृ. २४८. २. पृ. २४९. ३. पृ. ३३५.

पंचम प्रकरण

दशवैकालिकचूर्णि (जिनदासगणिकृत)

यह चूर्णि[1] भी निर्युक्ति का अनुसरण करते हुए लिखी गई है तथा द्रुमपुष्पिका आदि दस अध्ययन एवं दो चूलिकाएँ—इस प्रकार बारह अध्ययनों मे विभक्त है। इसकी भाषा मुख्यतया प्राकृत है। प्रथम अध्ययन में एकक, काल, द्रुम, धर्म आदि पदों का निक्षेप-पद्धति से विचार किया गया है तथा शय्यंभववृत्त, दस प्रकार के श्रमणधर्म, अनुमान के विविध अवयव आदि का प्रतिपादन किया गया है। संक्षेप में प्रथम अध्ययन में धर्म की प्रशंसा का वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्ययन का मुख्य विषय धर्म में स्थित व्यक्ति को धृति कराना है। चूर्णिकार इस अध्ययन की व्याख्या के प्रारम्भ में ही कहते हैं कि 'अध्ययन' के चार अनुयोगद्वारों का व्याख्यान उसी प्रकार समझ लेना चाहिए जिस प्रकार आवश्यकचूर्णि में किया गया है।[2] इसके बाद श्रमण के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए पूर्व, काम, पद, शीलांगसहस्र आदि पदों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। तृतीय अध्ययन में दृढधृतिक के आचार का प्रतिपादन किया गया है। इसके लिए महत्, क्षुल्लक, आचार, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार, अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा, मिश्रकथा, अनाचीर्ण, संयतस्वरूप आदि का विचार किया गया है। चतुर्थ अध्ययन की चूर्णि मे जीव, अजीव, चारित्रधर्म, यतना, उपदेश, धर्मफल आदि के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। पंचम अध्ययन की चूर्णि में साधु के उत्तरगुणों का विचार किया गया है जिसमे पिण्डस्वरूप, भक्तपानैषणा, गमनविधि, गोचरविधि, पानकविधि, परिष्ठापनविधि, भोजनविधि, आलोचनविधि आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। बीच-बीच मे कहीं-कहीं पर मांसाहार, मद्यपान आदि की चर्चा भी की गई है।[3] षष्ठ अध्ययन मे धर्म, अर्थ, काम, व्रतषट्क, कायषट्क आदि का प्रतिपादन किया गया है। इस अध्ययन की चूर्णि में आचार्य ने अपने संस्कृत-

---

१. श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेतांबर संस्था, रतलाम, सन् १९३३.

२. दशवैकालिकचूर्णि, पृ. ७१. ३. वही, पृ. १८४, १८७, २०२, २०३.

व्याकरण के पाण्डित्य का भी अच्छा परिचय दिया है। सप्तम अध्ययन की चूर्णि में भाषासम्बन्धी विवेचन है। इसमें भाषा की शुद्धि, अशुद्धि, सत्य, मृषा, सत्यमृषा, असत्यमृषा आदि का विचार किया गया है। अष्टम अध्ययन की चूर्णि में इन्द्रियादि प्रणिधियों का विवेचन किया गया है। नवम अध्ययन की चूर्णि में लोकोपचारविनय, अर्थविनय, कामविनय, भयविनय, मोक्षविनय आदि की व्याख्या की गयी है। दशम अध्ययन में भिक्षुसम्बन्धी गुणों पर प्रकाश डाला गया है। चूलिकाओं की चूर्णि में रति, अरति, विहारविधि, गृहिवैयावृत्यनिषेध, अनिकेतवास आदि विषयों से सम्बन्धित विवेचन है। चूर्णिकार ने स्थान-स्थान पर अनेक ग्रन्थों के नामों का निर्देश भी किया है।[1]

१. तरंगवती—पृ. १०६, ओघनिर्युक्ति—पृ. १७५, पिण्डनिर्युक्ति—पृ. १७८ आदि।

षष्ठ प्रकरण

उत्तराध्ययनचूर्णि

यह चूर्णि[1] भी निर्युक्त्यनुसारी है तथा संस्कृतमिश्रित प्राकृत में लिखी गई है। इसमें सयोग, पुद्गलबन्ध, संस्थान, विनय, क्रोधवारण, अनुशासन, परीषह, धर्मविघ्न, मरण, निर्ग्रन्थपंचक, भयसप्तक, ज्ञानक्रियैकान्त आदि विषयों पर सोदाहरण प्रकाश डाला गया है। स्त्रीपरीषह का विवेचन करते हुए आचार्य ने नारी-स्वभाव की कड़ी आलोचना की है और इस प्रसंग पर निम्नलिखित दो श्लोक भी उद्धृत किये हैं :

एता हसंति च रुदंति च अर्थहेतोर्विश्वासयंति च परं न च विश्वसंति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन, नार्यः स्मशानसुमना इव वर्जनीयाः॥ १॥

समुद्रवीचीचपलस्वभावाः, संध्याभ्ररेखेव मुहूर्तरागाः।
स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं, नीपीडितालक्त(क)वत् त्यजंति॥ २॥
—उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ६५.

हरिकेशीय अध्ययन की चूर्णि में आचार्य ने अब्राह्मण के लिए निषिद्ध बातों की ओर निर्देश करते हुए शूद्र के लिए निम्न श्लोक उद्धृत किया है :

न शूद्राय बलिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविः कृतम्।
न चास्योपदिशेद् धर्मं, न चास्य व्रतमादिशेत्॥
—वही, पृ. २०५.

चूर्णिकार ने चूर्णि के अन्त मे अपना परिचय देते हुए स्वयं को वाणिज्य-कुलीन, कोटिकगणीय, वज्रशाखी गोपालगणिमहत्तर का शिष्य बताया है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं :

१—श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९३३.

वाणिजकुलसंभूओ कोडियगणिओ उ वयरसाहीतो।
गोवालियमहत्तरओ, विक्खाओ आसि लोगंमि ॥ १ ॥
ससमयपरसमयविऊ, ओयस्सी दित्तिमं सुगंभीरो।
सीसगणसंपरिवुडो, वक्खाणरतिप्पिओ आसी ॥ २ ॥
तेसिं सीसेण इमं, उत्तरज्झयणाण चुण्णिखंडं तु।
रइयं अणुग्गहत्थं, सीसाणं मंदबुद्धीणं ॥ ३ ॥
जं एत्थं उस्सुत्तं, अयाणमाणेण विरतितं होज्जा।
तं अणुओगधरा मे, अणुचिंतेउं समारेंतु ॥ ४ ॥
—वही, पृ. २८३.

दशवैकालिकचूर्णि भी निःसन्देह उन्हीं आचार्य की कृति है जिनकी उत्तराध्ययनचूर्णि है। इतना ही नहीं, दशवैकालिकचूर्णि उत्तराध्ययनचूर्णि से पहले लिखी गई है। इसका प्रमाण उत्तराध्ययनचूर्णि में मिलता है जो इस प्रकार है: **षष्ठोपि चित्तो नानाप्रकारो प्रकीर्णतपोभिधीयते, तदन्यत्राभिहितं, शेषं दशवैकालिकचूर्णौ अभिहितं····।**[1] यहाँ आचार्य ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि प्रकीर्णतप के विषय में अन्यत्र कह दिया गया है और शेष दशवैकालिकचूर्णि में कह दिया गया है। जिस स्वर में आचार्य ने यह लिखा है कि इसके विषय मे अन्यत्र कह दिया गया है उसी स्वर में उन्होंने यह भी लिखा है कि शेष दशवैकालिकचूर्णि मे कह दिया गया है। इस स्वरसाम्य को देखते हुए यह कथन अनुपयुक्त नहीं कि उत्तराध्ययन और दशवैकालिक की चूर्णियाँ एक ही आचार्य की कृतियाँ हैं तथा दशवैकालिकचूर्णि की रचना उत्तराध्ययनचूर्णि से पूर्व की है।

१. उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० २७४.

सप्तम प्रकरण

आचारांगचूर्णि

इस चूर्णि[1] में प्रायः उन्हीं विषयों का विवेचन है जो आचारांग-निर्युक्ति में हैं। निर्युक्ति की गाथाओं के आधार पर ही यह चूर्णि लिखी गई है अतः ऐसा होना स्वाभाविक है। इसमें वर्णित विषयों में से कुछ के नामों का निर्देश करना अप्रासंगिक न होगा। प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूर्णि में मुख्यरूप से निम्न विषयों का व्याख्यान किया गया है: अनुयोग, अंग, आचार, ब्रह्म, वर्ण, आचरण, शस्त्र, परिज्ञा, संज्ञा, दिक्, सम्यक्त्व, योनि, कर्म, पृथ्वी आदि काय, लोक, विजय, गुणस्थान, परिताप, विहार, रति, अरति, लोभ, जुगुप्सा, गोत्र, ज्ञाति, जातिमरण, एषणा, देशना, बन्ध-मोक्ष, शीतोष्णादि परीषह, तत्त्वार्थश्रद्धा, जीवरक्षा, अचेलत्व, मरण, संलेखना, समनोज्ञत्व, यामत्रय, त्रिवस्त्रता, वीरदीक्षा, देवदूष्य, सवस्त्रता। चूर्णिकार ने भी निक्षेपपद्धति का ही आधार लिया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार ने मुख्यरूप से निम्न विषयों का विवेचन किया है: अग्र, प्राणसंसक्त, पिण्डैषणा, शय्या, ईर्या, भाषा, वस्त्र, पात्र, अवग्रहसप्तक, सप्तसप्तक, भावना, विमुक्ति। चूँकि आचारांग सूत्र का मूल प्रयोजन श्रमणों के आचार-विचार की प्रतिष्ठा करना है अतः प्रत्येक विषय का प्रतिपादन इसी प्रयोजन को दृष्टि में रखते हुए किया गया है।

प्राकृतप्रधान प्रस्तुत चूर्णि में यत्र-तत्र संस्कृत के श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं। इनके मूल स्थल की खोज न करते हुए उदाहरण के रूप में कुछ श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। आगम के प्रामाण्य की पुष्टि के लिए निम्न श्लोक उद्धृत किया गया है:

> जिनेन्द्रवचनं सूक्ष्महेतुभिर्यदि गृह्यते।
> आज्ञया तद्ग्रहीतव्यं, नान्यथावादिनो जिनाः॥
>
> —आचारांगचूर्णि, पृ० २०.

---

1. श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेतांबर संस्था, रतलाम, सन् १९४१.

स्वजन से भी धन अधिक प्यारा होता है, इसका समर्थन करते हुए कहा गया है :

> प्राणैः प्रियतराः पुत्राः, पुत्रैः प्रियतरं धनम्।
> स तस्य हरते प्राणान्, यो यस्य हरते धनम्॥
>
> —वही, पृ० ५५.

अपरिग्रह की प्रशंसा करते हुए कहा गया है :

> तस्मै धर्मभृते देयं, यस्य नास्ति परिग्रहः।
> परिग्रहे तु ये सक्ता, न ते तारयितुं क्षमाः॥
>
> —वही, पृ० ५९.

कामभोग से व्यक्ति कभी तृप्त नहीं होता, इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है :

> नाग्निस्तुष्यति काष्ठानां, नापगानां महोदधिः।
> नान्तकृत्सर्वभूतानां, न पुंसां वामलोचना॥
>
> —वही, पृ० ७५.

साधु को किसी वस्तु की लाभ—प्राप्ति होने पर मद नहीं करना चाहिए तथा अलाभ—अप्राप्ति होने पर खेद नहीं करना चाहिए। जैसा कि कहा गया है :

> लभ्यते लभ्यते साधु, साधु एव न लभ्यते।
> अलब्धे तपसो वृद्धिर्लब्धे देहस्य धारणा॥
>
> —वही, पृ० ८१.

इसी प्रकार स्थान-स्थान पर प्राकृत गाथाएँ भी उद्धृत की गई हैं। इन उद्धरणों से विषय विशेष-रूप से स्पष्ट होता है एवं पाठक तथा श्रोता की रुचि में वृद्धि होती है।

अष्टम प्रकरण

सूत्रकृतांगचूर्णि

इस चूर्णि[1] की शैली भी वही है जो आचारांगचूर्णि की है। इसमें निम्न विषयों पर प्रकाश डाला गया है : मंगलचर्चा, तीर्थसिद्धि, संघात, विस्रसाकरण, बन्धनादिपरिणाम, भेदादिपरिणाम, क्षेत्रादिकरण, आलोचना, परिग्रह, ममता, पंचमहाभूतिक, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, अकारकात्मवाद, स्कन्धवाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, कर्तृवाद, त्रिराशिवाद, लोकविचार, प्रतिजुगुप्सा (गोमांस, मद्य, लसुन, पलाडु आदि के प्रति अरुचि), वस्त्रादिप्रलोभन, शूरविचार, महावीरगुण, महावीरगुणस्तुति, कुशीलता, सुशीलता, वीर्यनिरूपण, समाधि, दानविचार, समवसरणविचार, वैनयिकवाद, नास्तिकमतचर्चा, सांख्यमतचर्चा, ईश्वरकर्तृत्वचर्चा, नियतिवादचर्चा, भिक्षुवर्णन, आहारचर्चा, वनस्पतिभेद, पृथ्वीकायादिभेद, स्याद्वाद, आजीविकमतनिरास, गोशालकमतनिरास, बौद्धमतनिरास, जातिवादनिरास इत्यादि।

प्रस्तुत चूर्णि संस्कृतमिश्रित प्राकृत में लिखी गई है। इतना ही नहीं, चूर्णि को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें प्राकृत से भी संस्कृत का प्रयोग अधिक मात्रा में है। नीचे कुछ उद्धरण दिये जाते हैं जिन्हें देखने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि इसमें प्राकृत का कितना अंश है व संस्कृत का कितना ?

'एतदि' ति यदुक्तमुच्यते वा सारं विद्धीति वाक्यशेषः, यत्किं ? उच्यते, जे ण हिंसति किंचणं, किंचिदिति त्रसं स्थावरं वा, अहिंसा हि ज्ञानगतस्य फलं, तथा चाह योऽधीत्य शास्त्रमखिलं······एवं खु णाणिणा सारं······ ······।'

—सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० ६२.

विउट्ठितो णाम विच्युतो, यथा व्युत्थितोऽस्य विभवः, संपत् व्युत्थिताः, संयमप्रतिपन्न इत्यर्थः, पार्श्वस्थादीनामन्यतमेन वा क्वचित्प्रमादाच्च कार्येण वा त्वरितं गच्छन् जहा तुज्झं ण······ ···?

—वही, पृ० २८८.

---

१. श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९४१.

लोगेवि भण्णइ—छिण्णसोता न दिंति, सुट्ठु संजुत्ते सुसंजुत्ते, सुट्ठु समिए सुसमिए, समभावः सामायिकं सो भण्णई—सुट्ठु सामाइए सुसामाइए, आतवापत्ते विऊत्ति अप्पणो वादो अत्तए वादो २ यथा—अस्त्यात्मा नित्यः अमूर्त्तः कर्त्ता भोक्ता उपयोगलक्षणो य एवमादि आतप्पवादो…..।'

—वही, पृ० ३०७.

अहावरे चउत्थे (सू० ५) णितिया जाव जहा जहा मे एस धम्मे सुअक्खाए, कयरे ते धम्मे ? णितियावादे, इह खलु दुवे पुरिसजाता एगे पुरिसे किरियामक्खंति, किरिया कर्म परिस्पन्द इत्यर्थः, कस्यासौ किरिया ? पुरुषस्य, पुरुष एव गमनादिषु क्रियासु स्वतो अनुसन्धाय प्रवर्त्तते, एवं भणित्तापि ते दोवि पुरिसा तुल्ला णियतिवसेण, तत्र नियतिवादी आत्मीयं दर्शनं समर्थयन्निदमाह—यः खलु मन्यते 'अहं करोमि' इति असावपि नियत्या एव कार्यते अहं करोमीति…………?

—वही, पृ० ३२२-३.

नवम प्रकरण

जीतकल्प-बृहच्चूर्णि

प्रस्तुत चूर्णि[1] सिद्धसेनसूरि की कृति है। इस चूर्णि के अतिरिक्त जीतकल्प सूत्र पर एक और चूर्णि लिखी गई है, ऐसा प्रस्तुत चूर्णि के अध्ययन से ज्ञात होता[2] है। यह चूर्णि अथ से इति तक प्राकृत में है। इसमें एक भी वाक्य ऐसा नहीं है जिसमें संस्कृत शब्द का प्रयोग हुआ हो। प्रारंभ में आचार्य ने ग्यारह गाथाओं द्वारा भगवान् महावीर, एकादश गणधर, अन्य विशिष्ट ज्ञानी तथा सूत्रकार जिनभद्र क्षमाश्रमण–इन सबको नमस्कार किया है। ग्रंथ में यत्र-तत्र अनेक गाथाएं उद्धृत की गई हैं। इन गाथाओं को उद्धृत करते समय आचार्य ने किसी ग्रंथ आदि का निर्देश न करके 'तं जहा भणियं च', 'सो''''इमो' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग किया है।[3] इसी प्रकार अनेक गद्यांश भी उद्धृत किये गये हैं।

जीतकल्पचूर्णि में भी उन्हीं विषयों का संक्षिप्त गद्यात्मक व्याख्यान है जिनका जीतकल्पभाष्य में विस्तार से विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार का स्वरूप समझाया गया है। जीत का अर्थ इस प्रकार किया गया है : जीयं ति वा करणिज्जं ति वा आयरणिज्जं ति वा एगट्ठं। जीवेइ वा तिविहे वि काले तेण जीयं।[4] इसी प्रकार चूर्णिकार ने दस प्रकार के प्रायश्चित्त, नौ प्रकार के व्यवहार, मूलगुण, उत्तरगुण आदि का विवेचन किया है। अन्त में पुनः सूत्रकार जिनभद्र को नमस्कार करते हुए निम्न गाथाओं के साथ चूर्णि समाप्त की है :[5]

इति जेण जीयदाणं साहूणऽइयारपंकपरिसुद्धिकरं।
गाहाहिं फुडं रइयं महुरपयत्थाहिं पावणं परमहियं॥
जिणभद्दखमासमणं निच्छियसुत्तत्थदायगामलचरणं।
तमहं वंदे पयओ परमं परमोवगारकारिणमहग्घं॥

---

१. विषमपदव्याख्यालंकृत सिद्धसेनगणिसम्हब्ध बृहच्चूर्णिसमन्वित जीतकल्पसूत्र–संपादकः–मुनि जिनविजय, प्रकाशकः–जैन साहित्य संशोधक समिति, अहमदाबाद, सन् १९२६. २. अहवा बितियचुण्णिकाराभिपाएण चत्तारि'''—जीतकल्पचूर्णि, पृ० २२. ३. वही, पृ० ३,४,२१. ४. वही, पृ. ४. ५. वही, पृ. ३०.

दशम प्रकरण

दशवैकालिकचूर्णि (अगस्त्यसिंहकृत)

यह चूर्णि[1] जिनदासगणि की कही जानेवाली दशवैकालिकचूर्णि से भिन्न है। इसके लेखक हैं वज्रस्वामी की शाखा—परंपरा के एक स्थविर श्री अगस्त्य सिंह। यह प्राकृत में है। भाषा सरल एवं शैली सुगम है। इसकी व्याख्यान-शैली के कुछ नमूने यहाँ प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा। आदि, मध्य और अन्त्य मंगल की उपयोगिता बताते हुए चूर्णिकार कहते हैं :

आदिमंगलेण आरम्भप्पभितिं णिव्विसाया सत्थं पडिवज्जंति, मज्झमंगलेण अव्वासंगेण पारं गच्छंति, अवसाणमंगलेग सिस्स-पसिस्स-संताणे पडिवाएंति। इमं पुण सत्थं संसारविच्छेयकरं ति सव्वमेव मंगलं तहावि विसेसो दरिसिज्जति–आदि मंगलमिह 'धम्मो मंगलमुक्कट्ठ" (अध्य. १, गा. १) धारेति संसारे पडमाणमिति धम्मो, एतं च परमं समस्सासकारणं ति मंगलं। मज्झे धम्मत्थकामपढमसुत्तं 'णाणदंसणसं-पण्णं संजमे य तवे रयं' (अध्य. ६, गा. १), एवं सो चेव धम्मो विसेसिज्जति, यथा—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' (तत्त्वा. अ. १-१) इति। अवसाणे आदिमज्झदिट्ठविसेसियस्स फलं दरिसिज्जति 'छिंदित्तु जातीमरणस्स बंधणं उवेति भिक्खू अपुणागमं गतिं' (अध्य. १०, गा. २१), एवं सफलं सकलं सत्थं ति।....[2]

दशकालिक, दशवैकालिक अथवा दशवैतालिक की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा गया है :

'दशकं अज्झयणाणं कालियं निरुत्तेण विहिणा ककारलोपे कते दस-कालियं। अहवा वेकालियं, मंगलत्थं पुव्वण्हे सत्थारंभो भवति, भग-वया पुण अज्जसेज्जंवेणं कहमवि अवरण्हकाले उवयोगो कतो, काला-

---

१. प्रस्तुत चूर्णि की हस्तलिखित प्रति मुनि श्री पुण्यविजयजी की कृपा से प्राप्त हुई अतः लेखक मुनि श्री का अत्यन्त आभारी है। यह प्रति जैसलमेर ज्ञानभंडार से प्राप्त प्राचीन प्रति की प्रतिलिपि है।

२. पृ. २.

तिवायविग्घपरिहारिणा य निज्जूढमेव, अतो विगते काले विकाले दसकमज्झयणाण कतमिति दसवेकालियं। चउपोरिसितो सज्झायकाले तम्मि विगते वि पढिज्जतीति विगयकालियं दसवेकालियं। दसमं वा वेतालियो पजाति वृत्तेहिं णियमितमज्झयणमिति दसवेतालियं।[1]

षड्जीवनिका नामक चतुर्थ अध्ययन के अर्थाधिकार का विचार करते हुए चूर्णिकार कहते हैं :

जीवाजीवाहिगमो गाहा[2]। पढमो जीवाहिगमो, अहिगमो—परिण्णाणं १ ततो अजीवाधिगमो २ चरित्तधम्मो ३ जयणा ४ उवएसो ५ धम्मफलं। तस्स चत्तारि अणुओगद्दारा जहा आवस्सए। नामनिप्फण्णो भण्णति—[3]

दशवैकालिक के अंत की दो चूलाओ—रतिवाक्यचूला और विविक्तचर्या-चूला की रचना का प्रयोजन बताते हुए आचार्य कहते हैं :

धम्मे धितिमतो खुड्डियायारोवत्थितस्स विदित्तछक्कायवित्थरस्स एसणीयादिधारितसरीरस्स समत्तायारावत्थितस्स वयणविभागकुसलस्स सुप्पणिहितजोगजुत्तस्स विणीतस्स दसमज्झयणोपवण्णितगुणस्स समत्तसकलभिक्खुभावस्स विसेसेण थिरीकरणत्थं विवित्तचरियोवदेसत्थं च उत्तं तं तमुपदिट्ठं चूलितादुतं रतिवक्कं विवित्तचरिया चूलिता य। तत्थ धम्मे थिरीकरणत्था रतिवक्कणामधेया पढमचूला भणिता। इदाणिं विवित्तचरियोवदेसत्था बितिया चूला भाणितव्वा।[4]

अन्त मे चूर्णिकार ने अपनी शाखा का नाम, अपने गुरु का नाम तथा अपना खुद का नाम बताते हुए निम्न गाथाएँ लिखकर चूर्णि की पूर्णाहुति की है :

वीरवरस्स भगवतो तित्थे कोडीगणे सुविपुलम्मि।
गुणगणवइराभस्सा वेरसामिस्स साहाए॥ १॥
महरिसिसरिससभावा भावाऽभावाण मुणितपरमत्था।
रिसिगुत्तखमासमणो खमासमाणं निधी आसि॥ २॥

---

१. पृ. ७–८. २. निर्युक्तिगाथा—जीवाजीवाहिगमो चरित्तधम्मो तहेव जयणा य। उवएसो धम्मफलं छज्जीवणियाइ अहिगारा॥

३. पृ. १४६–७. ४. पृ. ४९७.

तेसिं सीसेण इमा कलसभवमइंदणामधेज्जेणं।
दसकालियस्स चुण्णी पयाणरयणातो उवण्णत्था ॥ ३ ॥
रुयिरपदसंधिणियता छड्डियपुणरुत्तवित्थरपसंगा।
वक्खाणमंतरेणावि सिस्समतिबोधणसमत्था ॥ ४ ॥
ससमयपरसमयणयाण जं च ण समाधितं पमादेणं।
तं खमह पसाहेह य इय विण्णत्ती पवयणीणं ॥ ५ ॥

चूर्णिकार का नाम कलशभवमृगेन्द्र अर्थात् अगस्त्यसिंह है। कलश का अर्थ है कुंभ, भव का अर्थ है उत्पन्न और मृगेन्द्र का अर्थ है सिंह। कलशभव का अर्थ हुआ कुंभ से उत्पन्न होनेवाला अगस्त्य। अगस्त्य के साथ सिंह जोड़ देने से अगस्त्यसिंह बन जाता है। अगस्त्यसिंह के गुरु का नाम ऋषिगुप्त है। ये कोटिगणीय वज्रस्वामी की शाखा के हैं।

प्रस्तुत प्रति के अन्त में कुछ संस्कृत श्लोक हैं जिनमें मूल प्रति का लेखन-कार्य सम्पन्न कराने वाली के रूप में शान्तिमति के नाम का उल्लेख है :

सम्यक् शान्तिमतिर्व्यलेखयदिदं मोक्षाय सत्पुस्तकम्।

प्रस्तुत चूर्णि के मूल सूत्रपाठ, जिनदासगणिकृत चूर्णि के मूल सूत्रपाठ तथा हरिभद्रकृत टीका के मूल सूत्रपाठ इन तीनों में कहीं-कहीं थोड़ासा अन्तर है। नीचे इनके कुछ नमूने दिये जाते हैं जिनसे यह अन्तर समझ में आ सकेगा। यही बात अन्य सूत्रों के व्याख्याग्रन्थों के विषय में भी कही जा सकती है। दशवैकालिक सूत्र की गाथाओं[1] के अन्तर के कुछ नमूने इस प्रकार हैं :

अध्ययन	गाथा	अगस्त्यसिंहकृत चूर्णि	जिनदासकृत चूर्णि	हरिभद्रकृत चूणि
१	३	मुक्का	मुत्ता	मुत्ता
१	३	साहवो	साहुणो	साहुणो
१	४	अहागडेहिं.... पुप्फेहिं	अहाकडेसु.... पुप्फेहिं	अहागडेसु.... पुप्फेसु
२	१	कहं णु कुज्जा कतिहं कुज्जा (पाठान्तर) कयाहं कुज्जा („) कहं सकुज्जा („)	कतिहं कुज्जा कयाहं कुज्जा (पाठा.) कहं णु कुज्जा („)	कहं णु कुज्जा कतिहं कुज्जा (पा.) कयाहं कुज्जा („) कथमहं (कहहं)

१. गाथा-संख्या का आधार मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा तैयार की गई दशवैकालिक की हस्तलिखित प्रति है।

२	५	छिंदाहि रागं	छिंदाहि दोसं	छिंदाहि दोसं
२	५	विणए हि दोसं	विणएज्ज रागं	विणएज्ज रागं
३	३	संपुच्छणं संपुच्छणो (पाठा.)	संपुच्छणा	संपुच्छण
३	१५	खवेत्तु	खवेत्ता	खवेत्ता
४	४	चित्तमंतमक्खा. (पाठा.)	चित्तमत्ता अक्खा (पाठा.)	चित्तमंतमक्खा (पाठा.)
४	१०	इच्चेतेहिं छहिं जीवनिकायेहि	इच्चेतेहिं छहिं जीवनिकायेहिं	इच्चेसि छण्ह जीवनिकायाणं
५ (प्र. उ.)	५	पाण-भूते य	पाण-भूते य	पाणि-भूयाइं
५ („)	१३	अणातिले	अणाउले	अणाउले
५ („)	१३	जहाभागं	जहाभावं	जहाभागं
५ („)	१५	पाणियकम्मतं	दगमवणाणि य	दगभवणाणि य
५ („)	२७	इच्छेज्जा	इच्छेज्जा	गेण्हेज्जा
५ (द्वि. उ.)	२४	धारए	धारए	धावए
७	१२	आयारभावदोसेण	गाथा नहीं	आयारभावदोसन्नू
७	२२	गाथा नहीं	गाथा है	गाथा नहीं
७	२३	गाथा नहीं	गाथा है	गाथा नहीं
८	३	भवियव्वं	होयव्वयं	?
९ (प्र. उ.)	१	चिट्ठे	चिट्ठे	सिक्खे चिट्ठे (पाठा.)
९ (द्वि.उ.)	१	साला	साला	साहा
९ (तृ.उ.)	१५	घुणिय	घुणिय	विहुय
९ (च. उ.)	११	आरुहंतिएहिं	आरहंतेहिं	आरहंतेहिं
१०	४	दग	दग	तण
१०	१९	विवज्जयित्ता	विगिंच धीर !	विवज्जयित्ता
१ चूलिका	१४	कुसीलं	सकुसील	कुसिला
१ „	१९	ण प्पचलेंति	णो पयलेंति	न प्पचलेंति
२ „	३	निप्फेडो	निग्गडो	उत्तारो
२ „	४	एवं	एवं	तम्हा

निर्युक्तिगाथाओं की तो और भी विचित्र स्थिति है। निर्युक्ति की ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जो हरिभद्र की टीका मे तो हैं किन्तु चूर्णियों में नहीं मिलतीं।

हां, इनमें कुछ गाथाएं ऐसी अवश्य हैं जिनका चूर्णियों में अर्थ अथवा आशय दे दिया गया है किन्तु जिन्हें गाथाओं के रूप में उद्धृत नहीं किया गया है। दूसरी बात यह है कि चूर्णियों में अधिकांश गाथाएं पूरी की पूरी नहीं दी जाती हैं अपितु प्रारंभ के कुछ शब्द उद्धृत कर केवल उनका निर्देश कर दिया जाता है। कुछ ही गाथाएं ऐसी होती हैं जो पूरी उद्धृत की जाती हैं। हम यहां हरिभद्र की टीका में उपलब्ध कुछ निर्युक्ति-गाथाएँ[1] उद्धृत कर यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि उनमें से कौनसी दोनों चूर्णियों में पूरी की पूरी हैं, कौनसी अपूर्ण अर्थात् संक्षिप्तरूप में हैं, किनका अर्थ-रूप से निर्देश किया गया है और किनका बिलकुल उल्लेख नहीं है।

सिद्धिगइमुवगयाणं कम्मविसुद्धाण सव्वसिद्धाणं।
नमिऊणं दसकालियणिज्जुत्तिं कित्तइस्सामि॥ १॥

यह गाथा न तो जिनदासगणि की चूर्णि में है, न अगस्त्यसिंहकृत चूर्णि में। इनमें इसका अर्थ अथवा संक्षिप्त उल्लेख भी नहीं है।

अपुहुत्तपुहुत्ताइं निद्दिसिउं एत्थ होइ अहिगारो।
चरणकरणाणुजोगेण तस्स दारा इमे होंति॥ ४॥

इस गाथा का अर्थ तो दोनों चूर्णियों मे है किन्तु पूरी अथवा अपूर्ण गाथा एक में भी नहीं है।

णामं ठवणा दविए माउयपयसंगहेक्कए चेव।
पज्जवभावे य तहा सत्तेए एक्कगा होंति॥ ८॥

यह गाथा दोनों चूर्णियों मे पूरी की पूरी उद्धृत की गई है। यह इन चूर्णियों की प्रथम निर्युक्ति-गाथा है जो हारिभद्रीय टीका की आठवीं निर्युक्ति-गाथा है।

दव्वे अद्ध अहाउअ उवक्कमे देसकालकाले य।
तह य पमाणे वण्णे भावे पगयं तु भावेणं॥ ११॥

यह गाथा भी दोनों चूर्णियों में इसी प्रकार उपलब्ध है।

आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा॥ १६॥

---

१. देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, ग्रंथांक ४७.

यह गाथा दोनों चूर्णियों मे संक्षिप्तरूप से निर्दिष्ट है, पूर्णरूप में उद्धृत नहीं।

दुविहो लोगुत्तरिओ सुअधम्मो खलु चरित्तधम्मो अ।
सुअधम्मो सज्झाओ चरित्तधम्मो समणधम्मो ॥ ५३ ॥

यह गाथा अर्थरूप से तो दोनों ही चूर्णियों में है किन्तु गाथारूप से अधूरी या पूरी एक मे भी नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों चूर्णिकारों और टीकाकार हरिभद्र ने निर्युक्ति-गाथाएँ समानरूप से उद्धृत नहीं की हैं। दोनों चूर्णिकारों में एतद्विषयक काफी समानता है, जबकि हरिभद्रसूरि इन दोनों से इस विषय में बहुत भिन्न हैं। इस विषय पर अधिक प्रकाश डालने के लिए विशेष अनुशीलन की आवश्यकता है।

एकादश प्रकरण

निशीथ-विशेषचूर्णि

जिनदासगणिकृत प्रस्तुत चूर्णि[1] मूल सूत्र, निर्युक्ति एवं भाष्यगाथाओं के विवेचन के रूप में है। इसकी भाषा अल्प संस्कृतमिश्रित प्राकृत है। प्रारंभ मे पीठिका है जिसमें निशीथ की भूमिका के रूप में तत्सम्बद्ध आवश्यक विषयों का व्याख्यान किया गया है। सर्वप्रथम चूर्णिकार ने अरिहंतादि को नमस्कार किया है तथा निशीथचूला के व्याख्यान का सम्बन्ध बताया है :

नमिऊणऽरहंताणं, सिद्धाण य कम्मचक्कमुक्काणं।
सयणसिनेहविमुक्काण, सव्वसाहूण भावेण॥ १॥
सविसेसायरजुत्तं, काउ पणामं च अत्थदायिस्स।
पज्जुण्णखमासमणस्स, चरण-करणाणुपालस्स॥ २॥
एवं कयप्पणामो, पकप्पणामस्स विवरणं वन्ने।
पुव्वायरियकयं चिय, अहं पि तं चेव उ विसेसा॥ ३॥
भणिया विमुत्तिचूला, अहुणावसरो णिसीहचूलाए।
को संबंधो तस्सा, भण्णइ इणमो णिसामेहि॥ ४॥

इन गाथाओं में अरिहंत, सिद्ध और साधुओं को सामान्य रूप से नमस्कार किया गया है तथा प्रद्युम्न क्षमाश्रमण को अर्थदाता के रूप में विशेष नमस्कार किया गया है। निशीथ का दूसरा नाम प्रकल्प भी बताया गया है।

पीठिका :

प्रारंभ में चूलाओं का विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने बताया है कि चूला छः प्रकार की होती है। उसका वर्णन जिस प्रकार दशवैकालिक में किया गया है उसी प्रकार यहाँ भी कर लेना चाहिए।[2] इससे सिद्ध होता है कि निशीथचूर्णि

---

१. सम्पादक—उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी व मुनि श्री कन्हैयालालजी, प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा, सन् १९५७–१९६०. निशीथ : एक अध्ययन—पं० दलसुख मालवणिया, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९५९.

२. सा य छव्विहा–जहा दसवेयालिए भणिया तहा भाणियव्वा।
—प्रथम भाग, पृ० २

दशवैकालिकचूर्णि के बाद लिखी गई है। इसके बाद आचार का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने आचारादि पाँच वस्तुओं की ओर निर्देश किया है: आचार, अग्र, प्रकल्प, चूलिका और निशीथ।[1] इन सब का निक्षेप-पद्धति से विचार करते हुए निशीथ का अर्थ इस प्रकार बताया गया है: निशीथ इति कोऽर्थः? निशीथ-सद्दपट्टीकरणत्थं वा भण्णति—

जं होति अप्पगासं तं तु णिसीहं ति लोगसंसिद्धं।
जं अप्पगासधम्मं, अण्णं पि तयं निसीधं ति॥

जमिति अणिद्दिट्ठं। होति भवति। अप्पगासमिति अंधकारं। जकारणिद्देसे तगारो होइ। सद्दस्स अवहारणत्थे तुगारो। अप्पगासवयणस्स णिण्णयत्थे णिसीहं ति। लोगे वि सिद्धं णिसीहं अप्पगासं। जहा कोइ पावासिओ पओसे आगओ, परेण बितिए दिणे पुच्छिओ 'कल्ले कं वेलमागओ सि?' भणति 'णिसीहे' त्ति रात्रावित्यर्थः।[2] निशीथ का अर्थ है अप्रकाश अर्थात् अंधकार। अप्रकाशित वचनों के निर्णय के लिए निशीथसूत्र है। लोक में भी निशीथ का प्रयोग रात्रि—अंधकार के लिए होता है। इसी प्रकार निशीथ के कर्मपंकनिषदन आदि अन्य अर्थ भी किये गये हैं। भावपंक का निषदन तीन प्रकार का होता है: क्षय, उपशम और क्षयोपशम। जिसके द्वारा अष्टविध कर्मपंक शान्त किया जाए वह निशीथ है।[3]

आचार का विशेष विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने निर्युक्ति-गाथा को भद्रबाहुस्वामिकृत बताया है।[4] इस गाथा में चार प्रकार के पुरुष-प्रतिसेवक बताये गये हैं जो उत्कृष्ट, मध्यम अथवा जघन्य कोटि के होते हैं। इन पुरुषों का विविध भंगों के साथ विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसी प्रकार स्त्री और नपुंसक-प्रतिसेवकों का भी स्वरूप बताया गया है। यह सब निशीथ के व्याख्यान के बाद किये गये आचारविषयक प्रायश्चित्त के विवेचन के अन्तर्गत है। प्रतिसेवक का वर्णन समाप्त करने के बाद प्रतिसेवना और प्रतिसेवितव्य का स्वरूप समझाया गया है। प्रतिसेवना के स्वरूपवर्णन में अप्रमादप्रतिसेवना, सहसात्करण, प्रमादप्रतिसेवना, क्रोधादि कषाय, विराधनात्रिक, विकथा, इन्द्रिय, निद्रा आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन किया गया है। निद्रा-सेवन

---

१. भाष्यगाथा ३. २. पृ. ३४. ३. पृ. ३४–५. ४. एसा भद्दबाहुसामि-कता गाहा—पृ. ३८.

की मर्यादा की ओर निर्देश करते हुए चूर्णिकार ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें यह बताया गया है कि आलस्य, मैथुन, निद्रा, क्षुधा और आक्रोश—ये पाँचों सेवन करते रहने से बराबर बढ़ते जाते हैं :[१]

पञ्च वर्द्धन्ति कौन्तेय ! सेव्यमानानि नित्यशः ।
आलस्यं मैथुनं निद्रा, क्षुधाऽऽक्रोशश्च पञ्चमः ॥

स्त्यानर्द्धि निद्रा का स्वरूप बताते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि जिसमें चित्त थीण अर्थात् स्त्यान हो जाए—कठिन हो जाए—जम जाए वह स्त्यानर्द्धि निद्रा है। इस निद्रा का कारण अत्यन्त दर्शनावरण कर्म का उदय है : इद्धं चित्तं तं थीणं जस्स अच्चंतदरिसणावरणकम्मोदया सो थीणद्धी भण्णति। तेण य थीणेण ण सो किंचि उवलभति।[२] स्त्यानर्द्धि का स्वरूप विशेष स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने चार प्रकार के उदाहरण दिये हैं : पुद्गल, मोदक, कुम्भकार और हस्तिदंत। तेजस्काय आदि की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार ने 'अस्य सिद्धसेनाचार्यो व्याख्यां करोति, एतेषां सिद्धसेनाचार्यो व्याख्यां करोति, इमा पुण सागणिय णिक्खित्तदाराण दोण्ह वि भद्दबाहुसामिकता प्रायश्चित्तव्याख्यानगाथा, एयस्स इमा भद्दबाहुसामिकता वक्खाणगाहा' आदि शब्दों के साथ भद्रबाहु और सिद्धसेन के नामों का अनेक बार उल्लेख किया है।[३] पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय-सम्बन्धी यतनाओं, दोषों, अपवादों और प्रायश्चित्तों का प्रस्तुत पीठिका में अति विस्तृत विवेचन किया गया है। खान, पान, वसति, वस्त्र, हलन, चलन, शयन, भ्रमण, भाषण, गमन, आगमन आदि सभी आवश्यक क्रियाओं के विषय मे आचारशास्त्र की दृष्टि से सूक्ष्म विचार किया गया है।

प्राणातिपात आदि का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार ने मृषावाद के लौकिक और लोकोत्तर—इन दो भेदों का वर्णन किया है तथा लौकिक मृषावाद के अन्तर्गत मायोपधि का स्वरूप बताते हुए चार धूर्तों की कथा दी है। इस धूर्ताख्यान के चार मुख्य पात्रों के नाम हैं : शशक, एलाषाढ, मूलदेव और खंडपाणा।[४] इस आख्यान का सार भाष्यकार ने निम्नलिखित तीन गाथाओं में दिया है :

१. पृ. ५४. २. पृ. ५५. ३. पृ. ७५, ७६ आदि. ४. पृ. १०२.

ससएळासाढ मूलदेव खंडा य जुण्णउज्जाणे।
सामत्थणे को भत्तं, अक्खातं जो ण सद्दहति ॥ २९४ ॥
चोरभया गावीओ, पोट्टलए बंधिऊण आणेमि।
तिलअइरुढकुहाडे, वणगय मलणा य तेल्लोदा ॥ २९५ ॥
वणगयपाटण कुंडिय, छम्मासा हत्थिलग्गणं पुच्छे।
रायरयग मो वादे, जहिं पेच्छइ ते इमे वत्था ॥ २९६ ॥

चूर्णिकार ने इन गाथाओं के आधार पर संक्षेप में धूर्तकथा देते हुए लिखा है कि शेष बातें धुत्तक्खाणग (धूर्ताख्यान) के अनुसार समझ लेनी चाहिए : सेसं धुत्तक्खाणगानुसारेण णेयमिति।[1] यहाँ तक लौकिक मृषावाद का अधिकार है। इसके बाद लोकोत्तर मृषावाद का वर्णन है। इसी प्रकार अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, रात्रिभोजन आदि का वर्णन किया गया है। यह वर्णन मुख्यरूप से दो भागों में विभाजित है। इनमें से प्रथम भाग दर्पिकासम्बन्धी है, दूसरा भाग कल्पिकासम्बन्धी। दर्पिकासम्बन्धी भाग में तत्तद्विषयक दोषों का निरूपण करते हुए उनके सेवन का निषेध किया गया है जबकि कल्पिकासम्बन्धी भाग में तत्तद्विषयक अपवादों का वर्णन करते हुए उनके सेवन का विधान किया गया है। ये सब मूलगुणप्रतिसेवना से सम्बद्ध है। इसी प्रकार आचार्य ने उत्तरगुणप्रतिसेवना का भी विस्तार से व्याख्यान किया है। उत्तरगुण पिण्डविशुद्धि आदि अनेक प्रकार के हैं। इनका भी दर्पिका और कल्पिका के भेद से विचार किया गया है। जैसाकि चूर्णिकार कहते हैं : गता य मूलगुणपडिसेवणा इति। इदाणिं उत्तरगुणपडिसेवणा भण्णति। ते उत्तरगुणा पिंडविसोहादओ अणेगविहा। तत्थ पिंडे ताव दप्पियं कप्पियं च पडिसेवणं भण्णति।[2] इस प्रकार पीठिका के अन्त तक दर्पिका और कल्पिका का अधिकार चलता है।

पीठिका की समाप्ति करते हुए इस बात का विचार किया गया है कि निशीथपीठिका का यह सूत्रार्थ किसे देना चाहिए और किसे नहीं? अबहुश्रुत आदि निषिद्ध पुरुषों को देने से प्रवचन-घात होता है अतः बहुश्रुत आदि सुयोग्य पुरुषों को ही निशीथपीठिका का यह सूत्रार्थ देना चाहिए।[3] यहाँ तक पीठिका का अधिकार है।

---

१. पृ. १०५. आचार्य हरिभद्रकृत धूर्ताख्यान का आधार यह प्राचीन कथा है।
२. पृ० १५४. ३. पृ० १६५–१६६.

प्रथम उद्देश :

प्रथम उद्देश के प्रथम सूत्र 'जे भिक्खू हत्थकम्मं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ' का शब्दार्थ भाष्यकार ने इस प्रकार किया है :

जे त्ति य खलु णिद्देसे भिक्खु पुण भेदणे खुहस्स खलु।
हत्थेण जं च करणं, कीरति तं हत्थकम्मं ति ॥ ४९७ ॥

इस गाथा का चूर्णिकार ने पुनः इस प्रकार शब्दार्थ किया है : 'जे इति निद्देसे, 'खलु' विसेसणे, किं विशिनष्टि? भिक्षोर्नान्यस्य, 'भिदि' विदारणे, 'क्षुध' इति कर्मण आख्यानं, ज्ञानावरणादिकर्म भिनत्तीति भिक्षुः, भावभिक्षोर्विशेषणे 'पुनः' शब्दः, 'हत्थे' ति हन्यतेऽनेनेति हस्तः, हसति वा मुखमावृत्येति हस्तः, आदाननिक्षेपादिसमर्थो शरीरैकदेशो हस्तोऽस्तेन यत् करणं—व्यापारइत्यर्थः, स च व्यापारः क्रिया भवति, अतः सा हस्तक्रिया क्रियमाणा कर्म भवतीत्यर्थः। 'साइज्जति' साइज्जणा दुविहा कारावणे अणुमोदणे......[1]
जो क्षुध अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्म का भेद अर्थात् विनाश करता है वह भिक्षु है। जिससे हनन किया जाता है अथवा जो मुख को ढक कर हंसता है वह हस्त है। आदान-निक्षेप आदि मे समर्थ हस्त की जो क्रिया अर्थात् व्यापार है वह हस्तक्रिया है। इस प्रकार की क्रियमाण हस्तक्रिया कर्मरूप होती है। साइज्जणा अर्थात् स्वादना दो प्रकार की है : कारण (निर्मापन) अर्थात् दूसरों से करवाना और अनुमोदन अर्थात् दूसरे का समर्थन करना। इस प्रकार क्रिया के तीन रूप हुए : स्वयं करना, दूसरों से करवाना और करते हुए का अनुमोदन करना। इस प्रकार प्रथम सूत्र का शब्दार्थ करने के बाद आचार्य ने भिक्षु, हस्त और कर्म का निक्षेप-पद्धति से विश्लेषण किया है। हस्तकर्म दो प्रकार का है : असंक्लिष्ट और संक्लिष्ट। असंक्लिष्ट हस्तकर्म आठ प्रकार का है : छेदन, भेदन, घर्षण, पेषण, अभिघात, स्नेह, काय और क्षार। संक्लिष्ट हस्तकर्म दो प्रकार का है : सनिमित्त और अनिमित्त। सनिमित्त हस्तकर्म तीन प्रकार के कारणों से होता है : शब्द सुनकर, रूपादि देखकर और पूर्व अनुभूत विषय का स्मरण कर।[2] पुरुष और स्त्री के इस प्रकार के हस्तकर्मों का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने साधुओं और साध्वियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान किया है।

---

१. द्वितीय भाग, पृ० २.   २. पृ० ४–७.

द्वितीय सूत्र 'जे भिक्खू अंगादाणं कट्ठेण वा कलिंचेण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा संचालेइ संचालेंतं वा सातिज्जति' का व्याख्यान करते हुए आचार्य कहते हैं कि सिर आदि अंग हैं, कान आदि उपांग हैं और नख आदि अंगोपांग हैं। इस प्रकार शरीर के तीन भाग हैं : अंग, उपांग और अंगोपांग। अंग आठ हैं : सिर, उर, उदर, पीठ, दो बाँह और दो ऊरु। कान, नाक, आँखें, जंघाएँ, हाथ और पैर उपांग हैं। नख, बाल, श्मश्रु, अंगुलियाँ, हस्ततल और हस्तोपतल अंगोपांग हैं। हथेली के चारों ओर का उठा हुआ भाग हस्तोपतल कहलाता है। इन सबका संचालन भी सनिमित्त अथवा अनिमित्त होता है।[1] प्रस्तुत सूत्र का विशेष व्याख्यान पूर्ववत् कर लेना चाहिए। इसी प्रकार आगे के सूत्रों का भी संक्षिप्त व्याख्यान किया गया है।

चौदहवें सूत्र 'जो भिक्खू सोत्तियं वा रज्जुयं वा चिलिमिलिं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेति, कारेंतं वा सातिज्जति' का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि वस्त्र—कंबलादि को सौत्रिक (सूत का बना हुआ) कहते हैं, जबकि रस्सी आदि को रज्जुक कहते हैं। भाष्यकार ने चिलिमिली (परदा) के पाँच प्रकार बताये हैं : सुत्तमयी, रज्जुमयी, वागमयी, दंडमयी और कडमयी। इनका स्वरूप बताते हुए चूर्णिकार कहते है : सुत्तण कता सुत्तमयी, तं वत्थं कंबली वा। रज्जुणा कता रज्जुमयी, सो पुण दोरो। वागेसु कता वागमयी, वागमयं वत्थं दोरो वा वक्कलं वा वत्थादि। दंडो वंसाती। कडमती वंसकडगादि। एसा पंचविहा चिलिमिणी गच्छस्स उवग्गहकारिवया घेप्पति।[2] सूत्रनिर्मित चिलिमिली—परदा—यवनिका को सूत्रमती कहते हैं, जैसे वस्त्र, कम्बल आदि। रज्जु से बनी हुई को रज्जुमती कहते हैं, जैसे दोरिया आदि। इसी प्रकार वल्क अर्थात् छाल, दंड अर्थात् बाँस आदि की लकड़ी और कट अर्थात् तृण आदि से चिलिमिलिका बनती है। गच्छ के उपकार के लिए इन पाँच प्रकार की चिलिमिलिकाओं का ग्रहण किया जाता है। आगे आचार्य ने चिलिमिली के प्रमाण, उपयोग आदि पर प्रकाश डाला है तथा संक्षेप में आगे के सूत्रों का भी व्याख्यान किया है।

'जे भिक्खू लाउय-पादं वा दारु-पादं वा मिट्टिया पादं वा.......' (सूत्र ३९) की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार ने लिखा है कि सूत्रार्थ का कथन हो चुका, अब निर्युक्ति का विस्तार किया जाता है : भणिओ सुत्तत्थो। इदाणिं

१. पृ० २६–२७. २. पृ० ३९–४०.

णिज्जुत्तिवित्थरो भण्णति ।[1] यह लिखकर उन्होंने 'लाउयदारुयपाते, मट्टिय-पादे···' गाथा (भाष्य ६८५) दी है जो निर्युक्ति-गाथा है।

'जे भिक्खू दंडयं वा लट्ठियं वा अवलेहणियं वा·····' (सूत्र ४०) का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने दण्ड, लाठी आदि का भेद बताया है। दंड बाहुप्रमाण होता है : दंडो बाहुप्पमाणो। लाठी आत्मप्रमाण अर्थात् स्वशरीर-प्रमाण होती है : लट्ठी आयप्पमाणा। अवलेखनिका कीचड़ आदि साफ करने के लिए होती है : अवलेहणिया वासासु कद्दमफेडिणी क्षुरिकावत्।[2] भाष्यकार ने दंड आदि का नाप इस प्रकार बताया है : दंड तीन हाथ का होता है, विदंड दो हाथ का होता है, लाठी आत्मप्रमाण होती है, विलट्ठी चार अँगुली कम होती है। भाष्यगाथा इस प्रकार है :

तिण्णि उ हत्थे डंडो, दोण्णि उ हत्थे विदंडओ होति।
लट्ठी आत-पमाणा, विलट्ठि चतुरंगुलेणूणा ॥ ७०० ॥

आगे लाठी आदि की उपयोगिता का विचार किया गया है तथा उनके रखने की विधि, तत्सम्बन्धी दोष, गुरुमास प्रायश्चित्त आदि का वर्णन किया गया है। वस्त्र फाड़ने, सीने आदि से सम्बन्धित नियमों का उल्लेख करते हुए प्रथम उद्देश समाप्त किया गया है। अंत मे 'विसेस-णिसीहचुण्णिए पढमो उद्देसो सम्मत्तो'[3] लिखकर यह सूचित किया गया है कि प्रस्तुत चूर्णि विशेषनिशीथचूर्णि अथवा निशीथविशेषचूर्णि है।

द्वितीय उद्देश :

प्रथम उद्देश मे गुरुमासों (उपवास) का कथन किया गया। अब दूसरे उद्देश मे लघुमासों (एकाशन) का कथन किया जाता है। अथवा प्रथम उद्देश मे परकरण का निवारण किया गया। अब द्वितीय उद्देश में स्वकरण का निवारण किया जाता है : पढमउद्देसए गुरुमासा भणिता। अह इदाणिं बितिए लहु-मासा भण्णंति। अहवा-पढमुद्देसे परकरणं णिवारियं, इह बितिए सयंकरणं निवारिज्जति।[4] यह कह कर आचार्य द्वितीय उद्देश का व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं।

प्रथम सूत्र 'जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणयं करेइ·····' का व्याख्यान इस प्रकार किया गया है : जे त्ति णिद्देसे, भिक्खू पूर्वोक्त, दारुमओ दंडओ जस्स तं दारुदंडयं, पादे पुंछति जेण तं पादपुंछणं—पट्टयदुनिसिज्ज-

---

१. पृ० ४६. २ पृ० ४८. ३. पृ० ६६. ४. पृ० ६७.

वज्जियं रओहरणमित्यर्थः। तं जो करेति, करेंतं वा सातिज्जति तस्स मासलहुं पच्छित्तं। एस सुत्तत्थो। एयं पुण सुत्तं अववातियं। इदाणिं णिज्जुत्ति-वित्थरो।[1] अर्थात् जो भिक्षु काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोंछन स्वयं करता है अथवा करनेवाले का अनुमोदन करता है उसके लिये मासलघु प्रायश्चित्त का नियम है। यह सूत्रार्थ है। यह सूत्र आपवादिक भी है। अब निर्युक्ति का विस्तार किया जाता है। इसके बाद पादप्रोंछन के विविध प्रकारों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोंछन के ग्रहण, वितरण, परिभोग आदि के दोषों और प्रायश्चित्तों का सूत्रानुसार विवेचन किया गया है।

नवम सूत्र 'जे भिक्खू अचित्तपइट्ठियं गंधं जिंघति, जिंघंतं वा सातिज्जति' का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि निर्जीव चन्दनादि काष्ठ की गन्ध सूँघने वाले के लिए मासलघु प्रायश्चित्त का विधान है: णिज्जीवे चंदणादिकट्ठे गंधं जिंघति मासलहुं।[2]

'जे भिक्खू लहुसगं फरुसं वयति, वयंतं वा ...' (सूत्र १८) की चूर्णि इस प्रकार है: लहुसं ईषदल्पं स्तोकमिति यावत् फरुसं णेहवज्जियं अण्णं साहुं वदति भाषतेइत्यर्थः।[3] जो साधु थोड़ा-सा भी कठोर—स्नेहरहित होकर बोलता है उसके लिए मासलघु प्रायश्चित्त का विधान है। परुष—कठोर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेद से चार प्रकार का होता है। चूर्णिकार ने इन चारों प्रकारों का विस्तार से वर्णन किया है। भावपरुष क्रोधादिरूप है क्योंकि क्रोधादि के बिना परुष कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता। जैसा कि भाष्यकार कहते हैं:

भावे पुण कोधादी, कोहादि विणा तु कहं भवे फरुसं।
उवयारो पुण कीरति, दव्वाति समुप्पति जेणं॥ ८६२॥

जो भिक्षु अल्प झूठ बोलता है उसके लिए भी मासलघु प्रायश्चित्त है। जैसा कि चूर्णिकार स्वयं कहते हैं: मुसं अलियं, लहुसं अल्पं, तं वदओ मासलहुं।[4] इसी प्रकार लघु अदत्तादान, लघु शीतोदकोपयोग आदि के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। स्नान के दोषों का वर्णन करते हुए कहा गया है: ण्हायंतो छज्जीवणिकाए वहेति। ण्हाणे पडिबंधो भवति—पुनः पुनः स्नायतीत्यर्थः। अस्नानसाधुशरीरेभ्यः निर्मलशरीरो अहमिति गारवं

१ पृ० ६८. २. पृ० ७३. ३. पृ० ७४. ४. पृ. ७९.

कुर्वते, स्नान एव विभूषा। अलंकारेत्यर्थः अण्हाणपरीसहाओ वीहति तं न जिनावीत्यर्थः। लोकस्याविश्रम्भणीयो भवति।[1] अर्थात् स्नान करने से षट् जीवनिकाय की हिंसा होती है। एक बार स्नान करने से बार-बार स्नान करने की इच्छा होती है। स्नान न करने वाले साधु को स्नान करने वाला घृणा की दृष्टि से देखता है, अपने को उससे बड़ा समझता है तथा अस्नान-परीषह से डरता है। लोग भी ऐसे साधु का विश्वास नहीं करते। इन दोषों के साथ ही आचार्य ने अपवाद रूप से स्नान की अनुमति भी प्रदान की है।

कृत्स्न (अखण्ड) चर्म और कृत्स्न वस्त्र रखने का निषेध करते हुए स्वजनगवेषित, परजनगवेषित, वरजनगवेषित बलजनगवेषित आदि पदार्थों के ग्रहण का भी निषेध किया गया है। वर का अर्थ इस प्रकार है: जो पुरिसो जत्थ गामणगरादिसु अर्च्यते, अर्चितो वा···गामणगरादि-कारणेसु पमाणीकतो, तेसु वा गामादिसु धणकुलादिणा पहाणो, एरिसे पुरिसे वरशब्दप्रयोगः। सो य इमो हवेज्ज गामिए त्ति गाममहत्तरः, रट्ठिए त्ति-राष्ट्रमहत्तरः।[2] ग्राम नगरादि का प्रामाणिक, प्रधान अथवा पूज्य पुरुष 'वर' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार का ग्राम-पुरुष ग्राममहत्तर और राष्ट्र-पुरुष राष्ट्रमहत्तर कहलाता है। बल का अर्थ बताते हुए चूर्णिकार कहते हैं: यः पुरुषः यस्य पुरुषस्योपरि प्रभुत्वं करोति सो बलवं भण्णति। अहवा अप्रभु वि जो बलवं सो वि बलवं भण्णति। सो पुण गृहपतिः गामसामिगो वा तेणगादि वा।[3] जो प्रभुत्व करता है वह बलवान् कहलाता है। अथवा अप्रभु भी बलशाली होने पर बलवान् कहलाता है। गृहपति, ग्रामस्वामी आदि प्रथम कोटि के पुरुष हैं। स्तैन अर्थात् चोर आदि द्वितीय कोटि के हैं।

नियत (निश्चित—ध्रुव—निरंतर) पिण्ड, वास आदि के दोषों का वर्णन करने के बाद आचार्य 'जे भिक्खू पुरे संथवं पच्छा संथवं वा करेइ......'(सू.३८) का व्याख्यान इस प्रकार करते हैं: संथवो थुती, अदत्ते दाणे पुव्वसंथवो, दिण्णे पच्छासंथवो। जो तं करेति सातिज्जति वा तस्स मासलहुं।[4] संस्तव का अर्थ है स्तुति। साधु दाता की दो प्रकार से स्तुति कर सकता है: एक तो दान देने के पूर्व और दूसरी दान देने के पश्चात्। जो साधु इस प्रकार की स्तुति करता है अथवा उसका अनुमोदन करता है उसे मासलघु प्रायश्चित्त करना

१. पृ. ८६. २. पृ. १०१. ३. पृ. १०१. ४. १०८.

पड़ता है। संस्तव का विशेष विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने 'अत्र निर्युक्तिमाह' ऐसा लिखकर निम्न निर्युक्ति-गाथा उद्धृत की है :

दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य संथवो मुणेयव्वो।
आत-पर-तदुभए वा, एक्केक्के सो पुणो दुविधो ॥ १०२५ ॥

द्रव्यसंस्तव का विस्तार करते हुए आचार्य कहते हैं कि यह ६४ प्रकार का है। इसके लिए धान्य, रत्न, स्थावर, द्विपद, चतुष्पद आदि के ६४ प्रकार गिनाये गये हैं।[1] वे ये हैं : २४ प्रकार का धान्य, २४ प्रकार के रत्न, ३ प्रकार के स्थावर, २ प्रकार के द्विपद, १० प्रकार के चतुष्पद और ६४ वां कुप्य (उपकरण)।

धान्य—१. जव, २. गोधूम, ३. शालि, ४. व्रीहि, ५. षष्टिक, ६. कोद्रव, ७. अनया, ८. कंगू, ९. रालक, १०. तिल, ११. मुद्ग, १२. माष, १३. अतसी, १४. हिरिमंथा, १५. त्रिपुडा, १६. निष्पाव, १७. अलिसिंदा, १८. मासा, १९. इक्षु, २०. मसूर, २१. तुवर, २२. कुलत्थ, २३. धानक, २४. कला।

भाष्य :—धण्णाइ चउव्वीसं, जव-गोहुम-सालि-वीहि-सट्ठिया।
कोद्दव-अणया-कंगू, रालग-तिल-मुग्ग-मासा य ॥ १०२९ ॥

चूर्णि :—बृहच्छिरा कंगू, अल्पतरशिरा रालकः।

भाष्य :—अतसि हिरिमंथ तिवुड, णिप्फाव अलसिंदरा य मासा य।
इक्खू मसूर तुवरी, कुलत्थ तह धाणग-कला य ॥ १०३० ॥

चूर्णि :—'अतसि' मालवे प्रसिद्धा, 'हिरिमंथा' वट्टचणगा, 'त्रिपुडा' लंगवलगा, 'णिप्फाव' चावल्ला, 'अलिसिंदा', चवलगारा य, 'मासा' पंडरचवलगा, 'धाणगा' कुथुंभरी, 'कला' वट्टचणगा।

रत्न—१. सुवर्ण, २. त्रपु, ३. ताम्र, ४. रजत, ५. लौह, ६. शीशक, ७. हिरण्य, ८. पाषाण, ९. वेर, १०. मणि, ११. मौक्तिक, १२. प्रवाल, १३. शंख, १४. तिनिश, १५. अगरु, १६. चन्दन, १७. अमिलात वस्त्र, १८. काष्ठ, १९. दंत, २०. चर्म, २१. वाल, २२. गंध, २३. द्रव्य, २४. औषध।

भाष्य :—रयणाइ चतुव्वीसं, सुव्वण्ण-तवु-तंब-रयत-लोहाइं।
सीसग-हिरण्ण-पासाण-वेर-मणि-मोत्तिय-पवाले ॥ १०३१ ॥

---

१. पृ. १०९.

चूर्णि :—'रयतं' रुप्पं, 'हिरण्णं' रूपका, 'पाषाणः' स्फटिकादयः, 'मणी' सूरचन्द्रकान्तादयः।

भाष्य :—संख-तिणिसागुलु चंदणाइं वत्थामिलाइं कट्ठाइं।
तह दंत-चम्म-बाला, गंधा दव्वोसहाइं च ॥ १०३२ ॥

चूर्णि :—'तिणिस' रुक्खकट्ठा, 'अगलु' अगरुं, यानि न म्लायन्ते शीघ्रं तानि अम्लातानि वस्त्राणि, 'कट्ठा' शाकादिस्तंभा, 'दंता,' हस्त्यादीनां, 'चम्मा' वग्घादीणं, 'वाला' चमरीणं, गंधयुक्तिकृता गंधा, एकांगं औषधं द्रव्यं, बहुद्रव्यसमुदायादौषधम्।

स्थावर—१. भूमि, २. घर, ३. तरु।

द्विपद—१. चक्रारबद्ध—शकटादि और २. मनुष्य।

चतुष्पद—१. गौ, २. उष्ट्री, ३. महिषी, ४. अज, ५. मेष, ६. अश्व, ७. अश्वतर, ८. घोटक, ९. गर्दभ, १०. हस्ती।

भाष्य :—गावी उट्टी महिसी, अय एलग आस आसतरगा य।
घोडग गद्दभ हत्थी, चतुप्पदा होंति दसधातु ॥ १०३४ ॥

चूर्णि :—'आसतरगा' वेसरा।

'जे भिक्खू सागारियं पिंडं भुंजति, भुंजंतं वा सातिज्जति', 'जे भिक्खू सागारियं पिंडं गिण्हइ··' (सू० ४६-७) का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि सागारिक अर्थात् शय्यातर के पिण्ड का ग्रहण अथवा भोग नहीं करना चाहिए। जो वैसा करता है उसके लिए मासलघु प्रायश्चित्त है। इसका विवेचन करते हुए प्रस्तुत चूर्णि में निम्न बातों का दृष्टान्तपूर्वक विचार किया गया है :[1] (१) सागारिक कौन होता है, (२) वह शय्यातर कब होता है, (३) उसका पिण्ड कितनी तरह का होता है, (४) वह अशय्यातर कब होता है, (५) वह सागारिक किस सयत द्वारा परिहर्तव्य है, (६) उस सागारिक-पिण्ड के ग्रहण मे क्या दोष है, (७) किस अवस्था में उसका पिण्ड ग्रहण किया जा सकता है, (८) किस यतना से उसका ग्रहण करना चाहिए, (९) एक सागारिक से ही ग्रहण करना चाहिए अथवा अनेक सागारिकों से भी ग्रहण करना चाहिए। सागारिक के पाँच एकार्थक शब्द हैं : सागारिक, शय्यातर, दाता, घर

१. पृ० १३०-१३१.

और तर।[1] इन पाँचों की व्युत्पत्ति एवं सार्थकता पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। बृहत्कल्पभाष्य में भी इस विषय पर काफी विवेचन उपलब्ध है।

'जे भिक्खू उडुबद्धियं सेज्जा-संथारयं···'(सू. ५०) का विवेचन करते हुए आचार्य शय्या और संस्तारक का भेद बताते हैं। शय्या सर्वांगिका अर्थात् पूरे शरीर के बराबर होती है जबकि संस्तारक ढाई हस्तप्रमाण होता है : सव्वंगिया सेज्जा,अड्ढाइयहत्थो संथारो।[2] संस्तारक दो प्रकार का होता है : परिशाटी और अपरिशाटी। इनके स्वरूप, भेद-प्रभेद, ग्रहण, दोष, प्रायश्चित्त आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

विप्रनष्ट अर्थात् विधिपूर्वक रक्षा करते हुए भी खो जानेवाले प्रातिहारिक, शय्या-संस्तारक आदि की खोज करने की आवश्यकता, विधि आदि पर प्रकाश डालते हुए दूसरे उद्देश के अन्तिम सूत्र 'जे भिक्खू इत्तरियं उवहिं ण पडिलेहेति····' (सू० ५९) का विश्लेषण करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिनकल्पियों के लिए बारह प्रकार की, स्थविरकल्पियों के लिए चौदह प्रकार की और आर्याओं के लिए पच्चीस प्रकार की उपधि होती है।[3] जिनकल्पिक दो प्रकार के हैं : पाणिपात्रभोजी और प्रतिग्रहधारी। इन दोनों के पुनः दो-दो भेद हैं : सप्रावरण अर्थात् सवस्त्र और अप्रावरण अर्थात् निर्वस्त्र।[4] जिनकल्प में उपधि के आठ विभाग हैं : दो, तीन, चार, पाँच, नौ, दस, ग्यारह और बारह। निर्वस्त्र पाणिपात्र की जघन्य उपधि दो प्रकार की है : रजोहरण और मुखवस्त्रिका। वही पाणिपात्र यदि सवस्त्र है और एक कपड़ा ग्रहण करता है तो उसकी उपधि तीन प्रकार की हो जाती है। इसी प्रकार आगे की उपधियाँ भी समझ लेनी चाहिए। स्थविरकल्पियों एवं आर्याओं के लिए भी इसी प्रकार विभिन्न उपधियों का वर्णन किया गया है।[5] यहाँ तक विशेषनिशीथचूर्णि के द्वितीय उद्देश का अधिकार है।

तृतीय उद्देश :

इस उद्देश के प्रारंभ में भिक्षाग्रहण के कुछ दोषों एवं प्रायश्चित्तों पर प्रकाश डाला गया है। तदनन्तर पाद आदि के आमर्जन, प्रमार्जन, परिमर्दन, अभ्यंग आदि से लगने वाले दोषों का उल्लेख करते हुए तद्विषयक प्रायश्चित्तों का निर्देश किया गया है। एक बार साफ करना आमर्जन है, बार-बार साफ करना प्रमार्जन है। अथवा हाथ से साफ करना आमर्जन है, रजोहरण से साफ करना प्रमार्जन है : आमज्जति

---

१. सागारिय सेज्जायर दाता य धरे तरे वा वि।—पृ० ११०, गा० ११४०.
२. पृ० ११९. ३. पृ० १८८. ४. वही. ५. पृ० १८८–१९१.

एक्कसि, पमज्जति पुणो पुणो। अहवा हत्थेण आमज्जणं, रयहरणेण पमज्जणं।[1] गंड, पिलक, अरतित, अर्शिका, भगंदर आदि रोगों के छेदन, शोधन, लेपन आदि का निषेध करते हुए गंड आदि का स्वरूप इस प्रकार बताया है : गच्छतीति गंडं, तं च गंडमाला, जं च अण्णं (पिलगं) तु पादगतं गंडं, अरतितो जं ण पच्चति, असी अरिसा ता य अहिट्ठाणे णासाते व्रणेसु वा भवति, पिलिगा (पिलगा) सियलिया, भगंदरं अप्पण्णतो अधिट्ठाणे क्षतं किमियजालसंपण्णं भवति। बहुसत्थसंभवे अण्णतरेण तिक्खं स (अ) ह्णिाधारं जातमिति प्रकारप्रदर्शनार्थम्। एक्कसि ईषद् वा आच्छिंदणं, बहुबारं सुट्ठु वा छिंदणं विच्छिंदणं।[2] इसी प्रकार नखाग्र को घिस कर तेज करना, उससे रोम आदि तोड़ना, उसे चिबुक, जंघा, गुह्यभाग आदि में घुसाना इत्यादि बातों का निषेध किया गया है तथा अक्षिमल, कर्णमल, दंतमल, नखमल आदि को खोद-खोद कर बाहर निकालने की मनाही की गई है। उच्चार-प्रस्रवण का घर में, गृहमुख पर, गृहद्वार पर, गृहप्रतिद्वार पर, गृहैलुक (देहली) पर अथवा गृहांगण में परित्याग करना भी इसी प्रकार निषिद्ध है। अन्य निषिद्ध स्थानों पर भी उसका परित्याग नहीं करना चाहिए। परित्याग करने पर मासलघु प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसी प्रकार असमय पर उच्चार-प्रस्रवण का परित्याग करनेवाले के लिए भी यही प्रायश्चित्त है। रात्रि आदि के समय बाहर निकलने से लगने वाले अनेक दोषों का वर्णन चूर्णिकार ने प्रस्तुत उद्देश के अन्त में किया है।

चतुर्थ उद्देश :

इस उद्देश में सूत्रों का सामान्य व्याख्यान करते हुए निम्नलिखित विषयों पर विशेष प्रकाश डाला गया है : अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग, कायोत्सर्ग के विविध भंग, आयंबिल की परिसमाप्ति एवं आहारग्रहण, स्थापनाकुल और उनके विविध प्रकार, स्थापनाकुलसम्बन्धी सामाचारी, निर्ग्रन्थी की वसति और उसमें निर्ग्रन्थ द्वारा प्रवेश, राजा, अमात्य, सेठ, पुरोहित, सार्थवाह, ग्राममहत्तर, राष्ट्रमहत्तर और गणधर के लक्षण, ग्लान साध्वी और उसकी सेवा, अधिकरण और उसके भेद, संरंभ, समारंभ और आरंभ के भेद-प्रभेद, हास्य और उसकी उत्पत्ति के विविध कारण।

---

१. पृ. २१०. २. पृ० २१५.

पंचम उद्देश :

इस उद्देश के प्रारंभ में आचार्य भद्रबाहुस्वामिकृत एक निर्युक्ति-गाथा[1] दी गई है जिसमें चतुर्थ और पचम उद्देश के सम्बन्ध का निर्देश है। चूर्णिकार ने '......उद्देसकेन सह संबंधं वक्तुकामो आचार्यः भद्रबाहुस्वामी निर्युक्तिगाथामाह'[2] ऐसा कह कर उनकी गाथा उद्धृत की है। इस उद्देश की चूर्णि में निम्न विषयों का विशेष विवेचन किया गया है : प्राभृतिक शय्या और उसके छादन आदि भेद, सपरिकर्म शय्या और उसके चौदह भेद, संभोग का विविध दृष्टियों से वर्णन। संभोग का अर्थ इस प्रकार है : 'सं' एगीभावे 'भुज' पालनाभ्यवहारयोः, एकत्र भोजनं संभोगः, अहवा समं भोगो संभोगो यथोक्तविधानेनेत्यर्थः। संभुंजते वा संभोगः, संभुञ्जते वा, स्वस्य वा भोगः संभोगः।[3] संभोग का मुख्य अर्थ है यथोक्त विधि से एकत्र आहारोपभोग। जिन साधुओं में परस्पर खान-पान आदि का व्यवहार होता है वे सांभोगिक कहलाते हैं। सांभोगिक साधुओं का स्वरूप समझाते हुए चूर्णिकार ने कुछ आख्यान दिये हैं। इनमें से एक आख्यान में निम्नलिखित ऐतिहासिक पुरुषों का उल्लेख किया गया है :[4] वर्धमान-स्वामी के शिष्य सुधर्मा, सुधर्मा के शिष्य जंबू, जबू के शिष्य प्रभव, प्रभव के शिष्य शय्यंभव, शय्यंभव के शिष्य यशोभद्र, यशोभद्र के शिष्य संभूत, संभूत के शिष्य स्थूलभद्र। स्थूलभद्र के दो युगप्रधानशिष्य—आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती, चन्द्रगुप्त का पुत्र बिंदुसार, बिंदुसार का पुत्र अशोक, अशोक का पुत्र कुणाल।

षष्ठ उद्देश :

आदि के पाँच उद्देशों में गुरु-लघुमास का वर्णन किया गया। प्रस्तुत उद्देश मे चातुर्मासिक गुरु का वर्णन है। इसका एकमात्र विषय है मैथुनसम्बन्धी दोषों और प्रायश्चित्तों का वर्णन। 'जे भिक्खू माउग्गामं मेहुणपडियाए विण्णवेति.......' (सू. १) का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार लिखते हैं : 'मातिसमाणो गामो मातुगामो, मरहट्ठविसयभासाए वा इत्थी माउग्गामो भण्णति। मिहुणभावो मेहुणं, मिथुनकर्म वा मेहुनं—अब्रह्ममित्यर्थः। मिथुनभावप्रतिपत्तिः। अथवा पडिया मैथुनसेवनप्रतिज्ञेत्यर्थः। विज्ञापना प्रार्थना अथवा तद्भावसेवनं विज्ञापना, इह तु प्रार्थना परिगृह्यते।

१. पृ० ३०७ (गा० १८९५). २. वही. ३. पृ० ३४१.
४. पृ० ३६०-३६१.

सुत्तत्थो।[1] मातृसमूह अर्थात् माताओं के समान नारियों के वृंद को मातृग्राम–माउग्गाम कहते हैं। अथवा सामान्य स्त्री-वर्ग को माउग्गाम कहना चाहिए जैसा कि मराठी में स्त्री को माउग्गाम कहा जाता है। मिथुनभाव अथवा मिथुनकर्म को मैथुन—मेहुण कहते हैं। पडिया—प्रतिज्ञा का अर्थ है मैथुनसेवन की प्रतिज्ञा। विण्णवणा—विज्ञापना का अर्थ है प्रार्थना। जो साधु मैथुनसेवन की कामना से किसी स्त्री से प्रार्थना करता है उसके लिए चातुर्मासिक गुरु प्रायश्चित्त का विधान है।

मातृग्राम तीन प्रकार का है: दिव्य, मानुष और तिर्यक्। इनमें से प्रत्येक के दो भेद हैं: देहयुक्त और प्रतिमायुक्त। देहयुक्त के पुनः दो भेद हैं: सजीव और निर्जीव। प्रतिमायुक्त भी दो प्रकार का है: सन्निहित और असन्निहित। विज्ञापना दो प्रकार की होती है: अवभाषणता—प्रार्थना और तद्भावासेवनता—मैथुनासेवन।[2] आचार्य ने इन भेद-प्रभेदों का विस्तृत विवेचन किया है।

'जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए लेहं लिहति....'(सू. १३) की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार ने कामियों के प्रेम-पत्र-लेखन का विश्लेषण किया है और बताया है कि लेख दो प्रकार का होता है: छन्न अर्थात् अप्रकाशित और प्रकट अर्थात् प्रकाशित। छन्न लेख तीन प्रकार का है: लिपिछन्न, भाषाछन्न और अर्थछन्न।[3] आचार्य ने इनका स्वरूप बताया है।

उद्देश के अन्त में यह बताया गया है कि जो बातें पुरुषों के लिए कही गई हैं उन्हीं का स्त्रियों के लिए भी उपयोग कर लेना चाहिए। भिक्षु के स्थान पर भिक्षुणी रख कर मातृग्राम की जगह पितृग्राम का प्रयोग कर लेना चाहिए। जैसा कि चूर्णिकार कहते हैं: पुरिसाणं जो गमो इत्थीवग्गे भणितो जहा—'भिक्खू माउग्गाम मेहुणवडियाए। विण्णवेति' एस इत्थीणं पुरिसवग्गे वत्तव्वो–'जा भिक्खुणी वि पिउग्गामं मेहुणवडियाए विण्णवेइ···।'[4]

सप्तम उद्देश:

षष्ठ उद्देश के अंतिम सूत्र में विकृत आहार का निषेध किया गया है। यह निषेध आभ्यंतर आहार की दृष्टि से है। सप्तम उद्देश के प्रथम सूत्र में कामी भिक्षु के लिए इस बात का निषेध किया गया है कि पत्र-पुष्पादि की मालाएँ न तो स्वयं बनाए, न औरों से बनवाए इत्यादि। यह निषेध काम के बाह्य

१. पृ. ३७१. २. पृ. ३७१–२. ३. पृ. ३८५. ४. पृ. ३९४.

आहार की दृष्टि से है। इसी प्रकार कुंडल, मुक्तावली, कनकावली आदि के बनाने, धारण करने आदि का भी आगे के सूत्रों मे निषेध किया गया है। चूर्णिकार ने कुंडल आदि का स्वरूप इस प्रकार बताया है: कुंडलं कण्णाभरणं, गुणं कडीसुत्तयं, मणी सूर्यमणीमादय, तुडियं बाहुरक्खिया, तिण्णि सराओ तिसरियं, वालंभा मरडादिसु ओचूला, अगारीण वा गलोलइया, नाभि जा गच्छइ सा पलंबा, सा य उलंबा भण्णति। अट्ठारसलयाओ हारो, णवसु अड्ढहारो, विचित्तेहिं एगसरा एगावली, मुत्तएहिं मुत्तावली, सुवण्णमणिएहिं कणगावली, रयणहिं रयणावली, उरंगुलो सुवण्णओ पट्टो, त्रिकुटो मुकुटः।[1] इसमे कुंडल, गुण, मणि, तुडिय, तिसरिय, वालंभा, पलंबा, हार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, पट्ट और मुकुट—इन आभूषणों का स्वरूप-वर्णन है।

'जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अण्णयरं पसु-जायं वा पक्खि-जायं वा.......आलिंगेज्ज........'(सू. ८४) का विवेचन करते हुए आचार्य ने पशु-पक्षी के आलिंगन आदि का निषेध किया है तथा आलिंगन, परिष्वजन, चुंबन, छेदन और विच्छेदनरूप काम-क्रीडाओं का स्वरूप बताया है। वह इस प्रकार है : आलिंगनं स्पृशनं, उपगूहनं परिष्वजनं, मुखेन चुंबनं, दंतादिभिः सकृत् छेदनं, अनेकशो विच्छेदः, विविधप्रकारो वा च्छेदः विच्छेदः।[2] सामान्य रीति से स्पर्श करना आलिंगन है। गाढ आलिंगन का नाम परिष्वजन अथवा उपगूहन है। चुम्बन मुख से किया जाता है। दंत आदि से एक बार काटना छेदन तथा अनेक बार काटना अथवा अनेक प्रकार से काटना विच्छेदन है।

अष्टम उद्देश :

सप्तम उद्देश के अन्तिम सूत्र मे स्त्री और पुरुष के आकारों के विषय मे कुछ आवश्यक बातें कही गई हैं। अष्टम उद्देश के प्रारंभ के सूत्र में यह बताया गया है कि अकेला साधु अकेली स्त्री के साथ विहार, स्वाध्याय आदि न करे जिससे कामकथा आदि का अवसर प्राप्त न हो। कामकथा लौकिक और लोकोत्तर भेद से दो प्रकार की होती है। नरवाहनदंतकथादि लौकिक कामकथाएं हैं। तरंगवती, मलयवती, मगधसेन आदि की कथाएं लोकोत्तर कामकथा के उदाहरण हैं।[3]

---

१. पृ. ३९८. २. पृ. ४११. ३. पृ. ४१५.

'जे भिक्खू उज्जाणंसि वा उज्जाण-गिहंसि वा......' (सू० २-९) आदि सूत्रों की व्याख्या में उद्यान, उद्यानगृह, उद्यानशाला, निर्याण, निर्याणगृह, निर्याणशाला, अट्ट, अट्टालक, चरिका, प्राकार, द्वार, गोपुर, दक, दकमार्ग, दकपथ, दकतीर, दकस्थान, शून्यगृह, शून्यशाला, भिन्नगृह, भिन्नशाला, कूटागार, कोष्ठागार, तृणगृह, तृणशाला, तुषगृह, तुषशाला, बुसगृह, बुसशाला, पर्याय-गृह, पर्यायशाला, कर्मान्तगृह, कर्मान्तशाला, महागृह, महाकुल, गोगृह और गोशाला का अर्थ स्पष्ट किया गया है[1] और बताया गया है कि साधु इन स्थानों में अकेली स्त्री के साथ विहार आदि न करे।

रात्रि के समय स्वजन आदि के साथ रहने का प्रतिषेध करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो साधु स्वजन, अस्वजन, श्रावक, अश्रावक आदि के साथ अर्ध रात्रि अथवा चतुर्थांश रात्रि अथवा पूर्ण रात्रि पर्यन्त रहता है अथवा रहने वाले का समर्थन करता है उसके लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त है।[2] इसी प्रकार रात्रि के समय भोजन के अन्वेषण, ग्रहण आदि के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

नवम उद्देश :

अष्टम उद्देश के अन्तिम सूत्र में भोजन अर्थात् पिण्ड का विचार किया गया है। नवम उद्देश के प्रारंभ में भी इसी विषय पर थोड़ा-सा प्रकाश डाला गया है। 'जे भिक्खू रायपिंडं गेण्हइ···' 'जे भिक्खू रायपिंडं भुंजइ···' (सू० १-२) का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार इस बात का विचार करते हैं कि साधु को किस प्रकार के राजा के यहाँ से पिण्ड ग्रहण नहीं करना चाहिए? जो मूर्धाभिषिक्त है अर्थात् जिसका प्रधानरूप से अभिषेक किया गया है तथा जो सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठि और सार्थवाह सहित राज्य का भोग करता है उसका पिण्ड साधु के लिए वर्जित है। शेष राजाओं के विषय में निषेध का एकान्त नियम नहीं है अर्थात् जहाँ दोष प्रतीत हो वहाँ का पिण्ड वर्जित है, जहाँ दोष न हो वहाँ का ग्रहणीय है। राजपिण्ड आठ प्रकार का है जिसमें भोजन के सिवाय अन्य वस्तुओं का भी समावेश है। वे आठ प्रकार ये हैं : चार प्रकार का आहार—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य तथा वस्त्र, पात्र, कंबल और पादप्रोंछनक।[3]

साधु को राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करने की मनाही करते हुए आचार्य ने तीन प्रकार के अन्तःपुरों का वर्णन किया है : जीर्णान्तःपुर, नवान्तःपुर और

१. पृ. ४३३. २. पृ० ४४१. ३. पृ० ४४९.

कन्यकान्तःपुर। जिनका यौवन नष्ट हो जाता है तथा जो भोग के अयोग्य हो जाती हैं वे स्त्रियाँ जीर्णान्तःपुर में रहती हैं। जिनमें यौवन विद्यमान है तथा जो भोग के काम में ली जाती हैं वे नवान्तःपुर में वास करती हैं। राजकन्याएँ जब तक यौवन को प्राप्त नहीं होती हैं तब तक उनका संग्रह कन्यकान्तःपुर में किया जाता है। इनमें से प्रत्येक के क्षेत्र की दृष्टि से दो भेद किये जाते हैं: स्वस्थानस्थ और परस्थानस्थ। स्वस्थानस्थ का अर्थ है राजगृह में ही रहनेवाली। परस्थानस्थ का अर्थ है वसंतादि में उद्यान में रहने वाली। एतद्विषयक भाष्यगाथा एवं चूर्णि इस प्रकार है :

भाष्य :—अंतेउरं च तिविधं, जुण्ण णवं चेव कण्णगाणं च।
एक्केक्कं पि य दुविधं सट्ठाणे चेव परठाणे॥ २५१३॥

चूर्णि :—रण्णो अंतेपुरं तिविधं—णहस्रियजोवणाओ अपरिभुज्जमाणीओ अच्छंति, एयं जुण्णंतेपुरं। जोव्वणयुत्ता परिभुज्जमाणीओ नवतेपुरं। अप्पत्तजोव्वणाण रायदुहियाण संगहो कन्नंतेपुरं। तं पुण खेत्ततो एक्केक्कं दुविधं—सट्ठाणे परट्ठाणे य। सट्ठाणत्थं रायघरे चेव, परट्ठाणत्थं वसंतादिसु उज्जाणियागयं।

'जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं……' (सू० ७) का विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने कोष्ठागार आदि का स्वरूप इस प्रकार बताया है : जिसमे ७७ प्रकार का धान्य हो वह कोष्ठागार है। जिसमे १६ प्रकार के रत्न हों वह भांडागार है। जहाँ सुरा, मधु आदि पानक संगृहीत हों वह पानागार है। जहाँ दूध, दही आदि हों वह क्षीरगृह है। जहाँ ७७ प्रकार का धान्य कूटा जाता हो अथवा जहाँ गज अर्थात् यव पड़े हों वह गंजशाला है। जहाँ अशन, पान आदि विविध प्रकार के खाद्य पदार्थ तैयार होते हों वह महानसशाला है : जत्थ सणसत्तरसाणि धण्णाणि कोट्ठागारो। भंडागारो जत्थ सोलसविहाइं रयणाइं। पाणागारं जत्थ पाणियकम्मं तो सुरा-मधु-सीधु-खंडगं-मच्छंडिय-मुद्दियापभित्तीणि पाणगाणि। खीरघरं जत्थ खीरं-दधि-णवणीय-तक्कादीणि अच्छंति। गंजसाला व जत्थ सणसत्तरसाणि-धण्णाणि कोट्टिज्जंति, अहवा गंजा जवा ते जत्थ अच्छंति सा गंजसाला। महाणससाला जत्थ असणपाणखातिमादीणि णाणाविहभक्खे उवक्खडिज्जंति।'[1] इसी प्रकार नट, नट्ट, जल्ल, मल्ल, कथक, प्लवक, लासक आदि का अर्थ बताया गया है।[2]

१. पृ० ४५६. २. पृ० ४६८.

दशम उद्देश :

इस उद्देश की चूर्णि बहुत विस्तृत है। बीच-बीच में दृष्टान्त के रूप में कथानक भी दिये गये हैं। इसमें मुख्यरूप से निम्न विषयों का विवेचन है : भाषा की अगाढता, परुषता आदि तथा तत्सम्बन्धी विविध प्रायश्चित्त, आधाकर्मिक आहार के दोष एवं प्रायश्चित्त, ग्लान की वैयावृत्य सम्बन्धी यतना, उपेक्षा एवं प्रायश्चित्त, वर्षावास, पर्युषणा, परिवसना, पर्युपशमना, प्रथम समवसरण, स्थापना और ज्येष्ठग्रह की एकार्थकता, सार्थकता, विभिन्नता आदि। इसी में आर्य कालक की कथा भी दी गई है। विद्याबल आदि की सिद्धि का वर्णन करते हुए चूर्णिकार कहते हैं : जहा—कालगऽज्जेण गद्दभिल्लो सासिओ। को उ गद्दभिल्लो ? को वा कालगऽज्जो ? कम्मि वा कज्जे सासितो ? भण्णति।[1] यह कह कर उन्होंने संक्षेप में आर्य कालक, उनकी भगिनी रूपवती और उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल का पूरा कथानक दिया है।

एकादश उद्देश :

दशम उद्देश के अंतिम सूत्र में वस्त्र-ग्रहण पर प्रकाश डाला गया है। एकादश उद्देश के प्रारंभ में पात्र-ग्रहण की चर्चा है। इस उद्देश का तृतीय एवं षष्ठ सूत्र चूर्णि मे नहीं है। इसी प्रकार अन्य उद्देशों मे भी कुछ सूत्रों की न्यूनाधिकता है। 'जे भिक्खू अप्पाणं बीभावेति.......' 'जे भिक्खू परं बीभावेति.......' (सू० ६४-५) की व्याख्या में चूर्णिकार ने भय के चार एवं सात भेदों की चर्चा की है। भय के चार भेद ये हैं : १. पिशाचादि से उत्पन्न भय, २. मनुष्यादि से उत्पन्न भय, ३. वनस्पति आदि से उत्पन्न भय, और ४. निर्हेतुक अर्थात् अकस्मात् उत्पन्न होनेवाला भय। भय के सात भेद इस प्रकार हैं : १. इहलोकभय, २. परलोकभय, ३. आदानभय, ४. आजीवनाभय, ५. अकस्माद्भय, ६. मरणभय और ७. अश्लोकभय।[2] इन भेदों का जैन साहित्य में साधारणतया उल्लेख पाया जाता है। चूर्णिकार ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि इन सात भेदों का चार भेदों में कैसे समावेश हो सकता है ? जो साधु खुद को अथवा दूसरे को अथवा दोनों को डराता है उसके लिए भय का कारण विद्यमान होने की दशा मे चतुर्लघु तथा अविद्यमान होने की अवस्था में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है।

---

१. तृतीय भाग, पृ० ५८-९. २. पृ० १८५ ६.

अयोग्य दीक्षा का निषेध करने वाले सूत्र 'जे भिक्खू णायगं वा...... अपलं वा पव्वावेइ, पव्वावेंतं वा सातिज्जति' (सू. ८४) का विवेचन करते हुए आचार्य ने अड़तालीस प्रकार के व्यक्तियों को प्रव्रज्या के लिए अयोग्य माना है। इनमें अठारह प्रकार के पुरुष हैं, बीस प्रकार की स्त्रियां हैं और दस प्रकार के नपुंसक हैं। बालदीक्षा का निषेध करते हुए बाल के तीन भेद किये हैं : उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। सात-आठ वर्ष की आयु का बालक उत्कृष्ट बाल है। पांच-छः वर्ष की आयु का बालक मध्यम बाल है। चार वर्ष तक की आयु का बालक जघन्य बाल है।[१] इसी प्रकार वृद्ध, जड़, रोगी, उन्मत्त, मूढ आदि अयोग्य पुरुषों का भी भेदोपभेदपूर्वक वर्णन किया गया है। पंडक आदि सोलह प्रकार के नपुंसकों[२] का वर्णन भी आचार्य ने विस्तार से किया है। व्याधित पुरुष का स्वरूप बताते हुए सोलह प्रकार के रोग एवं आठ प्रकार की व्याधि के नामों का उल्लेख किया है।[३] व्याधि का नाश शीघ्र हो सकता है जबकि रोग का नाश देर से होता है : आशुघातित्वाद् व्याधिः, चिरघातित्वाद् रोगः...।[४]

बालमरण, पंडितमरण आदि के विस्तृत विवेचन के साथ प्रस्तुत उद्देश की चूर्णि समाप्त होती है।

द्वादश उद्देश :

इस उद्देश की चूर्णि में चतुर्लघु प्रायश्चित्त के योग्य दोषों का वर्णन किया गया है। इन दोषों में मुख्यतः त्रस प्राणिविषयक बन्धन और मुक्ति, प्रत्याख्यान-भंग, सलोम चर्मोपयोग, तृणादिनिर्मित पीठक का अधिष्ठान, निर्ग्रन्थी के लिए निर्ग्रन्थ द्वारा संघाटी सिलाने की व्यवस्था, पुरःकर्मकृत हस्त से आहारादि का ग्रहण, शीतोदकयुक्त हस्तादि से आहारादि का ग्रहण, चक्षुरिन्द्रिय की तुष्टि के लिए निर्झर आदि का निरीक्षण, प्रथम प्रहर के समय आहारादि का ग्रहण, व्रण पर गोमय—गोबर का लेप आदि का समावेश है।

त्रयोदश उद्देश :

इस उद्देश में भी चतुर्लघु प्रायश्चित्त के योग्य दोषों का विचार किया गया है। स्निग्ध पृथ्वी, शिला आदि पर कायोत्सर्ग करना, गृहस्थ आदि को परुष वचन सुनाना, उन्हें मंत्र आदि बताना, लाभ की बात बता कर प्रसन्न करना,

१. पृ. २३९-२४०. २. पृ. २४०. ३. पृ. २५८. ४. वही.

हानि की बात बताकर खिन्न करना, धातु आदि के स्थान बताना, वमन करना, विरेचन लेना, आरोग्य के लिए प्रतिकर्म करना, पार्श्वस्थ को वंदन करना, पार्श्वस्थ की प्रशंसा करना, कुशील को वंदन करना, कुशील की प्रशंसा करना, धात्रीपिंड का भोग करना, दूतीपिंड का भोग करना, निमित्तपिंड का भोग करना, चिकित्सापिंड का भोग करना, क्रोधादिपिंड का भोग करना आदि कार्य चतुर्लघु प्रायश्चित्त के योग्य हैं। प्रस्तुत उद्देश के अन्त में[1] निम्न गाथा में चूर्णिकार के पिता का नाम दिया हुआ है :

संकरजडमउडविभूसणस्स तण्णामसरिसणामस्स ।
तस्स सुतेणेस कता, विसेसचुण्णी णिसीहस्स ॥

चतुर्दश उद्देश :

इस उद्देश मे भी उपर्युक्त प्रायश्चित्त के योग्य अन्य विषयों पर प्रकाश डाला गया है। पात्र खरीदना, अतिरिक्त पात्रों का संग्रह करना, पात्र ठीक तरह से न रखना, वर्णयुक्त पात्र को विवर्ण बनाना, विवर्ण पात्र को वर्णयुक्त करना, पुराने पात्र से छुटकारा पाने की अनुचित कोशिश करना, सचित्त आदि भूमि पर पात्र रखना इत्यादि पात्रविषयक अनेक दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य ने एतत्सम्बन्धी आवश्यक यतनाओं का यत्र-तत्र उल्लेख किया है।

पंचदश उद्देश :

साधु को सचित्त आम आदि खाने की मनाही करते हुए आचार्य ने आम्र का नामादि निक्षेपों से व्याख्यान किया है। द्रव्याम्र चार प्रकार का है : उस्सेतिम, संसेतिम, उवक्खड और पलिय। इन चारों प्रकार के आमों का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने पलिय आम के पुनः चार विभाग किये हैं : इंधनपलियाम, धूमपलियाम, गंधपलियाम और वृक्षपलियाम। इनके स्वरूप पर भी प्रस्तुत उद्देश में प्रकाश डाला गया है।[2] इसी प्रसंग पर तालप्रलम्ब आदि के ग्रहण की विधि का साधु और साध्वी दोनों की दृष्टि से विचार किया गया है। इसी प्रकार अन्य सूत्रों का भी यथाविधि व्याख्यान किया गया है। अन्त में[3] निम्नोक्त गाथा में चूर्णिकार की माता का नाम दिया हुआ है :

रतिकरमभिधाणऽक्खरसत्तमवग्गंतअक्खरजुएणं ।
णामं जस्सित्थीए, सुतेण तस्से कया चुण्णी ॥

१. पृ० ४२६. २. पृ० ४८४-५. ३. पृ० ५९४.

सोलहवाँ उद्देश :

पन्द्रहवें उद्देश में देहविभूषाकरण और उज्ज्वलोपधिधारण का निषेध किया गया है जिससे कि ब्रह्मव्रत की विराधना न हो। सोलहवें उद्देश में भी अशुचि अथवा ब्रह्मविराधना न हो इसी दृष्टि से सागारिकवसति का निषेध किया गया है। इस उद्देश के प्रथम सूत्र 'जे भिक्खू सागारियसेज्जं अणुपविसइ......' का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि जो सागारिकवसति ग्रहण करता है उसे आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं और उसके लिए चतुर्लघु प्रायश्चित्त का विधान है : **सह आगारीहिं सागारिया, जो तं गेण्हति वसहिं तस्स आणादी दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं।**[1] 'सागारिक' शब्द का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि जहाँ निवास करने से मैथुन का उद्भव होता है वह सागारिकवसति है। वहाँ के लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त है। अथवा जहाँ स्त्री-पुरुष रहते हैं वह सागारिकवसति है। वहाँ के लिए भी चतुर्गुरु प्रायश्चित्त है :"''**जत्थ वसहीए ठियाणं मेहुणुब्भवो भवति सा सागारिका, तत्थ चउगुरुगा। अधवा जत्थ इत्थिपुरिसा वसंति सा सागारिका**''' ।[2] पण्यशाला आदि में ठहरने का निषेध करते हुए चूर्णिकार ने निम्न स्थानों का वर्णन किया है :

१. पण्यशाला—जहाँ व्यापारी अथवा कुंभकार बर्तन बेचता है।

२. भंडशाला—जहाँ बर्तनों का संग्रह रखा जाता है।

३. कर्मशाला—जहाँ कुंभकार बर्तन बनाता है।

४. पचनशाला—वहाँ बर्तन पकाये जाते हैं।

५. इंधनशाला—जहाँ घासफूस एकत्र किया जाता है।

६. व्यघारणशाला—जहाँ सारे गाँव के लिए दिन-रात अग्नि जलती रहती है।

एतद्विषयक चूर्णिपाठ इस प्रकार है : **पणियसाला जत्थ भायणाणि विक्केति वाणियकुंभकारो वा एसा पणियसाला। भंडसाला जहिं भायणाणि संगोवियाणि अच्छंति। कम्मसाला जत्थ कम्मं करेति कुंभकारो। पयणसाला जहिं पच्चंति भायणाणि। इंधणसाला जत्थ तण-करिसभारा अच्छंति। वग्घारणसाला सोसलिविसए गाममज्झे साला कीरइ, तत्थ अगणिकुंडं णिच्चमेव अच्छति सयंवरणिमित्तं'''।**[3]

जुगुप्सित—घृणित कुलों से आहार आदि ग्रहण करने का निषेध करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जुगुप्सित दो प्रकार के होते हैं : इत्वरिक और यावत्क-

---

१. चतुर्थ भाग, पृ० १. २. वही. ३. पृ. ६२.

लिए। इत्वरिक थोड़े समय के लिए होते हैं जबकि यावत्कथिक जीवनभर के लिए होते हैं। सूतक आदि वाले कुल इत्वरिक जुगुप्सित कुल हैं। लोहकार, कलाल, चर्मकार आदि यावत्कथिक जुगुप्सित कुल हैं।[1] इन कुलों से साधु को आहार आदि नहीं लेना चाहिए।

श्रमणों को आर्यदेश में ही विचरना चाहिए, अनार्यदेश में नहीं। प्रस्तुत चूर्णि में आर्यदेश की सीमा इस प्रकार बताई गई है : पुव्वेण मगहविसओ, दक्खिणेण कोसंबी, अवरेण थूणाविसओ, उत्तरेण कुणालाविसओ। एतेसिं मज्झं आरियं, परतो अणारियं।[2] पूर्व में मगध से लेकर पश्चिम में स्थूणापर्यन्त और दक्षिण में कौशांबी से लेकर उत्तर में कुणालापर्यन्त आर्यदेश है। शेष अनार्यदेश है। यही मान्यता भाष्यकार आदि की भी है।

सप्तदश उद्देश :

इस उद्देश के प्रारम्भ में कुतूहल—कौतुक के कारण होनेवाली दोष-पूर्ण क्रियाओं का निषेध किया गया है। आगे दस प्रकार के स्थितकल्प और दो प्रकार के स्थापनाकल्प का स्वरूप बताया गया है। 'जे भिक्खू गाएज्ज......' (सू. १३४) का विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने गीत, हसन, वाद्य, नृत्य, अभिनय आदि का स्वरूप बताया है तथा इनका आचरण करने वाले श्रमण के लिए चतुर्लघु प्रायश्चित्त का विधान किया है।[3] इसी प्रकार शंख, शृंग, वेणु आदि के विषय में भी समझना चाहिए।[4]

अष्टादश उद्देश :

इस उद्देश की चूर्णि में मुख्यरूप से नावविषयक दोषों का विवेचन किया गया है। इन दोषों में नाव पर आरूढ होना, नाव खरीदना, नाव को स्थल से जल में और जल से स्थल पर पहुँचाना, भरी नाव का पानी खाली करना, खाली नाव में पानी भरना, नाव को खींचना, नाव को ढकेलना, नाव खेना, नाव को रस्सी आदि से बाँधना, नाव में बैठे हुए किसी से आहारादि लेना इत्यादि का समावेश किया गया है।

एकोनविंशतितम उद्देश :

प्रस्तुत उद्देश की व्याख्या में चूर्णिकार ने स्वाध्याय और अध्यापन सम्बन्धी नियमों पर विशेष प्रकाश डाला है। स्वाध्याय का काल और अकाल, स्वाध्याय

१. पृ. १३२. २. पृ. १२६. ३. पृ. १९९. ४. पृ. २०१.

का विषय और अविषय, अस्वाध्यायिक का स्वाध्याय करने से लगने वाले दोष, अयोग्य व्यक्ति को पढ़ाने से होनेवाली हानि, दो तुल्य व्यक्तियों में से एक को पढ़ाने और दूसरे को नहीं पढ़ाने से लगने वाला दोष और उसका प्रायश्चित्त, पार्श्वस्थ आदि कुतीर्थियों को पढ़ाने से लगने वाले दोष, गृहस्थ आदि को पढ़ाने से लगने वाले दोष—इन सब बातों का आचार्य ने विस्तार से विचार किया है।

विंशतितम उद्देश :

यह अन्तिम उद्देश है। इसकी चूर्णि में मासिकादि परिहारस्थान तथा उनके प्रतिसेवन, आलोचन, प्रायश्चित्त आदि का विवेचन किया गया है। साथ ही भिक्षु, मास, स्थान, प्रतिसेवना और आलोचना का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है।[1] अन्त में[2] चूर्णिकार के परिचय के रूप में निम्न गाथाएँ हैं :

ति चउ पण अट्ठमवग्गे, ति पणग ति तिग अक्खरा व ते तेसिं।
पढमततिएहिं तिदुसरजुएहिं णामं कयं जस्स ॥ २ ॥
गुरुदिण्णं च गणित्तं, महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं।
तेण कएसा चुण्णी, विसेसनामा निसीहस्स ॥ ३ ॥

अ, क, च, ट, त, प, य और श—इन वर्गों के अक्षरों का प्रथम गाथा के निर्देशानुसार संयोग करने से 'जिणदास' शब्द बन जाता है। दूसरी गाथा में 'गणि' और 'महत्तर' शब्दों का निर्देश है। इस प्रकार इन तीनों शब्दों का क्रमशः संयोग करने पर 'जिणदासगणिमहत्तर' शब्द बन जाता है। प्रस्तुत चूर्णि जिनदासगणि महत्तर की कृति है। इसका नाम, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, निशीथ-विशेषचूर्णि अथवा विशेष-निशीथचूर्णि है।

---

१. पृ. २७१–२८७. २. पृ. ४११.

द्वादश प्रकरण

दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि

यह चूर्णि[1] मुख्यतया प्राकृत में है। कहीं-कहीं संस्कृत शब्दों अथवा वाक्यों के प्रयोग भी देखने को मिलते हैं। चूर्णि का आधार मूल सूत्र एवं निर्युक्ति है। प्रारम्भ में चूर्णिकार ने परम्परागत मंगल की उपयोगिता का विचार किया है। तदनन्तर प्रथम निर्युक्ति-गाथा का व्याख्यान किया है :

वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरमसयलसुअनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे अ ववहारे॥ १॥

भद्दबाहु नामेणं, पाईणो गोत्तेणं, चरिमो अपच्छिमो, सगला इंचोद्दस-पुव्वाइं। किं निमित्तं नमोक्कारो तस्स कज्जति ? उच्यते-जेण सुत्तस्स कारओ ण अत्थस्स, अत्थो तित्थगरातो पसूतो। जेण भण्णति-अत्थं भासति अरहा........। इसके बाद श्रुत का वर्णन किया गया है। तदनन्तर दशाश्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों के अधिकारों पर प्रकाश डालते हुए उनका क्रमशः व्याख्यान किया गया है। व्याख्यान-शैली सरल है। मूल सूत्रपाठ और चूर्णिसम्मत पाठ में कहीं-कहीं थोड़ा-सा अन्तर दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के रूप में कुछ शब्द नीचे उद्‌धृत किये जाते हैं। ये शब्द आठवें अध्ययन कल्प के अन्तर्गत हैं :[2]

१. इस चूर्णि की हस्तलिखित प्रति मुनि श्री पुण्यविजयजी की कृपा से प्राप्त हुई अतः उनका अति आभारी हूँ। इसका आठवाँ अध्ययन कल्पसूत्र के नाम से अलग प्रकाशित हुआ है जिसमें मूल सूत्रपाठ, निर्युक्ति, चूर्णि और पृथ्वीचन्द्राचार्यविरचित टिप्पनक सम्मिलित हैं : संपादक–मुनि श्री पुण्यविजयजी, गुजराती भाषान्तर–पं० बेचरदास जीवराज दोशी, चित्रविवरण—साराभाई मणिलाल नवाब, प्राप्तिस्थान-साराभाई मणिलाल नवाब, छीपा मावजीनी पोल, अहमदाबाद, सन् १९५२.

२. मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा स्वीकृत पाठ के आधार पर इन शब्दों का संग्रह किया गया है।

सूत्रांक	सूत्रपाठ	चूर्णिपाठ
३	पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि	पुव्वरत्तावरत्तंसि
१४	मुइंग	मुरव
६१	पढेहिं कुसलेहिं मेहावीहिं जिय	पढेहिं णिउणेहिं जिय
६२	अप्पोवएहिं य	—
१०७	पित्तिज्जे	पेत्तेज्जए
१२२	अंतरावास	अंतरवास
१२३	अंतगडे	—
२३२	पज्जोसवियाणं	पज्जोसविए
२८१	अणट्ठाबंधिस्स	अट्ठाणबंधिस्स

इस प्रकार के पाठभेदों के अतिरिक्त सूत्र-विपर्यास भी देखने में आते हैं। उदाहरण के लिए इसी अध्ययन के सूत्र १२६ और १२७ चूर्णि में विपरीत रूप में मिलते हैं। इसी प्रकार आचार्य पृथ्वीचन्द्रविरचित कल्प-टिप्पनक में भी अनेक जगह पाठभेद दिखाई देता है।

त्रयोदश प्रकरण

बृहत्कल्पचूर्णि

यह चूर्णि[1] मूल सूत्र एवं लघु भाष्य पर है। इसकी भाषा संस्कृतमिश्रित प्राकृत है। प्रारम्भ में मंगल की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत चूर्णि का प्रारम्भ का यह अंश दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि के प्रारम्भ के अंश से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इन दोनों अंशों को यहाँ उद्धृत करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि उनमें कितना साम्य है :

मंगलादीणि सत्थाणि मंगलमज्झाणि मंगलावसाणाणि। मंगलपरिग्गहिया य सिस्सा सुत्तत्थाणं अवग्गहेहापायधारणासमत्था भवंति। तानि चाऽऽदि-मध्याऽवसानमंगलात्मकानि सर्वाणि लोके विराजन्ति विस्तारं च गच्छन्ति। अनेन कारणेनादौ मंगलं मध्ये मंगलमवसाने मंगलमिति। आदि मंगलग्गहणेणं तस्स स सत्थस्स अविग्घेण लहुं पारं गच्छन्ति। मज्झमंगलगहणेणं तं सत्थं थिरपरिजियं भवइ। अवसाणमंगलग्गहणेणं तं सत्थं सिस्स-पसिस्सेसु अव्वोच्छित्तिकरं भवइ। तत्रादौ मंगलं पापप्रतिषेधकत्वादिदं सूत्रम्.......

—बृहत्कल्पचूर्णि, पृ० १.

मंगलादीणि सत्थाणि मंगलमज्झाणि मंगलावसाणाणि मंगलपरिग्गहिता य सिस्सा अवग्गहेहापायधारणासमत्था अविग्घेण सत्थाणं पारगा भवंति। ताणि य सत्थाणि लोगे वियरंति वित्थारं च गच्छंति। तत्थादिमंगलेण निव्विग्घेण सिस्सा सत्थस्स पारं गच्छन्ति। मज्झमंगलेणं सत्थं थिरपरिचितं भवइ। अवसाणमंगलेणं सत्थं सिस्स-पसिस्सेसु परिचयं गच्छति। तत्थादिमंगलं.......

—दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि, पृ० १.

इन दोनों पाठों में बहुत समानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि के पाठ के आधार पर बृहत्कल्पचूर्णि का पाठ लिखा गया। दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि का उपर्युक्त पाठ संक्षिप्त एवं संकोचशील है, जबकि बृहत्कल्पचूर्णि का

---

१. इस चूर्णि की हस्तलिखित प्रति के लिए मुनि श्री पुण्यविजयजी का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अपनी निजी संशोधित प्रति मुझे देने की कृपा की।

पाठ विशेष स्पष्ट एवं विकसित प्रतीत होता है। भाषा की दृष्टि से भी दशाश्रुत-स्कन्धचूर्णि बृहत्कल्पचूर्णि से प्राचीन मालूम होती है। जितना बृहत्कल्पचूर्णि पर संस्कृत का प्रभाव है उतना दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि पर नहीं है। इन तथ्यों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि बृहत्कल्पचूर्णि से पूर्व लिखी गई है और सम्भवतः दोनों एक ही आचार्य की कृतियाँ हैं।

प्रस्तुत चूर्णि में भी भाष्य के ही अनुसार पीठिका तथा छः उद्देश हैं। पीठिका के प्रारम्भ में ज्ञान के स्वरूप की चर्चा करते हुए चूर्णिकार ने तत्त्वार्थाधिगम का एक सूत्र उद्धृत किया है। अवधिज्ञान के जघन्य और उत्कृष्ट विषय की चर्चा करते हुए चूर्णिकार कहते हैं :

जावतिए त्ति जहण्णेणं तिसमयाहारगसुहुमपणगजीवावगाहणामेत्ते उक्कोसेणं सव्वबहुअगणिजीवपरिच्छिन्ते पासइ दव्वादि आदिग्गहणेणं वण्णादि तमिति खेत्तं ण पेच्छति यस्मादुक्तम्—"रूपिष्ववधेः" (तत्त्वार्थ० १-२८) तच्चारूपि खेत्तं अतो ण पेच्छति।[1]

अभिधान अर्थात् वचन और अभिधेय अर्थात् वस्तु इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हुए चूर्णिकार ने भाष्याभिमत अथवा यों कहिये कि जैनाभिमत भेदाभेदवाद का प्रतिपादन किया है। अभिधान और अभिधेय को कथञ्चित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न बताते हुए आचार्य ने 'वृक्ष' शब्द के छः भाषाओं में पर्याय दिये हैं : सक्कयं जहा वृक्ष इत्यादि, पागतं जहा रुक्खो इत्यादि। देशाभिधानं च प्रतीत्य अनेकाभिधानं भवति जधा ओदणो मागधाणं कूरो लाडाणं चोरो दमिलाणं इडाकु अंधाणं[2]। संस्कृत में जिसे वृक्ष कहते हैं वही प्राकृत मे रुक्ख, मगध देश में ओदण, लाट में कूर, दमिल—तमिल में चोर और अंध—आंध्र में इडाकु कहा जाता है।

कर्म-बन्ध की चर्चा करते हुए एक जगह चूर्णिकार ने विशेषावश्यकभाष्य तथा कर्मप्रकृति का उल्लेख किया है : वित्थरेण जहा विसेसावस्सगभासे सामित्तं चेव सव्वपगडीणं को केवतियं बंधइ खवेइ वा, कत्तियं को उ त्ति जहा कम्मपगडीए।[3] इसी प्रकार प्रस्तुत चूर्णि में महाकल्प और गोविन्द-निर्युक्ति का भी उल्लेख है : तत्थ नाणे महाकप्पसुयादीणं अट्ठाए। दंसणे गोविन्दनिज्जुत्तादीणं।[4]

१. पृ० १७. २. पृ० २५. ३. पृ० ३७. ४. पृ० १३८३.

चूर्णि के प्रारम्भ की भाँति अन्त में भी चूर्णिकार के नाम का कोई उल्लेख अथवा निर्देश नहीं है। अन्त में केवल इतना ही उल्लेख है: कल्पचूर्णी समाप्ता। ग्रन्थाग्रं ५३०० प्रत्यक्षरगणनयानिर्णीतम्।[१] ऐसी दशा में किसी अन्य निश्चित प्रमाण के अभाव में चूर्णिकार के नाम का असंदिग्ध निर्णय करना अशक्य प्रतीत होता है।

१. पृ० १६२०.

टीकाएँ

प्रथम प्रकरण

टीकाएँ और टीकाकार

टीकाओं से हमारा अभिप्राय संस्कृत टीकाओं से है। निर्युक्तियों, भाष्यों और चूर्णियों की रचना के बाद जैन आचार्यों ने संस्कृत में भी अनेक टीकाएँ लिखीं। इन टीकाओं के कारण जैन साहित्य के क्षेत्र में काफी विस्तार हुआ। प्रत्येक आगम-ग्रन्थ पर कम-से-कम एक टीका तो लिखी ही गई। टीकाकारों ने प्राचीन भाष्य आदि के विषयों का विस्तृत विवेचन किया तथा नये-नये हेतुओं द्वारा उन्हें पुष्ट किया। टीकाकारों में हरिभद्रसूरि, शीलांकसूरि, वादिवेताल शान्तिसूरि, अभयदेवसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र आदि प्रमुख हैं। इन आचार्यों के अतिरिक्त और भी ऐसे अनेक टीकाकारों के नाम मिलते हैं जिनमें से कुछ की टीकाएँ उपलब्ध हैं और कुछ की अनुपलब्ध। कुछ ऐसी टीकाओं की प्रतियाँ अथवा उल्लेख भी मिलते हैं जिनके लेखकों के नाम नहीं मिलते। जिनरत्नकोश आदि में निम्नलिखित ऐसे आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं जिन्होंने आगम-साहित्य पर टीकाएँ लिखी हैं :—

जिनभद्रगणि, हरिभद्रसूरि, कोट्याचार्य, कोट्यार्य (कोट्टार्य), जिनभट, शीलांकसूरि, गंधहस्ती, वादिवेताल शान्तिसूरि, अभयदेवसूरि, द्रोणसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, देवेन्द्रगणि, नेमिचन्द्रसूरि, श्रीचन्द्रसूरि, श्रीतिलकसूरि, क्षेमकीर्ति, भुवनतुंगसूरि, गुणरत्न, विजयविमल, वानरर्षि, हीरविजयसूरि, शान्तिचन्द्रगणि, जिनहंस, हर्षकुल, लक्ष्मीकल्लोलगणि, दानशेखरसूरि, विनयहंस, नमिसाधु, ज्ञानसागर, सोमसुन्दर, माणिक्यशेखर, शुभवर्धनगणि, धीरसुन्दर, कुलप्रभ, राजवल्लभ, हितरुचि, अजितदेवसूरि, साधुरंग उपाध्याय, नगर्षिगणि, सुमतिकल्लोल, हर्षनन्दन, मेघराज वाचक, भावसागर, पद्मसुन्दरगणि, कस्तूरचन्द्र, हर्षवल्लभ उपाध्याय, विवेकहंस उपाध्याय, ज्ञानविमलसूरि, राजचन्द्र, रत्नप्रभसूरि, समरचन्द्रसूरि, पद्मसागर, जीवविजय, पुण्यसागर, विनयराजगणि, विजयसेनसूरि, हेमचन्द्रगणि, विशालसुन्दर, सौभाग्यसागर, कीर्तिवल्लभ, कमलसंयम उपाध्याय, तपोरत्न वाचक, गुणशेखर, लक्ष्मीवल्लभ, भावविजय, धर्ममंदिर उपाध्याय, उदयसागर, मुनिचन्द्रसूरि, ज्ञानशीलगणि, ब्रह्मर्षि, अजितचन्द्र-

सूरि, राजशील, उदयविजय, सुमतिसूरि, समयसुन्दर, शान्तिदेवसूरि, सोमविमलसूरि, क्षमारत्न, जयदयाल।

इन आचार्यों में अनेक ऐसे हैं जिनके ठीक-ठीक व्यक्तित्व का निश्चय नहीं हो पाया है। संभवतः एक ही आचार्य के एक से अधिक नाम हों अथवा एक ही नाम के एक से अधिक आचार्य हों। इसके लिए विशेष शोध-खोज की आवश्यकता है। टीकाओं के लिए आचार्यों ने विभिन्न नामों का प्रयोग किया है। वे नाम हैं: टीका, वृत्ति, विवृति, विवरण, विवेचन, व्याख्या, वार्तिक, दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णि, पंजिका, टिप्पन, टिप्पनक, पर्याय, स्तबक, पीठिका, अक्षरार्थ इत्यादि।

उपर्युक्त आचार्यों में से जिनके विषय मे थोड़ी-बहुत प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है उनका विशेष परिचय देते हुए उनकी रचनाओं पर कुछ प्रकाश डाला जायगा। इन रचनाओं में प्रकाशित टीकाओं की ही मुख्यता होगी।

द्वितीय प्रकरण

जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य-स्वोपज्ञवृत्ति

विशेषावश्यकभाष्यकार आचार्य जिनभद्र द्वारा प्रारम्भ की गई प्राचीनतम प्रस्तुत टीका[1] कोट्यार्य वादिगणि ने पूर्ण की है। आचार्य जिनभद्र ने अपने प्रियतम प्राकृत ग्रन्थ विशेषावश्यकभाष्य का स्वकृत संस्कृतरूप जीवित रखने तथा उसे पाठकों के समक्ष गद्य में प्रस्तुत करने की पवित्र भावना से ही प्रस्तुत प्रयास प्रारम्भ किया था। दुर्भाग्य से वे अपनी यह इच्छा अपने जीवनकाल में पूर्ण न कर सके। परिणामतः वे षष्ठ गणधरवक्तव्य तक की टीका लिखकर ही दिवंगत हो गये। टीका का अवशिष्ट भाग कोट्यार्य ने पूर्ण किया।

जिनभद्र ने प्रस्तुत टीका के लिए अलग मंगल-गाथा आदि न लिखते हुए सीधा भाष्य गाथा का व्याख्यान प्रारम्भ किया है। व्याख्या की शैली बहुत ही सरल, स्पष्ट एवं प्रसादगुणसम्पन्न है। विषय का विशेष विस्तार न करते हुए संक्षेप में ही विषयप्रतिपादन का सफल प्रयास किया है।

व्याख्यानशैली के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं जिनसे उपर्युक्त कथन की यथार्थता की पुष्टि हो सकेगी। भाष्य की प्रथम गाथा है :

कयपवयणप्पणामो, वुच्छं चरणगुणसंगहं सयलं।
आवस्सयाणुओगं, गुरूवएसाणुसारेणं ॥

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य लिखते हैं :

'प्रोच्यन्ते ह्यनेन जीवादयोऽस्मिन्निति वा प्रवचनम्, अथवा प्रगतं प्रधानं (प्र)शस्तमादौ वा वचनं द्वादशाङ्गम्, अथवा प्रवक्तीति प्रवचनम्, तदुपयोगानन्यत्वाद्वा सङ्घः प्रवचनम्। प्रणमनं प्रणामः,

---

१. इसकी हस्तलिखित प्रति मुनि श्री पुण्यविजयजी के प्रसाद से प्राप्त हुई है। इसका प्रथम भाग पं० दलसुख मालवणिया द्वारा सम्पादित होकर लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से सन् १९६६ में प्रकाशित हुआ है।

पूजेत्यर्थः। कृतः प्रवचनप्रणामोऽनेन कृतप्रवचनप्रणामः। 'वुच्छं' वक्ष्ये। चर्यते तदिति चरणं—चारित्रं, गुणाः—मूलोत्तरगुणाः चरणगुणाः, अथवा चरणं—चारित्रं गुणग्रहणात् सम्यग्दर्शनज्ञाने, तेषां संग्रहणं संग्रहः। सह कलाभिः सकलः, सम्पूर्ण इत्यर्थः। अस्ति ह्येतद् देशसंगृहीतत्वाद् विकलोऽपि संग्रहः, अयं तु समस्तग्राहित्वात् सकलः। कथम्? सामायिके एव द्वादशाङ्गार्थपरिसमाप्तेः। वक्ष्यते च—"सामाइयं तु तिविहं...." कश्चासौ? आवश्यकानुयोगः। अवश्यक्रियानुष्ठानादौ आवश्यकमनुयोजनमनुयोगोऽर्थव्याख्यानमित्यर्थः, आवश्यकस्यानुयोग आवश्यकानुयोगः तमावश्यकानुयोगम्। गृणन्ति शास्त्रार्थमिति गुरवो ब्रुवन्तीत्यर्थः, ते पुनराचार्या अर्हदादयो वा, तदुपदेशः—तदाज्ञा, गुरूपदेशानुसारो गुरूपदेशानुवृत्तिरित्यर्थः, तया गुरूपदेशानुवृत्त्या–गुरूपदेशानुसारेणेति।'

मंगलविषयक 'बहुविग्घाइं...', 'तं मंगलमादी...' और 'तस्सेव...' इन तीन गाथाओं (गा० १२–१४) का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने कितने संक्षेप में मंगल का प्रयोजन बताया है, देखिए :

'बहुविघ्नानि श्रेयांसीत्यतः कृतमङ्गलोपचारैरसौ ग्राह्योऽनुयोगो महानिधानवद् महाविद्यावद् वा। तदेतद् मङ्गलमादौ मध्ये पर्यन्ते च शास्त्रस्येष्यते। तत्र प्रथमं शास्त्रपारगमनाय। तस्यैव शास्त्रस्य स्थैर्यहेतोर्मध्यमम्। अव्यवच्छित्त्यर्थमन्त्यमिति।'

आभिनिबोधिक ज्ञान का स्वरूप बताने वाली भाष्यगाथा 'अत्थाभिमुहो....' (गा० ८०) की व्याख्या में आचार्य ने इस ज्ञान का लक्षण इस प्रकार बताया है :

'अर्थाभिमुखो नियतो बोधोऽभिनिबोधः। स एव स्वार्थिकप्रत्ययोपादानादाभिनिबोधिकः। अथवा यथायोगमायोजनीयम्, तद्यथा—अभिनिबोधे भवं तेन निर्वृत्तं तन्मयं तत्प्रयोजनं वेत्याभिनिबोधिकम्।'

आचार्य हरिभद्र ने अपनी आवश्यकवृत्ति मे आभिनिबोधिक ज्ञान की इसी व्याख्या को अधिक स्पष्ट किया है।[1]

आचार्य जिनभद्र के देहावसान का निर्देश करते हुए षष्ठ गणधरवक्तव्यता के अन्त मे कहा गया है : निर्माप्य षष्ठगणधरवक्तव्यं किल दिवंगताः पूज्याः अनुयोगमार्गदेशिकजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः। अर्थात् छठे गणधरवाद की

१. देखिए—हारिभद्रीय आवश्यकवृत्ति : पूर्वार्द्ध, पृ० ७ (१).

व्याख्या करने के बाद अनुयोगमार्ग का दिग्दर्शन कराने वाले पूज्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण इस लोक से चल बसे। यह वाक्य आचार्य कोट्यार्य ने जिनभद्र की मृत्यु के बाद लिखा है, ऐसा प्रतीत होता है। इसके बाद कोट्यार्य उन्हीं दिवंगत आचार्य जिनभद्र को नमस्कार करते हुए निम्न शब्दों के साथ आगे की वृत्ति आरम्भ करते हैं :

तानेव प्रणिपत्यातः परमविशिष्टविवरणं क्रियते।
कोट्यार्यवादिगणिना मन्दधिया शक्तिमनपेक्ष्य ॥ १ ॥
संघटनमात्रमेतत् स्थूलकमतिसूक्ष्मविवरणपटस्य।
शिवभक्त्युपहृतलुब्धकनेत्रवदिदमननुरूपमपि ॥ २ ॥
सुमतिस्त्वमतिस्मरणादर्शपरानुवचनोपयोगवेलायाम्।
मद्वदुपयुज्यते चेत् गृह्णन्त्वलसास्ततोऽन्येऽपि ॥ ३ ॥

भगवान् महावीर के सातवें गणधर की वक्तव्यता के निरूपण का उद्घाटन करते हुए टीकाकार कोट्यार्यवादिगणि कहते हैं :

अथ सप्तमस्य भगवतो गणधरस्य वक्तव्यतानिरूपणसम्बन्धनाय गाथाप्रपञ्चः।[1]

आचार्य कोट्यार्यवादिगणि की निरूपणशैली भी आचार्य जिनभद्र की शैली की तरह ही प्रसन्न एवं सुबोध है। विषय-विस्तार कुछ अधिक है पर कहीं-कहीं। कोट्यार्यकृत विवरण के कुछ नमूने नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

'ते पव्वइए सोउं....' इत्यादि सप्तम गणधरवादसम्बन्धी गाथाओं का व्याख्यान करते हुए आचार्य लिखते हैं :

'हे मौर्यपुत्र! आयुष्मन्! काश्यप! त्वं मन्यसे नारकाः संक्लिष्टाः.... कर्मवशतया परतन्त्रत्वात् स्वयं च दुःखसंतप्तत्वात्, इहागन्तुमशक्ता अस्माकमप्यनेन शरीरेण तत्र गन्तुं कर्मवशतयैवाशक्तत्वात् प्रत्यक्षीकरणोपायासम्भवाद् आगमगम्या एव श्रुतिस्मृतिग्रन्थेषु श्रूयमाणा श्रद्धेयाः भवन्तु। ये पुनरमी देवास्ते स्वच्छन्दचारिणः कामरूपाः दिव्यप्रभावाश्च किमिति दर्शनविषयं नोपयान्ति किमिह नागच्छन्तीत्यभिप्रायः अवश्यं न सन्ति येनास्मादृशानां प्रत्यक्षा न भवन्ति अतो न सन्ति देवाः...।'[2]

'तम्हा जं मुत्तसुहं....' की व्याख्या में आचार्य मोक्ष के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं :

---

१. पृ० ४१३. २. पृ० ४१४.

'मुक्तसुखं तत्त्वं परमार्थः, निष्प्रतीकारप्रसूतित्वात्, परित्यक्तसर्वलोकयात्रावृत्तान्तनिःसङ्गयतिसुखवत्, उक्तं च—

निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम्॥

अथवान्यथा परमार्थसुखस्वरूपत्वमात्मन आख्यायते।'[1]

गुरु को सुखरूप मानते हुए आचार्य 'सुयसंसत्थो....' का व्याख्यान इस प्रकार करते हैं :

'सु प्रशंसायां निपातः, खानीन्द्रियाणि, शोभनानि खानि यस्य स सुखः शुद्धेन्द्रिय इत्यर्थः। शुद्धानि प्रशस्तानि वश्यानीन्द्रियाणि यस्य एतद्विपरीतः असुखः अजितेन्द्रिय इत्यर्थः।'[2]

प्रस्तुत विवरण की समाप्ति करते हुए वृत्तिकार कहते हैं :

'.....चेति परमपूज्यजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणकृतविशेषावश्यकप्रथमाध्ययनसामायिकभाष्यस्य विवरणमिदं समाप्तम्।'[3]

इसके बाद प्रस्तुत प्रति के लेखक ने अपनी ओर से निम्न वाक्य जोड़ा है :

'सूत्रकारपरमपूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रारब्धा समर्थिता श्रीकोट्याचार्यवादिगणिमहत्तरेण श्रीविशेषावश्यकलघुवृत्तिः।'

तदनन्तर लेखन के समय तथा स्थान का उल्लेख किया है :

'संवत् १४९१ वर्षे द्वितीयज्येष्ठवदि ४ भूमे श्रीस्तम्भतीर्थे लिखितमस्ति।'

उपर्युक्त प्रथम वाक्य से स्पष्ट है कि प्रति-लेखक ने वृत्तिकार जिनभद्र का नाम तो ज्यों का त्यों रखा किन्तु कोट्यार्य का नाम बदलकर कोट्याचार्य कर दिया। इतना ही नहीं, उनके नाम के साथ महत्तर की उपाधि और लगा दी। परिणामतः कोट्यार्यवादिगणि कोट्याचार्यवादिगणिमहत्तर हो गए। इसी के साथ लेखक ने विशेषावश्यकभाष्यविवरण का नाम भी अपनी ओर से विशेषावश्यकलघुवृत्ति रख दिया है।

१. पृ० ४५४. २. पृ० ९४२ (हस्तलिखित). ३. पृ० ९८७ (हस्तलिखित).

तृतीय प्रकरण

हरिभद्रकृत वृत्तियाँ

हरिभद्रसूरि जैन आगमों के प्राचीन टीकाकार हैं। इन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार और पिण्डनिर्युक्ति पर टीकाएँ लिखी हैं। पिण्डनिर्युक्ति की अपूर्ण टीका वीराचार्य ने पूरी की है।

जैन परम्परा के अनुसार विक्रम संवत् ५८५ अथवा वीर संवत् १०५५ अथवा ई० स० ५२९ में हरिभद्रसूरि का देहावसान हो गया था। इस मान्यता को मिथ्या सिद्ध करते हुए हर्मन जेकोबी लिखते हैं कि ई० सं० ६५० में होने वाले धर्मकीर्ति के तात्त्विक विचारों से हरिभद्र परिचित थे अतः यह संभव नहीं कि हरिभद्र ई० स० ५२९ के बाद न रहे हों। हरिभद्र के समय-निर्णय का एक प्रबल प्रमाण उद्योतन का कुवलयमाला नामक प्राकृत ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ शक संवत् ७०० की अन्तिम तिथि अर्थात् ई० स० ७७९ के मार्च की २१वीं तारीख को पूर्ण हुआ था। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में उद्योतन ने हरिभद्र का अपने दर्शन-शास्त्र के गुरु के रूप मे उल्लेख किया है तथा उनका अनेक ग्रन्थों के रचयिता के रूप मे वर्णन किया है।[1] इस प्रमाण के आधार पर मुनि श्री जिनविजयजी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महान् तत्त्वज्ञ आचार्य हरिभद्र और 'कुवलयमाला' कथा के कर्ता उद्योतनसूरि अपरनाम दाक्षिण्यचिह्न दोनों (कुछ समय तक तो अवश्य ही) समकालीन थे। इतनी विशाल ग्रन्थराशि लिखने वाले महापुरुष की आयु कम-से-कम ६०–७० वर्ष की तो अवश्य हुई होगी। अतः लगभग ईसा की आठवीं शताब्दी के प्रथम दशक में हरिभद्र का जन्म और अष्टम दशक मे मृत्यु मान ली जाए तो कोई असंगति प्रतीत नहीं होती। अतः हम ई० स० ७०० से ७७० अर्थात् वि० सं० ७५७ से ८२७ तक हरिभद्रसूरि का सत्ता-समय निश्चित करते हैं।[2]

---

१. जैन साहित्य संशोधक, खं० १, अं० ३, पृ० २८३.

२. वही, खं० १, अं० १, पृ० ५८ और आगे.

हरिभद्र का जन्म वीरभूमि मेवाड़ के चित्रकूट (चित्तौड़) नगर में हुआ था। आज से लगभग साढ़े बारह सौ वर्ष पूर्व इस नगर में जितारि नामक राजा राज्य करता था। हरिभद्र इसी राजा के राज-पुरोहित थे। इनका पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित होने तथा अनेक विद्याओं में पारंगत होने के कारण सर्वत्र समादर होता था। इस समादर तथा प्रतिष्ठा के कारण हरिभद्र को कुछ अभिमान हो गया था। वे समझने लगे कि इस समस्त भूखण्ड पर कोई ऐसा पंडित नहीं जो मेरी—अरे मेरी तो क्या, मेरे शिष्य की भी बराबरी कर सके। हरिभद्र अपने हाथ में जम्बू वृक्ष की एक शाखा रखते थे जिससे यह प्रकट हो सके कि समस्त जम्बूद्वीप में उनके जैसा कोई नहीं है। इतना ही नहीं, वे अपने पेट पर एक स्वर्णपट्ट भी बाँधे रहते थे जिससे लोगों को यह मालूम हो जाता कि उनमें इतना ज्ञान भरा हुआ है कि पेट फटा जा रहा है। हरिभद्र ने एक प्रतिज्ञा भी कर रखी थी कि 'जिसके कथन का अर्थ मैं न समझ सकूँगा उसका शिष्य बन जाऊँगा।'

एक दिन पुरोहितप्रवर हरिभद्र भट्ट पालकी पर चढ़ कर बाजार मे घूमने लगे। पालकी के आगे-पीछे 'सरस्वतीकण्ठाभरण', वैयाकरणप्रवण', 'न्यायविद्या-विचक्षण', 'वादिमतंगजकेसरी', 'विप्रजननरकेसरी' इत्यादि विरुदावली गूँज रही थी। मार्ग में सर्वत्र शान्ति थी। अकस्मात् लोगों में भगदड़ चालू हो गई। चारों ओर से 'भागो, दौड़ो, पकड़ो' की आवाज आने लगी। हरिभद्र ने पालकी से मुँह निकाल कर देखा तो मालूम हुआ कि एक प्रचण्ड कृष्णकाय हाथी पागल हो गया है और लोगों को रौंदता हुआ बढ़ता चला आ रहा है। यह देखकर पालकी उठाने वाले लोग भी भाग खड़े हुए। हरिभद्र और कोई उपाय न देखकर पालकी से निकलते ही पास ही के एक जिनमंदिर में घुस गये। इसी समय उन्हें **'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेद् जैनमन्दिरम्'** की निरर्थकता का अनुभव हुआ। मंदिर में स्थित जिनप्रतिमा को देखकर उसका उपहास करते हुए कहने लगे—**"वपुरेव तवाऽऽचष्टे स्पष्टं मिष्टान्नभोजनम्।"**

एक दिन भट्ट हरिभद्र राजमहल से अपने घर की ओर लौट रहे थे। मार्ग में एक जैन उपाश्रय था। उपाश्रय पर बैठ कर साध्वियाँ स्वाध्याय कर रही थीं। संयोग से आज भट्टजी के कानों मे एक गाथा—आर्या की ध्वनि पहुँची।[1] उन्होंने

---

१. चक्कीदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दु चक्की केसव चक्की य॥

उसका अर्थ समझने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु सफलता न मिली। भट्टजी बोले—"माताजी ! आपने तो इस गाथा में खूब चकचकाट किया।" साध्वी ने बड़ी नम्रता एवं कुशलता के साथ उत्तर दिया : "श्रीमन् ! नया-नया तो ऐसा ही लगता है।" यह सुनकर भट्टजी का मिथ्या अभिमान मिट गया। उन्हें अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया। वे कहने लगे—"माता जी ! आप मुझे अपना शिष्य बनाइए और उस गाथा का अर्थ समझाने की कृपा कीजिए।" यह सुनकर जैन आर्या महत्तरा ने नम्रतापूर्वक कहा कि पुरुषों को शिष्य बनाना तथा अर्थ समझाना हमारा कार्य नहीं है। यदि तुम्हारी शिष्य बनने तथा गाथा का अर्थ समझने की इच्छा ही है तो सुनो। इसी नगर में हमारे धर्माचार्य जिनभट हैं। वे तुम्हारी इच्छा पूरी करेंगे। हरिभद्र तो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इसी आर्या के शिष्य बनना चाहते थे किन्तु महत्तरा के अत्यन्त आग्रह के कारण वे इस आज्ञा को गुरु की आज्ञा के समान ही समझ कर उसी समय आचार्य जिनभट के पास पहुँचे। साथ में आर्या महत्तरा भी थी। मार्ग में वही जिनमंदिर आया जिसने हरिभद्र को मृत्यु के मुख से बचाया था। इस समय हरिभद्र की मनःस्थिति बदल चुकी थी। जिनप्रतिमा को देख कर वे कहने लगे—"**वपुरेव तवाऽऽचष्टे भगवन् ! वीतरागताम्।**" पहले जहाँ '**स्पष्टं मिष्टान्नभोजनम्**' याद आया था वहाँ अब '**भगवन् ! वीतरागताम्**' याद आ रहा था। आर्या महत्तरा और हरिभद्र आचार्य जिनभट के पास पहुँचे। आचार्य ने हरिभद्र को दीक्षित कर अपना शिष्य बना लिया। अब वे धर्मपुरोहित होकर स्थान-स्थान पर भ्रमण करते हुए जैनधर्म का प्रचार करने लगे।

प्रभावकचरित्र में वर्णित उपर्युक्त उल्लेख के अनुसार हरिभद्र के दीक्षागुरु आचार्य जिनभट सिद्ध होते हैं किन्तु हरिभद्र के खुद के उल्लेखों से ऐसा फलित होता है कि जिनभट उनके गच्छपति गुरु थे; जिनदत्त दीक्षाकारी गुरु थे; याकिनी महत्तरा धर्मजननी अर्थात् धर्ममाता थी; उनका कुल विद्याधरगच्छ एवं सम्प्रदाय सिताम्बर–श्वेताम्बर था।[1]

---

१. आवश्यक-निर्युक्ति-टीका के अन्त में देखिए :

'समाप्ता चेयं शिष्यहिता नाम आवश्यकटीका। कृतिः सिताम्बराचार्य-जिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोः अल्पमतेः आचार्यहरिभद्रस्य।'

आचार्य हरिभद्रकृत ग्रंथ-सूची में निम्न ग्रंथ समाविष्ट हैं :—

१. अनुयोगद्वारसूत्रवृत्ति, २. अनेकान्तजयपताका (स्वोपज्ञ टीका सहित), ३. अनेकान्तप्रघट्ट, ४. अनेकान्तवादप्रवेश, ५. अष्टक, ६. आवश्यकनिर्युक्ति-लघुटीका, ७. आवश्यकनिर्युक्तिबृहट्टीका, ८. उपदेशपद, ९. कथाकोश, १०. कर्मस्तववृत्ति, ११. कुलक, १२. क्षेत्रसमासवृत्ति, १३. चतुर्विंशतिस्तुतिसटीक, १४. चैत्यवंदनभाष्य, १५. चैत्यवंदनवृत्ति–ललितविस्तरा, १६. जीवाभिगम-लघुवृत्ति, १७. ज्ञानपञ्चकविवरण, १८. ज्ञानादित्यप्रकरण, १९. दशवैकालिक-अवचूरि, २०. दशवैकालिकबृहट्टीका, २१. देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण, २२. द्विजवदन-चपेटा (वेदांकुश), २३. धर्मबिन्दु, २४. धर्मलाभसिद्धि, २५. धर्मसंग्रहणी, २६. धर्मसारमूलटीका, २७. धूर्ताख्यान, २८. नदीवृत्ति, २९. न्यायप्रवेशसूत्र-वृत्ति, ३०. न्यायविनिश्चय, ३१. न्यायामृततरंगिणी, ३२. न्यायावतारवृत्ति, ३३. पंचनिर्ग्रन्थी, ३४. पंचलिंगी, ३५. पचवस्तु सटीक, ३६. पंचसंग्रह, ३७. पंचसूत्रवृत्ति, ३८. पचस्थानक, ३९. पंचाशक, ४०. परलोकसिद्धि, ४१. पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति (अपूर्ण), ४२. प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या, ४३. प्रतिष्ठा-कल्प, ४४. बृहन्मिथ्यात्वमंथन, ४५. मुनिपतिचरित्र, ४६. यतिदिनकृत्य, ४७. यशोधरचरित्र, ४८. योगदृष्टिसमुच्चय, ४९. योगबिन्दु, ५०. योगशतक, ५१. लग्नशुद्धि (लग्नकुण्डलि), ५२. लोकतत्त्वनिर्णय, ५३. लोकबिन्दु, ५४. विंशति (विंशतिविंशिका), ५५. वीरस्तव, ५६. वीरागदकथा, ५७. वेद-बाह्यतानिराकरण, ५८. व्यवहारकल्प, ५९. शास्त्रवार्तासमुच्चय सटीक, ६०. श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्ति, ६१. श्रावकधर्मतन्त्र, ६२. षड्दर्शनसमुच्चय, ६३. षोडशक, ६४. सकितपचासी, ६५. सग्रहणीवृत्ति, ६६. संपचासित्तरी, ६७. संबोधसित्तरी, ६८. संबोधप्रकरण, ६९. संसारदावास्तुति, ७०. आत्मानुशासन, ७१. समराइच्च-कहा, ७२. सर्वज्ञसिद्धिप्रकरण सटीक, ७३. स्याद्वादकुचोद्यपरिहार।[१]

कहा जाता है कि आचार्य हरिभद्र ने १४४४ ग्रंथों की रचना की थी। इसका कारण बताते हुए कहा गया है कि १४४४ बौद्धों का संहार करने के संकल्प के प्रायश्चित्त के रूप मे उनके गुरु ने उन्हें १४४४ ग्रंथ लिखने की आज्ञा दी

समराइच्चकहा के अन्त में कहा गया है :

एयं जिणदत्तायरियस्स उ अवयवभूएण चरियमिणं।
जं विरइऊण पुन्नं महाणुभावचरियं मए पत्तं।
तेणं गुणाणुराओ होइ इहं सव्वलोयस्स॥

१. जैनदर्शन (अनुवादक–पं० बेचरदास) : प्रस्तावना, पृ० ४५-५१.

थी। इस घटना का उल्लेख राजशेखरसूरि ने अपने चतुर्विंशतिप्रबन्ध और मुनि क्षमाकल्याण ने अपनी खरतरगच्छपट्टावली में भी किया है। इन ग्रंथों में से कुछ ग्रंथ पचास श्लोकप्रमाण भी हैं। इस प्रकार के 'पंचाशक' नाम के १९ ग्रंथ आचार्य हरिभद्र ने लिखे हैं जो आज पंचाशक नामक एक ही ग्रंथ में समाविष्ट हैं। इसी प्रकार सोलह श्लोकों के षोडशक, बीस श्लोकों की विंशिकाएँ भी हैं। इनकी एक स्तुति 'संसारदावा' तो केवल चार श्लोकप्रमाण ही है। इस प्रकार आचार्य हरिभद्र की ग्रंथ-संख्या में और भी वृद्धि की जा सकती है।

आचार्य हरिभद्र ने अपने प्रत्येक ग्रंथ के अन्त में प्रायः 'विरह' शब्द का प्रयोग किया है। प्रभावकचरित्र में इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है :

अतिशयहृदयाभिरामशिष्यद्वयविरहोर्मिभरेण तप्तदेहः ।
निजकृतिमिह संव्यधात् समस्तां विरहपदेन युतां सतां स मुख्यः ॥
श्रीहरिभद्रप्रबन्ध, का० २०६.

अपने अति प्रिय दो शिष्यों के विरह से दुःखित हृदय होकर आचार्य ने अपने प्रत्येक ग्रंथ को 'विरह' शब्द से अंकित किया है।

आचार्य हरिभद्रकृत प्रकाशित टीकाओं का परिचय आगे दिया जाता है।

नन्दीवृत्ति :

यह वृत्ति[1] नन्दीचूर्णि का ही रूपांतर है। इसमें प्रायः उन्हीं विषयों का व्याख्यान किया गया है जो नन्दीचूर्णि में हैं। व्याख्यान शैली भी वही है जो चूर्णिकार की है।[2] प्रारम्भ में मंगलाचरण करने के बाद नन्दी के शब्दार्थ, निक्षेप आदि का विचार किया गया है। तदनन्तर जिन, वीर और संघ की स्तुति की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है तथा तीर्थंकरावलिका, गणधरावलिका और स्थविरावलिका का प्रतिपादन किया गया है। नन्दी-ज्ञान के अध्ययन की योग्यता-अयोग्यता का विचार करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि अयोग्यदान से वस्तुतः अकल्याण ही होता है और निर्देश किया है कि इसकी विस्तृत व्याख्या मैं आवश्य-

---

१. ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेतांबर संस्था, रतलाम, सन् १९२८; प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, सन् १९६६.

२. चूर्णि और वृत्ति के मूल सूत्र-पाठ में कहीं-कहीं थोडा-सा अन्तर है : पढमेत्थ इंदभूती, बीए पुण होति अग्गिभूतित्ति (चूर्णि), पढमेत्थ इंदभूई बीओ पुण होइ अग्गिभूइत्ति (वृत्ति)। देखिए—क्रमशः पृ. ६ और १३.

कानुयोग में करूँगा। यहाँ स्थानपूर्ति के लिए भाष्य की गाथाओं से ही व्याख्यान किया जाता है : अतोऽयोग्यदाने दातृकृतमेव वस्तुतस्तस्य तदकल्याणमिति, अलं प्रसंगेन, प्रकृतं प्रस्तुमः, तत्राधिकृतगाथां प्रपञ्चतः आवश्यकानुयोगे व्याख्यास्यामः, इह स्थानाशून्यार्थं भाष्यगाथाभिर्व्याख्यायत इति।[१] इसके बाद तीन प्रकार की पर्षद् का व्याख्यान किया गया है। तदनन्तर आचार्य ने ज्ञान के भेद-प्रभेद, स्वरूप, विषय आदि का विस्तृत विवेचन किया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन के क्रमिकादि उपयोग का प्रतिपादन करते हुए यौगपद्य के समर्थक सिद्धसेन आदि का, क्रमिकत्व के समर्थक जिनभद्रगणि आदि का तथा अभेद के समर्थक वृद्धाचार्यों का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है : केचन सिद्धसेनाचार्यादयः भणंति, किं ? युगपद्—एकस्मिन्नेव काले जानाति पश्यति च, कः ? केवली, न त्वन्यः, नियमात्—नियमेन। अन्ये जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रभृतयः एकान्तरितं जानाति पश्यति चेत्येवमिच्छन्ति, श्रुतोपदेशेन—यथाश्रुतागमानुसारेणेत्यर्थः, अन्ये तु वृद्धाचार्याः न—नैव विष्वक्—पृथक् तद्दर्शनमिच्छन्ति जिनवरेन्द्रस्य—केवलिन इत्यर्थः, किं तर्हि ? यदेव केवलज्ञानं तदेव 'से' तस्य केवलिनो दर्शनं ब्रुवते, क्षीणावरणस्य देशज्ञानाभाववत् केवलदर्शनाभावादिति भावना।[२] प्रस्तुत सिद्धसेन, सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न हैं क्योंकि सिद्धसेन दिवाकर तृतीय मत—अभेदवाद के प्रवर्तक हैं। वृत्तिकार ने संभवतः वृद्धाचार्य के रूप में इन्हीं का निर्देश किया है। द्वितीय मत—क्रमिकत्व के समर्थक जिनभद्र आदि को सिद्धान्तवादी[३] कहा गया है। श्रुत के श्रवण और व्याख्यान की विधि बताते हुए आचार्य ने नन्द्यध्ययन-विवरण समाप्त किया है। अन्त में लिखा है :[४]

यदिहोत्सूत्रमज्ञानाद्, व्याख्यातं तद् बहुश्रुतैः।
क्षन्तव्यं कस्य सम्मोहश्छद्मस्थस्य न जायते॥ १॥
नन्द्यध्ययनविवरणं कृत्वा यदवाप्तमिह मया पुण्यम्।
तेन खलु जीवलोको लभतां जिनशासने नन्दीम्॥ २॥

कृतिः सिताम्बराचार्यजिनभट्टपादसेवकस्याचार्यश्रीहरिभद्रस्येति। नमः श्रुतदेवतायै भगवत्यै। समाप्ता नन्दीटीका। ग्रन्थाग्रं २३३६.

अनुयोगद्वारटीका :

यह टीका[५] अनुयोगद्वारचूर्णि की शैली पर लिखी गयी है। प्रारम्भ मे आचार्य

१. पृ. २१. २. पृ. ५२. ३. पृ. ५५. ४. पृ. ११८.
५. ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९२८.

ने महावीर को नमस्कार करके अनुयोगद्वार की विवृति लिखने की प्रतिज्ञा की है :

> प्रणिपत्य जिनवरेन्द्रं त्रिदशेन्द्रनरेन्द्रपूजितं वीरम् ।
> अनुयोगद्वाराणां प्रकटार्थां विवृतिमभिधास्ये ॥ १ ॥

टीकाकार ने यह बताया है कि नन्दी की व्याख्या के अनन्तर ही अनुयोगद्वार के व्याख्यान का अवकाश है : नन्द्यध्ययनव्याख्यानसमनन्तरमेवानुयोगद्वाराध्ययनावकाश ....।[१] मंगल का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने लिखा है कि इसका विशेष विवेचन नन्दी की टीका में किया जा चुका है। अतः यहाँ इतना ही पर्याप्त है : अस्य सूत्रस्य समुदायार्थोऽवयवार्थश्च नन्द्यध्ययनटीकायां प्रपञ्चतः प्रतिपादित एवेति नेह प्रतिपाद्यत इति ।[२] इन वक्तव्यों से स्पष्ट है कि प्रस्तुत टीका नन्दीवृत्ति के बाद की कृति है। 'तम्हा आवस्सयं' इत्यादि का विवेचन करते हुए आचार्य ने 'आवश्यक' शब्द का निक्षेप-पद्धति से विचार किया है। नामादि आवश्यकों का स्वरूप बताते हुए नाम, स्थापना और द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। वे इस प्रकार हैं :[३]

नाम :

> यद्वस्तुनोऽभिधानं स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षम् ।
> पर्यायानभिधेयं च नाम यादृच्छिकं च तथा ॥

स्थापना :

> यत्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण यच्च तत्करणिः ।
> लेप्यादिकर्म तत्स्थापनेति क्रियतेऽल्पकालं च ॥

द्रव्य :

> भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके ।
> तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥

श्रुत का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान करते हुए टीकाकार कहते हैं कि चतुर्विध श्रुत का स्वरूप आवश्यकविवरण के अनुसार समझ लेना चाहिए।[४] इसी प्रकार आगे भी आवश्यकविवरण और नन्दीविशेषविवरण का उल्लेख किया गया है।[५] स्कन्ध, उपक्रम आदि का निक्षेप-पद्धति से विवेचन करने के बाद आचार्य ने

१. पृ. १. २. पृ. २. ३. पृ. ६, ७, ८. ४. पृ. २१. ५. पृ. २२.

आनुपूर्वी का बहुत विस्तार से प्रतिपादन किया है। आनुपूर्वी, अनुक्रम और अनुपरिपाटी पर्यायवाची हैं।[१] आनुपूर्वी की व्याख्या की समाप्ति के अनन्तर द्विनाम, त्रिनाम, चतुर्नाम, पंचनाम, षट्नाम, सप्तनाम, अष्टनाम, नवनाम और दशनाम का व्याख्यान किया गया है। प्रमाण का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने विविध अंगुलों के स्वरूप का वर्णन किया है तथा समय का विवेचन करते हुए पल्योपम का विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया है। इसी प्रकार शरीरपञ्चक का निरूपण करने के बाद भावप्रमाण के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य, आगम, दर्शन, चारित्र, नय और संख्या का व्याख्यान किया है। 'से किं तं वत्तव्वया' इत्यादि का प्रतिपादन करते हुए वक्तव्यता की दृष्टि से पुनः नय का विचार किया गया है। ज्ञाननय और क्रियानय का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने ज्ञान और क्रिया दोनों की संयुक्त उपयोगिता सिद्ध की है। ज्ञानपक्ष का समर्थन करते हुए वे कहते हैं :[२]

> विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता।
> मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात् ॥

इसी प्रकार क्रिया के समर्थन में उन्होंने लिखा है :[३]

> क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्।
> यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥

टीका के अन्त में कहा गया है : समाप्तेयं शिष्यहितानामानुयोगद्वार-टीका, कृतिः सिताम्बराऽऽचार्यजिनभट्टपादसेवकस्याऽऽचार्यहरिभद्रस्य। कृत्वा विवरणमेतत्प्राप्तं……… ।[४]

दशवैकालिकवृत्ति :

इस वृत्ति[५] का नाम शिष्यबोधिनी वृत्ति है। इसे बृहद्वृत्ति भी कहते हैं। यह टीका शय्यम्भवसूरिविहित दशवैकालिक सूत्र की भद्रबाहुविरचित निर्युक्ति पर है। प्रारंभ में आचार्य हरिभद्र ने वीर प्रभु को नमस्कार किया है :

> जयति विजितान्यतेजाः सुरासुराधीशसेवितः श्रीमान्।
> विमलस्त्रासविरहितस्त्रिलोकचिन्तामणिर्वीरः ॥ १ ॥

---

१. पृ. ३०-५९. २. पृ. १२६. ३. पृ. १२७. ४. पृ. १२८.
५. (अ) देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१८.
(आ) समयसुन्दरकृत टीकासहित—भीमसी माणेक, बम्बई, सन् १९००.

दशवैकालिक का दूसरा नाम दशकालिक भी है। 'दशकालिक' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए वृत्तिकार कहते हैं : 'कालेन निर्वृत्तं कालिकं, प्रमाणकालेनेति भावः, दशाध्ययनभेदात्मकत्वाद्दशप्रकारं कालिकं प्रकारशब्दलोपाद्दशकालिकं.....'[1] अर्थात् जो काल से अर्थात् प्रमाणकाल से निर्वृत्त है वह कालिक है। चूंकि इस सूत्र में दस अध्याय हैं इसलिए इसका नाम दशकालिक है।

मंगल की आवश्यकता बताते हुए आचार्य ने 'मंगल' पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है : 'मङ्ग्यते हितमनेनेति मङ्गलं, मङ्ग्यतेऽधिगम्यते साध्यत इति यावत् अथवा मङ्ग इति धर्माभिधानं, 'ला आदाने' अस्य धातोर्मङ्गे उपपदे "आतोऽनुपसर्गे कः" (पा० ३-२-३) इति कप्रत्ययान्तस्यानुबन्धलोपे कृते "आतो लोप इटि च" (पा० ६-४-६४) इत्यनेन सूत्रेणाकारलोपे च कृते प्रथमैकवचनान्तस्यैव मङ्गलमिति भवति, मङ्गं लातीति मङ्गलं धर्मोपादनहेतुरित्यर्थः, अथवा मां गालयति भवादिति मङ्गलं, संसारादपनयतीत्यर्थः।'[2] यह व्युत्पत्ति तीन प्रकार की है : (१) जिससे हित सिद्ध किया जाए, (२) जो धर्म लावे अथवा (३) जो भव से छुड़ावे वह मंगल है। द्वितीय प्रकार की व्युत्पत्ति में पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों का भी प्रयोग किया गया है।

दशवैकालिक सूत्र की रचना कैसे हुई ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए टीकाकार ने निर्युक्ति की गाथा का अक्षरार्थ करते हुए भावार्थ स्पष्ट करने के लिए शय्यंभवाचार्य का पूरा कथानक उद्धृत किया है।[3] यह और इसी प्रकार के अन्य अनेक कथानक प्रस्तुत वृत्ति मे उद्धृत किये गये हैं। ये सभी कथानक प्राकृत में हैं।

तप का व्याख्यान करते हुए आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत चार प्रकार के ध्यान का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने चार श्लोकों में ध्यान का पूरा चित्र उपस्थित कर दिया है :[4]

---

१. पृ. २ (अ). २. पृ. २ (ब), ३ (अ). ३. पृ. १०-११.

४. पृ. २१ (ब). विस्तार के लिए ध्यानशतक देखिए जिसका आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत टीका में उल्लेख किया है—पृ. २१ (ब), २२ (अ).

आर्तध्यान : राज्योपभोगशयनासनवाहनेषु,
स्त्रीगन्धमाल्यमणिरत्नविभूषणेषु ।
इच्छाभिलाषमतिमात्रमुपैति मोहाद्,
ध्यानं तदार्त्तमिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ १ ॥

रौद्रध्यान : संछेदनैर्दहनभञ्जनमारणैश्च,
बन्धप्रहारदमनैर्विनिकृन्तनैश्च ।
यो याति रागमुपयाति च नानुकम्पां,
ध्यानं तु रौद्रमिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ २ ॥

धर्मध्यान : सूत्रार्थसाधनमहाव्रतधारणेषु,
बन्धप्रमोक्षगमनागमहेतुचिन्ता ।
पञ्चेन्द्रियव्युपरमश्च दया च भूते,
ध्यानं तु धर्ममिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ३ ॥

शुक्लध्यान : यस्येन्द्रियाणि विषयेषु पराङ्मुखानि,
सङ्कल्पकल्पनविकल्पविकारदोषैः ।
योगैः सदा त्रिभिरहो निभृतान्तरात्मा,
ध्यानोत्तमं प्रवरशुक्लमिदं वदन्ति ॥ ४ ॥

विविध प्रकार के श्रोताओं की दृष्टि से कथन के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि विभिन्न अवयवों की उपयोगिता का सोदाहरण विचार करते हुए आचार्य ने तद्विषयक दोषों की शुद्धि का भी प्रतिपादन किया है। निर्युक्तिसम्मत विहंगम के विविध निक्षेपों का विस्तृत व्याख्यान करते हुए द्रुमपुष्पिका नामक प्रथम अध्ययन का विवरण समाप्त किया है।

द्वितीय अध्ययन की वृत्ति मे श्रमण, पूर्व, काम, पद आदि शब्दों का विवेचन करते हुए तीन प्रकार के योग, तीन प्रकार के करण, चार प्रकार की संज्ञा, पाँच प्रकार की इन्द्रिय, पाँच प्रकार के स्थावरकाय, दस प्रकार के श्रमण-धर्म और अठारह शीलांगसहस्र का प्रतिपादन किया गया है। भोगनिवृत्ति का स्वरूप समझाने के लिए रथनेमि और राजीमती का कथानक उद्धृत किया है।

तृतीय अध्ययन की वृत्ति में महत्, क्षुल्लक आदि पदों का व्याख्यान करते हुए दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार का सोदाहरण विवेचन किया गया है। इसी प्रकार अर्थादि चार प्रकार की कथाओं का उदाहरणपूर्वक स्वरूप समझाया गया है। श्रमणसम्बन्धी अनाचीर्ण का स्वरूप बताते हुए वृत्तिकार ने तृतीय अध्ययन की व्याख्या समाप्त की है।

चतुर्थ अध्ययन की व्याख्या में निम्न विषयों पर प्रकाश डाला गया है : जीव का स्वरूप व उसकी स्वतन्त्र सत्ता, चारित्रधर्म के पांच महाव्रत और छठा रात्रिभोजनविरमण व्रत, श्रमणधर्म की दुर्लभता। जीव के स्वरूप का विचार करते समय वृत्तिकार ने अनेक भाष्यगाथाएँ उद्धृत की हैं और साथ ही साथ अपने दार्शनिक दृष्टिकोण का पूरा उपयोग किया है।

पंचम अध्ययन की वृत्ति में आहारविषयक मूल गाथाओं का व्याख्यान किया गया है। 'बहुअट्ठियं पुग्गलं····' की व्याख्या इस प्रकार है : किल 'बहुअट्ठियं' इति सूत्रं बह्वस्थि 'पुद्गलं' मांसं 'अनिमिषं' वा मत्स्यं वा बहुकण्टकम्, अयं किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेधः, अन्ये त्वभिदधति—वनस्पत्यधिकारात्तथाविधफलाभिधाने एते इति, तथा चाह–'अत्थिकं' अस्थिकवृक्षफलम्, 'तेंदुकं' तेंदुरुकीफलम्, 'बिल्वं' इक्षुखण्डमिति च प्रतीते, 'शाल्मलिं वा' वल्लादिफलिं वा, वाशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्ध इति सूत्रार्थः।[1]

षष्ठ अध्ययन की वृत्ति में अष्टादश स्थानों का विवरण किया गया है जिनका सम्यक् ज्ञान होने पर ही साधु अपने आचार में निर्दोष एवं दृढ रह सकता है। ये अठारह स्थान व्रतषट्क, कायषट्क, अकल्प, गृहिभाजन, पर्यङ्क, निषद्या, स्नान और शोभावर्जनरूप हैं।

सप्तम अध्ययन की व्याख्या में भाषा की शुद्धि-अशुद्धि का विचार किया गया है एवं श्रमण के लिए उपयुक्त भाषा का विधान स्पष्ट किया गया है।

अष्टम अध्ययन की व्याख्या में आचारप्रणिधि की प्रक्रिया एवं फल का प्रतिपादन किया गया है।

नवम अध्ययन की वृत्ति में विनय के विविध रूप, विनय का फल, अविनय और उससे होनेवाली हानि, विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि, आचारसमाधि आदि का स्वरूप बताया गया है।

दशम अध्ययन की वृत्ति में सुभिक्षु के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

चूलिकाओं की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने धर्म के रतिजनक और अरतिजनक कारण, विविध चर्या आदि उन्हीं विषयों का साधारण स्पष्टीकरण किया है जिनका उल्लेख सूत्रकार और निर्युक्तिकार ने किया है। वृत्ति के अन्त में निम्न श्लोक हैं :[2]

---

१. पृ. १७६ (अ). २. पृ० २८६.

महत्तराया याकिन्या धर्मपुत्रेण चिन्तिता ।
आचार्यहरिभद्रेण टीकेयं शिष्यबोधिनी ॥ १ ॥
दशवैकालिके टीकां विधाय यत्पुण्यमर्जितं तेन ।
मात्सर्यदुःखविरहाद्गुणानुरागी भवतु लोकः ॥ २ ॥

प्रज्ञापना-प्रदेशव्याख्या :

इस टीका[1] के प्रारंभ में जैन प्रवचन की महिमा बताते हुए कहा गया है :

रागादिवध्यपटहः सुरलोकसेतुरानन्ददुंदुभिरसत्कृतिवंचितानाम् ।
संसारचारकपलायनफालघंटा, जैनंवचस्तदिह को न भजेत विद्वान् ॥१॥

इसके बाद मंगल की महिमा बताई गई है और मंगल के विशेष विवेचन के लिए आवश्यक-टीका का नामोल्लेख किया गया है।[2] इसी प्रसंग पर भव्य और अभव्य का विवेचन करते हुए आचार्य ने वादिमुख्यकृत अभव्यस्वभाव-सूचक निम्न श्लोक उद्धृत किया है :[3]

सद्धर्म्मबीजवपनानघकौशलस्य, यल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् ।
तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु, सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥१॥

तदनन्तर प्रज्ञापना के विषय, कर्तृत्व आदि का वर्णन किया गया है। जीव-प्रज्ञापना और अजीवप्रज्ञापना का वर्णन करते हुए एकेन्द्रियादि जीवों का विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया गया है। यहाँ तक प्रथम पद की व्याख्या का अधिकार है।

द्वितीय पद की व्याख्या में पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा द्वीन्द्रियादि के स्थानों का वर्णन किया गया है।

तृतीय पद की व्याख्या में कायाल्पबहुत्व, वेद, लेश्या, इन्द्रिय आदि दृष्टियों से जीवविचार, लोकसम्बन्धी अल्प-बहुत्व, आयुर्बन्ध का अल्पबहुत्व, पुद्गलाल्पबहुत्व, द्रव्याल्पबहुत्व, अवगाढाल्पबहुत्व आदि का विचार किया गया है।

चतुर्थ पद की व्याख्या में नारकों की स्थिति का विवेचन है।

---

१. पूर्वभाग—ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९४७.
उत्तरभाग—जैन पुस्तक प्रचारक संस्था, सूर्यपुर, सन् १९४९.
२. पृ. २. ३. पृ. ४.

पंचम पद की व्याख्या में नारकपर्याय, अवगाह, षट्स्थानक, कर्मस्थिति और जीवपर्याय का विश्लेषण किया गया है।

षष्ठ और सप्तम पद के व्याख्यान में आचार्य ने नारकसम्बन्धी विरहकाल का वर्णन किया है।

अष्टम पद की व्याख्या में आचार्य ने संज्ञा का स्वरूप बताया है। संज्ञा का अर्थ है आभोग अथवा मनोविज्ञान। संज्ञा के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य कहते हैं : 'तत्र संज्ञा आभोग इत्यर्थः, मनोविज्ञानं इत्यन्ये, संज्ञायते वा अनयेति संज्ञा—वेदनीयमोहनीयोदयाश्रया ज्ञानदर्शनावरणक्षयोपशमाश्रया च विचित्रा आहारादिप्राप्तये क्रियेत्यर्थः, सा चोपाधिभेदाद् भिद्यमाना दश प्रकारा भवति, तद्यथा—आहारसंज्ञेत्यादि...'[१] । इसके बाद आहारादि दस प्रकार की संज्ञा का स्वरूप बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं : 'तत्र क्षुद्वेदनीयोदयाद् कवलाद्याहारार्थं पुद्गलोपादानक्रियैव संज्ञायते अनयेत्याहारसंज्ञा तथा भयवेदनीयोदयाद् भयोद्भ्रान्तस्य दृष्टिवदनविकाररोमांचोद्भेदार्था विक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति भयसंज्ञा, तथा पुंवेदोदयान्मैथुनाय स्त्र्यालोकनप्रसन्नवदनमनःस्तम्भितोरुवेपथुप्रभृतिलक्षणा विक्रियैव संज्ञायते अनयेति (मैथुनसंज्ञा, चारित्रमोहविशेषोदयात् धर्मोपकरणातिरिक्ततदतिरेकस्य वा आदित्साक्रियैव) परिग्रहसंज्ञा, तथा क्रोधोदयात् तदाशयगर्भा पुरुषमुखनयनदंतच्छदस्फुरणचेष्टैव संज्ञायतेऽनयेति क्रोधसंज्ञा, तथा मानोदयादहंकारात्मिकोत्सेकादिपरिणतिरेव संज्ञायतेऽनयेति मानसंज्ञा, तथा मायोदयेनाशुभसंक्लेशादनृतभाषणादिक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति मायासंज्ञा, तथा लोभोदयाल्लालसान्विता सचित्तेतरद्रव्यप्रार्थनैव संज्ञायतेऽनयेति लोभसंज्ञा, तथा लोभोदयोपशमाच्छब्दाद्यर्थगोचरा सामान्यावबोधक्रियैव संज्ञायते अनयेति ओघसंज्ञा, तथा तद्विशेषावबोधक्रियैव संज्ञायते अनयेति लोकसंज्ञा, ततश्चौघसंज्ञा दर्शनोपयोगः लोकसंज्ञातु ज्ञानोपयोग इति, व्यत्ययमन्ये, अन्ये पुनरित्थमभिदधते—सामान्यप्रवृत्तिरोघसंज्ञा, लोकदृष्टिर्लोकसंज्ञा.........'[२] इन संज्ञाओं का मनोविज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से संज्ञा का ज्ञान और संवेदन में और क्रिया का अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति में समावेश कर सकते हैं। ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से आचार्य ने

१. पृ. ६१. २. पृ. ६१-२.

ओघसंज्ञा को दर्शनोपयोग और लोकसंज्ञा को ज्ञानोपयोग कहा है तथा तद्विपरीत मत का भी उल्लेख किया है।

नवम पद की व्याख्या में विविध योनियों का विचार किया गया है।

दशम पद की व्याख्या मे रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों का चरम और अचरम की दृष्टि से विवेचन किया गया है। चरम का अर्थ है प्रान्तपर्यन्तवर्ती और अचरम का अर्थ है प्रांतमध्यवर्ती। ये दोनों अर्थ आपेक्षिक हैं। प्रस्तुत विवेचन में आचार्य ने अनेक प्राकृत गद्यांश उद्धृत किये हैं।

ग्यारहवें पद की व्याख्या में भाषा के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य ने स्त्री, पुरुष और नपुंसक-लक्षणनिर्देशक कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं :[1]

स्त्री— योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं, मुग्धता क्लीबता स्तनौ।
पुंस्कामितेति लिंगानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते॥ १॥

पुरुष— मेहनं खरता दार्ढ्यं, शौंडीर्यं श्मश्रु तृप्तता।
स्त्रीकामितेति लिंगानि, सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते॥ २॥

नपुंसक—स्तनादिश्मश्रुकेशादिभावाभावसमन्वितम्।
नपुंसकं बुधाः प्राहुर्मोहानलसुदीपितम्॥ ३॥

स्त्री के सात लक्षण हैं : योनि, मृदुत्व, अस्थिरता, मुग्धता, दुर्बलता, स्तन और पुरुषेच्छा। पुरुष के भी सात लक्षण हैं : मेहन, कठोरता, दृढ़ता, शूरता, मूँछें, तृप्ति और स्त्रीकामिता। नपुंसक के लक्षण स्त्री और पुरुष के लक्षणों से मिले-जुले बीच के होते हैं जो न पूरी तरह स्त्री के अनुरूप होते हैं न पुरुष के। उसमें मोह की मात्रा अत्यधिक होती है।

बारहवें पद के व्याख्यान में आचार्य ने औदारिकादि शरीर के सामान्य स्वरूप का विवेचन किया है।

तेरहवें पद के व्याख्यान मे जीव और अजीव के विविध परिणामों का प्रतिपादन किया गया है। जीवपरिणाम इस प्रकार का होता है : गति, इन्द्रिय, कषाय, लेश्या, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वेद। अजीवपरिणाम का विवेचन करते हुए आचार्य ने बन्धनपरिणाम के निम्नांकित लक्षण का समर्थन किया है :[2]

समणिद्धयाए बंधो ण होति समलुक्खयाए वि ण होति।
वेमाइयणिद्धलुक्खत्तणेण बंधो उ खंधाणं॥

---

१. पृ. ७७. २. पृ. ९८.

तथा च—

> णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिएणं लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएणं।
> णिद्धस्स लुक्खेण उवेति बंधो जहण्णवज्जो विसमो समो वा॥

आगे के पदों की व्याख्या में कषाय, इन्द्रिय, प्रयोग, लेश्या, कायस्थिति, अन्तक्रिया, अवगाहना—संस्थानादि, क्रिया (कायिकी, आधिकरणकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातकी), कर्मप्रकृति, कर्मबन्ध, आहारपरिणाम, उपयोग, पश्यत्ता, संज्ञा, संयम, अवधि, प्रवीचार, वेदना और समुद्घात का विशेष विवेचन किया गया है। तीसवें पद की व्याख्या में आचार्य ने उपयोग और पश्यत्ता की भेदरेखा खींचते हुए लिखा है कि पश्यत्ता में त्रैकालिक अवबोध होता है जबकि उपयोग में वर्तमान और त्रिकाल दोनों का अवबोध समाविष्ट है: अतो यत्र त्रैकालिकोऽवबोधोऽस्ति तत्र पासणया भवति, यत्र पुनर्वर्तमानकालकै-कालिकश्च बोधः स उपयोग इत्ययं विशेषः।[१] यही कारण है कि साकार उपयोग आठ प्रकार का है जबकि साकार पश्यत्ता छः प्रकार की है। साकार पश्यत्ता में साम्प्रतकालविषयक मतिज्ञान और मत्यज्ञानरूप साकार उपयोग के दो भेदों का समावेश नहीं किया जाता।

आवश्यकवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति[२] आवश्यकनिर्युक्ति पर है। कहीं-कहीं भाष्य की गाथाओं का भी उपयोग किया गया है। वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र ने इस वृत्ति में आवश्यक-चूर्णि का पदानुसरण न करते हुए स्वतंत्र रीति से निर्युक्ति-गाथाओं का विवेचन किया है। प्रारम्भ में मंगल के रूप में निम्न श्लोक है:

> प्रणिपत्य जिनवरेन्द्रं, वीरं श्रुतदेवतां गुरून् साधून्।
> आवश्यकस्य विवृतिं, गुरूपदेशादहं वक्ष्ये॥ १॥

इसके बाद प्रस्तुत वृत्ति का प्रयोजन दृष्टि में रखते हुए वृत्तिकार कहते हैं:

> यद्यपि मया तथाऽन्यैः, कृताऽस्य विवृतिस्तथापि संक्षेपात्।
> तद्रुचिसत्त्वानुग्रहहेतोः क्रियते प्रयासोऽयम्॥ २॥

अर्थात् यद्यपि मैंने तथा अन्य आचार्यों ने इस सूत्र का विवरण लिखा है तथापि संक्षेप में वैसी रुचि वाले लोगों के लिए पुनः प्रस्तुत प्रयास किया जा रहा

---

१. पृ. १४९. २. आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १९१६–७.

है। इस कथन से आचार्य हरिभद्रकृत एक और टीका—बृहट्टीका का होना फलित होता है। यह टीका अभी तक अनुपलब्ध है।

इन दोनों श्लोकों का विवेचन करने के बाद निर्युक्ति की प्रथम गाथा 'आभिणिबोहियनाणं·······' की व्याख्या करते हुए आचार्य ने पाँच प्रकार के ज्ञान का स्वरूप-प्रतिपादन किया है। आभिनिबोधिक आदि ज्ञानों की व्याख्या मे वैविध्य का पूरा उपयोग किया है। यह व्याख्यानवैविध्य चूर्णि में दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरण के लिए 'आभिनिबोधिक' शब्द के व्याख्यान में कितनी विविधता है, इसकी ओर जरा ध्यान दीजिए :

'अर्थाभिमुखो नियतो बोधः अभिनिबोधः, अभिनिबोध एव आभिनिबोधिकं, विनयादिपाठात् अभिनिबोधशब्दस्य "विनयादिभ्यष्ठक्" (पा० ५, ४, ३४) इत्यनेन स्वार्थ एव ठक् प्रत्ययो, यथा विनय एव वैनयिकमिति, अभिनिबोधे वा भवं तेन वा निवृत्तं तन्मयं तत्प्रयोजनं वा, अथवा अभिनिबुध्यते तद् इत्याभिनिबोधिकं, अवग्रहादिरूपं मतिज्ञानमेव तस्य स्वसंविदितरूपत्वात्, भेदोपचारादित्यर्थः, अभिनिबुध्यते वाऽनेनेत्याभिनिबोधिकं, तदावरणकर्मक्षयोपशम इति भावार्थः, अभिनिबुध्यते अस्मादिति वा आभिनिबोधिकं, तदावरणकर्मक्षयोपशम एव, अभिनिबुध्यतेऽस्मिन्निति वा क्षयोपशम इत्याभिनिबोधिकं, आत्मैव वा अभिनिबोधोपयोगपरिणामानन्यत्वाद् अभिनिबुध्यत इत्याभिनिबोधिकं, आभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चेति समासः।"[१]

उपर्युक्त गद्यांश में वृत्तिकार ने छः दृष्टियों से आभिनिबोधिक ज्ञान का व्याख्यान किया है : (१) अर्थाभिमुख जो नियत बोध है, (२) जो अभिनिबुद्ध होता है, (३) जिसके द्वारा अभिनिबुद्ध होता है, (४) जिससे अभिनिबुद्ध होता है, (५) जिसमें अभिनिबुद्ध होता है अथवा (६) जो अभिनिबोधोपयोग परिणाम से अभिन्नतया अभिनिबुद्ध होता है वह आभिनिबोधिक है। इसी प्रकार श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल का भी भेद-प्रभेदपूर्वक व्याख्यान किया गया है।

सामायिक-निर्युक्ति का व्याख्यान करते हुए प्रवचन की उत्पत्ति के प्रसंग पर वृत्तिकार ने वादिमुख्यकृत दो श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें यह बताया गया है कि कुछ पुरुष स्वभाव से ही ऐसे होते हैं जिन्हें वीतराग की वाणी अरुचिकर लगती

१. पूर्वार्ध, पृ० ७ (१).

है। इसमें वीतराग के प्रवचनों का कोई दोष नहीं है। दोष सुनने वाले उन पुरुष-उलूकों का है जिनका स्वभाव ही वीतराग-प्रवचनरूपी प्रकाश में अन्धे हो जाना है। जैसाकि आचार्य कहते हैं'.....त्रैलोक्यगुरोर्धर्मदेशनक्रिया विभिन्नस्वभावेषु प्राणिषु तत्स्वाभाव्यात् विबोधाविबोधकारिणी पुरुषोलूककमलकुमुदादिषु आदित्यप्रकाशनक्रियावत्, उक्तं च वादिमुख्येन—

त्वद्वाक्यतोऽपि केषाञ्चिदबोध इति मेऽद्भुतम्।
भानोर्मरीचयः कस्य, नाम नालोकहेतवः॥ १॥
न चाद्भुतमुलूकस्य, प्रकृत्या क्लिष्टचेतसः।
स्वच्छा अपि तमस्त्वेन, भासन्ते भास्वतः कराः॥ २॥

सामायिक के उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र आदि २३ द्वारों का विवेचन करते हुए वृत्तिकार ने एक जगह (आवश्यक के) विशेषविवरण का उल्लेख किया है। निर्देश-द्वार के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन करने के बाद वे लिखते हैं: व्यासार्थस्तु विशेषविवरणादवगन्तव्य इति।[२]

सामायिक के निर्गम-द्वार के प्रसंग से कुलकरों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए आचार्य ने सात कुलकरों की उत्पत्ति से सम्बन्धित एक प्राकृत कथानक दिया है और उनके पूर्वभवों के विषय में सूचित किया है कि एतद्विषयक वर्णन प्रथमानुयोग मे देख लेना चाहिए: पूर्वभवाः खल्वमीषां प्रथमानुयोगतोऽवसेयाः....।[३] उनकी आयु आदि का वर्णन करते हुए वृत्तिकार ने 'अन्ये तु व्याचक्षते'[४] ऐसा लिख कर तद्विषयक मतभेदों का भी उल्लेख किया है। आगे नाभि कुलकर के यहाँ भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ, यह बताया गया है तथा उनके तीर्थंकरनाम-गोत्रकर्म बँधने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए धन नामक सार्थवाह का आख्यान दिया गया है। यह आख्यान भी अन्य आख्यानों की भाँति प्राकृत मे ही है। इस प्रसंग से सम्बन्धित गाथाओं मे से एक गाथा का अन्यकर्तृकी गाथा के रूप में उल्लेख किया गया है। 'उत्तरकुरु सोहम्मे महाविदेहे महब्बलो....' गाथा का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार कहते हैं: इयमन्यकर्तृकी गाथा सोपयोगा च।[५] भगवान् ऋषभदेव के अभिषेक का

१. पृ० ६७ (२). २. पृ० १०७ (१). ३. पृ० ११० (२), १११ (१). ४. पृ० ११२ (१). ५. पृ० ११४ (२).

वर्णन करते हुए आचार्य ने निर्युक्ति के कुछ पाठान्तर भी दिये हैं : पाठान्तर वा 'आभोएउं सक्को आगंतुं तस्स कासि…'[1]; 'चउव्विहं संगहं कासी'[2] इत्यादि। प्रस्तुत वृत्ति मे इस प्रकार के अनेक पाठान्तर दिये गये हैं। आदितीर्थंकर ऋषभ के पारणक के वर्णन के प्रसंग पर एक कथानक दिया गया है और विस्तृत वर्णन के लिए वसुदेवहिंडि[3] का नामोल्लेख किया गया है।

अर्हत् प्रत्यक्षरूप से सामायिक के अर्थ का अनुभव करके ही सामायिक का कथन करते हैं जिसे सुनकर गणधर आदि श्रोताओं के हृदयगत अशेष संशय का निवारण हो जाता है और उन्हें अर्हत् की सर्वज्ञता मे पूर्ण विश्वास हो जाता है।[4]

सामायिकार्थ का प्रतिपादन करनेवाले चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर के शासन में उत्पन्न चार अनुयोगों का विभाजन करनेवाले आर्य रक्षित की प्रवृति से सम्बद्ध 'माया य रुद्दसोमा…' आदि गाथाओं का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार ने एतद्विषयक कथानक का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया है।[5] यह कथानक प्रस्तुत सस्करण के पचीस पृष्ठों मे समाप्त हुआ है।

चतुर्विंशतिस्तव और वंदना नामक द्वितीय और तृतीय आवश्यक का निर्युक्ति के अनुसार व्याख्यान करने के बाद प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ आवश्यक की व्याख्या करते हुए आचार्य ने ध्यान पर विशेष प्रकाश डाला है। 'प्रतिक्रमामि चतुर्भिर्ध्यानैः करणभूतैरश्रद्धेयादिना प्रकारेण योऽतिचारः कृतः, तद्यथा—आर्तध्यानेन, तत्र ध्यातिर्ध्यानमिति भावसाधनः…… ' अयं ध्यानसमासार्थः। व्यासार्थस्तु ध्यानशतकादवसेयः, तच्चेदम्—…'[6] ऐसा कह कर ध्यानशतक की समस्त गाथाओं का व्याख्यान किया है। इसी प्रकार परिस्थापना की विधि का वर्णन करते हुए पूरी परिस्थापनानिर्युक्ति उद्धृत कर दी है।[7] सात प्रकार के भयस्थानसंबंधी अतिचारों की आलोचना का व्याख्यान करते हुए सम्रहणिकारकृत एक गाथा उद्धृत की है।[8] आगे की वृत्ति में संग्रहणिकार की और भी अनेक गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। इसी आवश्यक के अन्तर्गत अस्वाध्यायसम्बन्धी निर्युक्ति की व्याख्या मे सिद्धसेन क्षमाश्रमण की दो गाथाएँ उद्धृत की गई हैं।[9]

---

१. पृ० १२७ (२). २. पृ० १२८ (१). ३. पृ० १४५ (२). ४. पृ० २८० (२). ५. पृ० २९६ (१)–३०८ (१). ६. उत्तरार्ध (पूर्वभाग), पृ० ५८१. ७. पृ० ६१८ (१)–६४४ (१). ८. पृ० ६४५. ९. पृ० ७४९ (२)–७५० (१).

पंचम आवश्यक कायोत्सर्ग के अंत में 'शिष्यहितायां कायोत्सर्गाध्ययनं समाप्तम्।' ऐसा पाठ है। आगे भी ऐसा ही पाठ है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रस्तुत वृत्ति का नाम शिष्यहिता है। इस अध्ययन के विवरण से प्राप्त पुण्य का फल क्या हो ? इसका उल्लेख करते हुए वृत्तिकार कहते हैं :

कायोत्सर्गविवरणं कृत्वा यदवातमिह मया पुण्यम्।
तेन खलु सर्वसत्त्वाः पञ्चविधं कायमुज्झन्तु ॥ १ ॥

कायोत्सर्गविवरण से प्राप्त पुण्य के फलस्वरूप सभी प्राणी पंचविध काय का उत्सर्ग करें। षष्ठ आवश्यक प्रत्याख्यान के विवरण में श्रावकधर्म का भी विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। प्रत्याख्यान की विधि, माहात्म्य आदि आवश्यक बातों की चर्चा करते हुए वृत्तिकार ने शिष्यहिता नामक आवश्यकटीका समाप्त की है : समाप्ता चेयं शिष्यहितानामावश्यकटीका। अन्त में वे लिखते हैं : कृतिः सिताम्बराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो जाइणीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य। प्रस्तुत टीका श्वेताम्बराचार्य जिनभट के आज्ञाकारी विद्यार्थी, विद्याधर कुल के तिलकभूत आचार्य जिनदत्त के शिष्य और याकिनी महत्तरा के धर्मपुत्र अल्पमति आचार्य हरिभद्र की कृति है। यह २२००० श्लोकप्रमाण है :[1]

द्वाविंशति सहस्राणि, प्रत्येकाक्षरगणनया (संख्यया)।
अनुष्टुप्छन्दसा मानमस्या उद्देशतः कृतम् ॥ १ ॥

१. उत्तरार्ध (उत्तरभाग), पृ० ८६५ (२).

चतुर्थ प्रकरण

कोट्याचार्यकृत विशेषावश्यकभाष्य-विवरण

कोट्याचार्य ने आचार्य जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य पर टीका लिखी है। यह टीका स्वयं आचार्य जिनभद्र द्वारा प्रारम्भ की गई एवं आचार्य कोट्यार्य द्वारा पूर्ण की गई विशेषावश्यकभाष्य की सर्वप्रथम टीका से भिन्न है। कोट्याचार्य ने अपनी टीका में आचार्य हरिभद्र का अथवा उनके किसी ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं किया है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कुछ विद्वान् यह अनुमान करते हैं कि कोट्याचार्य या तो हरिभद्र के पूर्ववर्ती हैं या समकालीन। कोट्याचार्य ने अपनी टीका में अनेक स्थानों पर आवश्यक की मूल टीका एवं विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञटीका का उल्लेख किया है। मूल टीका जिनभद्र की है जिनके नाम का आचार्य ने उल्लेख भी किया है। कोट्याचार्य ने अपनी कृति में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का सम्मानपूर्ण शब्दों द्वारा स्मरण किया है। मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने अपनी विशेषावश्यकभाष्य की टीका में आचार्य जिनभद्र के साथ कोट्याचार्य का भी प्राचीन टीकाकार के रूप मे उल्लेख किया है। इन सब तथ्यों को देखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि कोट्याचार्य एक प्राचीन टीकाकार हैं और सम्भवतः वे आचार्य हरिभद्र से भी प्राचीन हों। ऐसी स्थिति में आचार्य शीलांक और कोट्याचार्य को एक ही व्यक्ति मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, जैसी कि प्रभावकचरित्रकार की मान्यता है।[1] आचार्य शीलांक का समय विक्रम की नवीं-दसवीं शताब्दी है जबकि कोट्याचार्य का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी ही सिद्ध होता है। दूसरी बात यह है कि शीलांकसूरि और कोट्याचार्य को एक ही व्यक्ति मानने के लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है।

प्रस्तुत विवरण[2] में कोट्याचार्य ने विशेषावश्यकभाष्य का व्याख्यान किया है जो न अति संक्षिप्त है और न अति विस्तृत। विवरण में जो कथानक उद्धृत किये गये हैं वे प्राकृत मे हैं। कहीं कहीं पद्यात्मक कथानक भी हैं।[3] विवरणकार

---

१. प्रभावकचरित्र (भाषांतर) : प्रस्तावना, पृ. ८७. २. ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९३६-७. ३. पृ. २७५.

ने आचार्य जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति[1] और जिनभटकृत आवश्यकविवृति (मूलटीका ?)[2] का भी उल्लेख किया है। विवरण में कहीं-कहीं पाठान्तर दिये गये हैं।[3]

प्रारम्भ में आचार्य ने वीर जिनेश्वर, श्रुतदेवता तथा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का सादर स्मरण किया है :

नतविबुधवधूनां कन्त्रमाणिक्यभास-
अरुणनखमयूखैरुल्लसद्भिः किरन् यः।
अकृत कृतजगच्छ्रीर्देशनां मानवेभ्यो,
जनयतु जिनवीरः स्थेयसीं वः स लक्ष्मीम् ॥१॥
विकचकेतकपत्रसमप्रभा, मुनिपवाक्यमहोदधिपालिनी।
प्रतिदिनं भवताममरार्चिता, प्रविदधातु सुखं श्रुतदेवता ॥ २ ॥
यैर्भव्याम्बुरुहाणि ज्ञानकरैर्बोधितानि वः सन्तु।
अज्ञानध्वान्तभिदे जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यार्काः ॥ ३ ॥

अन्त मे विवरणकार ने विशेषावश्यकभाष्यकार—सामायिकभाष्यकार आचार्य जिनभद्र (पूज्य) का पुनः स्मरण किया है :

भाष्यं सामायिकस्य स्फुटविकटपदार्थोपगूढं यदेतत्,
श्रीमत्पूज्यैरकारि क्षतकलुषधियां भूरिसंस्कारकारि।
तस्य व्याख्यानमात्रं किमपि विदधता यन्मया पुण्यमाप्तं,
प्रेत्याहं द्राग्लभेयं परमपरिमितां प्रीतिमत्रैव तेन ॥

प्रस्तुत विवरण का ग्रन्थमान १३७०० श्लोकप्रमाण है : ग्रन्थाग्रमस्या त्रयोदश सहस्राणि सप्तशताधिकानि।[4]

---

१. पृ. २४५.

२. पुनर्लभस्थिरथमेव मिथ्यात्वं करिष्यति, तत्राप्यपूर्वमिवापूर्वमिति जिनभटाचार्यपादाः—उत्तरभाग का उपक्रम, पृ. ४.

३. पृ. ३३८. ४. पृ. ९८१.

पंचम प्रकरण

गन्धहस्तिकृत शस्त्रपरिज्ञा-विवरण

आचार्य गन्धहस्ती ने आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा पर टीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। शीलांकाचार्य ने अपनी आचारांग-टीका के आरम्भ में इसका उल्लेख किया है। प्रस्तुत गंधहस्ती और तत्त्वार्थभाष्य पर बृहद्वृत्ति लिखने वाले सिद्धसेन दोनों एक ही व्यक्ति हैं।[1] ये सिद्धसेन भास्वामी के शिष्य हैं। अभी तक इनकी उपर्युक्त दो कृतियों के विषय में ही प्रमाण उपलब्ध हैं। सिद्धसेन का नाम गन्धहस्ती किसने व क्यों रखा? इन्होंने स्वयं अपनी प्रशस्ति में गन्धहस्ती पद नहीं जोड़ा। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके शिष्य अथवा भक्त अनुगामियों ने इन्हे गन्धहस्ती के रूप में प्रसिद्ध किया है। ऐसा करने का कारण यह जान पड़ता है कि प्रस्तुत सिद्धसेन एक सैद्धान्तिक विद्वान् थे। उनका आगमों का ज्ञान अति समृद्ध था। वे आगमविरुद्ध मान्यताओं का खण्डन करने मे बहुत प्रसिद्ध थे। सिद्धान्तपक्ष का स्थापन करना उनकी एक बहुत बड़ी विशेषता थी। उनकी अठारह हजार श्लोकप्रमाण तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति सम्भवत. उस समय तक लिखी गई तत्त्वार्थ-भाष्य की सभी व्याख्याओं मे बड़ी रही होगी। इस बृहद् वृत्ति तथा उसमें किये गये आगमिक मान्यताओं के समर्थन को देखकर उनके बाद के शिष्यों अथवा भक्तों ने उनका नाम गन्धहस्ती रख दिया होगा। यह 'गंधहस्ती' शब्द इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि तीर्थंकरों के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है। 'शक्रस्तव' नाम से प्रसिद्ध 'नमोत्थुण' के प्राचीन स्तोत्र मे 'पुरिसवरगन्धहत्थीण' का प्रयोग कर तीर्थंकर को गंधहस्ती विशेषण से विशिष्ट बताया गया है। सिद्धसेन अर्थात् गन्धहस्ती के समय के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतना निश्चित है कि ये विक्रम की सातवीं और नवीं शताब्दी के बीच मे कभी हुए हैं। इन्होंने अपनी तत्त्वार्थभाष्य-वृत्ति में वसुबन्धु, धर्मकीर्ति

१. इस मत की पुष्टि के लिए देखिये—तत्त्वार्थसूत्र : परिचय, पृ० ३४–४१ (पं० सुखलालजीकृत विवेचन).

आदि बौद्ध विद्वानों का उल्लेख किया है[1] जिससे यह सिद्ध होता है कि ये सातवीं शताब्दी (विक्रम) के पहले तो नहीं हुए। दूसरी ओर नवीं शताब्दी में होने वाले आचार्य शीलांक ने इनका उल्लेख किया है जिससे यह सिद्ध होता है कि ये नवीं शताब्दी से पूर्व किसी समय हुए हैं।

१. तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० ६८, ३९७.

षष्ठ प्रकरण

शीलांककृत विवरण

आचार्य शीलांक शीलाचार्य एवं तत्त्वादित्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।[1] कहा जाता है कि इन्होंने प्रथम नौ अंगों पर टीकाएँ लिखी थीं,[2] किन्तु वर्तमान में केवल आचारांग और सूत्रकृतांग की टीकाएँ ही उपलब्ध हैं। आचारांग-टीका की विभिन्न प्रतियों में भिन्न-भिन्न समय का उल्लेख है। किसी में शक सं० ७७२ का उल्लेख है तो किसी में शक सं० ७८४ का; किसी में शक सं० ७९८ का उल्लेख है तो किसी में गुप्त सं० ७७२ का।[3] इससे यही सिद्ध होता है कि आचार्य शीलांक शक की आठवीं अर्थात् विक्रम की नवीं-दसवीं शताब्दी में विद्यमान थे।

आचारांगविवरण :

प्रस्तुत विवरण[4] मूल सूत्र एवं निर्युक्ति पर है। विवरणकार ने अपना विवरण शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं रखा है अपितु प्रत्येक विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिए बीच-बीच में अनेक प्राकृत एवं संस्कृत उद्धरण भी दिये हैं। भाषा, शैली, सामग्री आदि सभी दृष्टियों से विवरण को सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है। विवरण प्रारंभ करने के पूर्व आचार्य ने स्वयं इस बात की ओर संकेत किया है। प्रारंभ में विवरणकार ने जिनतीर्थ की महिमा बताते हुए उसकी जय बोली है तथा गंधहस्तिकृत शस्त्रपरिज्ञाविवरण को अति कठिन बताते हुए आचारांग पर सुबोध विवरण लिखने का संकल्प किया है :

---

१. निर्वृतिकुलीनश्रीशीलाचार्येण तत्त्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधुसहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति।

—आचारांग-टीका, प्रथम श्रुतस्कन्ध का अन्त.

२. प्रभावकचरित्र : श्रीअभयदेवसूरिप्रबन्ध, का. १०४-५.

3. A History of the Canonical Literature of the Jainas, पृ० १९७.

४. (अ) जिनहंस व पार्श्वचन्द्र की टीकाओं सहित—रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, वि० सं० १९३६.

(आ) आगमोदय समिति, सूरत, वि० सं० १९७२-३.

(इ) जैनानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा, सूरत, सन् १९३५.

जयति समस्तवस्तुपर्यायविचारापास्ततीर्थिकं,
विहितैकैकतीर्थनयवादसमूहवशात्प्रतिष्ठितम्।
बहुविधभङ्गिसिद्धसिद्धान्तविधूनितमलमलीमसं,
तीर्थमनादिनिधनगतमनुपममादिनतं जिनेश्वरैः ॥ १ ॥
आचारशास्त्रं सुविनिश्चितं यथा,
जगाद वीरो जगते हिताय यः।
तथैव किञ्चिद् गदतः स एव मे,
पुनातु धीमान् विनयार्पिता गिरः ॥ २ ॥
शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम्।
तस्मात् सुखबोधार्थं गृह्णाम्यहमञ्जसा सारम् ॥ ३ ॥

आचार्य सर्वप्रथम सूत्रों का पदच्छेद करते हैं। पदच्छेद के बाद 'साम्प्रतं सूत्रपदार्थः' ऐसा कहते हुए पदों का स्पष्ट अर्थ करते हैं। तदनन्तर तद्विषयक विशेष शंका-समाधान की ओर ध्यान देते हैं। इस प्रसंग पर अपने वक्तव्य की विशेष पुष्टि के लिए कहीं-कहीं उद्धरण भी प्रस्तुत करते हैं। 'सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इहमेगेसिं णो सण्णा भवति' (सू० १) का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार कहते हैं: तच्चेदं सूत्रम्—'सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इहमेगेसिं णो सण्णा भवति' अस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या—संहितोच्चारितैव, पदच्छेदस्त्वयम्-श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह एकेषां नो संज्ञा भवति। एवं तिङन्तं शेषाणि सुबन्तानि, गतः सपदच्छेदः सूत्रानुगमः, साम्प्रतं सूत्रपदार्थः समुन्नीयते—भगवान् सुधर्म्मस्वामी जम्बूनाम्न इदमाचष्टे यथा—'श्रुतम्' आकर्णितमवगतमवधारितमिति यावद्, अनेन स्वमनीषिकाव्युदासो 'मये' ति साक्षान्न पुनः पारम्पर्येण, 'आयुष्मन्नि'ति जात्यादिगुणसंभवेऽपि दीर्घायुष्कत्वगुणोपादानं दीर्घायुरविच्छेदेन शिष्योपदेशप्रदायको यथा स्यात्······'इह' ति क्षेत्रे प्रवचने आचारे शस्त्रपरिज्ञायां वा आख्यातमिति सम्बन्धो, यदि वा—'इह' ति संसारे 'एकेषां' ज्ञानावरणीयावृतानां प्राणिनां 'नो संज्ञा भवति,' संज्ञानं संज्ञा स्मृतिरवबोध इत्यनर्थान्तरं, सा नो जायते इत्यर्थः, उक्तः पदार्थः, पदविग्रहस्य तु सामासिकपदाभावादप्रकटनम्। इदानीं चालना—ननु चाकारादिकप्रतिषेधकलघुशब्दसम्भवे सति किमर्थं नोशब्देन प्रतिषेध इति ? अत्र प्रत्यवस्था—सत्यमेवं, किन्तु प्रेक्षापूर्वकारितया नोशब्दोपादानं, सा चेयम्—अन्येन प्रतिषेधेन सर्व-

निषेधः स्याद्, यथा न घटोऽघट इति चोक्ते सर्वात्मना घटनिषेधः, स च नेष्यते, यतः प्रज्ञापनायां दश संज्ञाः सर्वप्राणिनामभिहितास्तासां सर्वासां प्रतिषेधः प्राप्नोतीति कृत्वा, तास्त्रेमाः..........एवमिहापि न सर्वसंज्ञानिषेधः, अपितु विशिष्टसंज्ञानिषेधो, यथाऽऽत्मादिपदार्थस्वरूपं गत्यागत्यादिकं ज्ञायते तथा निषेध इति।[1]

इसी प्रकार निर्युक्ति-गाथाओं की व्याख्या में भी प्रत्येक पद का अर्थ अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। प्रथम अध्ययन की व्याख्या के अन्त में विवरणकार ने पुनः इस बात का निर्देश किया है कि आचार्य गन्धहस्ती ने आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन का विवरण लिखा है, जो अति कठिन है। मैं अब अवशिष्ट अध्ययनों का विवरण प्रारम्भ करता हूँ :[2]

शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिगहनमितीव किल वृतं पूज्यैः।
श्रीगन्धहस्तिमिश्रैर्विवृणोमि ततोऽहमवशिष्टम्॥ २॥

षष्ठ अध्ययन की व्याख्या के बाद अष्टम अध्ययन की व्याख्या प्रारम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि महापरिज्ञा नामक सप्तम अध्ययन का व्यवच्छेद हो जाने के कारण उसका अतिलंघन करके अष्टम अध्ययन का विवेचन प्रारम्भ किया जाता है : अधुना सप्तमाध्ययनस्य महापरिज्ञाख्यस्यावसरः, तच्च व्यवच्छिन्नमितिकृत्वाऽतिलङ्घ्याष्टमस्य सम्बन्धो वाच्यः।[3] विमोक्ष नामक अष्टम अध्ययन के षष्ठ उद्देशक की वृत्ति में नागरिक-शास्त्रसम्मत ग्राम, नगर, खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, आकर, आश्रम, सन्निवेश, नैगम और राजधानी का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है :—[4]

'ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति गम्यो वाऽष्टादशानां कराणामिति ग्रामः,....नात्र करो विद्यत इति नकरं, पांशुप्राकारबद्धं खेटं, क्षुल्लकप्राकारवेष्टितं कर्बटं, अर्द्धतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामरहितं मडम्बं, पत्तनं तु द्विधा—जलपत्तनं स्थलपत्तनं च, जलपत्तनं यथा काननद्वीपः, स्थलपत्तनं यथा मथुरा, द्रोणमुखं जलस्थलनिर्गमप्रवेशं यथा भरुकच्छं तामलिप्ती वा, आकरो हिरण्याकरादिः, आश्रमः तापसावसथोपलक्षित आश्रयः, सन्निवेशः यात्रासमागतजनावासो जनसमागमो वा, नैगमः प्रभूततरवणिग्वर्गावासः, राजधानी राजाधिष्ठानं राज्ञः पीठिकास्थानमित्यर्थः।'

---

१. आगमोदय-संस्करण, पृ. ११. २. पृ० ८१ (२). ३. पृ० २५९ (१). ४. पृ० २८४ (२)–२८५ (१).

जो बुद्धि आदि गुणों का नाश करता है अथवा अठारह प्रकार के करों का स्थान है वह ग्राम है। जहाँ पर किसी प्रकार का कर नहीं होता वह नकर (नगर) है। मिट्टी की चहारदीवारी से घिरा हुआ क्षेत्र खेट कहलाता है। छोटी चहारदीवारी से वेष्टित क्षेत्र कर्बट कहलाता है। जिसके आसपास ढाई कोस की दूरी तक अन्य ग्राम न हो वह मडम्ब कहलाता है। पत्तन दो प्रकार का है: जलपत्तन और स्थलपत्तन। काननद्वीप आदि जलपत्तन हैं। मथुरा आदि स्थलपत्तन हैं। जल और स्थल के आवागमन के केन्द्रों को द्रोणमुख (बंदर) कहते हैं। भरुकच्छ, तामलिप्ति आदि इसी प्रकार के स्थान हैं। सुवर्ण आदि के कोष को आकर कहते हैं। तपस्वियों का वास—स्थान आश्रम कहलाता है। यात्रियों के समुदाय अथवा सामान्य जनसमूह को सन्निवेश कहते हैं। व्यापारीवर्ग की वसति नैगम कहलाती है। राजा के मुख्य स्थान—पीठिका-स्थान को राजधानी कहते हैं।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के व्याख्यान के प्रारंभ में विवरणकार ने पुनः मध्य मंगल करते हुए तीन श्लोक लिखे हैं तथा चतुर्चूडात्मक द्वितीय श्रुतस्कन्ध की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है। इस श्रुतस्कन्ध का नाम अग्र-श्रुतस्कन्ध क्यों रखा गया, इसका भी निर्युक्ति की सहायता से विचार किया गया है।[1] प्रथम और द्वितीय दोनों श्रुतस्कन्धों के विवरण के अन्त मे समाप्तिसूचक श्लोक हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अन्त में केवल एक श्लोक है जिसमें आचार्य ने आचारांग की टीका लिखने से प्राप्त स्वपुण्य को लोक की आचारशुद्धि के लिए प्रदान किया है:[2]

आचारटीकाकरणे यदाप्तं, पुण्यं मया मोक्षगमैकहेतुः।
तेनापनीयाशुभराशिमुच्चैराचारमार्गप्रवणोऽस्तु लोकः॥

प्रथम श्रुतस्कन्ध के अन्त में चार श्लोक हैं जिनमें यह बताया गया है कि शीलाचार्य ने गुप्त संवत् ७७२ की भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन गंभूता में प्रस्तुत टीका पूर्ण की। आचार्य ने टीका में रही हुई त्रुटियों का संशोधन कर लेने की भी नम्रतापूर्वक सूचना दी है और इस टीका की रचना से प्राप्त पुण्य से जगत् की सदाचार-वृद्धि की कामना की है:[3]

द्वासप्तत्यधिकेषु हि शतेषु सप्तसु गतेषु गुप्तानाम्।
संवत्सरेषु मासि च भाद्रपदे शुक्लपञ्चम्याम्॥ १॥

---

१. पृ. ३१८. २. पृ. ४३१ (२). ३. पृ. ३१७.

शीलाचार्येण कृता गम्भूतायां स्थितेन टीकैषा।
सम्यगुपयुज्य शोध्यं मात्सर्यविनाकृतैरार्यैः ॥ २ ॥
कृत्वाऽऽचारस्य मया टीकां यत्किमपि सञ्चितं पुण्यम्।
तेनाऽप्नुयाज्जगदिदं निर्वृतिमतुलां सदाचारम् ॥ ३ ॥
वर्णः पदमथ वाक्यं पद्यादि च यन्मया परित्यक्तम्।
तच्छोधनीयमत्र च व्यामोहः कस्य नो भवति ॥ ४ ॥

इसी श्रुतस्कन्ध के अन्त में यह भी उल्लेख है कि आचार्य शीलांक निर्वृति कुल के थे, उनका दूसरा नाम तत्त्वादित्य था तथा उन्हें प्रस्तुत टीका बनाने में वाहरिसाधु ने सहायता दी थी : तदात्मकस्य ब्रह्मचर्याख्यश्रुतस्कन्धस्य निर्वृतिकुलीनश्रीशीलाचार्येण तत्त्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधुसहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति।[1] पूरी टीका का ग्रंथमान १२००० श्लोक-प्रमाण है।[2]

सूत्रकृतांगविवरण :

शीलांकाचार्यविहित प्रस्तुत विवरण[3] सूत्रकृतांग मूल एवं उसकी निर्युक्ति पर है। प्रारंभ मे आचार्य ने जिनों को नमस्कार किया है एवं प्रस्तुत विवरण लिखने की प्रतिज्ञा की है :

स्वपरसमयार्थसूचकमनन्तगमपर्ययार्थगुणकलितम्।
सूत्रकृतमङ्गमतुलं विवृणोमि जिनान्नमस्कृत्य ॥ १ ॥
व्याख्यातमङ्गमिह यद्यपि सूरिमुख्यैर्भक्त्या
तथापि विवरीतुमहं यतिष्ये।
किं पक्षिराजगतमित्यवगम्य सम्यक्,
तेनैव वाञ्छति पथा शलभो न गन्तुम् ॥ २ ॥

---

१. पृ. ३१६ (२). २. पृ. ४३२.

३. (अ) आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १९१७.

(आ) हर्षकुलकृत विवरणसहित—भीमसी माणेक, बम्बई, वि. सं. १९३६.

(इ) हिन्दी अर्थसहित (प्रथम श्रुतस्कन्ध)—महावीर जैन ज्ञानोदय सोसायटी, राजकोट, वि. सं. १९९३–५.

(ई) साधुरंगरचितदीपिकासहित—गोडीपार्श्व जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९५० (प्रथम श्रुतस्कन्ध).

ये मव्यवज्रां व्यधुरिद्धबोधा,
जानन्ति ते किञ्चन तानपास्य ।
मत्तोऽपि यो मन्दमतिस्तथार्थी,
तस्योपकाराय ममैष यत्नः ॥ ३ ॥

आचार्य ने विवरण को सब दृष्टियों से सफल बनाने का प्रयत्न किया है और इसके लिए दार्शनिक दृष्टि से वस्तु का विवेचन, प्राचीन प्राकृत एवं संस्कृत प्रमाणों का उद्धरण, स्वपक्ष एवं परपक्ष की मान्यताओं का असंदिग्ध निरूपण आदि समस्त आवश्यक साधनों का उपयोग किया है। यत्र-तत्र पाठान्तर भी उद्धृत किये हैं। प्रस्तुत विवरण में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है और वह यह कि विवरणकार ने अपने विवरण में अनेकों श्लोक एवं गाथाएँ उद्धृत की हैं किन्तु कहीं पर भी किसी श्लोक अथवा गाथा के रचयिता के नाम का निर्देश नहीं किया। इतना ही नहीं, तत्सम्बद्ध ग्रंथ के नाम का भी उल्लेख नहीं किया। 'तदुक्तम्', 'अन्यैरप्युक्तम्', 'तथा चोक्तम्', 'उक्तञ्च', 'तथाहि' इत्यादि शब्दों के साथ बिना किसी ग्रंथविशेष अथवा ग्रंथकार-विशेष के नाम का निर्देश किये समस्त उद्धरणों का उपयोग किया है।

विवरण के अन्त मे यह उल्लेख है कि (१२८५० श्लोक-प्रमाण) प्रस्तुत टीका शीलाचार्य ने वाहरिगणि की सहायता से पूरी की है: **कृता चेयं शीलाचार्येण वाहरिगणिसहायेन।** इसके बाद टीकाकार टीका से प्राप्त अपना पुण्य भव्य जन का अज्ञानांधकार दूर करने के लिए प्रदान करते हुए कहते हैं:

यदवाप्तमत्र पुण्यं टीकाकरणे मया समाधिभृता।
तेनापेततमस्को भव्यः कल्याणभाग् भवतु ॥

सप्तम प्रकरण

शांतिसूरिकृत उत्तराध्ययनटीका

वादिवेताल शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन सूत्र पर टीका लिखी है। इनका जन्म राधनपुर के पास उण—उन्नतायु नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम धनश्री था। शान्तिसूरि का बाल्यावस्था का नाम भीम था। प्रभावक-चरित्र में इनका चरित्र-वर्णन इस प्रकार है:[1]

उस समय पाटन में 'संपक विहार' नामक एक प्रसिद्ध जिनमंदिर था। उसी के पास थारापद गच्छ का उपाश्रय था। उस उपाश्रय में थारापद-गच्छीय विजयसिंहसूरि नामक आचार्य रहते थे। वे विचरते हुए उन्नायु पहुँचे और धनदेव को समझा-बुझा कर प्रतिभाशाली बालक भीम को दीक्षा दी। दीक्षा के बाद भीम का नाम शान्ति हो गया। कालक्रम से शान्ति आचार्यपद प्राप्त कर विजयसिंहसूरि के पट्टधर शिष्य शांतिसूरि हुए।

पाटन के भीमराज की सभा मे शान्तिसूरि 'कवीन्द्र' तथा 'वादिचक्रवर्ती' के रूप में प्रसिद्ध थे। कवि धनपाल के प्रार्थना करने पर शान्तिसूरि ने मालव-प्रदेश में बिहार किया तथा भोजराज की सभा के ८४ वादियों को पराजित कर ८४ लाख रुपये प्राप्त किये। मालवे के एक लाख रुपये गुजरात के १५ हजार रुपये के बराबर होते थे। इस हिसाब से भोज ने १२ लाख ६० हजार गुजराती रुपये शान्तिसूरि को भेंट किये। इनमें से १२ लाख रुपये तो उन्होंने वहीं जैन मंदिर बनवाने में खर्च कर दिये। शेष ६० हजार रुपये थरादनगर मे भिजवाये जो वहीं के आदिनाथ के मंदिर में रथ आदि बनवाने में खर्च किये गये।

अपनी सभा के पंडितों के लिए शान्तिसूरि वेताल के समान थे अतः राजा भोज ने उन्हें 'वादिवेताल' पद से विभूषित किया। धारानगरी में कुछ समय तक ठहर कर शान्तिसूरि ने महाकवि धनपाल की 'तिलकमंजरी' का संशोधन किया और बाद में धनपाल के साथ वे भी पाटन आये। उस समय वहाँ

1. श्रीशान्तिसूरि-प्रबन्ध (मुनि कल्याणविजयजी का भाषांतर).

के सेठ जिनदेव के पुत्र पद्मदेव को साँप ने काट लिया था। उसे मृत समझ कर भूमि में गाड़ दिया गया था। शान्तिसूरि ने उसे निर्विष कर जीवन-प्रदान किया।

शान्तिसूरि के बत्तीस शिष्य थे। वे उन सब को प्रमाणशास्त्र का अभ्यास कराते थे। उस समय नाडोल से विहार कर आये हुए मुनिचन्द्रसूरि पाटन की चैत्यपरिपाटी यात्रा में घूमते हुए वहाँ पहुँचे और खड़े-खड़े ही पाठ सुनकर चले गये। इस प्रकार वे पन्द्रह दिन तक इसी प्रकार पाठ सुनते रहे। सोलहवें दिन सब शिष्यों की परीक्षा के साथ उनकी भी परीक्षा ली गई। मुनिचन्द्र का बुद्धि-चमत्कार देखकर शान्तिसूरि अति प्रसन्न हुए तथा उन्हें अपने पास रखकर प्रमाणशास्त्र का विशेष अभ्यास कराया।

शान्तिसूरि अपने अन्तिम दिनों में गिरनार में रहे। वहाँ उन्होंने २५ दिन तक अनशन—संथारा किया जो वि० सं० १०९६ के ज्येष्ठ शुक्ला ९ मंगलवार को पूर्ण हुआ और वे स्वर्गवासी हुए।

शान्तिसूरि के समय के विषय में इतना कहा जा सकता है कि पाटन में भीमदेव का शासन वि० सं० १०७८ से ११२० तक था तथा शान्तिसूरि ने भीमदेव की सभा में 'कवीन्द्र' और 'वादिचक्रवर्ती' की पदवियाँ प्राप्त की थीं। राजा भोज जिसकी सभा में शान्तिसूरि ने ८४ वादियों को पराजित किया था, वि० सं० १०६७ से ११११ तक शासक के रूप में विद्यमान था। कवि धनपाल ने वि० सं० १०२९ में अपनी बहिन के लिए 'पाइयलच्छीनाममाला' की रचना की थी। शान्तिसूरि और धनपाल लगभग समवयस्क थे। इन तीनों प्रमाणों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि शान्तिसूरि का समय विक्रम की ग्यारहवीं शती है।

शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन-टीका के अतिरिक्त धनपाल की 'तिलकमंजरी' पर भी एक टिप्पण लिखा है जो पाटन के भंडारों में आज भी विद्यमान है। जीवविचारप्रकरण और चैत्यवन्दन-महाभाष्य भी इन्हीं के माने जाते हैं।

वादिवेताल शान्तिसूरिकृत प्रस्तुत टीका[1] का नाम शिष्यहितावृत्ति है। यह पाइअ-टीका के नाम से भी प्रसिद्ध है क्योंकि इसमें प्राकृत कथानकों एवं उद्धरणों की बहुलता है। टीका भाषा, शैली, सामग्री आदि सभी दृष्टियों से सफल है। इसमें मूल सूत्र एवं निर्युक्ति दोनों का व्याख्यान है। बीच में कहीं-

१. देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१६-७.

कहीं भाष्यगाथाएँ भी उद्धृत की गई हैं। अनेक स्थानों पर पाठान्तर भी दिये गये हैं। प्रारंभ में निम्नलिखित मंगलश्लोक हैं :

शिवदाः सन्तु तीर्थेशा, विघ्नसङ्घातघातिनः।
भवकूपोद्धृतौ येषां वाग् वरत्रायते नृणाम्॥ १॥
समस्तवस्तुविस्तारे, व्यासर्पत्तैलवज्जले।
जीयात् श्रीशासनं जैनं, धीदीपोद्दीप्तिवर्द्धनम्॥ २॥
यत्प्रभावादवाप्यन्ते, पदार्थाः कल्पनां विना।
सा देवी संविदे नः स्तादस्तकल्पलतोपमा॥ ३॥
व्याख्याकृतामखिलशास्त्रविशारदानां
सूच्यप्रवेधकधियां शिवमस्तु तेषाम्।
यैरत्र गाढतरगूढविचित्रसूत्र-
ग्रन्थिर्विभिद्य विहितोऽद्य ममापि गम्यः॥ ४॥
अध्ययनानामेषां यदपि कृताश्चूर्णिवृत्तयः कृतिभिः।
तदपि प्रवचनभक्तिस्त्वरयति मामत्र वृत्तिविधौ॥ ५॥

मंगलविषयक परम्परागत चर्चा करने के बाद आचार्य ने क्रमशः प्रत्येक अध्ययन और उसकी निर्युक्ति का विवेचन किया है। प्रथम अध्ययन की व्याख्या में नय का स्वरूप बताते हुए महामति (सिद्धसेन) की निम्न गाथा उद्धृत की है :[1]

तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्ठिओ वि पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं॥

अर्थात् तीर्थङ्कर के वचनों का विचार करने के लिए मूल दो नय हैं : द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। शेष नय इन्हीं के विकल्प हैं।

वस्तु की नामरूपता सिद्ध करते हुए आचार्य ने भर्तृहरि का एक श्लोक उद्धृत किया है।[2] 'तथा च पूज्याः', 'उक्तं च पूज्यैः' आदि शब्दों के साथ विविध प्रसंगों पर विशेषावश्यकभाष्य की अनेक गाथाएँ उद्धृत की गई हैं।[3] 'समरेसु अगारेसुं........' (अ० १, सू० २६) की वृत्ति मे 'तथा च चूर्णिकृत्' ऐसा कहते हुए वृत्तिकार ने चूर्णि का एक वाक्य उद्धृत किया है।[4] आगे 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' ऐसा लिखते हुए नागार्जुनीय वाचनासम्मत गाथा भी उद्धृत की है।[5] नय की संख्या का विशेष विवेचन करते हुए आचार्य ने

१. प्रथम विभाग, पृ० २१ (१). २. वही. ३. पृ० २१ (२).
४. पृ० ५६ (२). ५. पृ० ६६ (१).

बताया है कि पूर्वविदों ने सकलनयसंग्राही सात सौ नयों का विधान किया है। उस समय एतद्विषयक 'सप्तशतारनयचक्र' नामक अध्ययन भी विद्यमान था। तत्संग्राही विध्यादि बारह प्रकार के नयों का नयचक्र (द्वादशारनयचक्र) में प्रतिपादन किया गया है जो आज भी विद्यमान है : **तथाहि—पूर्वविद्भिः सकलनयसङ्ग्राहीणि सप्त नयशतानि विहितानि, यत् प्रतिबद्धं सप्तशतारं नयचक्राध्ययनमासीत्, तत्सङ्ग्राहिणः पुनर्द्वादश विध्यादयो, यत्प्रतिपादकमिदानीमपि नयचक्रमास्ते.......।**[1]

द्वितीय अध्ययन की व्याख्या में परीषहों के स्वरूप का विवेचन करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि भगवान् महावीरने इन परीषहों का उपदेश दिया है। इस प्रसंग पर कणादादिपरिकल्पित ईश्वरविशेष और अपौरुषेय आगम—इन दोनों का निराकरण किया गया है। देहादि के अभाव में आगमनिर्माण की कल्पना असंगत है : **देहादिविरहात् तथाविधप्रयत्नाभावेनाऽऽख्यानायोगात्।**[2] अचेलपरीषह की चर्चा करते हुए आचार्य कहते हैं कि चीवर धर्मसाधना में एकान्तरूप से बाधक नहीं है। धर्म का वास्तविक बाधक-कारण तो कषाय है। अतः सकषाय चीवर ही धर्मसाधना में बाधक है। जिस प्रकार धर्मसिद्धि के लिए शरीर धारण किया जाता है और उसका भिक्षा आदि से पोषण किया जाता है उसी प्रकार पात्र और चीवर भी धर्मसिद्धि के लिए ही हैं। जैसा कि वाचक सिद्धसेन कहते हैं :[3]

> **मोक्षाय धर्मसिद्ध्यर्थं, शरीरं धार्यते यथा।**
> **शरीरधारणार्थं च, भैक्षग्रहणमिष्यते॥ १॥**
> **तथैवोपग्रहार्थाय, पात्रं चीवरमिष्यते।**
> **जिनैरुपग्रहः साधोरिष्यते न परिग्रहः॥ २॥**

आगे इसी अध्ययन की वृत्ति में अश्वसेन और वात्स्यायन का भी नामोल्लेख किया गया है।[4]

चतुरंगीय नामक तृतीय अध्ययन की वृत्ति में आवश्यकचूर्णि, वाचक (सिद्धसेन) और शिवशर्म का नामोल्लेख है।[5] शिवशर्म की 'जोगा पयडिपएसं ठितिअणुभागं....' गाथा की प्रथम पंक्ति भी उद्धृत की गई है।

---

१. पृ० ६७ (२). २. पृ० ८० (२). ३. पृ. ९५ (२).
४. पृ. १३१ (१). ५. पृ. १७२ (१), १८५ (२), १९० (१).

चतुर्थ अध्ययन की व्याख्या में जीवकरण का स्वरूप बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि जीवभावकरण दो प्रकार का है : श्रुतकरण और नोश्रुतकरण। श्रुतकरण पुनः दो प्रकार का है : बद्ध और अबद्ध। बद्ध के दो भेद हैं : निशीथ और अनिशीथ। ये पुनः लौकिक और लोकोत्तर भेद से दो प्रकार के हैं। निशीथादि सूत्र लोकोत्तर निशीथश्रुत के अन्तर्गत हैं जबकि बृहदारण्यकादि लौकिक निशीथश्रुत में समाविष्ट हैं। आचारादि लोकोत्तर अनिशीथश्रुत के अन्तर्गत हैं जबकि पुराणादि का लौकिक अनिशीथश्रुत में समावेश है। इसी प्रकार अबद्ध श्रुत भी लौकिक और लोकोत्तर भेद से दो प्रकार का होता है।[1] आचार्य-परम्परा से चले आने वाले अनेक प्रकार के कथानक आदि अबद्ध श्रुत के अन्तर्गत हैं।

क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय नामक छठे अध्ययन की व्याख्या में निर्ग्रन्थ के भेद-प्रभेदों की चर्चा करते हुए 'आह च भाष्यकृत्' ऐसा कहते हुए टीकाकार ने चौदह भाष्य-गाथाएँ उद्धृत की हैं जो उत्तराध्ययनभाष्य की ही प्रतीत होती हैं।[2]

आठवें अध्ययन—कापिलीयाध्ययन के विवेचन में संसार की अनित्यता का प्रतिपादन करते हुए 'तथा च हारिलवाचकः' इन शब्दों के साथ हारिलवाचक का निम्न श्लोक उद्धृत किया गया है :[3]

चलं राज्यैश्वर्यं धनकनकसारः परिजनो,
नृपाद्वाल्लभ्यं च चलममरसौख्यं च विपुलम्।
चलं रूपाऽऽरोग्यं चलमिह चरं जीवितमिदं,
जनो दृष्टो यो वै जनयति सुखं सोऽपि हि चलः॥

नमिप्रव्रज्या नामक नववें अध्ययन के विवरण में 'यत आह आससेनः' ऐसा निर्देश करते हुए अष्टमी और पूर्णिमा के दिन नियत रूप से पौषध का विधान करनेवाली निम्नलिखित आससेनीय (अश्वसेनीय) कारिका उद्धृत की गई है :[4]

सर्वेष्वपि तपोयोगः, प्रशस्तः कालपर्वसु।
अष्टम्यां पञ्चदश्यां च, नियतं पोषधं वसेद्॥

प्रवचनमाताख्य चौबीसवें अध्ययन की वृत्ति के अन्त में गुप्ति का स्वरूप बताते हुए टीकाकार ने 'उक्तं हि गन्धहस्तिना' ऐसा लिखते हुए आचार्य

१. पृ० २०४. २. द्वितीय विभाग, पृ० २५७. ३. २८९ (१).
४. पृ० ३१५ (१).

गन्धहस्ती का एक वाक्य उद्धृत किया है। वह इस प्रकार है : सम्यगागमानुसारेणारक्तद्विष्टपरिणतिसहचरितमनोव्यापारः कायव्यापारो वाग्व्यापारश्च निर्व्यापारता वा वाक्काययोर्गुप्तिरिति।[1]

जीवाजीवविभक्ति नामक छत्तीसवें अध्ययन की व्याख्या में जिनेन्द्रबुद्धि का नामोल्लेख किया है एवं धर्माधर्मास्तिकाय के वर्णन के प्रसंग पर उनका एक वाक्य भी उद्धृत किया गया है।[2] स्त्रीशब्द का विवेचन करते हुए आगे टीकाकार ने स्त्रीनिर्वाणसूत्र का उल्लेख किया है तथा एतद्विषयक उसकी मान्यता उद्धृत की है।[3]

अन्त में टीकाकार ने अपना सशाख परिचय इस प्रकार दिया है:[4]

अस्ति विस्तारवानुर्व्यां, गुरुशाखासमन्वितः।
आसेव्यो भव्यसार्थानां, श्रीकोटिकगणद्रुमः॥ १॥
तदुत्थवैरशाखायामभूदायतिशालिनी।
विशाला प्रतिशाखेव, श्रीचन्द्रकुलसन्ततिः॥ २॥
तस्याश्चोत्पद्यमानच्छदनिचयसदृक्काथकर्णान्वयोत्थः,
श्रीथारापद्रगच्छप्रसवभरलसद्धर्मकिञ्जल्कपानात्।
श्रीशान्त्याचार्यभृङ्गो यदिदमुदगिरद्वाङ्मधु श्रोत्रपेयं,
तद् भो भव्याः! त्रिदोषप्रशमकरमतो गृह्यतां लिह्यतां च॥ ३॥

---

1. तृतीय विभाग, पृ० ५१९. 2. पृ० ६७२ (२). 3. पृ० ६८१ (१). 4. पृ० ७१२ (२).

अष्टम प्रकरण

द्रोणसूरिकृत ओघनिर्युक्ति-वृत्ति

द्रोणसूरि ने ओघनिर्युक्ति पर टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त इनकी कोई टीका नहीं है। इन्होंने अभयदेवसूरिकृत टीकाओं का संशोधन किया था। ये पाटनसंघ के प्रमुख पदाधिकारी थे एवं विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शती में विद्यमान थे।

प्रस्तुत वृत्ति[1] ओघनिर्युक्ति एवं इसके लघुभाष्य पर है। वृत्ति की भाषा सरल एवं शैली सुगम है। मूल पदों के शब्दार्थ के साथ ही साथ तद् तद् विषय का भी शंका-समाधान पूर्वक संक्षिप्त विवेचन किया किया है। कहीं-कहीं प्राकृत और संस्कृत उद्धरण भी दिये गये हैं। प्रारंभ में आचार्य ने पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया है :

> अर्हद्भ्यस्त्रिभुवनराजपूजितेभ्यः,
> सिद्धेभ्यः सितघनकर्मबन्धनेभ्यः।
> आचार्यश्रुतधरसर्वसंयतेभ्यः,
> सिद्धयर्थी सततमहं नमस्करोमि ॥

तदनन्तर प्रस्तुत निर्युक्ति का संदर्भ बताते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि यह आवश्यकानुयोगसम्बन्धी व्याख्यान है। उसमें सामायिक नामक प्रथम अध्ययन का निरूपण चल रहा है। उसके चार अनुयोगद्वार हैं : उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय। इनमें से अनुगम के दो भेद हैं : निर्युक्त्यनुगम और सूत्रानुगम। निर्युक्त्यनुगम तीन प्रकार का है : निक्षेप, उपोद्घात और सूत्रस्पर्श। इनमें से उपोद्घात-निर्युक्त्यनुगम के उद्देश, निर्देश आदि २६ भेद हैं। उनमें से काल के नाम, स्थापना, द्रव्य, अद्धा, यथायुष्क, उपक्रम, देश, काल, प्रमाण, वर्ण, भाव आदि भेद हैं। इनमें से उपक्रमकाल दो प्रकार का है : सामाचारी और यथायुष्क। सामाचारी-उपक्रमकाल तीन प्रकार का है : ओघ, दशधा और पदविभाग। इनमें जो ओघसामाचारी है वही ओघनिर्युक्ति है। प्रस्तुत ग्रंथ में इसीका व्याख्यान

---

१. आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१९.

है। द्रोणाचार्य ने अपनी टीका के प्रारंभ में इस संदर्भ को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है :[1]

'प्रक्रान्तोऽयमावश्यकानुयोगः तत्र च सामायिकाध्ययनमनुवर्तते, तस्य च चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति महापुरस्येव, तद्यथा-उपक्रमः निक्षेपः अनुगमः नय इति, एतेषां चाध्ययनादौ उपन्यासे इत्थं च क्रमोपन्यासे प्रयोजनमभिहितम्। तत्रोपक्रमनिक्षेपावुक्तौ, अधुनाऽनुगमावसरः, सच द्विधा-निर्युक्त्यनुगमः सूत्रानुगमश्च, तत्र निर्युक्त्यनुगमस्त्रेधा-निक्षेपोपोद्घातसूत्रस्पर्शनिर्युक्त्यनुगमभेदात्, तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतो वक्ष्यमाणश्च, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमस्त्वाभ्यां द्वाभ्यां द्वारगाथाभ्यामनुगन्तव्यः—'उद्देसे निद्देसे य'[2] इत्यादि। अस्य च द्वारगाथाद्वयस्य समुदायार्थोऽभिहितः, अधुनाऽवयवार्थोऽनुवर्तते, तत्रापि कालद्वारावयवार्थः, तत्प्रतिपादनार्थं चेदं प्रतिद्वारगाथासूत्रमुपन्यस्तम्—'दव्वे अद्ध अदाउय उवक्कम'[3] इत्यादि। अस्यापि समुदायार्थो व्याख्यातः साम्प्रतमवयवार्थः तत्राप्युपक्रमकालाभिधानार्थमिदं गाथासूत्रमाह—'दुविहोवक्कमकालो सामायारी अहाउयं चेव। सामायारी तिविहा ओहे दसहा पयविभागे॥१॥' तत्रोपक्रम इति कः शब्दार्थः? उपक्रमणं उपक्रमः, उपशब्दः सामीप्ये 'क्रमु पादविक्षेपे' उपेति सामीप्येन क्रमणं उपक्रमः—दूरस्थस्य समीपापादनमित्यर्थः, तत्रोपक्रमो द्विधा-सामाचार्युपक्रमकालः यथायुष्कोपक्रमकालश्च, तत्र सामाचार्युपक्रमकालस्त्रिविधः ओघसामाचार्युपक्रमकालः दशधासामाचार्युपक्रमकालः पदविभागसामाचार्युक्रमकालश्च। तत्रौघसामाचारी—ओघनिर्युक्तिः……। तत्रौघसामाचारी तावदभिधीयते…।'

वृत्ति में अनेक स्थानों पर आचार्य ने 'इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकृद् व्याख्यानयति',[4] 'इदानीं भाष्यकारो गाथाद्वयं व्याख्यानयन्नाह'[5] 'इदानीमेतदेव भाष्यकारो गाथाद्वयं व्याख्यानयन्नाह,'[6] इत्यादि शब्दों के साथ भाष्य-गाथाओं का व्याख्यान किया है। प्रस्तुत संस्करण में भाष्य की गाथा-संख्या ३२२ है तथा निर्युक्ति की गाथा-संख्या ८११ है। इस प्रकार निर्युक्ति और भाष्य दोनों को मिलाकर ११३३ गाथाएँ हैं।

---

१. पृ० १. २. आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १४०–१. ३. वही, गा० १९१.
४. पृ० २०५. ५. पृ० २०८. ६. पृ० २१०.

नवम प्रकरण

अभयदेवविहित वृत्तियाँ

विक्रम की बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के बीच के समय में निम्न-लिखित सात टीकाकारों ने आगम-ग्रंथों पर टीकाएँ लिखी हैं : १. द्रोणसूरि, २. अभयदेवसूरि, ३. मलयगिरिसूरि, ४. मलधारी हेमचन्द्रसूरि, ५. नेमिचन्द्रसूरि (देवेन्द्रगणि), ६. श्रीचन्द्रसूरि और ७. श्रीतिलकसूरि। इनमें से अभयदेवसूरि ने निम्न आगम-ग्रंथों पर टीकाएं लिखी हैं : अंग ३–११ और औपपातिक। अंग ३, ४ और ६ की टीकाएं वि. सं. ११२० में लिखी गई। पंचम अंग की टीका वि. सं. ११२८ में पूर्ण हुई। अन्य टीकाओं की रचना का ठीक-ठीक समय अज्ञात है। उपर्युक्त टीकाओं के अतिरिक्त प्रज्ञापना-तृतीयपदसंग्रहणी, पंचाशकवृत्ति, जयतिहुणस्तोत्र, पंचनिर्ग्रन्थी और सप्ततिकाभाष्य भी अभयदेव की ही कृतियाँ हैं।

प्रभावकचरित्र में अभयदेवसूरि का जीवन-चरित्र इस प्रकार अंकित किया गया है :

भोज के शासनकाल में धारा नगरी में एक धनाढ्य सेठ रहता था जिसका नाम लक्ष्मीपति था। उसके पास रहने वाले मध्यदेश के एक ब्राह्मण के श्रीधर और श्रीपति नामक दो पुत्र थे। उन ब्राह्मण युवकों ने आचार्य वर्धमानसूरि से दीक्षा अंगीकार की। आगे जाकर वे जिनेश्वर और बुद्धिसागर के नाम से प्रसिद्ध हुए।

वर्धमानसूरि पहले कूर्चपुर (कूचेरा) के चैत्यवासी आचार्य थे और ८४ जिनमंदिर उनके अधिकार में थे। बाद में उन्होंने चैत्यवास का त्याग कर सुविहित मार्ग अंगीकार किया था। उस समय पाटन में चैत्यवासियों का प्रभुत्व था और वह यहाँ तक कि उनकी सम्मति के बिना सुविहित साधु पाटन में नहीं रह सकते थे। वर्धमानसूरि ने अपने विद्वान् शिष्य जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि को वहाँ भेज कर पाटन में सुविहित साधुओं का विहार एवं निवास प्रारंभ कराने का विचार किया। इसी विचार से उन्होंने अपने दोनों

शिष्यों को पाटन की ओर विहार करने की आज्ञा दी। जिनेश्वर और बुद्धिसागर पाटन पहुँचे किन्तु वहाँ उन्हें ठहरने के लिए उपाश्रय नहीं मिला। अन्त में वे वहीं के पुरोहित सोमेश्वर के पास पहुँचे और उसे अपनी विद्वत्ता से प्रभावित कर उसी के मकान में ठहर गए। जब यह बात चैत्यवासियों को मालूम हुई तो वे तुरन्त पुरोहित के पास पहुँचे और उसे उन्हें निकालने के लिए बाध्य किया। पुरोहित सोमेश्वर ने उनकी बात मानने से इनकार करते हुए कहा कि इसका निर्णय राजसभा ही कर सकती है। चैत्यवासी राजा से मिले और उसे वनराज के समय से पाटन में स्थापित चैत्यवासियों की सार्वभौम सत्ता का इतिहास बताया जिसे सुनकर दुर्लभराज को भी लाचार होना पड़ा। अन्त में उसने अपने व्यक्तिगत प्रभाव का उपयोग कर उन साधुओं को वहाँ रहने देने का आग्रह किया जिसे चैत्यवासियों ने स्वीकार किया।

इस घटना को देख कर पुरोहित सोमेश्वर ने राजा से प्रार्थना की कि सुविहित साधुओं के लिए एक स्वतन्त्र उपाश्रय का निर्माण कराया जाए। राजा ने इस कार्य का भार अपने गुरु शैवाचार्य ज्ञानदेव पर डाला। परिणामस्वरूप पाटन में उपाश्रय बना।

कुछ समय बाद जिनेश्वरसूरि ने धारानगरी की ओर विहार किया। धारानिवासी सेठ धनदेव के पुत्र अभयकुमार को दीक्षित कर अभयदेव के नाम से अपना शिष्य बनाया। योग्यता प्राप्त होने पर वर्धमानसूरि के आदेश से अभयदेव को आचार्य-पद प्रदान कर अभयदेवसूरि बना दिया गया।

वर्धमानसूरि का स्वर्गवास होने के बाद अभयदेवसूरि पल्यपद्र नगर में रहे। वहाँ उन्होंने स्थानांग आदि नव अंगों पर टीकाएं लिखीं। टीकाएं समाप्त कर अभयदेव धवलक—धोलका नगर में पहुँचे। वहाँ उन्हें रक्तविकार की बीमारी हो गई जो थोड़े समय बाद ठीक हो गई। प्रभावक-चरित्र में इसका श्रेय धरणेन्द्र को दिया गया है। अभयदेवसूरि शासन की प्रभावना करते हुए राजा कर्ण की राजधानी पाटन में योगनिरोध द्वारा वासना को परास्त कर स्वर्गवासी हुए।

प्रभावकचरित्रकार के मतानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि अभयदेव ने पल्यपद्र नगर में जाने के बाद अंग-साहित्य की टीकाएं लिखी थीं। यह मान्यता स्वयं अभयदेव के उल्लेखों से खण्डित होती है। इन्होंने अनेक स्थानों पर इन टीकाओं की रचना पाटन में होने का उल्लेख किया है और लिखा है कि पाटन के संघ-प्रमुख द्रोणाचार्य प्रभृति ने इनका आवश्यक संशोधन किया है।

प्रभावकचरित्र में अभयदेव के स्वर्गवास का समय नहीं दिया गया है। इसमें केवल इतना ही लिखा है कि 'वे पाटन में कर्णराज के राज्य में स्वर्गवासी हुए।' पट्टावलियों में अभयदेवसूरि का स्वर्गवास वि. सं. ११३५ में तथा दूसरे मत के अनुसार वि. सं. ११३९ में होने का उल्लेख है। इनमें पाटन के बजाय कपडवंज ग्राम में स्वर्गवास होना बताया गया है।

स्थानांगवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति[1] स्थानांग के मूल सूत्रों पर है। यह वृत्ति शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं है। इसमें सूत्रसम्बद्ध प्रत्येक विषय का आवश्यक विवेचन एवं विश्लेषण भी है। विश्लेषण में दार्शनिक दृष्टि की स्पष्ट झलक है। प्रारम्भ में आचार्य ने भगवान् महावीर को नमस्कार किया है तथा स्थानांग का विवेचन करने की प्रतिज्ञा की है :

श्रीवीरं जिननाथं नत्वा स्थानाङ्ककतिपयपदानाम्।
प्रायोऽन्यशास्त्रदृष्टं करोम्यहं विवरणं किञ्चित्॥

मंगल का आवश्यक विवेचन करने के बाद सूत्रस्पर्शिक विवरण प्रारम्भ किया है। 'एगे आया' (अ. १ सू. २) का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार ने अनेक दृष्टियों से आत्मा की एकता-अनेकता की सिद्धि की है। अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिए जगह-जगह 'तथाहि', 'यदुक्तम्', 'तथा', 'उक्तञ्च', 'आह च', 'तदुक्तम्', 'यदाह' आदि शब्दों के साथ अनेक उद्धरण दिये हैं। आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की सिद्धि करते हुए विशेषावश्यकभाष्य की एतद्विषयक अनेक गाथाएँ उद्धृत की हैं। आत्मा को अनुमानगम्य बताते हुए टीकाकार कहते हैं: तथाऽनुमानगम्योऽप्यात्मा तथाहि—विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरं भोग्यत्वाद्, ओदनादिवत्, व्योमकुसुमं विपक्षः, स च कर्ता जीव इति, नन्वोदनकर्तृवन्मूर्त्त आत्मा सिद्‌ध्यतीति साध्यविरुद्धो हेतुरिति, नैवं, संसारिणो मूर्त्तत्वेनाप्यभ्युपगमाद्, आह च—……।[2] अनुमान से भी आत्मा की सिद्धि होती है। वह

१. (अ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८–२०.
(आ) रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८०.
(इ) माणेकलाल चुनीलाल व कान्तिलाल चुनीलाल, अहमदाबाद, सन् १९३७ (द्वितीय संस्करण).

२. अहमदाबाद-संस्करण, पृ० १० (२).

अनुमान इस प्रकार है : इस शरीर का कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए क्योंकि यह भोग्य है। जो भोग्य होता है उसका कोई कर्ता अवश्य होता है जैसे ओदन-भात का कर्ता रसोइया। जिसका कोई कर्ता नहीं होता वह भोग्य भी नहीं होता जैसे आकाश-कुसुम। इस शरीर का जो कर्ता है वही आत्मा है। यदि कोई यह कहे कि रसोइये की तरह आत्मा की भी मूर्त्तता सिद्ध होती है और ऐसी दशा में प्रस्तुत हेतु साध्यविरुद्ध हो जाता है तो ठीक नहीं क्योंकि संसारी आत्मा कथञ्चित् मूर्त भी है। इस प्रकार की दार्शनिक चर्चा प्रस्तुत वृत्ति मे अनेक स्थानों पर देखने को मिलती है। दार्शनिक दृष्टि के साथ ही साथ वृत्तिकार ने निक्षेप-पद्धति का भी उपयोग किया है जिसमें निर्युक्तियों और भाष्यों की शैली स्पष्टरूप से झलकती है।[1] वृत्ति में यत्र-तत्र कुछ संक्षिप्त कथानक भी हैं जो मुख्यतया दृष्टान्तों के रूप में हैं।[2]

वृत्ति के अन्त में आचार्य ने अपना सानुप्रासिक परिचय देते हुए बताया है कि मैंने यह टीका यशोदेवगणि की सहायता से पूर्ण की है :

'तत्समाप्तौ च समाप्तं स्थानाङ्गविवरणं, तथा च यदादावभिहितं स्थानाङ्गस्य महानिधानस्येवोन्मुद्रणमिवानुयोगः प्रारभ्यत इति तच्चन्द्र-कुलीनप्रवचनप्रणीताप्रतिबद्धविहारहारिचरितश्रीवर्धमानाभिधानमुनिपति-पादोपसेविनः प्रमाणादिव्युत्पादनप्रवणप्रकरणप्रबन्धप्रणयिनः प्रबुद्धप्रति-बन्धप्रवक्तृप्रवीणाप्रतिहतप्रवचनार्थप्रधानवाक्प्रसरस्य सुविहितमुनिजन-मुख्यस्य श्रीजिनेश्वराचार्यस्य तदनुजस्य च व्याकरणादिशास्त्रकर्त्तुः श्रीबुद्धिसागराचार्यस्य चरणकमलचञ्चरीककल्पेन श्रीमदभयदेवसूरिनाम्ना मया महावीरजिनराजसन्तानवर्त्तिना महाराजवंशजन्मनेव संविग्नमुनि-वर्गश्रीमदजितसिंहाचार्यान्तेवासियशोदेवगणिनामधेयसाधोरुत्तरसाध-करयेव विद्याक्रियाप्रधानस्य साहाय्येन समर्थितम्।'[3]

प्रस्तुत कार्य-विषयक अनेक प्रकार की कठिनाइयों को दृष्टि में रखते हुए विवरणकार ने अति विनम्र शब्दों मे अपनी त्रुटियाँ स्वीकार की हैं। साथ ही अपनी कृतियों को आद्योपान्त पढ़कर आवश्यक संशोधन करने वाले द्रोणाचार्य का भी सादर नामोल्लेख किया है। टीका के रचना-काल का निर्देश करते हुए बताया है कि प्रस्तुत टीका विक्रम संवत् ११२० में लिखी गई :[4]

---

१. पृ० १२, ३३, ९६, ९७, २४२. २. पृ० २३२, २६२, २६६, ३८९.
३. पृ० ४९९ (२). ४. पृ० ४९९ (२)-५००.

सत्सम्प्रदायहीनत्वात्, सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥ १ ॥
वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धितः।
सूत्राणामतिगाम्भीर्यान्मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥ २ ॥
क्षूणानि सम्भवन्तीह, केवलं सुविवेकिभिः।
सिद्धान्तानुगतो योऽर्थः, सोऽस्माद् ग्राह्यो न चेतरः ॥ ३ ॥
शोध्यं चैतज्जिने भक्तैर्मामवद्भिर्दयापरैः।
संसारकारणाद् घोरादपसिद्धान्तदेशनात् ॥ ४ ॥
कार्या न चाक्षमाऽस्मासु, यतोऽस्माभिरनाग्रहैः।
एतद् गमनिकामात्रमुपकारीति चर्चितम् ॥ ५ ॥
तथा सम्भाव्य सिद्धान्ताद्, बोध्यं मध्यस्थया धिया।
द्रोणाचार्यादिभिः प्राज्ञैरनेकैरादृतं यतः ॥ ६ ॥
जैनग्रन्थविशालदुर्गभवनादुच्चित्य गाढश्रमं,
सद्व्याख्यानफलान्यमूनि मयका स्थानाङ्गसद्भाजने।
संस्थाप्योपहितानि दुर्गतनरप्रायेण लब्ध्यर्थिना,
श्रीमत्सङ्घविभोरतः परमसावेव प्रमाणं कृती ॥ ७ ॥
श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकालाच्छतेन विंशत्यधिकेन युक्ते।
समासहस्रेऽतिगते विदृब्धा, स्थानाङ्गटीकाऽल्पधियोऽपि गम्या ॥८॥

टीका का ग्रंथमान १४२५० श्लोक-प्रमाण है :[1]

प्रत्यक्षरं निरूप्यास्या, ग्रन्थमानं विनिश्चितम्।
अनुष्टुभां सपादानि, सहस्राणि चतुर्दश ॥

समवायांगवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति[2] चतुर्थ अंग समवायांग के मूल सूत्रों पर है। यह न तो अति संक्षिप्त है और न अति विस्तृत। प्रारम्भ में आचार्य ने वर्धमान महावीर को

---

१. पृ० ५००.

२. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८०.

(आ) आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९१९.

(इ) मफतलाल झवेरचन्द्र, अहमदाबाद, सन् १९३८.

(ई) गुजराती अनुवादसहित—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९९५.

नमस्कार किया है तथा विद्वज्जनों से प्रार्थना की है कि वे परम्परागत अर्थ के अभाव अथवा अज्ञान के कारण वृत्ति में सम्भावित विपरीत प्ररूपण को शोधने की कृपा करें :

श्रीवर्धमानमानम्य, समवायाङ्गवृत्तिका ।
विधीयतेऽन्यशास्त्राणां, प्रायः समुपजीवनात् ।। १ ।।
दुःसम्प्रदायादसदूहनाद्वा, भणिष्यते यद्वितथं मयेह ।
तद्धीधनैर्मामनुकम्पयद्भिः, शोध्यं मतार्थक्षतिरस्तु मैव ।। २ ।।

समवायांग का अर्थ बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं :[१]

'समिति—सम्यक्, अवेत्याधिक्येन, अयनमयः—परिच्छेदो जीवाजीवादिविविधपदार्थसार्थस्य यस्मिन्नसौ समवायः, समवयन्ति वा—समवतरन्ति संमिलन्ति नानाविधा आत्मादयो भावा अभिधेयतया यस्मिन्नसौ समवाय इति । स च प्रवचनपुरुषस्याङ्गमिति समवायाङ्गम् ।'

'समवाय' में तीन पद हैं : 'सम्', 'अव' और 'अय'। 'सम्' का अर्थ है सम्यक्, 'अव' का अर्थ है आधिक्य और 'अय' का अर्थ है परिच्छेद। जिसमें जीवाजीवादि विविध पदार्थों का सविस्तर सम्यक् विवेचन है वह समवाय है। अथवा जिसमें आत्मादि नाना प्रकार के भावों का अभिधेयरूप से समवाय—समवतार—संमिलन है वह समवाय है। वह प्रवचनपुरुष का अंगरूप होने से समवायांग है।

प्रथम सूत्र का व्याख्यान करते हुए टीकाकार ने एक जगह पाठान्तर भी दिया है। 'जंबुद्दीवे दीवे एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं' के स्थान पर 'जंबुद्दीवे दीवे एगं जोयणसयसहस्सं चक्कवालविक्खंभेणं' ऐसा पाठ भी मिलता है : नवरं 'जंबुद्दीवे' इह सूत्रे 'आयामविक्खंभेणं'ति क्वचित् पाठो दृश्यते। क्वचित्तु 'चक्कवालविक्खंभेणं'ति[२]। इन पाठों का अर्थ करते हुए आचार्य कहते हैं : तत्र प्रथमः सम्भवति, अन्यत्रापि तथा श्रवणात्, सुगमश्च, द्वितीयस्त्वेवं व्याख्येयः—चक्रवालविष्कम्भेन वृत्तव्यासेन।[३] प्रथम पाठ सम्भव है क्योंकि यह अन्यत्र भी उपलब्ध है। उसका अर्थ सुगम है। द्वितीय पाठ का अर्थ है वृत्तव्यास।

१. अहमदाबाद-संस्करण, पृ० १. २. पृ० ५ (२). ३. वही.

वृत्ति में अनेक स्थानों पर प्रज्ञापना सूत्र का उल्लेख है तथा एक जगह गन्धहस्ती (भाष्य) का भी उल्लेख है : गन्धहस्त्यादिष्वपि तथैव दृश्यते, प्रज्ञापनायां त्वेकत्रिंशदुक्तेति मतान्तरमिदं[1]। यह वृत्ति वि० सं० ११२० में अणहिलपाटक (पाटन) में लिखी गई। इसका ग्रन्थमान ३५७५ श्लोकप्रमाण है :[2]

शिष्येणाभयदेवाख्यसूरिणा विवृतिः कृता।
श्रीमतः समवायाख्यतुर्याङ्गस्य समासतः ॥ ७ ॥
एकादशसु शतेष्वथ विंशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम्।
अणहिलपाटकनगरे रचिता समवायटीकेयम् ॥ ८ ॥
प्रत्यक्षरं निरूप्यास्याः, ग्रन्थमानं विनिश्चितम्।
त्रीणि श्लोकसहस्राणि, पादन्यूना च षट्शती ॥ ९ ॥

व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति[3] व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) के मूल सूत्रों पर है। यह संक्षिप्त एवं शब्दार्थप्रधान है। इसमें यत्र-तत्र अनेक उद्धरण अवश्य हैं जिनसे अर्थ समझने में विशेष सहायता मिलती है। उद्धरणों के अतिरिक्त आचार्य ने अनेक पाठान्तर और व्याख्याभेद भी दिये हैं जो विशेष महत्त्व के हैं। सर्वप्रथम आचार्य सामान्यरूप से जिन को नमस्कार करते हैं। तदनन्तर वर्धमान, सुधर्मा, अनुयोगवृद्धजन तथा सर्वज्ञप्रवचन को प्रणाम करते हैं। इसके बाद इसी सूत्र की प्राचीन टीका और चूर्णि तथा जीवाभिगमादि की वृत्तियों की सहायता से पंचम अंग व्याख्याप्रज्ञप्ति का विवेचन करने का संकल्प करते हैं। एतदर्थगर्भित श्लोक ये हैं :

सर्वज्ञमीश्वरमनन्तमसङ्गमग्र्यं, सार्वीयमस्मरमनीशमनीहमिद्धम्।
सिद्धं शिवं शिवकरं करणव्यपेतं, श्रीमज्जिनं जितरिपुं प्रयतः प्रणौमि ॥१॥

---

१. पृ. १३० (१). २. पृ. १४८.
३. (अ) पूजाभाई हीराचन्द, रायचन्द जिनागम संग्रह, अहमदाबाद.
(आ) रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८२.
(इ) एम० आर० मेहता, बम्बई, वि० सं० १९७४.
(ई) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८–२१.
(उ) ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, (प्रथम भाग—श० १-७) सन् १९३७, (द्वितीय भाग—श० ८–१४) १९४०.

नत्वा श्रीवर्धमानाय, श्रीमते च सुधर्म्मणे।
सर्वानुयोगवृद्धेभ्यो, वाण्यै सर्वविदस्तथा ॥ २ ॥
एतट्टीका-चूर्णी-जीवाभिगमादिवृत्तिलेशांश्च।
संयोज्य पञ्चमाङ्गं विवृणोमि विशेषतः किञ्चित् ॥ ३ ॥

व्याख्याप्रज्ञप्ति का शब्दार्थ बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं :

'अथ 'विआहपन्नत्ति' त्ति कः शब्दार्थः? उच्यते विविधा जीवाजीवादिप्रचुरतरपदार्थविषयाः आ—अभिविधिना कथञ्चिन्निखिलज्ञेयव्याप्त्या मर्यादया वा—परस्परासंकीर्णलक्षणाभिधानरूपया ख्यानानि—भगवतो महावीरस्य गौतमादिविनेयान् प्रति प्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि व्याख्यास्ताः प्रज्ञाप्यन्ते—प्ररूप्यन्ते भगवता सुधर्म्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्याम्, अथवा विविधतया विशेषेण वा आख्यायन्त इति व्याख्याः—अभिलाप्यपदार्थवृत्तयस्ताः प्रज्ञाप्यन्ते यस्याम्, अथवा व्याख्यानाम्—अर्थप्रतिपादनानां प्रकृष्टाः ज्ञप्तयो—ज्ञानानि यस्यां सा व्याख्याप्रज्ञप्तिः, अथवा...........।'[1]

इस प्रकार वृत्तिकार ने विविध दृष्टियों से व्याख्याप्रज्ञप्ति के दस अर्थ बताये हैं। आगे भी अनेक शब्दों के व्याख्यान में इसी प्रकार का अर्थ-वैविध्य दृष्टिगोचर होता है[2] जो वृत्तिकार के व्याख्यान-कौशल का परिचायक है।

प्रथम सूत्र 'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो सव्वसाहूणं' का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार ने पंचम पद 'णमो सव्वसाहूणं' के पाठान्तर के रूप में 'नमो लोए सव्वसाहूणं' भी दिया है : 'नमो लोए सव्वसाहूणं' ति क्वचित्पाठः।[3] चतुर्थ सूत्र 'तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे.......' की व्याख्या में आचार्य ने बताया है कि 'णमो अरिहंताणं.......' आदि प्रथम तीन सूत्रों का मूलटीकाकार—मूलवृत्तिकार ने व्याख्यान नहीं किया। उन्होंने इसका कोई विशेष कारण नहीं बताया है : अयं च प्राग् व्याख्यातो नमस्कारादिको ग्रन्थो वृत्तिकृता न व्याख्यातः, कुतोऽपि कारणादिति।[4] ये वृत्तिकार अथवा टीकाकार कौन हैं? संभवतः यह उल्लेख आचार्य शीलांक की टीका का है जो प्रथम नौ अंगों के टीकाकार माने जाते हैं किन्तु जिनकी प्रथम दो अंगों की टीकाएँ ही उपलब्ध

---

१. रतलाम-संस्करण, पृ० २-३. २. पृ० ३,५,६,१२,१५,१८,१९,६२.
३. पृ० ६. ४. पृ० १०.

हैं। आचार्य शीलांक के अतिरिक्त अन्य किसी ऐसे टीकाकार का उल्लेख नहीं मिलता जिसने अभयदेवसूरि के पूर्व व्याख्याप्रज्ञप्ति की टीका लिखी हो। चूर्णि का उल्लेख तो प्रस्तुत वृत्ति के प्रारंभ में ही अलग से किया गया है अतः यह टीका चूर्णिरूप भी नहीं हो सकती। आगे की वृत्ति में भी अनेक बार मूलटीकाकार अथवा मूलवृत्तिकार का उल्लेख किया गया है :

'मूलटीकाकृता तु 'उच्छूढसरीरसंखित्तविउलतेयलेस' त्ति कर्म्मधारयं कृत्वा व्याख्यातमिति,'[1] 'एतच्च टीकाकारमतेन व्याख्यातम्,'[2] 'वृत्तिकृता तु द्वितीयप्रश्नोत्तरविकल्प एवंविधो दृष्टः,'[3] 'वृद्धैस्तु इह सूत्रे कुतोऽपि वाचनाविशेषाद् यत्राशीतिस्तत्राप्यभङ्गकमिति व्याख्यातमिति,'[4] टीकाकारस्त्वेवमाह—किमवस्थित एव जीवो देशमपनीय यत्रोत्पत्तव्यं तत्र देशत उत्पद्यते·········एतच्च टीकाकारव्याख्यानं वाचनान्तरविषयमिति,'[5] 'टीकाकारव्याख्यानं त्विहभवायुर्यदा प्रकरोति—वेदयते इत्यर्थः'।[6] वृत्तिकार ने प्रस्तुत वृत्ति में सिद्धसेन दिवाकर और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का भी उल्लेख किया है : तत्र च सिद्धसेनदिवाकरो मन्यते—केवलिनो युगपद् ज्ञानं दर्शनं च, अन्यथा तदावरणक्षयस्य निरर्थकता स्यात्, जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणस्तु भिन्नसमये ज्ञानदर्शने, जीवस्वरूपत्वात्, तथा तदावरणक्षयोपशमे समानेऽपि क्रमेणैव मतिश्रुतोपयोगौ न चैकतरोपयोगे इतरक्षयोपशमाभावः·········।'[7] चूर्णिकारसम्मत व्याख्या का भी वृत्तिकार ने कहीं-कहीं निर्देश किया है : 'सव्वेणं सव्वं उववज्जइ' सर्वेण तु सर्वं उत्पद्यते, पूर्णकारणसमवायाद्, घटवदिति चूर्णिव्याख्या, टीकाकारस्त्वेवमाह·······।[8]

प्रत्येक शतक की वृत्ति के अन्त में टीकाकार ने वृत्ति-समाप्ति-सूचक एक-एक सुन्दर श्लोक दिया है। प्रारंभ के चार शतकों के श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं :

इति गुरुगमभङ्गैः सागरस्याहमस्य,
स्फुटमुपचितजाड्यः पञ्चमाङ्गस्य सद्यः।
प्रथमशतपदार्थावर्त्तगर्तव्यतीतो,
विवरणवरपोतौ प्राप्य सद्धीवराणाम्॥

—प्रथम शतक का अन्त.

१. पृ० २०. २. पृ० २९. ३. पृ० ४०. ४. पृ० १३०.
५. पृ० १४७. ६. पृ० १७४. ७. पृ० १०५. ८. पृ० १४७.

श्रीपञ्चमाङ्गे गुरुसूत्रपिण्डे, शतं स्थितानेकशते द्वितीयम् ।
अनैपुणेनापि मया व्यचारि, सूत्रप्रयोगज्ञवचोऽनुवृत्त्या ॥
—द्वितीय शतक का अन्त.

श्रीपञ्चमाङ्गस्य शतं तृतीयं, व्याख्यातमाश्रित्य पुराणवृत्तिम् ।
शक्तोऽपि गन्तुं भजते हि यानं, पान्थः सुखार्थं किमु यो न शक्तः ॥
—तृतीय शतक का अन्त.

स्वतः सुबोधेऽपि शते तुरीये, व्याख्या मया काचिदियं विदृब्धा ।
दुग्धे सदा स्वादुतमे स्वभावात्, क्षेपो न युक्तः किमु शर्करायाः ॥
—चतुर्थ शतक का अन्त.

वृत्ति के अन्त में आचार्य ने अपनी गुरु-परंपरा बताते हुए अपना नामोल्लेख किया है तथा बताया है कि अणहिलपाटक नगर में वि० सं० ११२८ में १८६१६ श्लोकप्रमाण प्रस्तुत वृत्ति समाप्त हुई :

एकस्तयोः सूरिवरो जिनेश्वरः, ख्यातस्तथाऽन्यो मुनि बुद्धिसागरः ।
तयोर्विनेयेन विबुद्धिनाऽप्यलं, वृत्तिः कृतैषाऽभयदेवसूरिणा ॥५॥

अष्टाविंशतियुक्ते वर्षसहस्रे शतेन चाभ्यधिके ।
अणहिलपाटकनगरे कृतेयमच्छुप्तधनिवसतौ ॥ १५ ॥
अष्टादशसहस्राणि षट् शतान्यथ षोडश ।
इत्येवं मानमेतस्यां श्लोकमानेन निश्चितम् ॥ १६ ॥

ज्ञाताधर्मकथाविवरण :

प्रस्तुत विवरण[1] सूत्रस्पर्शी है । इसमें शब्दार्थ की प्रधानता है । प्रारम्भ में विवरणकार ने महावीर को नमस्कार किया है तथा ज्ञाताधर्मकथांग का विवरण प्रारम्भ करने का संकल्प किया है :

नत्वा श्रीमन्महावीरं प्रायोऽन्यग्रन्थवीक्षितः ।
ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्यानुयोगः कश्चिदुच्यते ॥ १ ॥

प्रथम सूत्र के व्याख्यान में चम्पा नगरी का परम्परागत परिचय दिया गया है । इसी प्रकार दूसरे सूत्र की व्याख्या में पूर्णभद्र नामक चैत्य—व्यन्तरायतन, तीसरे सूत्र की व्याख्या में कोणिक नामक राजा—श्रेणिकराजपुत्र तथा चतुर्थ सूत्र के विवरण में स्थविर सुधर्मा का परिचय है । पाँचवें सूत्र के व्याख्यान

---

१. आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १९१९.

में ज्ञाताधर्मकथा के दो श्रुतस्कंधों अर्थात् दो विभागों का परिचय देते हुए बताया गया है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम ज्ञात है जिसका अर्थ होता है उदाहरण : ज्ञातानि उदाहरणानि प्रथमः श्रुतस्कन्धः।[1] इसमें आचारादि की शिक्षा देने के उद्देश्य से कथाओं के रूप में विविध उदाहरण दिये गये हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध का नाम धर्मकथा है। इसमें धर्मप्रधान कथाओं का समावेश किया गया है : धर्मप्रधानाः कथाः धर्मकथा इति द्वितीयः।[2] तदनन्तर प्रथम श्रुतस्कन्धान्तर्गत निम्नलिखित १९ उदाहरणरूप कथाओं के अध्ययनों की अर्थसहित नामावली दी गई है : १. उत्क्षिप्त-मेघकुमार के जीव द्वारा हाथी के भव में पाद का उत्क्षेप अर्थात् पैर ऊँचा उठाना, २. संघाटक—श्रेष्ठि और चोर का एक बन्धनबद्धत्व, ३. अण्डक—मयूराण्ड, ४. कूर्म—कच्छप, ५. शैलक–एक राजर्षि, ६. तुम्ब–अलाबु, ७. रोहिणी–एक श्रेष्ठिवधू, ८. मल्ली-उन्नीसवीं तीर्थंकरी, ९. माकन्दी नामक व्यापारी का पुत्र, १०. चन्द्रमा, ११. दावद्रव–समुद्रतट के वृक्षविशेष, १२. उदक–नगरपरिखाजल, १३. मण्डूक–नन्द नामक मणिकार सेठ का जीव, १४. तैतलीपुत्र नामक अमात्य, १५. नन्दी-फल–नन्दी नामक वृक्ष के फल, १६. अवरकंका–भरतक्षेत्र के घातकी खण्ड की राजधानी, १७. आकीर्ण–जन्म से समुद्र में रहने वाले अश्व—समुद्री घोड़े, १८. संसुमा—एक श्रेष्ठिदुहिता, १९. पुण्डरीक–एक नगर। इसके बाद विवरणकार ने क्रमशः प्रत्येक अध्ययन का व्याख्यान किया है जिसमें मुख्यतया नये एवं कठिन शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया गया है। आचार्य ने प्रत्येक अध्ययन की व्याख्या के अन्त में उससे फलित होने वाला विशेष अर्थ स्पष्ट किया है तथा उसकी पुष्टि के लिए तदर्थगर्भित गाथाएँ भी उद्धृत की हैं।

प्रथम अध्ययन के अभिधेय का सार बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि अविधिपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले शिष्य को मार्ग पर लाने के लिए गुरु को उसे उपालंभ देना चाहिए जैसा कि भगवान् महावीर ने मेघकुमार को दिया : अविधि-प्रवृत्तस्य शिष्यस्य गुरुणा मार्गे स्थापनाय उपालम्भो देयो यथा भगवता दत्तो मेघकुमारायेत्येवमर्थं प्रथममध्ययनमित्यभिप्रायः।[3] इसी वक्तव्य की पुष्टि के लिए 'इह गाथा' ऐसा कहते हुए आचार्य ने निम्न गाथा उद्धृत की है :[4]

महुरेहिं निउणेहिं वयणेहिं चोययंति आयरिया।
सीसे कहिंचि खलिए जह मेहमुणिं महावीरो॥ १॥

१. पृ० १० (१). २. वही. ३. पृ० ७७ (१). ४. वही.

(मधुरैर्निपुणैर्वचनैः स्थापयन्ति आचार्याः।
शिष्यं कचित् स्खलिते यथा मेघमुनिं महावीरः ॥ १ ॥)

द्वितीय अध्ययन के अन्त में आचार्य लिखते हैं कि बिना आहार के मोक्ष के साधनों में प्रवृत्त न होने के कारण शरीर को आहार देना चाहिए जैसा कि धन सार्थवाह ने विजय चोर को दिया। इसी अभिधेयार्थ की पुष्टि के लिए आचार्य ने 'पठ्यते च' ऐसा लिखते हुए निम्न गाथा उद्धृत की है :[1]

सिवसाहणेसु आहारविरहिओ जं न वट्टए देहो।
तम्हा धणो व्व विजयं साहू तं तेण पोसेज्जा ॥ १ ॥
(शिवसाधनेषु आहारविरहितो यन्न प्रवर्त्तते देहः।
तस्मात् धन इव विजयं साधुस्तत् तेन पोषयेत् ॥ १ ॥)

तृतीय अध्ययन का सार बताते हुए वृत्तिकार लिखते हैं कि बुद्धिमान् को जिनवरभाषित वचनों में संदेह नहीं करना चाहिए क्योंकि इस प्रकार का सन्देह अनर्थ का कारण है। जो जिनवचनों में हमेशा शंकित रहता है उसे सागरदत्त की भाँति निराश होना पड़ता है। जो निःशंकित होकर जिनवचनानुकूल आचरण करता है उसे जिनदत्त की तरह सफलता प्राप्त होती है। निम्न गाथाओं में यही बताया गया है :[2]

जिणवरभासियभावेसु भावसच्चेसु भावओ मइमं।
नो कुज्जा संदेहं संदेहोऽणत्थहेउत्ति ॥ १ ॥
निस्संदेहत्तं पुण गुणहेउं जं तओ तयं कज्जं।
एत्थं दो सिट्ठिसुया अंडयगाही उदाहरणं ॥ २ ॥
(जिनवरभाषितेषु भावेषु भावसत्येषु भावतो मतिमान्।
न कुर्यात् संदेहं सन्देहोऽनर्थहेतुरिति ॥ १ ॥
निस्सन्देहत्वं पुनर्गुणहेतुर्यत्ततस्तत् कार्यं।
अत्र द्वौ श्रेष्ठिसुतौ अण्डकग्राहिणावुदाहरणम् ॥ २ ॥)

प्रथम श्रुत स्कन्ध के शेष अध्ययनों के विवरण के अन्त में भी इसी प्रकार की अभिधेयार्थग्राही गाथाएँ हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के शेष अध्ययनों के विवरण के अन्त में भी इसी प्रकार की अभिधेयार्थग्राही गाथाएँ हैं। इस श्रुतस्कन्ध में धर्मार्थ का कथन साक्षात् कथाओं

---

१. पृ० ९० (१). २. पृ० ९५ (२).

से न होकर उदाहरणों के माध्यम से है जबकि द्वितीय श्रुतस्कन्ध में साक्षात् धर्मकथाओं से ही धर्मार्थ का वर्णन किया गया है : पूर्वत्राप्रोपालम्भादिभिर्ज्ञातैधर्मार्थ उपनीयते, इह तु स एव साक्षात्कथाभिरभिधीयते'''।[1] इसमें धर्मकथाओं के दस वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में विविध अध्ययन हैं। विवरणकार ने 'सर्वः सुगमः' और 'शेषं सूत्रसिद्धम्' ऐसा लिखते हुए इन अध्ययनों का व्याख्यान चार पंक्तियों में ही समाप्त कर दिया है। अन्त के श्लोकों में आचार्य अभयदेव ने अपने गुरु का नाम जिनेश्वर बताया है तथा प्रस्तुत विवरण के संशोधक के रूप में निर्वृतककुलीन द्रोणाचार्य के नाम का उल्लेख किया है। विवरण का ग्रंथमान ३८०० श्लोकप्रमाण है। ग्रंथसमाप्ति की तिथि वि. सं. ११२० की विजयदशमी है। लेखनसमाप्ति का स्थान अणहिलपाटक नगर है। अंतिम श्लोक ये हैं :

नमः श्रीवर्धमानाय, श्रीपार्श्वप्रभवे नमः।
नमः श्रीमत्सरस्वत्यै, सहायेभ्यो नमो नमः ॥ १ ॥

इह हि गमनिकार्थं यन्मया व्यूह्योक्तं,
किमपि समयहीनं तद्विशोध्यं सुधीभिः।
नहि भवति विधेया सर्वथाऽस्मिन्नुपेक्षा,
दयितजिनमतानां तायिनां चाङ्गिवर्गे ॥ २ ॥

परेषां दुर्लक्षा भवति हि विपक्षाः स्फुटमिदं,
विशेषाद् वृद्धानामतुलवचनज्ञानमहसाम्।
निराम्नायाधीभिः पुनरतितरां मादृशजनैस्ततः,
शास्त्रार्थे मे वचनमनघं दुर्लभमिह ॥ ३ ॥

ततः सिद्धान्ततत्त्वज्ञैः, स्वयमूह्यः प्रयत्नतः।
न पुनरस्मदाख्यात, एव ग्राह्यो नियोगतः ॥ ४ ॥

तथापि माऽस्तु मे पापं, सङ्घमत्युपजीवनात्।
वृद्धन्यायानुसारित्वाद्धितार्थं च प्रवृत्तितः ॥ ५ ॥

तथाहि किमपि स्फुटीकृतमिह स्फुटेऽप्यर्थतः,
सकष्टमतिदेशतो विविधवाचनातोऽपि यत्।
समर्थपदसंश्रयाद्विगुणपुस्तकेभ्योऽपि यत्,
परात्महितहेतवेऽनभिनिवेशिना चेतसा ॥ ६ ॥

---

१. पृ० २४६ (१).

यो जैनाभिमतं प्रमाणमनघं व्युत्पादयामासिवान्,
प्रस्थानैर्विविधैर्निरस्य निखिलं बौद्धादिसम्बधि तत्।
नानावृत्तिकथाकथापथमतिक्रान्तं च चक्रे तपो,
निःसम्बन्धविहारमप्रतिहतं शास्त्रानुसारात्तथा ॥ ७ ॥
तस्याचार्यजिनेश्वरस्य मदवद्वादिप्रतिस्पर्द्धिनः,
तद्बन्धोरपि बुद्धिसागर इति ख्यातस्य सूरेर्भुवि।
छन्दोबन्धनिबद्धबन्धुरवचः शब्दादिसल्लक्ष्मणः,
श्रीसंविग्नविहारिणः श्रुतनिधेश्चारित्रचूडामणेः ॥ ८ ॥
शिष्येणाभयदेवाख्यसूरिणा विवृतिः कृता।
ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य, श्रुतभक्त्या समासतः ॥ ९ ॥
निर्वृतककुलनभस्तलचन्द्रद्रोणाख्यसूरिमुख्येन।
पंडितगुणेन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम् ॥ १० ॥
प्रत्यक्षरं गणनया, ग्रन्थमानं विनिश्चितम्।
अनुष्टुभां सहस्राणि, त्रीण्येवाष्टशतानि च ॥ ११ ॥
एकादशसु शतेष्वथ विंशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम्।
अणहिलपाटकनगरे विजयदशम्यां च सिद्धेयम् ॥ १२ ॥

उपासकदशांगवृत्ति :

यह वृत्ति[1] सूत्रस्पर्शी है। इसमें सूत्रगत विशेष शब्दों के अर्थ आदि का स्पष्टीकरण किया गया है। ज्ञाताधर्मकथा की टीका की ही भाँति शब्दार्थ-प्रधान होने के कारण इसका विस्तार अधिक नहीं है। यह वृत्ति ज्ञाताधर्मकथा की वृत्ति के बाद लिखी गई है। प्रारम्भ में वर्धमान को नमस्कार किया गया है तथा उपासकदशांग की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की गई है। इसके बाद टीकाकार ने सप्तम अंग 'उपासकदशा' का शब्दार्थ किया है। उपासक का अर्थ है श्रमणोपासक और दशा का अर्थ है दस। श्रमणोपासक-सम्बन्धी अनुष्ठान का प्रतिपादन करनेवाला दस अध्ययनरूप ग्रन्थ उपासकदशा है। इस ग्रन्थ का नाम बहुवचनान्त है। प्रस्तुत वृत्ति में भी आचार्य ने कहीं-कहीं व्याख्यान्तर का निर्देश किया है। अनेक जगह ज्ञाताधर्मकथा की व्याख्या से अर्थ समझ लेने के लिए कहा है। अन्त में

१. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६.
(आ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२०.
(इ) केवल गुजराती अनुवाद—पं० भगवानदास हर्षचंद्र, जैन सोसायटी, अहमदाबाद, वि० सं० १९९२.

वृत्तिकार कहते हैं कि सब मनुष्यों को प्रायः अपना वचन अभिमत होता है। जो खुद को भी अच्छी तरह पसंद नहीं आता वह दूसरों को कैसे पसंद आ सकता है? मैंने अपने चित्त के किसी उल्लास विशेष के कारण यहाँ कुछ कहा है। उसमें जो कुछ युक्तियुक्त हो उसे निर्मल बुद्धिवाले पुरुष प्रेमपूर्वक स्वीकार करें।

अन्तकृद्दशावृत्ति :

यह वृत्ति[1] भी सूत्रस्पर्शी एवं शब्दार्थप्रधान है। अव्याख्यात पदों के अर्थ के लिए वृत्तिकार ने ज्ञाताधर्मकथाविवरण का निर्देश किया है। 'अन्तकृद्दशा' का शब्दार्थ बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं : **तत्रान्तो—भवान्तः कृतो—विहितो यैस्तेऽन्तकृतास्तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धा दशाः—दशाध्ययनरूपा ग्रन्थपद्धतय इति अन्तकृद्दशाः, इह चाष्टौ वर्गा भवन्ति। तत्र प्रथमे वर्गे दशाध्ययनानि।** 'अन्त' का अर्थ है भवान्त और 'कृत' का अर्थ है विहित। जिन्होंने अपने भव का अन्त किया है वे अन्तकृत हैं। अन्तकृतसम्बन्धी ग्रन्थविशेष जिसकी पद्धति दशाध्ययनरूप—दस अध्ययनवाली है, अन्तकृद्दशा कहलाता है। यद्यपि अन्तकृद्दशा के प्रत्येक वर्ग मे दस अध्ययन नहीं हैं तथापि कुछ वर्गों की दस अध्ययनवाली पद्धति के कारण इसका नाम अन्तकृद्दशा रखा गया है। वृत्ति के अंत मे आचार्य लिखते हैं : **यदिह न व्याख्यातं तज्ज्ञाताधर्मकथाविवरणादवसेयम्**—जिसका यहाँ व्याख्यान न किया गया हो वह ज्ञाताधर्मकथा के विवरण से समझ लेना चाहिए। निम्नलिखित श्लोक के साथ वृत्ति पूर्ण होती है :

अनन्तरसपर्यये जिनवरोदिते शासने,
यकेह समयानुगा गमनिका किल प्रोच्यते।
गमान्तरमुपैति सा तदपि सद्भिरस्यां कृता-
वरूढगमशोधनं ननु विधीयतां सर्वतः॥

अनुत्तरौपपातिकदशावृत्ति :

यह वृत्ति[2] भी सूत्रस्पर्शिक एवं शब्दार्थग्राही है। प्रारंभ में वृत्तिकार ने 'अनुत्तरौपपातिकदशा' का अर्थ बताया है : **तत्रानुत्तरेषु विमानविशेषेषु-**

---

१. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७५.
(आ) आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९२०.
(इ) गूर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, गांधी रोड, अहमदाबाद, सन् १९३२.
२. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७५.

पपातो जन्म अनुत्तरोपपातः स विद्यते येषां तेऽनुत्तरौपपातिकास्तत्प्रतिपादिका दशाः। दशाध्ययनप्रतिबद्धप्रथमवर्गयोगाद्दशाः ग्रन्थविशेषोऽनुत्तरौपपातिकदशास्तासां च सम्बन्धसूत्रम्। अनुत्तरविमान में उत्पन्न होनेवाले अनुत्तरौपपातिक कहे जाते हैं। जिस ग्रंथ में अनुत्तरौपपातिकों का वर्णन है उसका नाम भी अनुत्तरौपपातिक है। उसके प्रथम वर्ग में दस अध्ययन हैं अतः उसे अनुत्तरौपपातिकदशा कहते हैं। अन्त में वृत्तिकार ने लिखा है :

शब्दाः केचन नार्थतोऽत्र विदिताः केचित्तु पर्यायतः,
सूत्रार्थानुगतेः समूह्य भणतो यज्जातमागःपदम्।
वृत्तावत्र तकत् जिनेश्वरवचोभाषाविधौ कोविदैः,
संशोध्यं विहितादरैर्जिनमतोपेक्षा यतो न क्षमा॥

कुछ शब्दों का अर्थतः और कुछ का पर्यायतः ज्ञान न होने से वृत्ति में त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक है। जिनवाणी में निष्णात आदरणीय विद्वज्जन उन त्रुटियों का संशोधन कर लें क्योंकि जिनमत की उपेक्षा करना उचित नहीं।

प्रश्नव्याकरणवृत्ति :

अभयदेवसूरिकृत प्रस्तुत शब्दार्थप्रधान वृत्ति[1] का ग्रंथमान ४६३० श्लोक-प्रमाण है। इसे द्रोणाचार्य ने शुद्ध किया था। वृत्ति के प्रारंभ में व्याख्येय ग्रंथ की दुरूहता का निर्देश करते हुए आचार्य कहते हैं :

अज्ञा वयं शास्त्रमिदं गभीरं प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि।
सूत्रं व्यवस्थाप्यमतो विमृश्य, व्याख्यानकल्पादित एव नैव॥

प्रस्तुत ग्रंथ का नाम प्रश्नव्याकरण अथवा प्रश्नव्याकरणदशा है। प्रश्न-व्याकरण का अर्थ बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि जिसमें प्रश्न अर्थात् अंगुष्ठादि प्रश्नविद्याओं का व्याकरण अर्थात् अभिधान किया गया है वह प्रश्न-व्याकरण है। प्रश्नव्याकरणदशा का अर्थ यह है : जिसमें प्रश्न अर्थात् विद्या-विशेषों का व्याकरण अर्थात् प्रतिपादन करने वाले दश अर्थात् दस अध्ययन हैं वह प्रश्नव्याकरणदशा है। यह व्युत्पत्त्यर्थ पहले था। इस समय तो इसमें आस्रवपंचक और संवरपंचक का प्रतिपादन ही उपलब्ध है : प्रश्नाः—अङ्गु-

(आ) आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९२०.
(इ) गूर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, सन् १९३२.
१. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६.
(आ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१९.

छादिप्रश्नविधास्ता—व्याक्रियन्ते-अभिधीयन्तेऽस्मिन्निति प्रश्नव्याकरणं, क्वचित् 'प्रश्नव्याकरणदशा' इति दृश्यते, तत्र प्रश्नानां—विद्याविशेषाणां यानि व्याकरणानि तेषां प्रतिपादनपरा दशा—दशाध्ययनप्रतिबद्धा ग्रन्थपद्धतय इति प्रश्नव्याकरणदशा। अयं व्युत्पत्त्यर्थोऽस्य पूर्वकाले-ऽभूत्। इदानीं त्वास्रवपञ्चकसंवरपञ्चकव्याकृतिरेवोपलभ्यते।'[1] आगे आचार्य ने बताया है कि महाज्ञानी पूर्वाचार्यों ने इस युग के पुरुषों के स्वभाव को दृष्टि में रखते हुए ही उन विद्याओं के बदले पंचास्रव और पंचसंवर का वर्णन किया प्रतीत होता है। प्रश्नव्याकरण-सुखबोधिकावृत्तिकार ज्ञानविमलसूरि ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है।[2]

विपाकवृत्ति :

वृत्ति[3] के प्रारंभ में आचार्य ने वर्धमान को नमस्कार किया है तथा विपाक सूत्र की वृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की है :

नत्वा श्रीवर्धमानाय वर्धमानश्रुताध्वने।
विपाकश्रुतशास्त्रस्य वृत्तिशेयं विधास्यते॥

तदनन्तर अपनी अन्य वृत्तियों की शैली का अनुसरण करते हुए 'विपाक-श्रुत' का शब्दार्थ बताया है : अथ 'विपाकश्रुतम्' इति कः शब्दार्थः ? उच्यते—विपाकः पुण्यपापरूपकर्मफलं तत्प्रतिपादनपरं श्रुतमागमो विपाकश्रुतम्। इदं च द्वादशाङ्गस्य प्रवचनपुरुषस्यैकादशमङ्गम्। विपाक का अर्थ है पुण्य पापरूप कर्मफल। उसका प्रतिपादन करने वाला श्रुत अर्थात् आगम विपाकश्रुत कहलाता है। यह श्रुत द्वादशांगरूप प्रवचनपुरुष का ग्यारहवाँ अंग है।

---

१. पृ. १.

२. देखिये—प्रश्नव्याकरण—सुखबोधिकावृत्ति, पृ. २ (२).

३. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६.

(आ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२०.

(इ) मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा, सन् १९२० (प्रथम आवृत्ति), वि. सं. १९९२ (द्वितीय आवृत्ति).

(ई) गूर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, गांधी रोड, अहमदाबाद, सन् १९३५ (मूल, मूल का अंग्रेजी अनुवाद, टिप्पण आदि सहित).

प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के पंचम सूत्र 'से णं भंते ! पुरिसे पुव्वभवे के आसि......तत्थ णं विजयवद्धमाणे खेडे एक्काई नाम रट्ठकूडे होत्था....' की व्याख्या में वृत्तिकार ने रट्ठकूड–रट्ठउड–राष्ट्रकूट का अर्थ इस प्रकार किया है : 'रट्ठउडे' त्ति राष्ट्रकूटो मण्डलोपजीवी राजनियोगिकः।[1] इसी प्रकार आचार्य ने अन्य पारिभाषिक पदों का भी संक्षिप्त एवं संतुलित अर्थ किया है। अन्त में अन्य वृत्तियों की भाँति इसमें भी वृत्तिकार ने विद्वानों से वृत्तिगत त्रुटियाँ शोधने की प्रार्थना की है :[2]

इहानुयोगे यदयुक्तमुक्तं तद् धीधना द्राक् परिशोधयन्तु।
नोपेक्षणं युक्तिमदत्र येन जिनागमे भक्तिपरायणानाम्॥

औपपातिकवृत्ति :

यह वृत्ति[3] भी शब्दार्थ-प्रधान है। प्रारंभ में वृत्तिकार ने वर्धमान को नमस्कार करते हुए औपपातिक शास्त्र की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है :

श्रीवर्धमानमानम्य, प्रायोऽन्यग्रन्थवीक्षिता।
औपपातिकशास्त्रस्य, व्याख्या काचिद्विधीयते॥

इसके बाद 'औपपातिक' का शब्दार्थ किया है : अथौपपातिकमिति कः शब्दार्थः ? उच्यते—उपपतनमुपपातो—देवनारकजन्म सिद्धिगमनं च, अतस्तमधिकृत्य कृतमध्ययनमौपपातिकम्। देवों और नारकों के जन्म और सिद्धिगमन को उपपात कहते हैं। उपपातसम्बन्धी वर्णन के कारण तत्सम्बद्ध ग्रंथ का नाम औपपातिक है। यह ग्रंथ किसका उपांग है ? इसका उत्तर देते हुए वृत्तिकार कहते हैं : इदं चोपाङ्गं वर्त्तते, आचाराङ्गस्य हि प्रथममध्ययनं शस्त्रपरिज्ञा, तस्याद्योद्देशके सूत्रमिदम् 'एवमेगेसिं नो नायं भवइ—अत्थि वा मे आया उववाइए, नत्थि वा मे आया उववाइए, के वा अहं आसी ? के वा इह (अहं) च्चुए (इओ चुओ) पेच्चा इह भविस्सामि' इत्यादि, इह च सूत्रे यदौपपातिकत्वमात्मनो निर्दिष्टं तदिह प्रपञ्च्यत इत्यर्थतोऽङ्गस्य समीपभावेनेदमुपाङ्गम्। यह ग्रंथ

१. बड़ौदा-संस्करण (द्वितीय), पृ. १० (१).

२. पृ. ९९ (१).

३. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८८०.
(आ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१६.

आचारांग का उपांग है। आचारांग के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा के आद्य उद्देशक के 'एवमेगेसिं नो नायं भवइ—अत्थि वा मे आया उव-वाइए.......' सूत्र में आत्मा का औपपातिकत्व निर्दिष्ट है उसका विशेष वर्णन करने के कारण औपपातिक सूत्र आचारांग का उपांग कहा जाता है।

प्रथम सूत्र 'तेणं कालेणं......' का व्याख्यान करते हुए टीकाकार ने सूत्रों के अनेक पाठभेद होना स्वीकार किया है: इह च बहवो वाचनाभेदा दृश्यन्ते........। आगे आचार्य ने सूत्रान्तर्गत नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विडम्बक, कथक, प्लवक, लासक, आख्यायक, लंख, मंख, तूणइल्ल, तुम्बवीणिक, तालाचर, आराम, उद्यान, अवट, तडाग, दीर्घिका, वप्पिणि, अट्टालक, चरिक, द्वार, गोपुर, तोरण, परिघ, इन्द्रकील, शिल्पी, श्रृंगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, पणित, आपण, चतुर्मुख, महापथ, पंच, शिबिका, स्यंदमानिक, यान, युग्य, याग, भाग, दाय, कंद, स्कंध, त्वक्, शाला (शाखा), प्रवाल, विष्कम्भ, आयाम, उत्सेध, अंजनक, हलधरकोसेज्ज, कज्जलांगी, श्रृंगभेद, रिष्ठक, अशनक, सनबंधन, मरकत, मसार, ईहामृग, व्यालक, आजिनक, रूत, बूर, तूल, गण-नायक, दंडनायक, राजा, ईश्वर (युवराज), तलवर, माडंबिक, कौटुंबिक, मंत्री, महामंत्री, गणक, दौवारिक, अमात्य, चेट, पीठमर्द, नागर, नैगम, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, दूत, संधिपाल आदि अनेक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक, सामाजिक, प्रशासनविषयक एवं शास्त्रीय शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया है। यत्र-तत्र पाठांतरों एवं मतान्तरों का भी निर्देश किया है। अन्त में वृत्तिकार ने अपने नाम के साथ ही साथ अपने कुल और गुरु का नाम दिया है तथा बताया है कि प्रस्तुत वृत्ति का संशोधन द्रोणाचार्य ने अणहिलपाटक नगर में किया :[1]

चन्द्रकुलविपुलभूतलयुगप्रवरवर्धमानकल्पतरोः ।
कुसुमोपमस्य सूरेः गुणसौरभभरितभवनस्य ॥ १ ॥
निस्सम्बन्धविहारस्य सर्वदा श्रीजिनेश्वराह्वस्य ।
शिष्येणाभयदेवाख्यसूरिणेयं कृता वृत्तिः ॥ २ ॥
अणहिलपाटकनगरे श्रीमद्द्रोणाख्यसूरिमुख्येन ।
पण्डितगुणेन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम् ॥ ३ ॥

वृत्ति का ग्रंथमान ३१२५ श्लोक-प्रमाण है।

१. आगमोदय-संस्करण, पृ० ११९.

दशम प्रकरण

मलयगिरिविहित वृत्तियाँ

आचार्य मलयगिरि की प्रसिद्धि टीकाकार के रूप में ही है, न कि ग्रंथकार के रूप में। इन्होंने जैन आगम-ग्रंथों पर अति महत्त्वपूर्ण टीकाएं लिखी हैं। ये टीकाएं विषय की विशदता, भाषा की प्रासादिकता, शैली की प्रौढता एवं निरूपण की स्पष्टता आदि सभी दृष्टियों से सुसफल हैं। मलयगिरिसूरि का स्वल्प परिचय इस प्रकार है :[1]

आचार्य मलयगिरि ने अपने ग्रंथों के अंत की प्रशस्ति में 'यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः' इस प्रकार सामान्य नामोल्लेख के अतिरिक्त अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। इसी प्रकार अन्य आचार्यों ने भी इनके विषय में प्रायः मौन ही धारण किया है। केवल पंद्रहवीं शताब्दी के एक ग्रंथकार जिनमण्डनगणि ने अपने कुमारपालप्रबन्ध में आचार्य हेमचन्द्र की विद्यासाधना के प्रसंग का वर्णन करते समय आचार्य मलयगिरि से सम्बन्धित कुछ बातों का उल्लेख किया है। वर्णन इस प्रकार है :

हेमचन्द्र ने गुरु की आज्ञा लेकर अन्य गच्छीय देवेन्द्रसूरि और मलयगिरि के साथ कलाओं में कुशलता प्राप्त करने के लिए गौडदेश की ओर विहार किया। मार्ग में खिल्लूर ग्राम में एक साधु बीमार था। उसकी तीनों ने अच्छी तरह सेवा की। वह साधु रैवतक तीर्थ (गिरनार) की यात्रा के लिए बहुत आतुर था। उसकी अंतिम समय की इच्छा पूरी करने के लिए गाँव के लोगों को समझा-बुझाकर डोली का प्रबंध कर वे लोग सो गए। सबेरे उठकर क्या देखते हैं कि तीनों जने रैवतक में बैठे हुए हैं। इसी समय शासनदेवी ने आकर उन्हें कहा कि आप लोगों का इच्छित कार्य यहीं सम्पन्न हो जाएगा। अब आपको गौडदेश में जाने की कोई आवश्यकता नहीं। यह कह कर अनेक मंत्र, औषधि आदि देकर देवी अपने स्थान पर चली गई।

---

१. इसका आधार मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित पंचम तथा षष्ठ कर्मग्रंथ (आत्मानन्द जैन ग्रंथमाला, ८६) की प्रस्तावना है।

एक समय गुरु ने उन्हें सिद्धचक्र मंत्र दिया।........तीनों ने अम्बिका-देवी की सहायता से भगवान् नेमिनाथ (रैवतकदेव) के सामने बैठकर सिद्धचक्र मंत्र की आराधना की। मंत्र के अधिष्ठाता विमलेश्वरदेव ने प्रसन्न होकर तीनों से कहा कि तुम लोग अपना इच्छित वरदान माँगो। उस समय हेमचन्द्र ने राजा को प्रतिबोध देने का, देवेन्द्रसूरि ने एक रात में कान्ती नगरी से सेरीसक ग्राम में मंदिर लाने का और मलयगिरिसूरि ने जैन सिद्धान्तों की वृत्तियां—टीकाएँ लिखने का वर मांगा। तीनों को अपनी-अपनी इच्छानुसार वर देकर देव अपने स्थान पर चला गया।

उपर्युक्त उल्लेख से यह फलित होता है कि (१) मलयगिरिसूरि आचार्य हेमचन्द्र के साथ विद्यासाधना के लिए गये थे, (२) उन्होंने जैन आगमग्रंथों की टीकाएं लिखने का वरदान प्राप्त किया था और (३) वे 'सूरि' पद अर्थात् 'आचार्य' पद से विभूषित थे। मलयगिरि के लिए आचार्यपदसूचक एक और प्रमाण उपलब्ध है जो इससे भी अधिक प्रबल है। यह प्रमाण मलयगिरिविरचित शब्दानुशासन में है जो इस प्रकार है: **एवं कृतमङ्गल-रक्षाविधानः परिपूर्णमल्पग्रन्थं लघूपाय आचार्यो मलयगिरिः शब्दानु-शासनमारभते।** इसमें मलयगिरि ने अपने लिए स्पष्टरूप से आचार्यपद का प्रयोग किया है। इसी प्रकार आचार्य मलयगिरि और आचार्य हेमचन्द्र के सम्बन्ध पर प्रकाश डालने वाला एक प्रमाण मलयगिरिविरचित आवश्यकवृत्ति मे है जिससे यह प्रकट होता है कि आचार्य मलयगिरि आचार्य हेमचन्द्र को अति सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखते थे। आचार्य मलयगिरि लिखते हैं: **तथा चाहुः स्तुतिषु गुरवः—**

अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्, यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयानशेषानविशेषमिच्छन्, न पक्षपाती समयस्तथा ते॥

यह कारिका आचार्य हेमचन्द्रकृत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका की है जिसे आचार्य मलयगिरि ने अपनी आवश्यकवृत्ति में उद्धृत किया है। उद्धृत करने के पूर्व आचार्य हेमचन्द्र के लिए 'गुरवः' पद का प्रयोग किया है। इस अति सम्मानपूर्ण प्रयोग से यह स्पष्ट है कि आचार्य हेमचन्द्र के पाण्डित्य का प्रभाव मलयगिरिसूरि पर काफी गहरा था। इतना ही नहीं, आचार्य हेमचन्द्र मलय-गिरिसूरि की अपेक्षा व्रतावस्था में भी बड़े ही थे, वय में चाहे बड़े न भी हों। अन्यथा आचार्य हेमचन्द्र के लिए 'गुरवः' शब्द का प्रयोग करना मलयगिरिसूरि

के लिए इतना सरल न होता। जैन आगमों पर टीकाएँ लिखने की आचार्य मलयगिरि की इच्छा तो उनकी उपलब्ध टीकाओं में प्रतिबिम्बित है ही।

मलयगिरि ने कितने ग्रंथ लिखे, इसका स्पष्ट उल्लेख तो कहीं उपलब्ध नहीं होता। उनके जितने ग्रंथ इस समय उपलब्ध हैं तथा जिन ग्रन्थों के नामों का उल्लेख तो उनकी कृतियों में है किन्तु ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं उन सब की सूची नीचे दी जाती है:

उपलब्ध ग्रंथ

नाम	श्लोकप्रमाण
१. भगवतीसूत्र–द्वितीयशतकवृत्ति	३७५०
२. राजप्रश्नीयोपाङ्गटीका	३७००
३. जीवाभिगमोपाङ्गटीका	१६०००
४. प्रज्ञापनोपाङ्गटीका	१६०००
५. चन्द्रप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५००
६. सूर्यप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५००
७. नन्दीसूत्रटीका	७७३२
८. व्यवहारसूत्रवृत्ति	३४०००
९. बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति (अपूर्ण)	४६००
१०. आवश्यकवृत्ति (अपूर्ण)	१८०००
११. पिण्डनिर्युक्तिटीका	६७००
१२. ज्योतिष्करण्डकटीका	५०००
१३. धर्मसंग्रहणीवृत्ति	१००००
१४. कर्मप्रकृतिवृत्ति	८०००
१५. पंचसंग्रहवृत्ति	१८८५०
१६. षडशीतिवृत्ति	२०००
१७. सप्ततिकावृत्ति	३७८०
१८. बृहत्संग्रहणीवृत्ति	५०००
१९. बृहत्क्षेत्रसमासवृत्ति	९५००
२०. मलयगिरिशब्दानुशासन	५०००

अनुपलब्ध ग्रंथ

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका २. ओघनिर्युक्तिटीका
३. विशेषावश्यकटीका ४. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रटीका

५. धर्मसारप्रकरणटीका ६. देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरणटीका

उपर्युक्त ग्रंथों के नामों से स्पष्ट है कि आचार्य मलयगिरि एक बहुत बड़े टीकाकार हैं, न कि स्वतन्त्र ग्रंथकार। इन्होंने इन टीकाओं में ही अपने पांडित्य का उपयोग किया है। यही कारण है कि इनकी टीकाओं की विद्वत्समाज में खूब प्रतिष्ठा है। ये अपनी टीकाओं में सर्वप्रथम मूल सूत्र, गाथा अथवा श्लोक के शब्दार्थ की व्याख्या करते हैं और उस अर्थ का स्पष्ट निर्देश कर देते हैं। तद्नन्तर विशेष स्पष्टीकरण अथवा विस्तृत विवेचन की आवश्यकता प्रतीत होने पर 'अयं भावः, किमुक्तं भवति, अयमाशयः, इदमत्र हृदयम्' इत्यादि पदों के साथ सम्पूर्ण अभीष्टार्थ स्पष्ट कर देते हैं। विषय से सम्बद्ध अन्य प्रासंगिक विषयों की चर्चा करना तथा तद्विषयक प्राचीन प्रमाणों का उल्लेख करना भी आचार्य मलयगिरि की एक बहुत बड़ी विशेषता है। आगे मलयगिरिकृत प्रकाशित टीकाओं का परिचय दिया जाता है।

नंदीवृत्ति :

आचार्य मलयगिरिकृत प्रस्तुत वृत्ति[1] दार्शनिक वाद-विवाद से परिपूर्ण है। यही कारण है कि इसका विस्तार भी अधिक है। इसमें यत्र-तत्र उदाहरण के रूप में संस्कृत कथानक भी दिये गये हैं। प्राकृत एवं संस्कृत उद्धरणों का भी अभाव नहीं है। प्रारंभ में आचार्य ने वर्धमान जिनेश्वर एवं जिन-प्रवचन का सादर स्मरण किया है :

> जयति भुवनैकभानुः सर्वत्राविहतकेवलालोकः।
> नित्योदितः स्थिरस्तापवर्जितो वर्धमानजिनः॥ १॥
> जयति जगदेकमङ्गलमपहतनिःशेषदुरितघनतिमिरम्।
> रविबिम्बमिव यथास्थितवस्तुविकाशं जिनेशवचः॥ २॥

वृत्तिकार ने नन्दी का शब्दार्थ इस प्रकार बताया है : अथ नन्दिरिति कः शब्दार्थः ? उच्यते—'टुनदु' समृद्धावित्यस्य 'धातोरुदितो नम्' इति नमि विहिते नन्दनं नन्दिः प्रमोदो हर्ष इत्यर्थः, नन्दिहेतुत्वात् ज्ञानपञ्चकाभिधायकमध्ययनमपि नन्दिः, नन्दन्ति प्राणिनोऽनेनास्मिन् वेति वा नन्दिः इदमेव प्रस्तुतमध्ययनम्।....अपरे तु नन्दीति पठन्ति, ते च 'इक् कृष्यादिभ्यः' इति सूत्रादिकप्रत्ययं समानीय स्त्रीत्वेऽपि वर्त्तयन्ति ततश्च 'इतो-

१. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, वि० सं० १९३१.
(आ) आगमोदय समिति, ग्रं० १६, बम्बई, सन् १९२४.

ऽक्त्यर्थात्' इति ङीप्रत्ययः ।[1] 'टुनदु' धातु से 'समृद्धि' अर्थ में 'धातोरुदितो नम्' सूत्र से 'नम्' करने पर 'नन्दि' बनता है जिसका अर्थ है प्रमोद, हर्ष आदि। नन्दि—प्रमोद—हर्ष का कारण होने से ज्ञानपंचक का कथन करनेवाला अध्ययन भी 'नन्दि' कहलाता है। अथवा जिसके द्वारा या जिसमें प्राणी प्रसन्न रहते हैं वह 'नन्दि' है। यही प्रस्तुत अध्ययन—ग्रंथ है। कुछ लोग इसे 'नन्दी' कहते हैं। उनके मतसे 'इक् कृष्यादिभ्यः' सूत्र से 'इक्' प्रत्यय करके स्त्रीलिंग में 'इतोऽक्त्यर्थात्' सूत्र से 'ङी' प्रत्यय करने पर 'नन्दी' बनता है।

'नन्दी' का निक्षेप-पद्धति से विवेचन करने के बाद टीकाकार ने 'जयइ जगजीवजोणी……' इत्यादि स्तुतिपरक सूत्र-गाथाओं का सुविस्तृत व्याख्यान किया है। इसमें जीवसत्तासिद्धि, शाब्दप्रामाण्य, वचनापौरुषेयत्वखंडन, वीतरागस्वरूपविचार, सर्वज्ञसिद्धि, नैरात्म्यनिराकरण, संतानवादखण्डन, वाच्यवाचकभावखण्डन, अन्वयिज्ञानसिद्धि, सांख्यमुक्तिनिरास, धर्मधर्मिभेदाभेदसिद्धि आदि का समावेश किया है।[2] वृत्ति का यह भाग दार्शनिक चर्चाओं से परिपूर्ण होने के कारण बौद्धिक आह्लाद उत्पन्न करने वाला है। आगे की वृत्ति में ज्ञानपंचकसिद्धि, मत्यादिक्रमस्थापना, प्रत्यक्ष-परोक्षस्वरूपविचार, मत्यादिस्वरूपनिश्चय, अनंतरसिद्धकेवल, परम्परसिद्धकेवल, स्त्रीमुक्तिसिद्धि, युगपद्-उपयोगनिरास, ज्ञान-दर्शन-अभेदनिरास, सदृष्टान्तबुद्धिभेदनिरूपण, अंगप्रविष्ट-अंगबाह्य श्रुतस्वरूपप्ररूपण आदि संबंधी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। अन्त में आचार्य ने चूर्णिकार को नमस्कार करते हुए टीकाकार हरिभद्र को भी सादर नमस्कार किया है तथा वृत्ति से उपार्जित पुण्य को लोककल्याण के लिए समर्पित करते हुए अर्हत् आदि का मंगल-स्मरण किया है :[3]

नन्द्यध्ययनं पूर्वं प्रकाशितं येन विषमभावार्थम्।
तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोऽस्तु विदुषे परोपकृते ॥ १ ॥
मध्ये समस्तभूपीठं, यशो यस्याभिवर्द्धते।
तस्मै श्रीहरिभद्राय, नमष्टीकाविधायिने ॥ २ ॥
वृत्तिर्वा चूर्णिर्वा रम्याऽपि न मन्दमेधसां योग्या।
अभवदिह तेन तेषामुपकृतये यत्न एष कृतः ॥ ३ ॥
बहुर्थमल्पशब्दं नन्द्यध्ययनं विवृण्वता कुशलम्।
यदवापि मलयगिरिणा सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥ ४ ॥

---

१. आगमोदय-संस्करण, पृ० १. २. पृ० २-४२. ३. पृ० २५०.

अर्हन्तो मङ्गलं मे स्युः, सिद्धाश्च मम मङ्गलम्।
साधवो मङ्गलं सम्यग्, जैनो धर्म्मश्च मङ्गलम्॥ ५॥

प्रस्तुत वृत्ति का ग्रंथमान ७७३२ श्लोकप्रमाण है।

प्रज्ञापनावृत्ति :

वृत्ति[1] के प्रारंभ में आचार्य ने मंगलसूचक चार श्लोक दिये हैं। प्रथम श्लोक में महावीर की जय बोली गई है; द्वितीय में जिन-प्रवचन को नमस्कार किया गया है, तृतीय में गुरु को प्रणाम किया गया है, चतुर्थ में प्रज्ञापना सूत्र की टीका करने की प्रतिज्ञा की गई है :

जयति नमदमरमुकुटप्रतिबिम्बच्छद्मविहितबहुरूपः।
उद्धर्तुमिव समस्तं विश्वं भवपङ्कतो वीरः॥ १॥
जिनवचनामृतजलधिं वन्दे यद्बिन्दुमात्रमादाय।
अभवन्नूनं सत्त्वा जन्म-जरा-व्याधिपरिहीणाः॥ २॥
प्रणमत गुरुपदपङ्कजमधरीकृतकामधेनुकल्पलतम्।
यदुपास्तिवशान्निरुपममश्नुवते ब्रह्म तनुभाजः॥ ३॥
जडमतिरपि गुरुचरणोपास्तिसमुद्भूतविपुलमतिविभवः।
समयानुसारतोऽहं विदधे प्रज्ञापनाविवृतिम्॥ ४॥

'प्रज्ञापना' का शब्दार्थ करते हुए वृत्तिकार कहते हैं : प्रकर्षेण ज्ञाप्यन्ते अनयेति प्रज्ञापना अर्थात् जिसके द्वारा जीवाजीवादि पदार्थों का ज्ञान किया जाय वह प्रज्ञापना है। यह प्रज्ञापना सूत्र समवाय नामक चतुर्थ अंग का उपांग है क्योंकि यह समवायांग में निरूपित अर्थ का प्रतिपादन करता है। यदि कोई यह कहे कि समवायांगनिरूपित अर्थ का इसमें प्रतिपादन करना निरर्थक है तो ठीक नहीं। इसमें समवायांगप्रतिपादित अर्थ का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। इससे मंदमति शिष्य का विशेष उपकार होता है। अतः इसकी रचना सार्थक है। इसके बाद मंगल की सार्थकता आदि पर प्रकाश डालते हुए आचार्य ने सूत्र के पदों का व्याख्यान किया है। व्याख्यान

---

१. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८४.
(आ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८-९.
(इ) केवल गुजराती अनुवाद—अनु. पं. भगवानदास हर्षचंद्र, जैन सोसायटी, अहमदाबाद, वि. सं. १९९१.

आवश्यकतानुसार कहीं संक्षिप्त है तो कहीं विस्तृत। अन्त में वृत्तिकार ने जिन-वचन को नमस्कार करते हुए अपने पूर्ववर्ती टीकाकार आचार्य हरिभद्र को यह कहते हुए नमस्कार किया है कि टीकाकार हरिभद्रसूरि की जय हो जिन्होंने प्रज्ञापना सूत्र के विषम पदों का व्याख्यान किया है और जिनके विवरण से मैं भी एक छोटा-सा टीकाकार बना हूँ। तदनन्तर प्रज्ञापनावृत्ति से प्राप्त पुण्य को जिनवाणी के सद्बोध के लिए प्रदान करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि प्रज्ञा-पनासूत्र की टीका लिखकर मलयगिरि ने जो निर्दोष पुण्योपार्जन किया है उससे संसार के समस्त प्राणी जिनवचन का सद्बोध प्राप्त करें। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रंथमान १६००० श्लोकप्रमाण है।

सूर्यप्रज्ञप्तिविवरण :

विवरण[1] के प्रारंभ में मंगल करते हुए आचार्य ने यह उल्लेख किया है कि भद्रबाहुसूरिकृत निर्युक्ति का नाश हो जाने के कारण मैं केवल मूल सूत्र का ही व्याख्यान करूँगा। प्रारभ के पाँच श्लोक ये हैं :

यथास्थितं जगत्सर्वमीक्षते यः प्रतिक्षणम्।
श्रीवीराय नमस्तस्मै भास्वते परमात्मने ॥ १ ॥
श्रुतकेवलिनः सर्वे विजयन्तां तमश्छिदः।
येषां पुरो विभान्तिस्म खद्योता इव तीर्थिकाः ॥ २ ॥
जयति जिनवचनमनुपममज्ञानतमःसमूहरविबिम्बम्।
शिवसुखफलकल्पतरुं प्रमाणनयभङ्गगमबहुलम् ॥ ३ ॥
सूर्यप्रज्ञप्तिमहं गुरूपदेशानुसारतः किञ्चित्।
विवृणोमि यथाशक्ति स्पष्टं स्वपरोपकाराय ॥ ४ ॥
अस्या निर्युक्तिरभूत् पूर्वं श्रीभद्रबाहुसूरिकृता।
कलिदोषात् साऽनेशद् व्याचक्षे केवलं सूत्रम् ॥ ५ ॥

इसके बाद आचार्य ने प्रथम सूत्र का उत्थान करते हुए सूत्र-स्पर्शिक व्याख्यान प्रारंभ किया है। प्रथम सूत्र के व्याख्यान में मिथिला नगरी, माणि-भद्र चैत्य, जितशत्रु राजा, धारिणी देवी और महावीर जिन का साहित्यिक छटायुक्त वर्णन किया है। द्वितीय सूत्र की व्याख्या में इन्द्रभूति गौतम का वर्णन है। तृतीय सूत्र की वृत्ति में सूर्यप्रज्ञप्ति के मूल विषय का बीस प्राभृतों में विवेचन है। वे प्राभृत इस प्रकार हैं : १. सूर्यमण्डलों की संख्या, २. सूर्य का

---

१. आगमोदय समिति, मेहसाणा, सन् १९१९.

तिर्यक् परिभ्रम, ३. सूर्य के प्रकाश्यक्षेत्र का परिमाण, ४. सूर्य का प्रकाशसंस्थान, ५. सूर्य का लेश्याप्रतिघात, ६. सूर्य की ओजःसंस्थिति, ७. सूर्यलेश्यासंस्पृष्ट पुद्गल, ८. सूर्योदयसंस्थिति, ९. पौरुषीच्छायाप्रमाण, १०. योगस्वरूप, ११. संवत्सरों की आदि, १२. संवत्सरभेद, १३. चन्द्रमा की वृद्ध्यपवृद्धि, १४. ज्योत्स्नाप्रमाण, १५. चन्द्रादि का शीघ्रगतिविषयक निर्णय, १६. ज्योत्स्ना-लक्षण, १७. चन्द्रादि का च्यवन और उपपात, १८. चन्द्रादि का उच्चत्वमान, १९. सूर्यसंख्या, २०. चन्द्रादि का अनुभाव।[1] इनमें से पहले प्राभृत में आठ, दूसरे में तीन और दसवें में बाईस उपप्राभृत—प्राभृतप्राभृत हैं।[2] आगे की वृत्ति में इन्हीं सब प्राभृतों एवं प्राभृतप्राभृतों का विशद वर्णन है।

दसवें प्राभृत के ग्यारहवें प्राभृतप्राभृत के विवरण में आचार्य ने लोकश्री तथा उसकी टीका का उल्लेख करते हुए उनमें से उद्धरण दिये हैं: तथा **चोक्तं लोकश्रियाम्—'पुणवसु रोहिणि चित्ता मह जेट्ठणुराह कत्तिय विसाहा। चंदस्स उभयजोगी' त्ति, अत्र 'उभयजोगी' त्ति व्याख्यानयता टीकाकृतोक्तम्—एतानि नक्षत्राणि 'उभययोगीनि' चन्द्रस्योत्तरेण दक्षिणेन च युज्यन्ते, कदाचिद् भेदमप्युपयान्तीति।**[3] पुनर्वसु, रोहिणी, चित्रा, मघा, ज्येष्ठा, अनुराधा, कृत्तिका और विशाखा—ये आठ नक्षत्र उभययोगी हैं अर्थात् चन्द्र की उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओं में योग प्राप्त करने वाले हैं तथा कभी-कभी भेद को भी प्राप्त होते हैं।

द्वादश प्राभृत की वृत्ति में स्वकृत शब्दानुशासन का उल्लेख है: **चादयो हि पदान्तराभिहितमेवार्थं स्पष्टयति न पुनः स्वातन्त्र्येण कमप्यर्थमभिदधति इति, निर्णीतमेतत् स्वशब्दानुशासने।**[4] च आदि पद पदान्तर के इष्ट अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं, स्वतन्त्ररूप से किसी अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते।

उन्नीसवें प्राभृत के विवरण में वृत्तिकार ने जीवाभिगमचूर्णि का उल्लेख किया है तथा उसमें से अनेक उद्धरण दिये हैं। 'तुटिक' का शब्दार्थ करते हुए वृत्तिकार कहते हैं: **उक्तं च जीवाभिगमचूर्णौ—'तुटिकमन्तःपुरमिति'।**[5] चन्द्रविमान से सम्बन्धित 'द्राषष्टि' शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं: **एतच्च**

---

१. पृ. ९. २. पृ. ७–८. ३. पृ० १३७ (२)—१३८ (१).
४. पृ० २३३ (१). ५. पृ. २९९ (२).

व्याख्यानं जीवाभिगमचूर्ण्यादिदर्शनतः कृतम्, न पुनः स्वमनीषिकया। तथा चास्या एव गाथाया व्याख्याने जीवाभिगमचूर्णिः—'चन्द्रविमानं द्वाषष्टिभागी क्रियते, ततः पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते, तत्र चत्वारो भागा द्वाषष्टिभागानां पञ्चदशभागेन लभ्यन्ते, शेषौ द्वौ भागौ, एतावद् दिने दिने शुक्लपक्षस्य राहुणा मुच्यते' इत्यादि।[1] इसी प्राभृत की व्याख्या में तत्त्वार्थटीकाकार हरिभद्रसूरि का भी सोद्धरण उल्लेख है: आह च तत्त्वार्थटीकाकारो हरिभद्रसूरिः—'नात्यन्तशीतांश्चन्द्रमसो नात्यत्यन्तोष्णाः सूर्याः, किन्तु साधारणा द्वयोरपी' ति।[2]

अन्त के निम्न मंगल-श्लोकों के साथ प्रस्तुत विवरण की परिसमाप्ति होती है:[3]

वन्दे यथास्थिताशेषपदार्थप्रतिभासकम्।
नित्योदितं तमोऽस्पृश्यं जैनसिद्धान्तभास्करम्॥ १॥
विजयन्तां गुणगुरवो गुरवो जिनतीर्थभासनैकपराः।
यद्वचनगुणादहमपि जातो लेशेन पटुबुद्धिः॥ २॥
सूर्यप्रज्ञप्तिमिमामतिगम्भीरां विवृण्वता कुशलम्।
यदवापि मलयगिरिणा साधुजनस्तेन भवतु कृती॥ ३॥

ज्योतिष्करण्डकवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति[4] ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक पर है। प्रारम्भ में वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि ने वीरप्रभु को नमस्कार किया है तथा ज्योतिष्करण्डक का व्याख्यान करने की प्रतिज्ञा की है:

स्पष्टं चराचरं विश्वं, जानीते यः प्रतिक्षणम्।
तस्मै नमो जिनेशाय, श्रीवीराय हितैषिणे॥ १॥
सम्यग्गुरुपदाम्भोजपर्युपास्तिप्रसादतः।
ज्योतिष्करण्डकं व्यक्तं, विवृणोमि यथाऽऽगमम्॥ २॥

इसके बाद 'सुण ताव सूरपन्नत्तिवण्णणं वित्थरेण...' (गा. १) की व्याख्या प्रारम्भ की है। यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि ज्योतिष्करण्डक की नवीन उपलब्ध प्राकृत वृत्ति[5] में मलयगिरिकृत प्रस्तुत वृत्ति की प्रथम गाथा

१. पृ. २७८ (२). २. पृ. २८० (२). ३. पृ. २९७.
४. ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९२८.
५. यह वृत्ति मुनि श्री पुण्यविजयजी के पास प्रतिलिपि के रूप में विद्यमान है।

'सुण ताव सूरपन्नत्ति....' के पहले छः गाथाएँ और मिली हैं जिनमें ज्योतिष्करण्डक सूत्र की रचना की भूमिका के रूप में यह बताया गया है कि शिष्य गुरु के समक्ष संक्षेप में कालज्ञान सुनने की इच्छा प्रकट करता है और गुरु उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए ज्योतिष्करण्डक के रूप में उसे कालज्ञान सुनाते हैं : 'इच्छामि ताव सोतुं कालण्णाणं समासेणं', 'सुण ताव सूरपण्णत्ति···' इत्यादि। ये गाथाएँ महत्त्वपूर्ण होने से तथा अन्यत्र उपलब्ध न होने से यहाँ उद्धृत की जाती हैं :

कातूण णमोक्कारं जिणवरवसभस्स वद्धमाणस्स।
जोतिसकरंडगमिणं लीलावट्टीव लोगस्स॥ १॥
कालण्णाणाभिगमं सुणह समासेण पागडमहत्थं।
णक्खत्त-चंद-सूरा जुगम्मि जोगं जध वर्वेति॥ २॥
कंचि वायगवालब्भं सुतसागरपारगं दढचरित्तं।
अप्पस्सुतो सुविहियं वंदिय सिरसा भणति सिस्सो॥ ३॥
सज्झायझाणजोगस्स धीर! जदि वो ण कोपि उवरोधो।
इच्छामि ताव सोतुं कालण्णाणं समासेणं॥ ४॥
अह भणति एवभणितो खमा-विण्णाण-णाणसंपण्णो।
सो समणगंधहत्थी पडिहत्थी अण्णवादीणं॥ ५॥
दिवसिय-रातिय-पक्खिय-चाउम्मासियत ह य वासियाणं च।
णिअयपडिक्कमणाणं सज्झायस्स वि य तदत्थे॥ ६॥

आचार्य मलयगिरि ने यद्यपि ये गाथाएँ उद्धृत नहीं की किन्तु इनका भावार्थ अपनी टीका में अवश्य दिया। 'सुण ताव सूर···' (गा. १) की व्याख्या में वे सर्वप्रथम इन्हीं गाथाओं का भावार्थ पूर्वाचार्योपदर्शित उपोद्घात के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते हैं : अयमत्र पूर्वाचार्योपदर्शित उपोद्घातः—कोऽपि शिष्योऽल्पश्रुतः कंचिदाचार्यं पूर्वगतसूत्रार्थधारकं वालभ्यं श्रुतसागरपारगतं शिरसा प्रणम्य विज्ञपयति स्म, यथा—भगवन्! इच्छामि युष्माकं श्रुतनिधीनामन्ते यथाऽवस्थितं कालविभागं ज्ञातुमिति। तत एवमुक्ते सति आचार्य आह—शृणु वत्स! तावदवहितो कथयामि····।[1] प्रस्तुत प्रकीर्णक सूर्यप्रज्ञप्ति के आधार पर लिखा गया है : सूर्यप्रज्ञप्तेरिदं प्रकरणमुद्धृतम्।[2] इस प्रकार प्रथम गाथा के भूमिकारूप

१. पृ. १–२. २. पृ. २.

व्याख्यान के अनन्तर आचार्य ने कालप्रमाण आदि विषयों से सम्बन्धित आगे की गाथाओं का विवेचन प्रारम्भ किया है।

कालविषयक संख्या का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने वालभी और माथुरी वाचनाओं का उल्लेख किया है और बताया है कि स्कन्दिलाचार्य के समय में एकबार दुर्भिक्ष पड़ने से साधुओं का पठन-पाठन बंद हो गया। दुर्भिक्ष का अन्त होने पर सुभिक्ष के समय एक वलभी में और एक मथुरा में इस प्रकार दो संघ एकत्रित हुए। दोनों स्थानों पर सूत्रार्थ का संग्रह करने से परस्पर वाचनाभेद हो गया। ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं है क्योंकि विस्मृत सूत्रार्थ का स्मरण कर-करके संघटन करने से वाचनाभेद हो ही जाता है। इस समय वर्तमान अनुयोगद्वारादिक माथुरी वाचनानुगत हैं जबकि ज्योतिष्करण्डक सूत्र का निर्माण करने वाले आचार्य वालभी हैं। अतः प्रस्तुत सूत्र का संख्यास्थानप्रतिपादन वालभी वाचनानुगत होने के कारण अनुयोगद्वारप्रतिपादित संख्यास्थान से विसदृश है। वृत्तिकार के स्वयं के शब्दों में यह स्पष्टीकरण इस प्रकार है: इह स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्तौ दुष्षमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत्, ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः सङ्घमेलापकोऽभवत्, तद्यथा—एको वालभ्यामेको मथुरायां, तत्र च सूत्रार्थसङ्घटनेन परस्परं वाचनाभेदो जातः, विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा स्मृत्वा सङ्घटने भवत्यवश्यं वाचनाभेदो, न काचिदनुपपत्तिः, तत्रानुयोगद्वारादिकमिदानीं वर्तमानं माथुरवाचनानुगतं, ज्योतिष्करण्डकसूत्रकर्त्ता चाचार्यो वालभ्यः, तत इदं संख्यास्थानप्रतिपादनं वालभ्यवाचनानुगतमिति नास्यानुयोगद्वारप्रतिपादितसंख्यास्थानैः सह विसदृशत्वमुपलभ्य विचिकित्सितव्यमिति।[1]

कालविभागविषयक व्याख्यान के अन्त में वृत्तिकार ने इसी ज्योतिष्करण्डक के टीकाकार पादलिप्तसूरि का एक वाक्य उद्धृत किया है: तथा चास्यैव ज्योतिष्करण्डकस्य टीकाकारः पादलिप्तसूरिराह—'एए उ सुसमसुसमादयो अद्धाविसेसा जुगाइणा सह पवत्तंते, जुगंतेण सह समप्पंति'त्ति।[2] पादलिप्तसूरि का यह वाक्य इस समय उपलब्ध ज्योतिष्करण्डक की प्राकृत टीका में नहीं मिलता। क्या ये दोनों टीकाएँ एक ही व्यक्ति की नहीं हैं? क्या उपलब्ध प्राकृत टीका से भिन्न कोई अन्य टीका पादलिप्तसूरि ने लिखी है? यदि ऐसा है तो उपलब्ध टीका किसकी कृति है? इस प्रसंग पर इस प्रकार के प्रश्न उठना

१. पृ. ४१. २. पृ. ५२.

स्वाभाविक है। आगे जाकर मलयगिरि ने 'पंचेव जोयणसया दसुत्तरा जत्थ मंडला·····' (गा. २०५) की व्याख्या में ज्योतिष्करण्डक की मूलटीका का एक वाक्य उद्‌धृत किया है : **एवंरूपा च क्षेत्रकाष्ठा मूलटीकायामपि भाविता, तथा च तद्ग्रन्थः—'सूरस्स पंचजोयणसया दसाहिया कट्ठा, सच्चेव अट्ठहिं एगट्ठिभागेहिं ऊणिया चंदकट्ठा हवइ' इति।**[1] ठीक इसी प्रकार का वाक्य उपलब्ध प्राकृत टीका में भी मिलता है। वह इस प्रकार है : **सूरस्स पंचजोयणसयाणं दसाधिया कट्ठा सच्चेव अट्ठहि एगट्ठि भागेहिं ऊणा चंदकट्ठ हवति** ·····।[2] इससे यह फलित होता है कि उपलब्ध प्राकृत टीका आचार्य मलयगिरिनिर्दिष्ट ज्योतिष्करण्डक की मूलटीका है और पादलिप्तसूरि की टीका कोई दूसरी ही होनी चाहिए। किन्तु उपलब्ध टीका के अन्त में जो वाक्य मिलता है उससे यह फलित होता है कि यह टीका पादलिप्तसूरि की कृति है। वह वाक्य कुछ अशुद्धरूप में इस प्रकार है : **पुव्वायरियकया य नीति समससमणएणं पालित्तएण ईणमो रइयागाहाहिं परिवाडी**······[3] इस वाक्य से यह ध्वनि निकलती है कि यह टीका पादलिप्तसूरि ने लिखी है। यदि ऐसा है तो मलयगिरिद्वारा उद्‌धृत **'एए उ सुसमसुसमादयो अद्धाविसेसा·······'** वाक्य इस टीका में क्यों नहीं मिलता ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह कि यदि उपलब्ध टीका पादलिप्तसूरि की ही है तो यह तथा इस प्रकार के और भी कुछ वाक्य इस टीका से धीरे-धीरे लुप्त हो गये हैं।

प्रस्तुत वृत्ति का उपसंहार करते हुए वृत्तिकार मलयगिरि कहते हैं कि यह कालज्ञानसमास शिष्यों के विबोधनार्थ दिनकरप्रज्ञप्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति) के आधार से पूर्वाचार्य ने तैयार किया है। परम्परा से सर्वविद्‌मूलक होने के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ जिसका कि नाम ज्योतिष्करण्डक है, विद्वानों के लिए अवश्य ही उपादेय है।[4] अन्त में निम्न श्लोक देते हुए टीका समाप्त करते हैं :

> यद्‌गदितमल्पमतिना जिनवचनविरुद्धमत्र टीकायाम्।
> विद्वद्‌भिस्तत्त्वज्ञैः प्रसादमाधाय तच्छोध्यम्॥ १॥
> ज्योतिष्करण्डकमिदं गम्भीरार्थं विवृण्वता कुशलम्।
> यदवापि मलयगिरिणा सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः॥ २॥

---

१. पृ. १२१. २. प्राकृत वृत्ति, पृ. ३५ (हस्तलिखित). ३. वही, पृ. ९३. ४. पृ. २६६.

अर्थात् प्रस्तुत टीका में मुझ अल्पबुद्धि द्वारा यदि कोई बात जिनवचन से विरुद्ध कही गई हो तो विद्वान् तत्त्वज्ञ कृपा कर उसे ठीक कर लें। इस गम्भीरार्थ ज्योतिष्करण्डक के विवरण से मलयगिरि को जो पुण्य प्राप्त हुआ है उससे लोक का कल्याण हो।

जीवाभिगमविवरण :

तृतीय उपांग जीवाभिगम की प्रस्तुत टीका[1] में आचार्य ने मूल सूत्र के प्रत्येक पद का व्याख्यान किया है। यत्र-तत्र अनेक प्राचीन ग्रन्थों के नाम तथा उद्धरण भी दिये हैं। इसी प्रकार कुछ ग्रन्थकारों के नाम का भी उल्लेख किया है। प्रारम्भ में निम्न मंगलश्लोक हैं :

> प्रणमत पद्नखतेजःप्रतिहतनिःशेषनम्रजनतिमिरम्।
> वीरं परतीर्थियशोद्विरदघटाध्वंसकेसरिणम्॥ १॥
> प्रणिपत्य गुरून् जीवाजीवाभिगमस्य विवृतिमहमनघाम्।
> विदधे गुरूपदेशात्प्रबोधमाधातुमल्पधियाम्॥ २॥

मंगल का प्रयोजन आदि बताने के बाद सूत्रों की व्याख्या प्रारम्भ की है। 'से किं तं अजीवाभिगमे....' (सू० ३–५) का व्याख्यान करते हुए तन्तु और पट के सम्बन्ध की चर्चा की है। इसी प्रसंग पर (मलयगिरिकृत) धर्मसंग्रहणिटीका का उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं : कृतं प्रसङ्गेन, अन्यत्र धर्मसंग्रहणिटीकादावेतद्वादस्य चर्चितत्वात्....।[2] आगे (मलयगिरिकृत) प्रज्ञापनाटीका का भी उल्लेख है : अस्य व्याख्यानं प्रज्ञापनाटीकातो वेदितव्यं....।[3] 'तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सरीरया....' (सू० १३) के विवेचन में (हरिभद्रकृत) प्रज्ञापनामूलटीका का उल्लेख किया है : इहाणुत्वबादरत्वे तेषामेवाहारयोग्यानां स्कन्धानां प्रदेशस्तोकत्वबाहुल्यापेक्षया प्रज्ञापनामूलटीकाकारेणापि व्याख्याते इत्यस्माभिरपि तथैवाभिहिते।[4] इसी सूत्र की व्याख्या में तत्त्वार्थमूलटीका का भी उल्लेख है।[5] 'से किं तं नेरइया....' (सूत्र ३२) का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने संग्रहणिटीका का उल्लेख किया है : प्रतिपृथिवि तूत्कर्षतः प्रमाणं संग्रहणिटीकातो भावनीयं,

---

१. देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१९. २. पृ० ५ (२). ३. पृ० ७ (२). ४. पृ० १९ (२). ५. पृ० १६ (१).

तत्र सविस्तरमुक्तत्वात् ...।[1] 'से किं तं थलयर...' (सू० ३६) की व्याख्या में माण्डलिक, महामाण्डलिक, ग्राम, निगम, खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, आकर, आश्रम, संबाध, राजधानी आदि विविध जन-वसतियों के स्वरूप का निर्देश किया गया है।[2] 'से किं तं मणुस्सा....' (सू० ४१) का विवेचन करते हुए आचार्य ने ज्ञानियों के विविध भेदों पर प्रकाश डाला है और बताया है कि सिद्धप्राभृत आदि में अनेक प्रकार के ज्ञानियों का वर्णन है : सिद्धप्राभृतादौ तथानेकधोऽभिधानात्...।[3] आगे विशेषणवती (जिनभद्रकृत) का भी उल्लेख है।[4] 'इत्थिवेदस्स णं भंते! कम्मस्स' (सू० ५१) की व्याख्या में (हरिभद्रकृत जीवाभिगम की) मूलटीका, पंचसंग्रह तथा कर्मप्रकृतिसंग्रहणी का उल्लेख किया गया है।[5] 'णपुंसकस्स णं...' (सू० ५९) की व्याख्या में एक संग्रहणी-गाथा उद्धृत की गई है।[6] नरकावासों के विस्तार का वर्णन करते हुए टीकाकार ने क्षेत्रसमासटीका और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका का उल्लेख किया है : परिक्षेपपरिमाणगणितभावना क्षेत्रसमासटीकातो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीकातो वा वेदितव्या।[7] रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों की वेदना का वर्णन करने के बाद उनकी वैक्रियशक्ति का वर्णन करते समय 'आह च कर्मप्रकृतिसंग्रहणिचूर्णिकारोऽपि' यह कहते हुए आचार्य ने कर्मप्रकृति-संग्रहणिचूर्णि के 'पुहुत्तशब्दो बहुत्तवाई' अर्थात् 'पृथक्त्व शब्द बहुत्ववाची है' ये शब्द उद्धृत किये हैं।[8] नारकों की शीतोष्णवेदना का विवेचन करते हुए टीकाकार ने शरदादि ऋतुओं का स्वरूप बताया है। ऋतुएँ छः हैं : प्रावृट्, वर्षारात्र, शरत्, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म। इस क्रम के समर्थन के लिए पादलिप्तसूरि की एक गाथा उद्धृत की गई है :

पाउस वासारत्तो, सरओ हेमंत वसंत गिम्हो य।
एए खलु छप्पि रिऊ, जिणवरदिट्ठा मए सिट्ठा॥

प्रथम शरत्कालसमय कार्तिकसमय है, इसका समर्थन करते हुए (जीवाभिगम के) मूलटीकाकार के 'प्रथमशरत् कार्त्तिकमासः' ये शब्द उद्धृत किये हैं।[9] आगे वसुदेवचरित (वसुदेवहिण्डी) का भी उल्लेख है।[10] प्रस्तुत विवरण में

१. पृ० ३३ (२). २. पृ० ३९. ३. पृ० ४६ (२). ४. पृ० ५० (१).
५. पृ० ६४ (१). ६. पृ० ७७ (२)–७८ (१). ७. पृ० १०८ (१).
८. पृ० ११९ (१). ९. पृ० १२२ (१). १०. पृ० १३० (१).

जीवाभिगम की मूलटीका की ही भाँति उसकी चूर्णि का भी उल्लेख किया गया है एवं उसके उद्धरण दिये गये हैं।[1] ज्योतिष्क देवों के विमानों का वर्णन करने वाले सूत्र (१२२) 'कहि णं भंते ! जोइसियाणं देवाणं विमाणा पण्णत्ता···' का व्याख्यान करते हुए टीकाकार ने एतद्विषयक विशेष चर्चा के लिए (मलयगिरिकृत) चन्द्रप्रज्ञप्तिटीका, सूर्यप्रज्ञप्तिटीका तथा संग्रहणिटीका के नाम सूचित किये हैं : अत्राक्षेपपरिहारौ चन्द्रप्रज्ञप्तिटीकायां सूर्यप्रज्ञप्तिटीकायां संग्रहणिटीकायां चाभिहिताविति ततोऽवधार्यौ···।[2] आगे देशीनाममाला का भी उल्लेख है।[3] एकादश अलंकारों के वर्णन के लिए भरतविशाखिल का उल्लेख किया गया है जो व्यवच्छिन्न पूर्वों का एक अत्यन्त अल्प अंश है : तानि च पूर्वाणि सम्प्रति व्यवच्छिन्नानि ततः पूर्वेभ्यो लेशतो विनिर्गतानि यानि भरतविशाखिलप्रभृतीनि तेभ्यो वेदितव्याः···।[4] 'विजयस्स णं दारस्स' (सू० १३१) का विवेचन करते हुए टीकाकार ने 'उक्तं च जीवाभिगममूलटीकायां' ऐसा कह कर 'तैलसमुद्गकौ सुगन्धितैलाधारौ' ये शब्द जीवाभिगममूलटीका से उद्धृत किये हैं। आगे राजप्रश्नीयोपांग में वर्णित बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि का सुन्दर शब्दावली मे वर्णन किया है।[5] 'लवणे णं भंते' (सू० १५५) की व्याख्या करते हुए आचार्य ने सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति की एक गाथा उद्धृत की है :[6]

जोइसियविमाणाइं सव्वाइं हवंति फलिहमइयाइं।
दगफालियामया पुण लवणे जे जोइसविमाणा॥

अर्थात् लवणसमुद्र को छोड़ कर शेष द्वीप-समुद्रों में जितने भी ज्योतिष्क-विमान हैं, सब सामान्य स्फटिक के हैं। लवणसमुद्र के ज्योतिष्क-विमान उदक-स्फाटन स्वभाव अर्थात् पानी को फाड़ देनेवाले स्फटिक के बने हुए हैं। 'समयखेत्ते णं भंते·········' (सन् १७७) की व्याख्या मे पंचवस्तुक[7] और हरिभद्र की तत्त्वार्थटीका[8] के उद्धरण दिये हैं। आगे तत्त्वार्थभाष्य[9], जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की स्वोपज्ञ भाष्यटीका (विशेषावश्यकभाष्यटीका)[10] और पंचसंग्रहटीका[11] का उल्लेख करते हुए इनके भी उद्धरण दिये गये हैं। विवरण के अन्त में आचार्य मलयगिरि ने निम्न श्लोकों की रचना की है :[12]

---

१. पृ० १२६ (२), २०८ (२). २. पृ० १७४ (१). ३. पृ० १८८ (१). ४. पृ० १९४ (१). ५. पृ० २४६. ६. पृ० ३०३ (२). ७. पृ० ३३८ (१). ८. पृ० ३४० (२). ९. पृ० ३०९ (१). १०. पृ० ४०१ (२). ११. पृ० ४११ (२). १२. पृ० ४६६ (२).

जयति परिस्फुटविमलज्ञानविभासितसमस्तवस्तुगणः ।
प्रतिहतपरतीर्थिमतः श्रीवीरजिनेश्वरो भगवान् ॥ १ ॥
सरस्वती तमोवृन्दं, शरज्ज्योत्स्नेव निघ्नती ।
नित्यं वो मङ्गलं दिश्यान्मुनिभिः पर्युपासिता ॥ २ ॥
जीवाजीवाभिगमं विवृण्वताऽवापि मलयगिरिणेह ।
कुशलं तेन लभन्तां मुनयः सिद्धान्तसद्बोधम् ॥ ३ ॥

व्यवहारविवरण :

प्रस्तुत विवरण[1] मूल सूत्र, निर्युक्ति एवं भाष्य पर है। प्रारम्भ में प्रस्तावनारूप पीठिका है जिसमें कल्प, व्यवहार, दोष, प्रायश्चित्त आदि पर प्रकाश डाला गया है। सर्वप्रथम विवरणकार आचार्य मलयगिरि भगवान् नेमिनाथ, अपने गुरुवर एवं व्यवहारचूर्णिकार को नमस्कार करते हैं तथा व्यवहार सूत्र का विवरण लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं :

प्रणमत नेमिजिनेश्वरमखिलप्रत्यूहतिमिररविबिम्बम् ।
दर्शनपथमवतीर्णं, शशिवद् दृष्टेः प्रसत्तिकरम् ॥ १ ॥
नत्वा गुरुपदकमलं, व्यवहारमहं विचित्रनिपुणार्थम् ।
विवृणोमि यथाशक्ति, प्रबोधहेतोर्जडमतीनाम् ॥ २ ॥
विषमपदविवरणेन, व्यवहर्तव्यो व्यधायि साधूनाम् ।
येनायं व्यवहारः, श्रीचूर्णिकृते नमस्तस्मै ॥ ३ ॥
भाष्यं क चेदं विषमार्थगर्भं, क चाहमेषोऽल्पमतिप्रकर्षः ।
तथापि सम्यग्गुरुपर्युपास्तिप्रसादतो जातदृढप्रतिज्ञः ॥ ४ ॥

कल्प (बृहत्कल्प) सूत्र और व्यवहार सूत्र का अन्तर स्पष्ट करते हुए प्रारम्भ में ही आचार्य कहते हैं कि कल्पाध्ययन में प्रायश्चित्त का कथन तो किया गया है किन्तु प्रायश्चित्तदान की विधि नहीं बताई गई है। व्यवहार में प्रायश्चित्तदान और आलोचनाविधि का अभिधान है। इस प्रकार के व्यवहाराध्ययन की यहाँ व्याख्या की जायेगी :""""कल्पाध्ययने आभवत्प्रायश्चित्तमुक्तं, व्यवहारे तु दान-प्रायश्चित्तमामालोचनाविधिश्चाभिधास्यते। तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्यवहाराध्ययनस्य विवरणं प्रस्तूयते।[2]

---

१. संशोधक—मुनि माणेक; प्रकाशक—केशवलाल प्रेमचन्द मोदी व त्रिकमलाल उगरचंद, अहमदाबाद, वि० सं० १९८२-५.

२. प्रथम विभाग, पृ० १.

'व्यवहार' शब्द का विशेष विवेचन करने के लिए भाष्यकार-निर्दिष्ट व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य—इन तीनों के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। व्यवहारी कर्तारूप है, व्यवहार करणरूप है और व्यवहर्तव्य कार्यरूप है। करणरूप व्यवहार पाँच प्रकार का है : आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत।[1] चूर्णिकार ने भी इस पाँच प्रकार के व्यवहार को करण कहा है : आह चूर्णिकृत्–पंचविधो व्यवहारः करणमिति······।[2] सूत्र, अर्थ, जीत, कल्प, मार्ग, न्याय, इप्सितव्य, आचरित और व्यवहार एकार्थक हैं।[3]

व्यवहार का उपयोग गीतार्थ के लिए है, अगीतार्थ के लिए नहीं। जो स्वयं व्यवहार को जानता है अथवा समझाने से समझ जाता है वह गीतार्थ है। इसके विपरीत अगीतार्थ है। वह न तो स्वयं व्यवहार से परिचित होता है और न समझाने से ही समझता है। इस प्रकार के व्यक्ति के लिए व्यवहार का कोई उपयोग नहीं है।[4]

व्यवहारोक्त प्रायश्चित्तदान के लिए यह आवश्यक है कि प्रायश्चित्त देनेवाला और प्रायश्चित्त लेने वाला दोनों गीतार्थ हों। अगीतार्थ न तो प्रायश्चित्त देने का अधिकारी है और न लेने का। प्रायश्चित्त क्या है, इस प्रश्न को लेकर आचार्य ने प्रायश्चित्त का अर्थ बताते हुए उसके प्रतिसेवना, संयोजना, आरोपणा और परिकुञ्चना—इन चार भेदों का सविस्तार व्याख्यान किया है।[5] प्रतिसेवनारूप प्रायश्चित्त दस प्रकार का है : १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. मिश्र, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. अनवस्थित, १०. पारांचित।[6]

प्रस्तुत पीठिका में इन दस प्रकार के प्रायश्चित्तों का विशेष विवेचन किया गया है। यही विवेचन जीतकल्पभाष्य आदि ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। प्रायश्चित्त-दान की विधि के व्याख्यान के साथ पीठिका का विवरण समाप्त होता है। आगे की वृत्ति में प्रथमादि उद्देशों का सूत्र, निर्युक्ति एवं भाष्यस्पर्शी विवेचन है। प्रथम उद्देश के प्रथमसूत्रान्तर्गत 'पडिसेवित्ता' का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने बताया है कि प्रतिसेवना दो प्रकार की है : मूल प्रतिसेवना और उत्तर प्रति-

---

१. इनका विशेष वर्णन जीतकल्पभाष्य में देखिए।

२. पृ० ३. ३. पृ० ५ (भाष्य, गा० ७).

४. पृ० १३ (भाष्य, गा० २७). ५. पृ० १५.

६. पृ० १९.

सेवना। मूल प्रतिसेवना पाँच प्रकार की है और उत्तर प्रतिसेवना दस प्रकार की है। इनमें से प्रत्येक के पुनः दो भेद हैं : दर्पिका और कल्पिका :—

मूलुत्तरपडिसेवा मूले पंचविहे उत्तरे दसहा।
एक्केक्का वि य दुविहा दप्पे-कप्पे य नायव्वा ।। भा० ३८ ।।

इस गाथा का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं :

'प्रतिसेवना नाम प्रतिसेवना सा च द्विधा मूलोत्तरत्ति, पदैकदेशे पदसमुदायोपचरात् मूलगुणातिचारप्रतिसेवना, उत्तरगुणातिचारप्रतिसेवना च। तत्र मूले पंचविहत्ति मूलगुणातिचारप्रतिसेवना पञ्चविधा पञ्चप्रकारा, मूलगुणातिचाराणां प्राणातिपातादीनां पञ्चविधत्वाद्, उत्तरे त्ति उत्तरगुणातिचारप्रतिसेवना दशधा दसप्रकारा, उत्तरगुणानां दशविधतया तदतिचाराणामपि दशविधत्वात् ते च दशविधा उत्तरगुणा दशविधं प्रत्याख्यानं तद्यथा—अनागतमतिकान्तं कोटीसहितं नियन्त्रितं, साकारमनाकारं परिमाणकृतं निरवशेषं साङ्केतिकमद्धाप्रत्याख्यानं च। अथवा इमे दशविधा उत्तरगुणाः। तद्यथा—पिण्डविशोधिरेक उत्तरगुणः, पञ्चसमितयः पञ्च उत्तरगुणाः, एवं पट् तपोबाह्यं षट्प्रभेदं सप्तम उत्तरगुणः, अभ्यन्तर षट्प्रभेदमष्टमः, भिक्षुप्रतिमा द्वादश नवमः, अभिग्रहा द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदभिन्ना दशमः। एतेषु दशविधेषूत्तरगुणेषु याऽतिचारप्रतिसेवना सापि दशविधेति। एक्केक्का वि य दुविहा इत्यादि एकैका मूलगुणातिचारप्रतिसेवना उत्तरगुणातिचारप्रतिसेवना च प्रत्येकं सप्रभेदा द्विविधा द्विप्रकारा ज्ञातव्या। तद्यथा— दर्पे कल्पे च दर्पिका कल्पिका चेत्यर्थः। तत्र या कारणमन्तरेणप्रतिसेवना क्रियते सा दर्पिका, या पुनः कारणे सा कल्पिका।'[१]

प्रतिसेवना दो प्रकार की है : मूलगुणातिचारप्रतिसेवना और उत्तरगुणातिचार-प्रतिसेवना। मूलगुणातिचारप्रतिसेवना मूलगुणों के प्राणातिपातादि पाँच प्रकार के अतिचारों के कारण पाँच प्रकार की है। उत्तरगुणातिचारप्रतिसेवना दस प्रकार की है क्योंकि उत्तरगुणों के दस भेद हैं अतः उनके अतिचारों के भी दस भेद हैं। दस प्रकार के प्रत्याख्यानरूप उत्तरगुण इस प्रकार हैं : अनागत, अतिक्रान्त, कोटीसहित, नियंत्रित, साकार, अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, सांकेतिक और

१. द्वितीय विभाग, पृ० १३-४.

अद्धा-प्रत्याख्यान। अथवा उत्तरगुणों के दस भेद ये हैं: पिण्डविशुद्धि, पाँच समितियाँ, बाह्यतप, आभ्यन्तरतप, भिक्षुप्रतिमा और अभिग्रह। मूलगुणातिचारप्रतिसेवना और उत्तरगुणातिचारप्रतिसेवना के इन भेदों में से प्रत्येक के पुनः दो भेद हैं: दर्प्य और कल्प्य। अकारण प्रतिसेवना दर्पिका है और सकारण प्रतिसेवना कल्पिका है। इसी प्रकार आचार्य ने आगे भी अनेक सूत्रसम्बद्ध विषयों का सुसंतुलित विवेचन किया है। अन्त में विवरणकार ने अपना नाम-निर्देश करते हुए लिखा है:

देशक इव निर्दिष्टा विषमस्थानेषु तत्त्वमार्गस्य।
विदुषामतिप्रशस्यो जयति श्रीचूर्णिकारोऽसौ॥ १॥
विषमोऽपि व्यवहारो व्यधायि सुगमो गुरूपदेशेन।
यद्वापि तत्र पुण्यं तेन जनः स्यात्सुगतिभागी॥ २॥
दुर्बोधातपकष्टव्यपगमलब्धैकविमलकीर्तिभरः ।
टीकामिमामकार्षीत् मलयगिरिः पेशलवचोभिः॥ ३॥
व्यवहारस्य भगवतो यथास्थितार्थप्रदर्शनदक्षम्।
विवरणमिदं समाप्तं श्रमणगणानाममृतभूतम्॥ ४॥

विवरण का ग्रंथमान ३४६२५ श्लोक-प्रमाण है। प्रस्तुत संस्करण में अनेक अशुद्धियाँ हैं जिनका संशोधन अत्यावश्यक है।

राजप्रश्नीयविवरण:

द्वितीय उपांग राजप्रश्नीय के प्रस्तुत विवरण[1] के प्रारंभ में विवरणकार आचार्य मलयगिरि ने वीर जिनेश्वर भगवान् महावीर को नमस्कार किया है तथा राजप्रश्नीय का विवरण लिखने की प्रतिज्ञा की है:

प्रणमत वीरजिनेश्वरचरणयुगं परमपाटलच्छायम्।
अधरीकृतनतवासवमुकुटस्थितरत्नरुचिचक्रम्॥ १॥
राजप्रश्नीयमहं विवृणोमि यथाऽऽगमं गुरुनियोगात्।
तत्र च शक्तिमशक्तिं गुरवो जानन्ति का चिन्ता॥ २॥

---

1. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८८०.
(आ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२५.
(इ) सम्पादक—पं० बेचरदास जीवराज दोशी; प्रका०—गूर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, वि० सं० १९९४.

इसके बाद आचार्य ने इस उपांग का नाम 'राजप्रश्नीय' क्यों रखा गया, इस पर प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं :

'अथ कस्माद् इदमुपाङ्गं राजप्रश्नीयाभिधानमिति ? उच्यते—इह प्रदेशिनामा राजा भगवतः केशिकुमारश्रमणस्य समीपे यान् जीवविषयान् प्रश्नानकार्षित् यानि च तस्मै केशिकुमारश्रमणो गणभृत् व्याकरणानि व्याकृतवान्, यच्च व्याकरणसम्यक्परिणतिभावतो बोधिमासाद्य मरणान्ते शुभानुशययोगतः प्रथमे सौधर्मनाम्नि नाकलोके विमानमाधिपत्येनाध्यतिष्ठत्, यथा च विमानाधिपत्यप्राप्त्यनन्तरं सम्यगवधिज्ञानाभोगतः श्रीमद्वर्धमानस्वामिनं भगवन्तमालोक्य भक्त्यतिशयपरीतचेताः सर्वस्वसामग्रीसमेत इहावतीर्य भगवतः पुरतो द्वात्रिंशद्विधिनाट्यमनरीनृत्यत्, नर्तित्वा च यथाऽऽयुष्कं दिवि सुखमनुभूय ततश्च्युत्वा यत्र समागत्य मुक्तिपदमवाप्स्यति, तदेतत्सर्वमस्मिन् उपाङ्गेऽभिधेयम्। परं सकलवक्तव्यतामूलम्—'राजप्रश्नीय' इति—राजप्रश्नेषु भवं राजप्रश्नीयम्।'

प्रदेशी नामक राजा ने केशिकुमार नामक श्रमण से जीवविषयक अनेक प्रश्न पूछे। प्रदेशी का केशिकुमार के उत्तर से समाधान हुआ और वह अपने शुभ अध्यवसायों के कारण मरने के बाद सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में विमानाधिपति के रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ से सम्यक् अवधिज्ञान से भगवान् वर्धमान को देखकर भक्ति के अतिशय के कारण सर्व सामग्री से सज्जित हो भगवान् के पास आया और बत्तीस प्रकार के नाटक खेले। अपने देवलोक के सुख को भोगकर वहाँ से च्युत होकर वह कहाँ जाएगा व किस प्रकार मुक्ति प्राप्त करेगा, आदि बातों का वर्णन प्रस्तुत उपांग में है। इस सारे वक्तव्य का तात्पर्य यह है कि यह ग्रन्थ राजा के प्रश्नों से सम्बन्धित है अतः इसका नाम 'राजप्रश्नीय' है। प्रस्तुत वक्तव्य में आचार्य ने ग्रन्थ के शब्दार्थ के साथ ही साथ ग्रन्थ के विषय पर भी प्रकाश डाला है।

इसके बाद विवरणकार ने दूसरा प्रश्न किया है। यह किस अंग का उपांग है? यह सूत्रकृतांग का उपांग है। यह सूत्रकृतांग का उपांग क्यों है, इस पर भी आचार्य ने हेतुपुरस्सर प्रकाश डाला है: अथ कस्याङ्गस्येदमुपाङ्गम्? उच्यते—सूत्रकृताङ्गस्य, कथं तदुपाङ्गमिति चेत्, उच्यते—सूत्रकृते ह्यङ्गे......।[1]

1. अहमदाबाद-संस्करण, पृ. २.

प्रथम सूत्रान्तर्गत आमलकल्पा—आमलकप्पा नामक नगरी का वर्णन करते हुए आचार्य ने लिखा है कि वह नगरी इस समय (मलयगिरि के काल में) भी विद्यमान है : तस्मिन् समये आमलकल्पा नाम नगरी अभवत्, ननु इदानीमपि सा नगरी वर्तते...।[1] द्वितीय सूत्रान्तर्गत आम्रशालवन—अंबसालवण नामक चैत्य का वर्णन करते हुए 'चैत्य' का अर्थ इस प्रकार किया है : चितेः—लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वा चैत्यम्, तच्च इह संज्ञाशब्दत्वात् देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धम्, ततस्तदाश्रयभूतं यद् देवताया गृहं तदप्युपचारात् चैत्यम्, तच्चेह व्यन्तरायतनं द्रष्टव्यं न तु भगवतामर्हतामायतनम्।[2] 'चैत्य' शब्द देवता के प्रतिबिम्ब के अर्थ में प्रसिद्ध है। उपचार से देवता के प्रतिबिम्ब का आश्रयभूत देवगृह भी चैत्य कहलाता है। यहाँ पर चैत्य शब्द का ग्रहण व्यन्तरायतन के रूप में करना चाहिए, न कि अर्हदायतन के रूप में। तृतीय सूत्रान्तर्गत 'पहकर' शब्द का व्याख्यान करते हुए देशीनाममाला का एक उद्धरण दिया है : पहकराः सङ्घाताः—'पहकर-ओरोह-संघाया इति देशीनाममालावचनात्।[3] आचार्य हेमचन्द्रविरचित देशीनाममाला में उपर्युक्त उद्धरण उपलब्ध नहीं है। संभवतः यह उद्धरण किसी अन्य प्राचीनतर देशीनाममाला का है। प्रस्तुत विवरण में आचार्य ने अनेक स्थानों पर जीवाभिगम-मूलटीका का उल्लेख किया है एवं उसके उद्धरण दिये हैं।[4] कहीं-कहीं सूत्रों के वाचनाभेद—पाठभेद का भी निर्देश किया है : इह प्राक्तनो ग्रन्थः प्रायोऽपूर्वः भूयानपि च पुस्तकेषु वाचनाभेदस्ततो माऽभूत् शिष्याणां सम्मोह इति क्वापि सुगमोऽपि यथावस्थितवाचनाक्रमप्रदर्शनार्थं लिखितः[5], अत्र भूयान् वाचनाभेदः[6], अत ऊर्ध्वं सूत्रं सुगमं केवलं भूयान् विधिविषयो वाचनाभेद इति यथावस्थितवाचनाप्रदर्शनार्थं विधिमात्रमुपदर्श्यते[7] इत्यादि। अन्त में टीकाकार ने प्रस्तुत विवरण से प्राप्त पुण्य से साधुजनों को कृतार्थ करते हुए ग्रन्थ समाप्त किया है :

राजप्रश्नीयमिदं गम्भीरार्थं विवृण्वता कुशलम्।
यदवापि मलयगिरिणा साधुजनस्तेन भवतु कृती॥

विवरण का ग्रन्थमान ३७०० श्लोक-प्रमाण है :

प्रत्यक्षरगणनातो ग्रन्थमानं विनिश्चितम्।
सप्तत्रिंशच्छतान्यत्र श्लोकानां सर्वसंख्यया॥

---

१. पृ. २. २. पृ. ७. ३. पृ. १६. ४. पृ. १५८, १७१, १७७, १८०, १८९, १९५. ५. पृ. २३९. ६. पृ. २४१. ७. पृ. २५१.

पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति[1], जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, आचार्य भद्रबाहुकृत पिण्ड-निर्युक्ति पर है। इसमें भाष्य की ४६ गाथाओं का भी समावेश है। इनके भाष्यगाथाएँ होने का निर्देश स्वयं वृत्तिकार ने किया है। प्रारम्भ में आचार्य ने वर्धमान जिनेश्वर का स्मरण करके अपने गुरुदेव को प्रणाम किया है तथा पिण्डनिर्युक्ति की संक्षिप्त एवं स्पष्ट व्याख्या लिखने की प्रतिज्ञा की है :

जयति जिनवर्द्धमानः परहितनिरतो विधूतकर्म्मरजाः।
मुक्तिपथचरणपोषकनिरवद्याहारविधिदेशी ॥ १ ॥
नत्वा गुरुपदकमलं गुरूपदेशेन पिण्डनिर्युक्तिम्।
विवृणोमि समासेन स्पष्टं शिष्यावबोधाय ॥ २ ॥

पिण्डनिर्युक्ति किस सूत्र से सम्बद्ध है ? इस प्रश्न का उत्तर टीकाकार ने इस प्रकार दिया है : इह दशाध्ययनपरिमाणश्चूलिकायुगलभूषितो दशवैकालिको नाम श्रुतस्कन्धः, तत्र च पञ्चममध्ययनं पिण्डैषणानामकं, दशवैकालिकस्य च निर्युक्तिश्चतुर्दशपूर्वविदा भद्रबाहुस्वामिना कृता, तत्र पिण्डैषणाभिधपञ्चमाध्ययननिर्युक्तिरतिप्रभूतग्रन्थत्वात् पृथक् शास्त्रान्तरमिव व्यवस्थापिता, तस्याश्च पिण्डनिर्युक्तिरिति नाम कृतं, पिण्डैषणा-निर्युक्तिः पिण्डनिर्युक्तिरिति मध्यमपदलोपिसमासाश्रयणाद्।[2]

दशवैकालिक सूत्र के पिण्डैषणा नामक पंचम अध्ययन की (चतुर्दश-पूर्वविद् भद्रबाहुस्वामिकृत) निर्युक्ति का नाम ही पिण्डनिर्युक्ति है। इसका परिमाण बृहद् होने के कारण इसे पृथक् ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया गया। चूँकि यह निर्युक्ति-ग्रन्थ दशवैकालिकनिर्युक्ति से प्रतिबद्ध है अतः इसके आदि में नमस्कार-मंगल भी नहीं किया गया।

प्रस्तुत वृत्ति में आचार्य मलयगिरि ने व्याख्यारूप अनेक कथानक दिये हैं जो संस्कृत में हैं। वृत्ति का ग्रन्थमान ६७०० श्लोक-प्रमाण है। वृत्ति समाप्त करते हुए आचार्य ने पिण्डनिर्युक्तिकार द्वादशांगविद् भद्रबाहु एवं पिण्डनिर्युक्ति-विषम-पदवृत्तिकार (आचार्य हरिभद्र व वीरगणि) को नमस्कार किया है तथा लोक-कल्याण की भावना के साथ अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं जिनोपदिष्ट धर्म का शरण ग्रहण किया है :[3]

---

१. देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१८.

२. पृ. १. ३. पृ० १७८.

येनैषा पिण्डनिर्युक्तिर्युक्तिरम्या विनिर्मिता।
द्वादशाङ्गविदे तस्मै, नमः श्रीभद्रबाहवे ॥ १ ॥
व्याख्याता यैरेषा विषमपदार्थाऽपि सुललितवचोभिः।
अनुपकृतपरोपकृतो विवृतिकृतस्तान्नमस्कुर्वे ॥ २ ॥
इमां च पिण्डनिर्युक्तिमतिगम्भीरां विवृण्वता कुशलम्।
यदवापि मलयगिरिणा सिद्धिं तेनाऽनुतां लोकः ॥ ३ ॥
अर्हन्तः शरणं सिद्धाः, शरणं मम साधवः।
शरणं जिननिर्दिष्टो, धर्म्मः शरणमुत्तमः ॥ ४ ॥

आवश्यकविवरण :

प्रस्तुत विवरण[1] आवश्यकनिर्युक्ति पर है। यह अपूर्ण ही प्राप्त है। प्रारम्भ में विवरणकार आचार्य मलयगिरि ने भगवान् पार्श्वनाथ, प्रभु महावीर तथा अपने गुरुदेव का स्मरण किया है और बताया है कि यद्यपि आवश्यकनिर्युक्ति पर अनेक विवरण ग्रन्थ विद्यमान हैं किन्तु उनके कठिन होने के कारण मन्द बुद्धि के लोगों के लिए पुनः उसका विवरण प्रारम्भ किया जाता है :

पान्तु वः पार्श्वनाथस्य पादपद्मनखांशवः।
अशेषविघ्नसङ्घाततमोभेदैकहेतवः ॥ १ ॥
जयति जगदेकदीपः प्रकटितनिःशेषभावसद्भावः।
कुमतपतङ्गविनाशी श्रीवीरजिनेश्वरो भगवान् ॥ २ ॥
नत्वा गुरुपदकमलं प्रभावतस्तस्य मन्दशक्तिरपि।
आवश्यकनिर्युक्तिं विवृणोमि यथाऽऽगमं स्पष्टम् ॥ ३ ॥
यद्यपि च विवृतयोऽस्याः सन्ति विचित्रास्तथापि विषमास्ताः।
सम्प्रतिजनो हि जडधीर्भूयानितिविवृतिसंरम्भः ॥ ४ ॥

इसके बाद मंगल का नामादि भेदपूर्वक विस्तृत व्याख्यान किया गया है एवं उसकी उपयोगिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इस प्रसंग पर तथा आगे भी यत्र-तत्र विशेषावश्यकभाष्य की गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। निर्युक्ति की गाथाओं के पदों का अर्थ करते हुए तत्प्रतिपादित प्रत्येक विषय का आवश्यक प्रमाणों के साथ सरल भाषा एवं सुबोध शैली में विवेचन किया गया है। इस

---

१. आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२८–१९३२; देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १९३६.

विवेचन की एक विशेषता यह है कि आचार्य ने विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओं का स्वतन्त्र व्याख्यान न करते हुए भी उसका भावार्थ तो अपनी टीका में दे ही दिया है। विवरण में जितनी भी भाष्यगाथाएँ हैं, प्रायः विवरण के वक्तव्य की पुष्टि के लिए हैं। विवरणकार ने भाष्य की गाथाओं के व्याख्यान के रूप में अपने विवरण का विस्तार न करते हुए अपने विवरण के समर्थन के रूप में 'उक्तं च', 'तथा चाह भाष्यकृत्', 'एतदेव व्याख्यानं भाष्यकारोऽप्याह' इत्यादि शब्दों के साथ भाष्यगाथाएँ उद्धृत की हैं। विवरण में विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञ टीका का भी उल्लेख है।[१] प्रज्ञाकरगुप्त,[२] (आवश्यक) चूर्णिकार,[३] (आवश्यक) मूलटीकाकार,[४] (आवश्यक) मूलभाष्यकार,[५] लघीयस्त्रयालंकारकार अकलंक,[६] न्यायावतारविवृतिकार[७] आदि का भी प्रस्तुत टीका में उल्लेख किया गया है। स्थान-स्थान पर सप्रसंग कथानक उद्धृत करना भी आचार्य नहीं भूले हैं। ये कथानक प्राकृत में हैं।[८] 'थूभं रयणविचित्तं कुंथुं सुमिणम्मि तेण कुंथुजिणो' की व्याख्या के बाद के वाक्य 'साम्प्रतमरः' अर्थात् 'अब अरनाथ के व्याख्यान का अधिकार है' के बाद का विवरण उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध विवरण चतुर्विंशतिस्तव नामक द्वितीय अध्ययन तक ही है और वह भी अपूर्ण।

बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति :

यह वृत्ति[९] भद्रबाहुस्वामिकृत बृहत्कल्पपीठिकानिर्युक्ति और संघदासगणिकृत भाष्य (लघुभाष्य) पर है। वृत्तिकार मलयगिरि पीठिका की भाष्यगाथा ६०६ पर्यन्त ही अपनी वृत्ति लिख सके। शेष पीठिका तथा आगे के मूल उद्देशों के भाष्य की वृत्ति आचार्य क्षेमकीर्ति ने पूरी की। इस तथ्य का प्रतिपादन स्वयं क्षेमकीर्ति ने अपनी वृत्ति प्रारम्भ करते समय किया है :[१०]

श्रीमलयगिरिप्रभवो, यां कर्तुमुपाक्रमन्त मतिमन्तः।
सा कल्पशास्त्रटीका, मयाऽनुसन्धीयतेऽल्पधिया॥

प्रारम्भ में वृत्तिकार ने वीर जिनेश्वर को प्रणाम किया है तथा अपने गुरुपदकमलों का सादर स्मरण करते हुए कल्पाध्ययन की वृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की

---

१. पृ० ६६. २. पृ० २८. ३. पृ० ८३. ४. पृ० १२८. ५. पृ० २७१. ६. पृ० ३७०. ७. वही. ८. पृ० १०१, १२५, १५३, २९४. ९. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३३. १०. पृ० १७७.

है। भाष्यकार और चूर्णिकार की कृतज्ञता स्वीकार करते हुए मंगलाभिधान के व्याख्यान के साथ आगे की वृत्ति प्रारम्भ की है :

प्रकटीकृतनिःश्रेयसपदहेतुस्थविरकल्पजिनकल्पम् ।
नम्राशेषनरामरकल्पितफलकल्पतरुकल्पम् ॥ १ ॥
नत्वा श्रीवीरजिनं, गुरुपदकमलानि बोधविपुलानि ।
कल्पाध्ययनं विवृणोमि लेशतो गुरुनियोगेन ॥ २ ॥
भाष्यं क चातिगम्भीरं, क चाहं जडशेखरः ।
तदत्र जानते पूज्या, ये मामेवं नियुञ्जते ॥ ३ ॥
अद्भुतगुणरत्ननिधौ, कल्पे साहायकं महातेजाः ।
दीप इव तमसि कुरुते, जयति यतीशः स चूर्णिकृत् ॥ ४ ॥

कल्प (बृहत्कल्प) सूत्र व व्यवहार सूत्र तथा उनकी व्याख्याओं के रचयिताओं के विषय में अपना वक्तव्य उपस्थित करते हुए वृत्तिकार ने बताया है कि चतुर्दश पूर्वधर भगवान् भद्रबाहुस्वामी ने साधुओं के अनुग्रह के हेतु कल्पसूत्र और व्यवहार सूत्र की रचना की जिससे कि प्रायश्चित्त का व्यवच्छेद न हो। इन्होंने इन दोनों सूत्रों की सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति भी बनाई। सनिर्युक्तिक सूत्रों को भी अल्पबुद्धिवाले प्राणियों के लिए कठिन अनुभव करते हुए भाष्यकार ने उन पर भाष्य लिखा। यह सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति का अनुगमन करने वाला होने के कारण निर्युक्ति और भाष्य एक ग्रन्थरूप हो गए : ततो 'मा भूत् प्रायश्चित्त-व्यवच्छेदः' इति साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं व्यवहारसूत्रं चाकारि, उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्तिः। इमे अपि च कल्प-व्यवहारसूत्रे सनिर्युक्तिके अल्पग्रन्थतया महार्थत्वेन च दुःषमानुभावतो हीयमानमेधाऽऽयुरादिगुणानामिदानीन्तन-जन्तूनामल्पशक्तिनां दुर्ग्रहे दुरवधारे जाते, ततः सुखग्रहणधारणाय भाष्यकारो भाष्यं कृतवान्, तत्र सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगतमिति सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्तिर्भाष्यं चैको ग्रन्थो जातः।[1]

वृत्तिकार ने प्रस्तुत वृत्ति में प्राकृत गाथाओं के साथ-साथ प्राकृत कथानक भी उद्धृत किये हैं। 'यत एवं स्वस्थानप्रायश्चित्तं ततो विपर्यस्तग्रहणकरणे न विधेये'[2] एतत्पर्यन्त पीठिकावृत्ति आचार्य मलयगिरि की कृति है जिसका ग्रन्थमान ४६०० श्लोक-प्रमाण है।

१. पृ० २. २. पृ० १७७.

एकादश प्रकरण

मलधारी हेमचन्द्रकृत टीकाएँ

मलधारी हेमचन्द्रसूरि की परम्परा मे होने वाले मलधारी राजशेखर ने अपनी प्राकृत द्व्याश्रय की वृत्ति की प्रशस्ति में लिखा है कि मलधारी हेमचन्द्र का गृहस्थाश्रम का नाम प्रद्युम्न था। वे राजमन्त्री थे और अपनी चार स्त्रियों को छोड़कर मलधारी अभयदेवसूरि के पास दीक्षित हुए थे।[1] इन दोनों आचार्यों के प्रभावशाली जीवन-चरित्र का वर्णन मलधारी हेमचन्द्र के ही शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने अपने मुनिसुव्रत-चरित की प्रशस्ति में किया है। वह अति रोचक एवं ऐतिहासिक तथ्यों से युक्त है। मलधारी हेमचन्द्र का परिचय देते हुए श्रीचन्द्रसूरि कहते हैं:[2]

'अपने तेजस्वी स्वभाव से उत्तम पुरुषों के हृदय को आनन्दित करने वाले कौस्तुभमणि के समान श्री हेमचन्द्रसूरि आचार्य अभयदेव के बाद हुए। वे अपने युग में प्रवचन में पारगामी और वचनशक्तिसम्पन्न थे। भगवती जैसा शास्त्र तो उन्हें अपने नाम की भाँति कण्ठस्थ था। उन्होंने मूलग्रन्थ, विशेषावश्यक, व्याकरण और प्रमाणशास्त्र आदि अन्य विषयों के अर्ध लक्ष (?) ग्रन्थ पढ़े थे। जो राजा तथा अमात्य आदि सब में जिनशासन की प्रभावना करने में परायण और परम कारुणिक थे। मेघ के समान गम्भीर ध्वनि से जिस समय वे उपदेश देते उस समय जिनभवन के बाहर खड़े रहकर भी लोग उनके उपदेशरस का पान करते थे। व्याख्यानलब्धिसम्पन्न होने के कारण उनके शास्त्रव्याख्यान को सुनकर जडबुद्धि वाले लोग भी सहज ही बोध प्राप्त कर लेते। सिद्धव्याख्यानिक (सिद्धर्षि) की उपमितिभवप्रपंचकथा वैराग्य उत्पन्न करने वाली होते हुए भी समझने में अत्यन्त कठिन थी इसलिए सभा मे उसका व्याख्यान लम्बे समय से कोई नहीं करता था। जिस समय आचार्य हेमचन्द्र उसका व्याख्यान करते उस समय लोगों को उसे सुनने में खूब आनन्द आता। श्रोताओं की बारंबार की

---

१. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० २४५.

२. मुनिसुव्रतचरित की प्रशस्ति, का० १३१–१८०.

प्रार्थना के कारण उन्हें लगातार तीन वर्ष तक उस कथा का व्याख्यान करना पड़ा। इसके बाद उस कथा का प्रचार खूब बढ़ गया। आचार्य हेमचन्द्र ने निम्नलिखित ग्रन्थ बनाये : सर्वप्रथम उपदेशमाला मूल और भवभावना मूल की रचना की। तदनन्तर उन दोनों की क्रमशः १४ हजार और १३ हजार श्लोक-प्रमाण वृत्तियाँ बनाई। इसके बाद अनुयोगद्वार, जीवसमास और शतक (बंधशतक) की क्रमशः ६, ७ और ४ हजार श्लोकप्रमाण वृत्तियों की रचना की। मूल आवश्यकवृत्ति (हरिभद्रकृत) पर ५ हजार श्लोकप्रमाण टिप्पण लिखा तथा विशेषावश्यकभाष्य पर २८ हजार श्लोक-प्रमाण विस्तृत वृत्ति लिखी।[1] ....अन्त मे मृत्यु के समय आचार्य हेमचन्द्र ने अपने गुरु अभयदेव की ही भाँति आराधना की। उसमें इतनी विशेषता अवश्य थी कि इन्होंने सात दिन की संलेखना—अनशन किया था (जबकि आचार्य अभयदेव ने ४७ दिन का अनशन किया था) और राजा सिद्धराज स्वयं इनकी शवयात्रा में सम्मिलित हुआ था (जबकि अभयदेव की शवयात्रा का दृश्य उसने अपने महलों से ही देख लिया था)। इनके तीन गणधर थे : १. विजयसिंह, २. श्रीचन्द्र और ३. विबुधचन्द्र। उनमें से श्रीचन्द्र पट्टधर आचार्य हुए।'

आचार्य विजयसिंह ने धर्मोपदेशमाला की बृहद्वृत्ति लिखी है। उसकी समाप्ति वि० सं० ११९१ में हुई है। उसकी प्रशस्ति में आचार्य विजयसिंह ने अपने गुरु आचार्य हेमचन्द्र और उनके गुरु आचार्य अभयदेव का जो परिचय दिया है उससे मालूम होता है कि सं० ११९१ मे आचार्य मलधारी हेमचन्द्र की मृत्यु को काफी वर्ष व्यतीत हो चुके थे। ऐसी दशा में यह माना जाय कि अभयदेव की मृत्यु होने पर अर्थात् वि० सं० ११६८ में हेमचन्द्र ने आचार्यपद प्राप्त किया और लगभग सं० ११८० तक उस पद को शोभित किया तो कोई असंगति नहीं। उनके ग्रन्थान्त की किसी भी प्रशस्ति में वि० सं० ११७७ के बाद के वर्ष का उल्लेख नहीं मिलता।[2]

आचार्य हेमचन्द्र ने स्वहस्तलिखित जीवसमास की वृत्ति की प्रति के अन्त में अपना जो परिचय दिया है उसमें उन्होंने अपने को यम-नियम-स्वाध्याय-ध्यान के

---

१. इस सूची में नन्दिटिप्पण का उल्लेख नहीं है। विशेषावश्यकभाष्य की वृत्ति के अन्त में इस टिप्पण का उल्लेख उपलब्ध है।

२. गणधरवाद : प्रस्तावना, पृ० ५१–२.

अनुष्ठान में रत परम नैष्ठिक पंडित श्वेताम्बराचार्य भट्टारक के रूप में प्रस्तुत किया है। यह प्रति उन्होंने वि० सं० ११६४ में लिखी है। प्रशस्ति इस प्रकार है :[१]

ग्रन्थाग्र ६६२७। संवत् ११६४ चैत्र सुदि ४ सोमेऽद्येह श्रीमदणहिलपाटके समस्तराजावलिविराजितमहाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीमज्जयसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये एवं काले प्रवर्तमाने यमनियमस्वाध्यायध्यानानुष्ठानरतपरमनैष्ठिकपंडित - श्वेताम्बराचार्य - भट्टारकश्रीहेमचन्द्राचार्येण पुस्तिका लि० श्री०।

जहाँ तक मलधारी हेमचन्द्र की ग्रन्थरचना का प्रश्न है, हमने मुनिसुव्रतचरित की प्रशस्ति के आधार पर उपदेशमाला आदि नौ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। विशेषावश्यकभाष्य की वृत्ति के अन्त में आचार्य ने स्वयं ग्रन्थरचना का क्रम दिया है और ग्रन्थसंख्या दस दी है। मुनिसुव्रतचरित में उल्लिखित नौ ग्रन्थों में एक ग्रन्थ और जोड़ा गया है और वह है नन्दिटिप्पण। इस ग्रन्थ की किसी भी प्रति का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। ऐसा होते हुए भी यदि विशेषावश्यकभाष्य की वृत्ति में उल्लिखित ग्रन्थसंख्या एवं रचनाक्रम ठीक माना जाए तो मलधारी हेमचन्द्र की ग्रन्थरचना का क्रम इस प्रकार होना चाहिए : १. आवश्यकटिप्पण, २. शतकविवरण, ३. अनुयोगद्वारवृत्ति, ४. उपदेशमालासूत्र, ५. उपदेशमालावृत्ति, ६. जीवसमासविवरण, ७. भवभावनासूत्र, ८. भवभावनाविवरण, ९. नन्दिटिप्पण, १०. विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति। यह क्रम श्रीचन्द्रसूरिकृत मुनिसुव्रतचरित में उल्लिखित पूर्वोक्त क्रम से कुछ भिन्न ही है। इन ग्रन्थों का परिमाण लगभग ८०००० श्लोक-प्रमाण है। ये सब ग्रन्थ विषय की दृष्टि से प्रायः स्वतन्त्र हैं अतः उनमें पुनरावृत्ति के लिए विशेष गुंजाइश नहीं रही।

आवश्यकवृत्तिप्रदेशव्याख्या :

यह व्याख्या[२] हरिभद्रकृत आवश्यकवृत्ति पर है। इसे हारिभद्रीयावश्यकवृत्तिटिप्पणक भी कहते हैं। इस पर प्रस्तुत व्याख्याकार आचार्य हेमचन्द्र के ही शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने एक और टिप्पण लिखा है जिसे प्रदेशव्याख्याटिप्पण कहते हैं। प्रारम्भ में व्याख्याकार आदिजिनेश्वर (ऋषभदेव) को नमस्कार करते हैं। तदनन्तर वर्धमानपर्यन्त शेष समस्त तीर्थंकरों को नमस्कार करके संक्षेप में टिप्पण लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं :

---

१. श्री प्रशस्तिसंग्रह (श्री शान्तिनाथजी ज्ञानभंडार, अहमदाबाद), पृ० ४९.

२. श्रीचन्द्रसूरिविहित टिप्पणसहित—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९२०.

जगत्त्रयमतिक्रम्य, स्थिता यस्य पदत्रयी।
विष्णोरिव तमानम्य, श्रीमद्वीरजिनेश्वरम् ॥ १ ॥
शेषानपि नमस्कृत्य, जिनानजितपूर्वकान्।
श्रीमतो वर्द्धमानान्तान्, मुक्तिशर्मविधायिनः ॥ २ ॥
समुपासितगुरुजनतः समधिगतं किञ्चिदात्मसंस्मृतये।
सङ्क्षेपादावश्यकविषयं टिप्पनमहं वच्मि ॥ ३ ॥

इसके बाद व्याख्याकार ने हारिभद्रीय आवश्यकवृत्ति के कुछ कठिन स्थलों का सरल शैली में व्याख्यान करते हुए अन्त में व्याख्यागत दोषों की संशुद्धि के लिए मुनिजनों से प्रार्थना की है :[1]

इति गुरुजनमूलादर्थजातं स्वबुद्धया,
यदवगतमिहात्मस्मृत्युपादानहेतोः ।
तदुपरचितमेतत् यत्र किञ्चित्सदोषं,
मयि कृतगुरुकोपैस्तत्र शोध्यं मुनीन्द्रैः ॥ १ ॥
छद्मस्थस्य हि मोहः कस्य न भवतीह कर्मवशगस्य।
सद्बुद्धिविरहितानां विशेषतो मद्विधामुमताम् ॥ २ ॥

प्रस्तुत व्याख्या का ग्रन्थमान ४६०० श्लोकप्रमाण है।

अनुयोगद्वारवृत्ति :

यह वृत्ति[2] अनुयोगद्वार के सूत्रों का सरलार्थ प्रस्तुत करने के लिए बनाई गई है। प्रारंभ में आचार्य ने वीर जिनेश्वर, गौतमादि सूरिवर्ग एवं श्रुतदेवता को नमस्कार किया है :

सम्यक् सुरेन्द्रकृतसंस्तुतपादपद्ममुद्दामकामकरिराजकठोरसिंहम्।
सद्धर्मदेशकवरं वरदं नतोऽस्मि, वीरं विशुद्धतरबोधनिधिं सुधीरम् ॥१॥
अनुयोगभृतां पादान् वन्दे श्रीगौतमादिसूरीणाम्।
निष्कारणबन्धूनां विशेषतो धर्मदातॄणाम् ॥ २ ॥
यस्याः प्रसादमतुलं संप्राप्य भवन्ति भव्यजननिवहाः।
अनुयोगवेदिनस्तां प्रयतः श्रुतदेवतां वन्दे ॥ ३ ॥

---

1. पृ० ११७.
2. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८८०
   (आ) देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१५–६.
   (इ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२४.
   (ई) केशरबाई ज्ञानमंदिर, पाटन, सन् १९३९.

प्रथम सूत्र 'नाणं पंचविहं····' की व्याख्या प्रारंभ करने के पूर्व वृत्तिकार कहते हैं कि यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने चूर्णि और टीका (हारिभद्रीय) के द्वारा इस ग्रन्थ का व्याख्यान किया है किन्तु अल्प बुद्धिवाले शिष्यों के लिए उसे समझने में कठिनाई होने के कारण मैं मंदमति पुनः इसका व्याख्यान प्रारम्भ करता हूँ : स च यद्यपि चूर्णिटीकाद्वारेण वृद्धैरपि विहितः तथापि तद्वच-सामतिगम्भीरत्वेन दुरधिगमत्वाद् मन्दमतिनाऽपि मयाऽसाधारण-श्रुतभक्तिजनितौत्सुक्यभावतोऽविचारितस्वशक्तित्वादल्पधियामनुग्रहार्थ-त्वाच्च कर्तुमारभ्यते ।

'से किं तं तिनामे····' (सू० १२३) की वृत्ति में रस का विवेचन करते हुए वृत्तिकार ने भिषक्शास्त्र के 'श्लेष्माणमरुचिं पित्तं तृषं कुष्ठं विषं ज्वरम्····' आदि अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं।[1] इसी प्रकार सप्तस्वर की व्याख्या में[2] तथा अन्यत्र भी अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इस वृत्ति के अन्त में भी वही प्रशस्ति है जो विशेषावश्यकभाष्य की वृत्ति के अन्त में है। इसमें वृत्ति-रचना का समय नहीं दिया गया है। इसका ग्रन्थमान ५९०० श्लोक-प्रमाण है।

विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति[3] को शिष्यहितावृत्ति भी कहते हैं। यह मलधारी हेमचन्द्रसूरि की बृहत्तम कृति है। इसमें आचार्य ने विशेषावश्यकभाष्य में प्रतिपादित प्रत्येक विषय को अति सरल एवं सुबोध शैली में समझाया है। दार्शनिक चर्चा की प्रधानता होते हुए भी शैली मे क्लिष्टता नहीं आने पाई है, यह इस टीका की एक बहुत बड़ी विशेषता है। शंका-समाधान और प्रश्नोत्तर की पद्धति का प्राधान्य होने के कारण पाठक को अरुचि का सामना नहीं करना पड़ता। यत्र-तत्र संस्कृत कथानकों के उद्धरण से विषय-विवेचन और भी सरल हो गया है। इस टीका के कारण विशेषावश्यकभाष्य के पठन-पाठन में अत्यधिक सरलता हो गयी है, इसमें कोई संदेह नहीं। इस टीका से भाष्यकार और टीकाकार दोनों के यश मे असाधारण वृद्धि हुई है। टीका के प्रारम्भ में आचार्य ने वर्धमान

---

१. पाटन-संस्करण, पृ० १००. २. पृ० ११६-७.

३. (अ) यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, बनारस, वीर सं० २४२७–२४४१.

(आ) गुजराती भाषान्तर—चुनीलाल हुकमचन्द, आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२४-७.

जिनेश्वर, सुधर्मादिप्रमुख सूरिसंघ, स्वगुरु, जिनभद्र और श्रुतदेवता को सविनय वंदना की है :

श्रीसिद्धार्थनरेन्द्रविश्रुतकुलव्योमप्रवृत्तोदयः,
सद्बोधांशुनिरस्तदुस्तरमहामोहान्धकारस्थितिः ।
दृप्ताशेषकुवादिकौशिककुलप्रीतिप्रणोदक्षमो,
जीयादस्खलितप्रतापतरणिः श्रीवर्धमानो जिनः ॥ १ ॥

येन क्रमेण कृपया श्रुतधर्म एष,
आनीय मादृशजनेऽपि हि संप्रणीतः ।
श्रीमत्सुधर्मगणभृत्प्रमुखं नतोऽस्मि,
तं सूरिसङ्घमनघं स्वगुरूंश्च भक्त्या ॥ २ ॥

आवश्यकप्रतिनिबद्धगभीरभाष्य-
पीयूषजन्मजलधिर्गुणरत्नराशिः ।
ख्यातः क्षमाश्रमणतागुणतः क्षितौ यः,
सोऽयं गणिर्विजयते जिनभद्रनामा ॥ ३ ॥

यस्याः प्रसादपरिवर्धितशुद्धबोधाः,
पारं व्रजन्ति सुधियः श्रुततोयराशेः ।
सानुग्रहा मयि समीहितसिद्धयेऽस्तु,
सर्वज्ञशासनरता श्रुतदेवताऽसौ ॥ ४ ॥

विशेषावश्यकभाष्य क्या है एवं उसकी प्रस्तुत वृत्ति की क्या आवश्यकता है, इसका समाधान करते हुए टीकाकार ने बताया है कि सामायिकादि षडध्ययनात्मक श्रुतस्कन्धरूप आवश्यक की अर्थतः तीर्थंकरों ने एवं सूत्रतः गणधरों ने रचना की। इसकी गंभीरार्थता एवं नित्योपयोगिता को ध्यान में रखते हुए चतुर्दश पूर्वधर श्रीमद् भद्रबाहुस्वामी ने इस सूत्र की व्याख्यानरूप निर्युक्ति बनाई। इस निर्युक्ति में भी सामायिकाध्ययन-निर्युक्ति को विशेषतः महत्त्वपूर्ण समझते हुए श्रीमद् जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने उस पर व्याख्यात्मक भाष्य लिखा। उस भाष्य की यद्यपि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणविरचित स्वोपज्ञ वृत्ति तथा कोट्याचार्यविहित विवरण—ये दो टीकाएँ विद्यमान हैं किन्तु वे अति गंभीर वाक्यात्मक एवं कुछ संक्षिप्त होने के कारण मंदमति शिष्यों के लिए कठिन सिद्ध होती हैं। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए प्रस्तुत वृत्ति प्रारम्भ की जा रही है।[1]

1. पृ० १-२.

वृत्ति के अन्त में प्रशस्ति-सूचक ग्यारह श्लोक हैं जिनमें वृत्तिकार का नाम हेमचन्द्रसूरि एवं उनके गुरु का नाम अभयदेवसूरि बताया गया है और कहा गया है कि राजा जयसिंह के राज्य में सं० ११७५ की कार्तिक शुक्ला पंचमी के दिन यह वृत्ति समाप्त हुई :[1]

·· सोऽभयदेवसूरिरभवत् तेभ्यः प्रसिद्धो भुवि ॥ ९ ॥
तच्छिष्यलवप्रायैरगीतार्थैरपि शिष्टजनतुष्ट्यै ।
श्रीहेमचन्द्रसूरिभिरियमनुरचिता प्रकृतवृत्तिः ॥ १० ॥
शरदां च पञ्चसप्तत्यधिकैकादशशतेष्वतीतेषु ।
कार्तिकसितपञ्चम्यां श्रीमज्जयसिंहनृपराज्ये ॥ ११ ॥

वृत्ति का ग्रन्थमान २८००० श्लोक प्रमाण है।

१. पृ० १३५९.

द्वादश प्रकरण

नेमिचन्द्रविहित उत्तराध्ययन-वृत्ति

नेमिचन्द्रसूरि का दूसरा नाम देवेन्द्रगणि है। प्रारम्भ में ये देवेन्द्रगणि के नाम से ही प्रसिद्ध थे किन्तु बाद में नेमिचन्द्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने वि० सं० ११२९ में उत्तराध्ययन पर सुखबोधा नामक एक टीका लिखी। इस टीका मे अनेक प्राकृत आख्यान उद्धृत किये गये हैं। इस दृष्टि से नेमिचन्द्रसूरि हरिभद्रसूरि और वादिवेताल शान्तिसूरि की शैली के अधिक निकट हैं, न कि शीलांकसूरि की जिन्होंने इस प्रकार के आख्यान संस्कृत में प्रस्तुत किये हैं।

उत्तराध्ययन-सुखबोधा वृत्ति[1] शान्त्याचार्यविहित शिष्यहिता नामक बृहद्वृत्ति के आधार पर बनाई गई है। उससे सरल एवं सुबोध होने के कारण इसका नाम सुखबोधा रखा गया है। प्रारम्भ में वृत्तिकार ने तीर्थंकरों, सिद्धों, साधुओं एवं श्रुतदेवता को नमस्कार किया है तथा वृद्धकृत (शान्त्याचार्यकृत) बह्वर्थ एवं गम्भीर विवरण से समुद्धृत करके आत्मस्मृत्यर्थ तथा जडमति एवं संक्षेपरुचि वालों के हितार्थ बिना पाठान्तर और अर्थान्तर के उत्तराध्ययन की सुखबोधा-वृत्ति बनाने की प्रतिज्ञा की है :

प्रणम्य विघ्नसङ्घातघातिनस्तीर्थनायकान्।
सिद्धांश्च सर्वसाधूंश्च, स्तुत्वा च श्रुतदेवताम्॥ १॥
आत्मस्मृतये वक्ष्ये, जडमतिसंक्षेपरुचिहितार्थं च।
एकैकार्थनिबद्धां, वृत्तिं सूत्रस्य सुखबोधाम्॥ २॥
बह्वर्थाद् वृद्धकृताद्, गंभीराद् विवरणात् समुद्धृत्य।
अध्ययनानामुत्तरपूर्वाणामेकपाठगताम् ॥ ३॥
अर्थान्तराणि पाठान्तराणि सूत्रे च वृद्धटीकातः।
बोद्धव्यानि यतोऽयं, प्रारम्भो गमनिकामात्रम्॥ ४॥

वृत्ति के अन्त में प्रशस्ति है जिसमें वृत्तिकार नेमिचन्द्राचार्य के गच्छ, गुरु, गुरुभ्राता, वृत्तिरचना के स्थान, समय आदि का उल्लेख है। इसी में शान्त्याचार्य के गच्छ आदि का भी उल्लेख है जिनकी वृत्ति के आधार पर

---

१. पुष्पचन्द्र खेमचन्द्र, वलाद, सन् १९३७.

प्रस्तुत वृत्ति की रचना की गई है। नेमिचन्द्राचार्य बृहद्गच्छीय उद्योतनाचार्य के शिष्य उपाध्याय आम्रदेव के शिष्य हैं। इनके गुरुभ्राता का नाम मुनिचन्द्रसूरि है जिनकी प्रेरणा से प्रस्तुत वृत्ति बनी है। वृत्ति की रचना का स्थान अणहिल्पाटक नगर (दोहडि सेठ का घर) है तथा समाप्ति का समय वि० सं० ११२९ है :

> विश्रुतस्य महीपीठे, बृहद्गच्छस्य मण्डनम्।
> श्रीमान् विहारुकप्रष्ठः, सूरिरुद्योतनाभिधः॥ ९॥
> शिष्यस्तस्याऽऽम्रदेवोऽभूदुपाध्यायः सतां मतः।
> यत्रैकान्तगुणापूर्णे, दोषैर्लेभे पदं न तु॥ १०॥
> श्रीनेमिचन्द्रसूरिरुद्धृतवान् वृत्तिकां तद्विनेयः।
> गुरुसोदर्यश्रीमन्मुनिचन्द्राचार्यवचनेन ॥ ११॥
> ....
> अणहिलपाटकनगरे, दोहडिसच्छ्रेष्ठिसत्कवसतौ च।
> सन्तिष्ठता कृतेयं, नवकरहरवत्सरे चैव॥ १३॥

वृत्ति का ग्रन्थमान १२००० श्लोक-प्रमाण है :

> अनुष्टुभां सहस्राणि, गणितक्रिययाऽभवन्।
> द्वादश ग्रन्थमानं तु, वृत्तेरस्या विनिश्चितम्॥

त्रयोदश प्रकरण

श्रीचन्द्रसूरिविहित व्याख्याएँ

श्रीचन्द्रसूरि का दूसरा नाम पार्श्वदेवगणि है। ये शीलभद्रसूरि के शिष्य हैं। इन्होंने वि० सं० ११७४ में निशीथसूत्र की विशेषचूर्णि के बीसवें उद्देशक की व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त निम्न ग्रन्थों पर भी इनकी टीकाएँ हैं: श्रमणोपासक-प्रतिक्रमण (आवश्यक), नन्दी (नन्दीदुर्गपदव्याख्या), जीतकल्प-बृहच्चूर्णि, निरयावलिकादि अन्तिम पाँच उपांग।

निशीथचूर्णि-दुर्गपदव्याख्या :

निशीथचूर्णि के बीसवें उद्देश पर श्रीचन्द्रसूरि ने दुर्गपदव्याख्या[1] नामक टीका लिखी है। चूर्णि के कठिन अंशों को सरल एवं सुबोध बनाने के लिए ही प्रस्तुत व्याख्या लिखी गई है। जैसा कि व्याख्याकार प्रारम्भ में ही लिखते हैं :

विंशोद्देशे श्रीनिशीथस्य चूर्णौ,
दुर्गं वाक्यं यत् पदं वा समस्ति।
स्वस्मृत्यर्थं तस्य वक्ष्ये सुबोधां,
व्याख्यां कांचित् सद्गुरुभ्योऽवबुद्धाम्॥ २॥

इस व्याख्या का अधिक अंश विविध प्रकार के मासों के भंग, दिनों की गिनती आदि से सम्बन्धित होने के कारण नीरस है। चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर के नाम से सम्बन्धित अन्तिम दो गाथाओं की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार कहते हैं :

'....वर्गा इह अ। क। च। ट। त। प। य। श। वर्गा इति वचनात् स्वरादयो हकारान्ता ग्राह्याः। तदिह प्रथमगाथया जिणदास इत्येवंरूपं नामाभिहितं, द्वितीयगाथया तदेव विशेषयितुमाह—जिणदास महत्तर इति तेन रचिता चूर्णिरियम्।"[2]

---

१. सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९६० (निशीथसूत्र के चतुर्थ विभाग के अन्तर्गत, पृ० ४१३–४४३).

२. पृ० ४४३.

अन्त में व्याख्याकार अपना परिचय देते हुए कहते हैं :

श्रीशालि(शील)भद्रसूरीणां, शिष्यैः श्रीचन्द्रसूरिभिः।
विंशकोद्देशके व्याख्या, दृब्धा स्वपरहेतवे ॥ १ ॥

अर्थात् श्री शालि (शील) भद्रसूरि के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने अपने तथा दूसरों के लिए बीसवें उद्देश की यह व्याख्या बनाई।

इसी प्रकार व्याख्या की समाप्ति का समय-निर्देश करते हुए आचार्य कहते हैं :

वेदाश्वरुद्रयुक्ते, विक्रमसंवत्सरे तु मृगशीर्षे।
माघसितद्वादश्यां, समर्थितेयं रवौ वारे॥ २ ॥

निरयावलिकावृत्ति :

यह वृत्ति[1] अन्तिम पाँच उपांगभूत निरयावलिका सूत्र पर है : निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूला और वृष्णिदशा। इस वृत्ति के अतिरिक्त इस सूत्र की और कोई टीका नहीं है। वृत्ति संक्षिप्त एवं शब्दार्थप्रधान है। प्रारम्भ में आचार्य ने पार्श्वनाथ को प्रणाम किया है :

पार्श्वनाथं नमस्कृत्य प्रायोऽन्यग्रन्थवीक्षिता।
निरयावलिश्रुतस्कन्धे व्याख्या काचित् प्रकाश्यते॥

वृत्ति के अन्त में वृत्तिकार के नाम, गुरु, वृत्तिलेखन के समय, स्थान आदि का कोई उल्लेख नहीं है। मुद्रित प्रति के अन्त में केवल 'इति श्रीचन्द्रसूरिविरचितं निरयावलिकाश्रुतस्कन्धविवरणं समाप्तमिति। श्रीरस्तु।' इतना सा उल्लेख है।[2] वृत्ति का ग्रन्थमान ६०० श्लोकप्रमाण है।

जीतकल्पबृहच्चूर्णि-विषमपदव्याख्या :

यह व्याख्या[3] सिद्धसेनगणिकृत जीतकल्पबृहच्चूर्णि के विषमपदों के विवेचन के रूप में है। प्रारंभ में व्याख्याकार श्रीचन्द्रसूरि ने भगवान् महावीर को

---

१. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८५.
(आ) आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९२२.
(इ) गूर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, सन् १९३४.

२. अहमदाबाद-संस्करण, पृ० ३९.

३. जैन साहित्य संशोधक समिति, अहमदाबाद, सन् १९२६.

नमस्कार करके स्व-परोपकार के निमित्त जीतकल्पबृहच्चूर्णि की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है :

नत्वा श्रीमन्महावीरं स्वपरोपकृतिहेतवे ।
जीतकल्पबृहच्चूर्णेर्व्याख्या काचित् प्रकाश्यते ॥

'सिद्धत्थ......' इत्यादि प्रारंभ की एकादश चूर्णि-गाथाओं (मंगल-गाथाओं) की व्याख्या करने के बाद आचार्य ने 'को वि सीसो....' आदि पाठों के कठिन पदों का व्याख्यान प्रारंभ किया है। बीच-बीच में अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिए प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की हैं।[1]

अन्त में व्याख्याकार ने अपना नामोल्लेख करते हुए बताया है कि प्रस्तुत व्याख्या सं० १२२७ में महावीर-जन्मकल्याण के दिन रविवार को पूर्ण हुई। इसका ग्रन्थमान ११२० श्लोक-प्रमाण है :

जीतकल्पबृहच्चूर्णौ व्याख्या शास्त्रानुसारतः ।
श्रीचन्द्रसूरिभिर्दृब्धा स्वपरोपकृतिहेतवे ॥ १ ॥
मुनिनयनतरणि (१२२७) वर्षे श्रीवीरजिनस्य जन्मकल्याणे ।
प्रकृतग्रन्थकृतिरियं निष्पत्तिमवाप रविवारे ॥ २ ॥
... ...

एकादशशतविंशत्यधिकश्लोकप्रमाणग्रन्थाग्रम् ।
ग्रन्थकृतिः प्रविवाच्या मुनिपुङ्गवसूरिभिः सततम् ॥ ४ ॥
यदिहोत्सूत्रं किञ्चिद् दृब्धं छद्मस्थबुद्धिभावनया ।
तन्मयि कृपानुकलितैः शोध्यं गीतार्थविद्वद्भिः ॥ ५ ॥

१. पृ० ३६, ३८, ३९, ४४, ४९.

चतुर्दश प्रकरण

अन्य टीकाएँ

उपर्युक्त टीकाकार आचार्यों के अतिरिक्त और भी ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने आगमों के टीकानिर्माण में अपना योग दिया है। शिवप्रभसूरि के शिष्य श्रीतिलकसूरि ने आवश्यक सूत्र पर वि० सं० १२९६ में टीका लिखी है जिसका नाम लघुवृत्ति है। इसके अतिरिक्त जीतकल्प और दशवैकालिक पर भी इनकी टीकाएँ हैं। क्षेमकीर्ति ने मलयगिरिकृत बृहत्कल्प की अपूर्ण टीका पूरी की है। महेन्द्रसूरि (सं० १२९४) के शिष्य भुवनतुंगसूरि ने चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान और संस्तारक—इन प्रकीर्णकों पर टीकाएँ लिखी हैं। इसी प्रकार गुणरत्न (सं० १४८४) ने भक्तपरिज्ञा, संस्तारक, चतुःशरण और आतुरप्रत्याख्यान नामक प्रकीर्णकों पर टीकाएँ लिखी हैं। विजयविमल (सं० १६३४) की तंदुलवैचारिक और गच्छाचार प्रकीर्णकों पर टीकाएँ हैं। वानरर्षि ने गच्छाचार प्रकीर्णक पर वृत्ति लिखी है। हीरविजयसूरि ने सं० १६३९ में और शान्तिचन्द्रगणि ने सं० १६६० में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति पर टीकाएँ लिखी हैं। शान्तिचन्द्रगणि की टीका का नाम प्रमेयरत्नमंजूषा है। जिनहंस ने सं० १५८२ में आचारांग पर वृत्ति (दीपिका) लिखी है। सं० १५८३ में हर्षकुल ने सूत्रकृतांगदीपिका की रचना की। भगवती और उत्तराध्ययन पर भी इन्होंने टीकाएँ लिखीं। लक्ष्मीकल्लोलगणि ने आचारांग (सं० १५९६) और ज्ञाताधर्मकथा पर, दानशेखर ने भगवती पर (व्याख्याप्रज्ञप्तिलघुवृत्ति), विनयहंस ने उत्तराध्ययन और दशवैकालिक पर टीकाएँ लिखी हैं। इनके अतिरिक्त आवश्यकादि पर अन्य आचार्यों की भी टीकाएँ हैं। आवश्यक पर जिनभट, नमिसाधु (सं० ११२२), ज्ञानसागर (सं० १४४०), माणिक्यशेखर, शुभवर्धनगणि (सं० १५४०), धीरसुन्दर (सं० १५००), श्रीचन्द्रसूरि (सं० १२२२), कुलप्रभ, राजवल्लभ, हितरुचि (सं० १६९७) आदि ने, आचारांग पर अजितदेवसूरि, पार्श्वचन्द्र (सं० १५७२), माणिक्यशेखर आदि ने, सूत्रकृतांग पर साधुरंग उपाध्याय (सं० १५९९), पार्श्वचन्द्र[1] आदि ने, स्थानांग पर नगर्षिगणि

१. पार्श्वचन्द्रकृत टीकाएँ गुजराती में हैं।

(सं० १६५७), पार्श्वचन्द्र, सुमतिकल्लोल और हर्षनन्दन (सं० १७०५) आदि ने, समवायांग पर मेघराज वाचक आदि ने, व्याख्याप्रज्ञप्ति–भगवती पर भावसागर, पद्मसुन्दरगणि आदि ने, ज्ञाताधर्मकथा पर कस्तूरचन्द्र (सं० १८९९) आदि ने, उपासकदशांग पर हर्षवल्लभ उपाध्याय (सं० १६९३), विवेकहंस उपाध्याय आदि ने, प्रश्नव्याकरण पर ज्ञानविमलसूरि, पार्श्वचन्द्र, अजितदेवसूरि आदि ने, औपपातिक पर राजचन्द्र और पार्श्वचन्द्र ने, राजप्रश्नीय पर राजचन्द्र, रत्नप्रभसूरि, समरचन्द्रसूरि आदि ने, जीवाभिगम पर पद्मसागर (सं० १७००) आदि ने, प्रज्ञापना पर जीवविजय (सं० १७८४) आदि ने, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति पर पुण्यसागर (सं० १६४५) आदि ने, चतुःशरण पर विनयराजगणि, पार्श्वचन्द्र, विजयसेनसूरि आदि ने, आतुरप्रत्याख्यान पर हेमचन्द्रगणि आदि ने, संस्तारक पर समरचन्द्र (सं० १६०३) आदि ने, तन्दुलवैचारिक पर पार्श्वचन्द्र आदि ने, बृहत्कल्प पर सौभाग्यसागर आदि ने, उत्तराध्ययन पर कीर्तिवल्लभ (सं० १५५२), कमलसंयम उपाध्याय (सं० १५५४), तपोरत्न वाचक (सं० १५५०), गुणशेखर, लक्ष्मीवल्लभ, भावविजय (सं० १६८९), हर्षनन्दनगणि, धर्ममन्दिर उपाध्याय (सं० १७५०), उदयसागर (सं० १५४६), मुनिचन्द्रसूरि, ज्ञानशीलगणि, अजितचन्द्रसूरि, राजशील, उदयविजय, मेघराज वाचक, नगर्षिगणि, अजितदेवसूरि, माणिक्यशेखर, ज्ञानसागर आदि ने, दशवैकालिक पर सुमतिसूरि, समयसुन्दर (सं० १६८१), शान्तिदेवसूरि, सोमविमलसूरि, राजचन्द्र (सं० १६६७), पार्श्वचन्द्र, मेरुसुन्दर, माणिक्यशेखर, ज्ञानसागर आदि ने, पिण्डनिर्युक्ति पर क्षमारत्न, माणिक्यशेखर आदि ने, नन्दी पर जयदयाल, पार्श्वचन्द्र आदि ने, ओघनिर्युक्ति पर ज्ञानसागर (सं० १४३९) और माणिक्यशेखर ने तथा दशाश्रुतस्कन्ध पर ब्रह्ममुनि (ब्रह्मर्षि) आदि ने टीकाएँ लिखी हैं। इन टीकाओं के अतिरिक्त कुछ टीकाएँ अज्ञात आचार्यों द्वारा भी लिखी गई हैं।[१] कुछ आचार्यों के नाम, समय आदि के विषय में भी अभीतक पूर्ण निश्चय नहीं हो पाया है। ऐसी स्थिति में किसी के नाम का एक से अधिक रूपों में प्रयोग हो जाना असंभव नहीं है। इसी प्रकार अनेक टीकाओं के विषय में भी पूरा निश्चय नहीं हो पाया है। विशेषकर अनुपलब्ध टीकाओं की यथार्थ स्थिति के विषय में तो अनेक प्रकार की शंकाएँ स्वाभाविक हैं। आगे कुछ प्रकाशित टीकाओं का परिचय दिया जाता है।

---

१. देखिए—जिनरत्नकोश : प्रथम भाग.

बृहत्कल्पवृत्ति :

आचार्य मलयगिरिकृत बृहत्कल्प की अपूर्ण वृत्ति को पूरी करने का श्रेय आचार्य क्षेमकीर्ति को है। पीठिका-भाष्य की ६०६ गाथाओं से आगे के सम्पूर्ण भाष्य (लघुभाष्य) की वृत्ति[1] इन्हीं आचार्य की कृति है। शैली आदि की दृष्टि से यह वृत्ति मलयगिरिकृत टीका के ही समकक्ष है। प्रारम्भ में आचार्य ने सर्वज्ञ महावीर, कल्प (बृहत्कल्प) सूत्रकार भद्रबाहु, भाष्यकार संघदासगणि, चूर्णिकार मुनीन्द्र, वृत्तिकार मलयगिरि, शिवमार्गोपदेष्टा स्वगुरु तथा वरदा श्रुतदेवी को नमस्कार किया है एवं मलयगिरिप्रारब्ध कल्पशास्त्रटीका को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की है।[2] वृत्ति के अन्त में लम्बी प्रशस्ति है। इसके अनुसार आचार्य क्षेमकीर्ति के गुरु का नाम विजयचन्द्रसूरि था। विजयचन्द्रसूरि आचार्य जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य थे। आचार्य क्षेमकीर्ति के दो गुरुभाई थे जिनका नाम वज्रसेन और पद्मचन्द्र था। प्रस्तुत वृत्ति की समाप्ति ज्येष्ठ शुक्ला दशमी वि० सं० १३३२ मे हुई है। इस विशाल वृत्ति का ग्रन्थमान ४२६०० श्लोक-प्रमाण है :[3]

ज्योत्स्नामञ्जुलया यया धवलितं विश्वम्भरामण्डलं,
या निःशेषविशेषविज्ञजनताचेतश्चमत्कारिणी।
तस्यां श्रीविजयेन्दुसूरिसुगुरोर्निष्कृत्रिमाया गुण-
श्रेणेः स्याद् यदि वास्तवस्तवकृतौ विज्ञः स वाचांपतिः ॥ १५ ॥

तत्पाणिपङ्कजरजःपरिपूतशीर्षाः,
शिष्यास्त्रयो दधति सम्प्रति गच्छभारम्।
श्रीवज्रसेन इति सद्गुरुरादिमोऽत्र,
श्रीपद्मचन्द्रसुगुरुस्तु ततो द्वितीयः ॥ १६ ॥

तार्तीयीकस्तेषां, विनेयपरमाणुरनणुशास्त्रेऽस्मिन्।
श्रीक्षेमकीर्तिसूरिर्विनिर्ममे विवृतिमल्पमतिः ॥ १७ ॥

श्रीविक्रमतः क्रामति, नयनाग्निगुणेन्दुपरिमिते (१३३२) वर्षे।
ज्येष्ठश्वेतदशम्यां, समर्थितैषा च हस्तार्के ॥ १८ ॥

---

१. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३३–१९४२.

२. का० १–८. ३. पृ० १७१२.

आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका :

माणिक्यशेखरसूरिकृत प्रस्तुत दीपिका[1] आवश्यकनिर्युक्ति का अर्थ समझने के लिए बहुत ही उपयुक्त टीका है। इसमें निर्युक्ति-गाथाओं का अति सरल एवं संक्षिप्त शब्दार्थ तथा भावार्थ दिया गया है। कथानकों का सार भी बहुत ही संक्षेप में समझा दिया गया है। प्रारंभ में दीपिकाकार ने वीर जिनेश्वर और अपने गुरु मेरुतुंगसूरि को नमस्कार किया है एवं आवश्यकनिर्युक्ति की दीपिका लिखने का संकल्प किया है :

नत्वा श्रीवीरजिनं तदनु श्रीमेरुतुंगसूरिगुरून्।
कुर्वे श्रीआवश्यकनिर्युक्तेर्दीपिकाममलाम्॥

यह दीपिका दुर्गपदार्थ तक ही सीमित है, इसे दीपिकाकार ने प्रारंभ में ही स्वीकार किया है : श्रीआवश्यकसूत्रनिर्युक्तिविषयः प्रायो दुर्गपदार्थः कथामात्रं निर्युक्त्युदाहृतं च लिख्यते।[2] मंगलाचरण के रूप में नन्दी सूत्र के प्रारंभ की पचास गाथाएँ, जोकि दीपिकाकार के कथनानुसार देवर्द्धिगणि-प्रणीत हैं[3], उद्धृत करने के बाद 'आभिणिबोहियनाणं····· ··' इत्यादि गाथाओं का व्याख्यान प्रारंभ किया है। दीपिका के अन्त की प्रशस्ति में बताया गया है कि प्रस्तुत ग्रंथकार माणिक्यशेखरसूरि अंचलगच्छीय महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य मेरुतुंगसूरि के शिष्य हैं। आवश्यकनिर्युक्ति-दीपिका के अतिरिक्त निम्न टीकाएँ भी इन्हीं की कृतियाँ हैं : १. दशवैकालिकनिर्युक्ति-दीपिका, २. पिण्ड-निर्युक्ति-दीपिका, ३. ओघनिर्युक्ति-दीपिका, ४. उत्तराध्ययन-दीपिका, ५. आचार-दीपिका। प्रशस्ति इस प्रकार है :[4]

ते श्रीअञ्चलगच्छमण्डनमणिश्रीमन्महेन्द्रप्रभ-
श्रीसूरीश्वरपट्टपङ्कजसमुल्लासोल्लसद्भानवः।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रघटनाब्रह्मायमाणाश्चिरं,
श्रीपूज्यप्रभुमेरुतुङ्गगुरवो जीयासुरानन्ददाः॥ १॥

---

१. विजयदानसूरीश्वर जैन ग्रंथमाला, सूरत, सन् १९३९-१९४९.

२. प्रथम विभाग, पृ० १.

३. इह श्रीदेववाचक इत्यपरनामा देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणपञ्चकरूपं नन्दिग्रन्थं वक्तुकामो मंगलार्थं·······।—वही.

४. तृतीय विभाग, पृ० ४६.

तच्छिष्य एष खलु सूरिरचीकरत् श्री-
माणिक्यशेखर इति प्रथिताभिधानः ।
चक्षुर्विचारचयचेतनचारुमेनां,
सद्दीपिकां सुविहितव्रतिनां हिताय ॥ २ ॥
मुनिनिचयवाच्यमाना तमोहरा दीपिका पिण्डनिर्युक्तेः ।
ओघनिर्युक्तिदीपिका दशवैकालिकस्याप्युत्तराध्ययनदीपिके ॥ ३ ॥
आचारदीपिकानावतत्त्वविचारणं तथास्य ।
एककर्तृतया ग्रन्था अमी अस्याः सहोदराः ॥ ४ ॥

माणिक्यशेखरसूरि संभवतः विक्रम की १५ वीं शती में विद्यमान थे। अंचलगच्छीय मेरुतुंगसूरि के शिष्य जयकीर्तिसूरि ने वि० सं० १४८३ में एक चैत्य की देहरि की प्रतिष्ठा करवाई थी : संवत् १४८३ वर्षे प्रथम वैशाख शुद १३ गुरौ श्रीअंचलगच्छे श्रीमेरुतुंगसूरीणां पट्टोधरेण श्रीजयकीर्तिसूरीश्वर सुगुरूपदेशेन ''श्रीजिराउला पार्श्वनाथस्य चैत्ये देहरि (३) कारापिता'''।[1] प्रस्तुत दीपिका के प्रणेता माणिक्यशेखरसूरि भी अंचलगच्छीय मेरुतुंगसूरि के ही शिष्य हैं। ऐसी स्थिति में यदि जयकीर्तिसूरि और माणिक्यशेखरसूरि गुरुभ्राता के रूप मे माने जाएं तो दीपिकाकार माणिक्यशेखरसूरि सहज ही विक्रम की १५ वीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं। दूसरी बात यह है कि प्रस्तुत ग्रंथ की वि० सं० १५५० के पूर्व लिखी गई कोई प्रति भी उपलब्ध नहीं है[2] जिसके आधार पर उन्हें अधिक प्राचीन सिद्ध किया जा सके।

आचारांगदीपिका :

शीलांकाचार्यकृत आचारांगविवरण के आधार पर विरचित प्रस्तुत दीपिका[3] चद्रगच्छीय महेश्वरसूरि के शिष्य अजितदेवसूरि की कृति है। इसका रचना-समय वि० सं० १६२९ के आसपास है।[4] टीका सरल, संक्षिप्त एवं सुबोध है। इसका उत्तरार्ध अभी तक प्रकाश मे नहीं आया है। प्रारंभ में आचार्य ने वर्धमान जिनेश्वर का स्मरण किया है एवं आचारांग सूत्र की बृहद्वृत्ति (शीलांककृत) की दुर्विगाहता बताते हुए अल्प बुद्धिवालों के लिए प्रस्तुत दीपिका लिखने का संकल्प किया है :

---

१. वही, प्रस्तावना. २. वही.

३. प्रथम श्रुतस्कन्ध—मणिविजयजीगणिवर ग्रंथमाला, लींच, वि० सं० २००५.

४. प्रस्तावना, पृ० ४.

वर्द्धमानजिनो जीयाद्, भव्यानां वृद्धिदोऽनिशम् ।
बुद्धिवृद्धिकरोऽस्माकं, भूयात् त्रैलोक्यपावनः ॥ १ ॥
श्रीआचाराङ्गसूत्रस्य, बृहद्वृत्तिः सविस्तरा ।
दुर्विगाहाऽल्पबुद्धीनां, क्रियते तेन दीपिका ॥ २ ॥

गच्छाचारवृत्ति :

यह वृत्ति[1] तपागच्छीय आनन्दविमलसूरि के शिष्य विजयविमलगणि की कृति है। इसका रचना-काल वि० सं० १६३४ एवं ग्रंथमान ५८५० श्लोकप्रमाण है। वृत्ति विस्तृत है एवं प्राकृत कथानकों से युक्त है। वानरर्षिकृत गच्छाचार-टीका का आधार यही वृत्ति है। प्रारंभ में वृत्तिकार ने भगवान् महावीर तथा स्वगुरु को प्रणाम करके गच्छाचार-प्रकीर्णक की वृत्ति लिखने का संकल्प किया है। अन्त में बहुत लंबी प्रशस्ति है जिसमें वृत्तिकार की गुरु-परम्परा आदि का उल्लेख है। वृत्तिकार ने अपने को आनन्दविमलसूरि का शिष्य बताया है :

शिष्यो भूरिगुणानां, युगोत्तमानन्दविमलसूरीणाम् ।
निर्मितवान् वृत्तिमिमामुपकारकृते विजयविमलः ॥ ७४ ॥

वृत्ति का रचना-काल बताते हुए कहा गया है :

तेषां श्रीसुगुरूणां, प्रसादमासाद्य संश्रुतानन्दः ।
वेदाग्निरसेन्दु (१६३४) मिते, विक्रमभूपालतो वर्षे ॥ ७३ ॥

वृत्ति का ग्रंथमान निम्नोक्त है :

प्रत्यक्षरं गणनया, वृत्तेर्मानं विनिश्चितम् ।
सहस्राः पञ्च सार्द्धानि, शतान्यष्टावनुष्टुभाम् ॥ ७७ ॥

तन्दुलवैचारिकवृत्ति :

विजयविमलविहित तन्दुलवैचारिकवृत्ति[2] के आरम्भ में ऋषभ, महावीर, गौतम, सिद्धान्त और स्वगुरु को प्रणाम किया गया है :

ऋषभं वृषसंयुक्तं, वीरं वैरनिवारकम् ।
गौतमं गुणसंयुक्तं, सिद्धान्तं सिद्धिदायकम् ॥ १ ॥
प्रणम्य स्वगुरुं भक्त्या, वक्ष्ये व्याख्यां गुरोः शुभाम् ।
तन्दुलाख्यप्रकीर्णस्य, वैराग्यरसवारिधेः ॥ २ ॥

---

१. दयाविमलजी जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, सन् १९२४.
२. चतुःशरण की अवचूरि (लेखक का नाम अज्ञात) सहित—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९२२.

यह वृत्ति संक्षिप्त एवं शब्दार्थप्रधान होने के कारण अवचूरि भी कही जाती है। इसमें कहीं-कहीं अन्य ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये गये हैं। वृत्तिकार आनन्दविमलसूरि के शिष्य हैं। गुणसौभाग्यगणि से प्राप्त तन्दुलवैचारिक के ज्ञान के आधार पर ही प्रस्तुत वृत्ति लिखी गई है :[1]

इति श्रीहीरविजयसूरिसेवितचरणेन्दीवरे श्रीविजयदानसूरीश्वरे विजयमाने वैराग्यशिरोमणीनां....श्रीआनन्दविमलसूरीश्वराणां शिष्याणुशिष्येण विजयविमलाख्येन पण्डितश्रीगुणसौभाग्यगणिप्राप्ततन्दुलवैचारिकज्ञानांशेन श्रीतन्दुलवैचारिकस्येयमवचूरिः समर्थिता।

गच्छाचारटीका :

इस टीका[2] के प्रणेता वानरर्षि तपागच्छीय आनन्दविमलसूरि के शिष्य हैं। टीका बहुत संक्षिप्त है। इसकी रचना का मुख्य आधार हर्षकुल से प्राप्त हुआ गच्छाचार का ज्ञान है। प्रारम्भ में आचार्य ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ को नमस्कार करके गच्छाचार की व्याख्या लिखने का संकल्प किया है :

श्रीपार्श्वजिनमानम्य, तीर्थाधीशं वरप्रदम्।
गच्छाचारे गुरोर्ज्ञातां, वक्ष्ये व्याख्यां यथाऽऽगमम्॥

अन्त में टीकाकार ने अपना, अपने धर्मगुरु, विद्यागुरु आदि का नामोल्लेख इस प्रकार किया है :[3]

इति श्रीविजयदानसूरिविजयमानराज्ये.......श्रीआनन्दविमलसूरीश्वराणां शिष्याणुशिष्येण वानराख्येन पण्डितश्रीहर्षकुलावाप्तगच्छाचाररहस्येन गच्छाचारप्रकीर्णकटीकेयं समर्थिता...।

उत्तराध्ययनव्याख्या :

प्रस्तुत व्याख्या[4] तपागच्छीय मुनिविमलसूरि के शिष्य भावविजयगणि ने वि० सं० १६८९ में लिखी है। इसका ग्रन्थमान १६२५५ श्लोकप्रमाण है। व्याख्या कथानकों से भरपूर है। इन कथानकों की विशेषता यह है कि ये अन्य

---

१. पृ० ५६. २. आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १९२३.

३. पृ० ४२.

४. (अ) जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७४.

(आ) विनयभक्ति सुन्दरचरण ग्रन्थमाला, बेणप, सन् १९४० (सप्तदश अध्ययन).

टीकाओं के कथानकों की भाँति गद्यात्मक न होकर पद्यनिबद्ध हैं। प्रारम्भ में व्याख्याकार ने पार्श्वनाथ, वर्धमान और वाग्वादिनी को प्रणाम किया है। उत्तराध्ययन सूत्र की सुगम व्याख्या लिखने का संकल्प करते हुए बताया है कि निर्युक्त्यर्थ, पाठान्तर, अर्थान्तर आदि के लिए शान्तिसूरिविरचित वृत्ति देखना चाहिए। यद्यपि इस सूत्र की पूर्वरचित अनेक वृत्तियाँ विद्यमान हैं फिर भी मैं पद्यनिबद्ध कथार्थ के रूप में यह प्रयास करता हूँ :

ओंनमः सिद्धिसाम्राज्यसौख्यसन्तानदायिने।
त्रैलोक्यपूजिताय श्रीपार्श्वनाथाय तायिने ॥ १ ॥
श्रीवर्द्धमानजिनराजमनन्तकीर्तिं,
वाग्वादिनीं च सुधियां जननीं प्रणम्य।
श्रीउत्तराध्ययनसंज्ञकवाङ्मयस्य,
व्याख्यां लिखामि सुगमां सकथां च काञ्चित् ॥ २ ॥
निर्युक्त्यर्थः पाठान्तराणि चार्थान्तराणि च प्रायः।
श्रीशान्तिसूरिविरचितवृत्तेर्ज्ञेयानि तत्त्वज्ञैः ॥ ३ ॥
पूर्वैर्विहिता यद्यपि, बह्व्यः सन्त्यस्य वृत्तयो रुचिराः।
पद्यनिबद्धकथार्थं, तदपि क्रियते प्रयत्नोऽयम् ॥ ४ ॥

दशवैकालिकदीपिका :

प्रस्तुत दीपिका[1] खरतरगच्छीय सकलचन्द्रसूरि के शिष्य समयसुन्दरसूरि की शब्दार्थ वृत्तिरूप कृति है। दीपिका की भाषा सरल एवं शैली सुबोध है। प्रारम्भ में दीपिकाकार ने स्तम्भनाधीश (पार्श्वनाथ) को नमस्कार किया है तथा दशवैकालिक सूत्र का शब्दार्थ लिखने का संकल्प किया है :

स्तम्भनाधीशमानम्य गणिः समयसुन्दरः।
दशवैकालिके सूत्रे शब्दार्थं लिखति स्फुटम् ॥

दीपिका के अन्त में आचार्य ने हरिभद्रकृत टीका को विषम बताते हुए अपनी टीका को सुगम बताया है। यह टीका वि० सं० १६९१ में स्तम्भतीर्थ (खंभात) में पूर्ण हुई थी। इसका ग्रन्थमान ३४५० श्लोकप्रमाण है :

---

१. (अ) भीमसी माणेक, बम्बई, सन् १९००.
(आ) हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९१५.
(इ) जिनयशःसूरि ग्रन्थमाला, खंभात, वि० सं० १९७५.

हरिभद्रकृता टीका वर्तते विषमा परम् ।
मया तु शीघ्रबोधाय शिष्यार्थं सुगमा कृता ॥ १ ॥
चन्द्रकुले श्रीखरतरगच्छे जिनचन्द्रसूरिनामानः ।
जाता युगप्रधानास्तच्छिष्यः सकलचन्द्रगणिः ॥ २ ॥
तच्छिष्यसमयसुन्दरगणिना च स्तम्भतीर्थपुरे चक्रे ।
दशवैकालिकटीका शशिनिधिशृङ्गारमित वर्षे ॥ ३ ॥
.... ।
शब्दार्थवृत्तिटीकायाः श्लोकमानमिदं स्मृतम् ।
सहस्रत्रयमग्रे च पुनः सार्धचतुःशतम् ॥ ७ ॥

प्रश्नव्याकरण-सुखबोधिकावृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति[1] तपागच्छीय ज्ञानविमलसूरि की कृति है। यह विस्तार में अभयदेवसूरिकृत वृत्ति से बड़ी है। जिन पदों का व्याख्यान अभयदेवसूरि ने सरल समझ कर छोड़ दिया था उनका भी प्रस्तुत वृत्ति में व्याख्यान किया गया है। वृत्तिकार ने अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए यत्र-तत्र अनेक प्रकार के उद्धरण भी दिये हैं। मूल ग्रंथ को प्रत्येक प्रकार से सरल एवं सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत वृत्ति को सुखबोधिका कहना उचित ही है। प्रारंभ में वृत्तिकार ने परमेश्वर पार्श्व, प्रभु महावीर, जैन प्रवचन तथा ज्ञानदाता गुरु को सादर प्रणाम किया है। नवांगवृत्तिकार अभयदेवसूरिविरचित प्रश्नव्याकरण-वृत्ति की कृतज्ञता स्वीकार करते हुए मंद मतिवालों के लिए इसी सूत्र का सुख-बोधक विवरण प्रस्तुत करने का संकल्प किया है :

रम्या नवाङ्गवृत्तीः, श्रीमदभयदेवसूरिणा रचिताः ।
ताः सद्भिर्वाच्यमानाः, सुदृशां तत्त्वप्रबोधकराः ॥ ७ ॥
सम्प्रति भानुद्युतय इवासतेऽनल्पजल्पगम्भीराः ।
परमवनिवेद्मसंगतपदार्थमाभाति दीपिकया ॥ ८ ॥
मत्तो मन्दमतीनां, स्वीयान्येषां परोपकाराय ।
विवरणमेतत् सुगमं, शब्दार्थं भवतु भव्यानाम् ॥ ९ ॥

'प्रश्नव्याकरण' अथवा 'प्रश्नव्याकरणदशा' का शब्दार्थ बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जिसमें प्रश्न अर्थात् अंगुष्ठादिप्रश्नविद्या का व्याकरण अर्थात् कथन—वर्णन किया गया हो वह प्रश्नव्याकरण है। कहीं-कहीं इस सूत्र का नाम प्रश्नव्या-

१. मुक्तिविमल जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, वि० सं० १९९५.

करणदशा भी है। जिसमें इन विद्याओं का प्रतिपादन करने वाले दस अध्ययन हैं वह प्रश्नव्याकरणदशा है। इस प्रकार का ग्रंथ भूतकाल में था। इस समय इस ग्रंथ में आस्रव और संवर का ही वर्णन उपलब्ध है। पाँच अध्याय हिंसा, मृषा, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रहसंबंधी हैं और पाँच अध्याय अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहसम्बन्धी हैं। ऐसा क्यों? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि पूर्वाचार्यों ने यह समझ कर कि प्रश्नादिविद्याएँ पाँच प्रकार के आस्रव का त्याग कर पाँच प्रकार के संवररूप संयम में स्थित महापुरुषों को ही प्राप्त हो सकती हैं, वर्तमान युग की दृष्टि से इसमें संयम के स्वरूप का विशिष्ट प्रतिपादन किया :

अथ प्रश्नव्याकरणाख्यं दशमाङ्गं व्याख्यायते। प्रश्ना :—अङ्गुष्ठादि-प्रश्नविद्यास्ता व्याक्रियन्ते—अभिधीयन्ते अस्मिन्निति प्रश्नव्याकरणं, कर्तर्येनटि सिद्धम्। कश्चित् प्रश्नव्याकरणदशा इति नाम दृश्यते, तत्र प्रश्नानां—विद्याविशेषाणां यानि व्याकरणानि तेषां प्रतिपादनपरा दशाध्ययनप्रतिबद्धा ग्रन्थपद्धतय इति एतादृशं अङ्गं पूर्वकालेऽभूत्। इदानीं तु आश्रवसंवरपञ्चक व्याकृतिरेव लभ्यते। पूर्वाचार्यैरैदंयुगीनपुरुषाणां तथाविधहीनहीनतरपाण्डित्यबलबुद्धिवीर्यापेक्षया पुष्टालम्बनमुद्दिश्य प्रश्नादिविद्यास्थाने पञ्चाश्रवसंवररूपं समुत्तारितं, विशिष्टसंयमवतां क्षयोपशमवशात् प्रश्नादिविद्यासम्भवात्।[1]

अभयदेवसूरि ने भी इस प्रश्न का समाधान लगभग इसी प्रकार किया है।[2]

वृत्ति के अन्त में प्रशस्ति है जिसमें वृत्तिकार की गुरु-परम्परा की लंबी सूची है जो आनन्दविमलसूरि से प्रारभ होती है। प्रशस्ति मे यह भी बताया गया है कि वृत्तिकार ज्ञानविमलसूरि का दूसरा नाम नयविमलगणि भी है। ये तपागच्छीय धीरविमलगणि के शिष्य हैं। वृत्ति-लेखन में कवि सुखसागर ने पूरी सहायता दी है तथा तरणिपुर में ग्रन्थ की प्रथम प्रति इन्हीं ने लिखी है। वृत्ति का ग्रन्थमान ७५०० श्लोक-प्रमाण है। यह वृत्ति वि० सं० १७९३ के कुछ ही वर्ष पूर्व (संभवतः वि० सं० १७७३ के आसपास)[3] लिखी गई है।

---

१. पृ० २ (२).

२. देखिए—अभयदेवसूरिकृत प्रश्नव्याकरण-वृत्ति, पृ० १.

३. द्वितीय खण्ड की प्रस्तावना, पृ० ५.

उत्तराध्ययनदीपिका :

यह टीका[1] खरतरगच्छीय लक्ष्मीकीर्तिगणि के शिष्य लक्ष्मीवल्लभगणि की बनाई हुई है। टीका सरल एवं सुबोध है। इसमें उत्तराध्ययन सूत्र के प्रत्येक पद की शंका-समाधानपूर्वक व्याख्या की गई है। प्रारंभ में टीकाकार ने पंच परमेष्ठी का मंगलाचरण के रूप में स्मरण किया है। तदनन्तर भगवान् महावीर एवं पार्श्वनाथ को भक्तिसहित वंदन किया है। इसके बाद उन्होंने बताया है कि यद्यपि उत्तराध्ययन सूत्र की अनेक वृत्तियां—टीकाएँ विद्यमान हैं तथापि मैं मंदाधिकारियों के हृदय-सदनों में बोध का प्रकाश करने वाली इस दीपिका की रचना करता हूँ। इसके बाद अपने नाम (लक्ष्मीवल्लभ) का उल्लेख करते हुए (लक्ष्म्युपपदस्तु वल्लभः) चौदह सौ बावन गणधरों का स्मरण करके आचार्य ने सूत्र का व्याख्यान प्रारंभ किया है। व्याख्यान को विशेष स्पष्ट करने के लिए प्रसंगवश कथानकों का भी उपयोग किया है। इस प्रकार के कथानकों की संख्या काफी बड़ी है। सभी कथानक संस्कृत में हैं। इस टीका में उद्धरण नहीं के बराबर हैं।

भगवती-विशेषपदव्याख्या :

दानशेखरसूरि द्वारा संकलित प्रस्तुत वृत्ति[2] का नाम विशेषपदव्याख्या, लघुवृत्ति अथवा विशेषवृत्ति है। इसमें वृत्तिकार ने प्राचीन भगवतीवृत्ति के आधार पर भगवती सूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) के कठिन पदों का व्याख्यान किया है। व्याख्यान केवल शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं है अपितु उसमें सम्बद्ध विषय का विस्तृत विवेचन भी है। वृत्ति के प्रारंभ में आचार्य ने श्री वीर को नमस्कार किया है तथा भगवती के दुर्गपदों की व्याख्या उद्धृत करने की इच्छा प्रकट की है :[3]

श्रीवीरं नमस्यित्वा तत्त्वावगमाय सर्वसत्त्वानाम्।
व्याख्या दुर्गपदानामुद्ध्रियते भगवतीवृत्तेः॥ १॥

अन्त में निम्नलिखित श्लोक हैं :[3]

---

१. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, वि० सं० १९३६.
(आ) गुजराती अनुवादसहित—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९३४–८ (अपूर्ण).

२. ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९३५.

३. पृ० २९८ (२).

भद्रं भवतु सङ्घाय, श्रीमच्छ्रीजिनशासने।
साक्षात् भगवतीव्याख्यादेवतासुप्रसादतः ॥ १ ॥
अज्ञेन मया गदितं समयविरुद्धं यदत्रटीकायाम्।
सद्यः प्रसद्य शोध्यं गुरुवद्गुरुधीधनैर्गुरुभिः ॥ २ ॥

व्याख्याकार दानशेखरसूरि जिनमाणिक्यगणि के शिष्य अनन्तहंसगणि के शिष्य हैं। प्रस्तुत व्याख्या तपागच्छनायक लक्ष्मीसागरसूरि के शिष्य सुमतिसाधुसूरि के शिष्य हेमविमलसूरि के समय में संकलित की गई है। जैसा कि पचीसवें शतक के विवरण के अंत में एक उल्लेख है : इति श्रीतपागच्छनायक-श्रीलक्ष्मीसागरसूरिशिष्यश्रीसुमतिसाधुसूरिशिष्यश्रीहेमविमलसूरिविजय-राज्ये शतार्थिश्रीजिनमाणिक्यगणिशिष्यश्रीअनन्तहंसगणिशिष्यश्रीदान-शेखरगणिसमुद्धृतभगवतीलघुवृत्तौ पञ्चविंशतितमशतकविवरणं सम्पूर्णम्।

कल्पसूत्र-कल्पप्रदीपिका :

दशाश्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन कल्पसूत्र की प्रस्तुत वृत्ति[1] विजयसेनसूरि के शिष्य संघविजयगणि ने वि० सं० १६७४ में लिखी। उस समय विजयदेवसूरि का धर्मशासन प्रवर्तमान था। वि० सं० १६८१ मे कल्याणविजयसूरि के शिष्य धनविजयगणि ने इसका संशोधन किया। वृत्ति का ग्रन्थमान ३२५० श्लोकप्रमाण है। प्रशस्ति में ग्रन्थरचना के काल, ग्रंथकार के नाम, संशोधक के नाम, संशोधन के काल, ग्रन्थमान आदि का उल्लेख इस प्रकार है :

वेदाद्रिरसशीतांशुमिताब्दे विक्रमार्कतः।
श्रीमद्विजयसेनाख्यसूरिपादाब्जसेविना ॥ १ ॥
प्राज्ञश्रीसङ्घविजयगणिना या विनिर्मिता।
विबुधैर्वाच्यमानाऽस्तु सा श्रीकल्पप्रदीपिका ॥ २ ॥
... ...

अमृतोपमानवचसा, शारदसम्पूर्णसोमसमयशसः।
तस्य[2] प्रवरे राज्ये, वसुधाऽष्टरसेन्दुमितवर्षे ॥ ७ ॥
श्रीमत्कल्याणविजयवाचककोटीतटीकिरीटानाम्।
शिष्यैः श्रीधनविजयैः वाचकचूडामणिमुख्यैः ॥ ८ ॥
कल्पप्रदीपिकायाः प्रतिरेषा शोधिता.......।
....॥ ९ ॥

---

१. मुक्तिविमल जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, सन् १९३५.
२. सूरिश्रीविजयदेवमुनिराजः सम्प्रति जयति—श्लोक ६.

प्रत्यक्षरगणनया भवति कल्पप्रदीपिकाग्रन्थे ।
श्लोकानां द्वात्रिंशत् शतानि पञ्चाशदधिकानि ॥ १० ॥

कल्पसूत्र-सुबोधिका :

यह वृत्ति[1] रामविजय के शिष्य श्रीविजय के अनुरोध पर तपागच्छीय कीर्तिविजयगणि के शिष्य विनयविजय उपाध्याय ने वि० सं० १६९६ में लिखी है तथा भावविजय ने संशोधित की है। इसमें कहीं-कहीं किरणावली (धर्मसागरगणिकृत टीका) एवं दीपिका (जयविजयगणिकृत टीका) का खण्डन किया गया है। टीका सरल एवं सुबोध है, जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है। इसका प्रारंभिक अंश इस प्रकार है :

प्रणम्य परमश्रेयस्करं श्रीजगदीश्वरम् ।
कल्पे सुखबोधिकां कुर्वे, वृत्तिं बालोपकारिणीम् ॥ १ ॥
यद्यपि बह्व्यष्टीकाः कल्पे सन्त्येव निपुणगणगम्याः ।
तदपि ममायं यत्नः फलेग्रहिः स्वल्पमतिबोधात् ॥ २ ॥
यद्यपि भानुद्युतयः सर्वेषां वस्तुबोधिका बह्व्यः ।
तदपि महीगृहगानां प्रदीपिकैवोपकुरुते द्राक् ॥ ३ ॥
नास्यामर्थविशेषो न युक्तयो नापि पद्यपाण्डित्यम् ।
केवलमर्थव्याख्या वितन्यते बालबोधाय ॥ ४ ॥
हास्यो न स्यां सद्भिः कुर्वन्नेतामतीक्ष्णबुद्धिरपि ।
यदुपदिशन्ति त एव हि शुभे यथाशक्ति यतनीयम् ॥ ५ ॥

प्रशस्ति के कुछ श्लोक ये हैं :

तस्य स्फुरदुरुकीर्त्तेर्वाचकवरकीर्तिविजयपूज्यस्य ।
विनयविजयो विनेयः सुबोधिकां व्यरचयत् कल्पे॥१२॥
समशोधयंस्तथैनां पण्डितसंविग्नसहृदयावतंसाः ।
श्रीविमलहर्षवाचकवंशे मुक्तामणिसमानाः ॥ १३ ॥
धिषणानिर्जितधिषणाः सर्वत्र प्रसृतकीर्तिकर्पूराः ।
श्रीभावविजयवाचककोटीराः शास्त्रवसुनिकषाः ॥ १४ ॥

---

१. (अ) जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७५.
(आ) देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९११, १९२३.
(इ) पं० हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९३९.

रसनिधिरसशशिवर्षे ज्येष्ठे मासे समुज्ज्वले पक्षे।
गुरुपुष्ये यत्नोऽयं सफलो जातो द्वितीयायाम् ॥ १५ ॥
श्रीरामविजयपण्डितशिष्यश्रीविजयविबुधमुख्यानाम्।
अभ्यर्थनापि हेतुर्विज्ञेयोऽस्याः कृतौ विवृतेः ॥ १६ ॥

टीका का ग्रंथमान ५४०० श्लोकप्रमाण है :[1]

प्रत्यक्षरं गणनया, ग्रन्थमानं शताः स्मृताः।
चतुष्पञ्चाशदेतस्यां, वृत्तौ सूत्रसमन्वितम् ॥

कल्पसूत्र-कल्पलता :

प्रस्तुत व्याख्या[2] खरतरगच्छीय जिनेन्द्रसूरि के शिष्य सकलचन्द्रगणि के शिष्य समयसुन्दरगणि-विरचित है। इसका रचना-काल खरतरगच्छीय जिनराजसूरि का शासन-समय है। इनकी मृत्यु वि. सं. १६९९ में हुई थी।[3] अतः इस व्याख्या का रचना-काल वि. सं. १६९९ के आसपास है। इसका संशोधन हर्षनन्दन ने किया है। प्रारंभ में व्याख्याकार ने पंचपरमेष्ठी, दीक्षागुरु तथा ज्ञानगुरु को नमस्कार किया है और खरतरगच्छ की मान्यताओं को दृष्टि में रखते हुए कल्पसूत्र (पर्युषणाकल्प) का व्याख्यान करने का संकल्प किया है। अन्त की प्रशस्ति में वृत्तिकार की गुरु-परम्परा की नामावली के साथ प्रस्तुत वृत्ति के संशोधक, वृत्ति प्रारंभ एवं पूर्ण करने के स्थान, धर्म-शासक एवं धर्म-युवराज का नामोल्लेख किया गया है। वृत्ति का ग्रंथमान ७७०० श्लोकप्रमाण है।

कल्पसूत्र-कल्पकौमुदी :

यह वृत्ति[4] तपागच्छीय धर्मसागरगणि के प्रशिष्य एवं श्रुतसागरगणि के शिष्य शान्तिसागरगणि ने वि. सं. १७०७ में लिखी है। इस शब्दार्थप्रधान वृत्ति का ग्रंथमान ३७०७ श्लोकप्रमाण है। प्रारंभ में वृत्तिकार ने वर्धमान जिनेश्वर को नमस्कार किया है तथा संक्षिप्त एवं मृदु रुचिवालों के लिए प्रस्तुत वृत्ति की रचना का संकल्प किया है। अन्त में वृत्ति-रचना के समय, स्थान, वृत्तिप्रमाण आदि का निर्देश किया है :

---

१. जामनगर-संस्करण, पृ० १९५.
२. कालिकाचार्यकथासहित—जिनदत्तसूरि प्राचीनपुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १९३९.
३. Introduction (H. D. Velankar), पृ. १०.
४. ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९३६.

श्रीमद्विक्रमराजात् मुनिगगनमुनीन्दुभिः प्रमितवर्षे।
विजयदविजयदशम्यां श्रीपत्तनपत्तने विहब्धेयम् ॥ ५ ॥
श्लोकानां सङ्ख्यानं सप्तत्रिंशच्छतैश्च सप्तमैः।
वृत्तावस्यां जातं प्रत्यक्षरगणनया श्रेयः ॥ ६ ॥

प्रशस्ति में तपागच्छ-प्रवर्तक जगच्चन्द्रसूरि[1] से लगा कर वृत्तिकार शान्तिसागर तक की परम्परा के गुरु-शिष्यों की गणना की गई है।

कल्पसूत्र-टिप्पणक :

इस टिप्पणक[2] के प्रणेता आचार्य पृथ्वीचन्द्र हैं। टिप्पणक के प्रारंभ में निम्न श्लोक हैं :

प्रणम्य वीरमाश्चर्यसेवधिं विधिदर्शकम्।
श्रीपर्युषणाकल्पस्य, व्याख्या काचिद् विधीयते ॥ १ ॥
पञ्चमाङ्गस्य सद्वृत्तेरस्य चोद्धृत्य चूर्णितः।
किञ्चित् कस्मादपि स्थानात्, परिज्ञानार्थमात्मनः ॥ २ ॥

टिप्पणक के अन्त में आचार्य का परिचय इस प्रकार है :

चन्द्रकुलाम्बरशशिनश्चारित्रश्रीसहस्रपत्रस्य।
श्रीशीलभद्रसूरेर्गुणरत्नमहोदधेः शिष्यः ॥ १ ॥
अभवद् वादिमदहरषट्तर्काम्भोजबोधनदिनेशः।
श्रीधर्मघोषसूरिर्बोधितशाकम्भरीनृपतिः ॥ २ ॥
चारित्राम्भोधिशशी त्रिवर्गपरिहारजनितबुधहर्षः।
दर्शितविधिः शमनिधिः सिद्धान्तमहोदधिप्रवरः ॥ ३ ॥
बभूव श्रीयशोभद्रसूरिस्तच्छिष्यशेखरः।
तत्पादपद्ममधुपोऽभूच्छ्री देवसेनगणिः ॥ ४ ॥
टिप्पनकं पर्युषणाकल्पस्यालिखदवेक्ष्य शास्त्राणि।
तच्चरणकमलमधुपः श्रीपृथ्वीचन्द्रसूरिरिदम् ॥ ५ ॥
इह यद्यपि न स्वधिया विहितं किञ्चित् तथापि बुधवर्गैः।
संशोध्यमधिकमूनं यद् भणितं स्वपरबोधाय ॥ ६ ॥

---

१. तपगणविधुः श्रीजगच्चन्द्रसूरिः—श्लो. १.

२. मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित कल्पसूत्र में मुद्रित : साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, सन् १९५२.

पृथ्वीचन्द्रसूरि देवसेनगणि के शिष्य हैं। देवसेनगणि के गुरु का नाम यशोभद्रसूरि है। यशोभद्रसूरि राजा शाकम्भरी को प्रतिबोध देनेवाले आचार्य धर्मघोषसूरि के शिष्य हैं। धर्मघोषसूरि के गुरु चन्द्रकुलावतंस आचार्य शीलभद्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त टीकाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित आगमिक वृत्तियाँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं: आचारांग की जिनहंस व पार्श्वचन्द्रकृत वृत्तियाँ,[1] सूत्रकृतांग की हर्षकुलकृत दीपिका,[2] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की शान्तिचन्द्रकृत टीका,[3] कल्पसूत्र की धर्मसागर, लक्ष्मीवल्लभ एवं जिनप्रभकृत वृत्तियाँ,[4] बृहत्कल्प की अज्ञात वृत्ति,[5] उत्तराध्ययन की कमलसंयम व जयकीर्तिकृत टीकाएँ,[6] आवश्यक (प्रतिक्रमण) की नमिसाधुकृत वृत्ति।[7]

बीसवीं शती में भी मुनि श्री घासीलालजी, श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरि आदि जैन आचार्यों ने आगमिक टीकाएँ लिखी हैं। मुनि घासीलालकृत उपासकदशांग[8] आदि की टीकाएँ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये टीकाएँ शब्दार्थ-प्रधान हैं। विजयराजेन्द्रसूरिकृत कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी[9] कल्पसूत्र की एक स्पष्ट व्याख्या है।

१. रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, वि. सं. १९३६.
२. भीमसी माणेक, बम्बई, वि. सं. १९३६.
३. देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९२०.
४. (अ) धर्मसागरकृत किरणावली—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि. सं. १९७८.
 (आ) लक्ष्मीवल्लभकृत कल्पद्रुमकलिका—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि. सं. १९७५; वेलजी शिवजी, मांडवी, बम्बई, सन् १९१८.
 (इ) जिनप्रभकृत सन्देहविषौषधि—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९१३.
५. सम्यक् ज्ञान प्रचारक मंडल, जोधपुर.
६. (अ) कमलसंयमकृत वृत्ति—यशोविजय जैन ग्रंथमाला, भावनगर, सन् १९२७.
 (आ) जयकीर्तिकृत गुजराती टीका—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९०९.
७. विजयदान सूरीश्वर ग्रंथमाला, सूरत, सन् १९३१.
८. संस्कृत-हिन्दी-गुजराती टीकासहित—श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन संघ, कराची, सन् १९३६.
९. राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, खुडाला (फालना), सन् १९३३.

पंचदश प्रकरण

लोकभाषाओं में विरचित व्याख्याएँ

आगमों की संस्कृत टीकाओं की बहुलता होते हुए भी बाद के आचार्यों ने जनहित की दृष्टि से यह आवश्यक समझा कि लोकभाषाओं में भी सरल एवं सुबोध आगमिक व्याख्याएँ लिखी जाएँ। इन व्याख्याओं का प्रयोजन किसी विषय की गहनता में न उतर कर साधारण पाठकों को केवल मूल सूत्रों के अर्थ का बोध कराना था। इसके लिए यह आवश्यक था कि इस प्रकार की व्याख्याएँ साहित्यिक भाषा अर्थात् संस्कृत में न लिखकर लोकभाषाओं में लिखी जाएँ। परिणामत. तत्कालीन अपभ्रंश अर्थात् प्राचीन गुजराती भाषा में बालावबोधों की रचना हुई। इस प्रकार की शब्दार्थात्मक टीकाओं से राजस्थानी और गुजराती आगमप्रेमियों को विशेष लाभ हुआ। ऐसे बालावबोधों की रचना करनेवालों में विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में होनेवाले लोंकागच्छीय (स्थानकवासी) टबाकार मुनि धर्मसिंह का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), जीवाभिगम, प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति को छोड़ स्थानकवासीसमत शेष २७ आगमों के टबे (बालावबोध) लिखे हैं।[१] कहीं-कहीं सूत्रों का प्राचीन टीकाओं के अभिप्रेत अर्थ को छोड़कर स्वसम्प्रदायसमत अर्थ किया है जो स्वाभाविक है। साधुरत्नसूरि के शिष्य पार्श्वचन्द्रगणि (वि. सं. १५७२) विरचित आचारांग, सूत्रकृतांग आदि के बालावबोध भी उल्लेखनीय हैं। ये भी गुजराती में हैं।

टबाकार मुनि धर्मसिंह :

प्रसिद्ध टबाकार मुनि धर्मसिंह[२] काठियावाडस्थित जामनगर में रहनेवाले दशाश्रीमाली वैश्य जिनदास के पुत्र थे। धर्मसिंह का जन्म माता शिवा के गर्भ से हुआ था। जिस समय धर्मसिंह की आयु १५ वर्ष की थी उस समय वहाँ के लोंकागच्छीय उपाश्रय में लोंकागच्छाधिपति आचार्य रत्नसिंह के शिष्य देवजी

---

१. ऐतिहासिक नोंध (वा. मो. शाह), पृ. १२३ (हिन्दी संस्करण).
२. ऐतिहासिक नोंध के आधार पर, पृ० १०५–१२६.

मुनि का पदार्पण हुआ। उनके व्याख्यान सुननेवालों में धर्मसिंह भी था। उस पर उनके उपदेश का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और उसे तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ। कुछ समय तक तो उसके माता-पिता ने उसे दीक्षा अंगीकार करने की अनुमति न दी किन्तु अन्ततोगत्वा उन्हें अनुमति देनी ही पड़ी। इतना ही नहीं अपितु पुत्र के साथ पिता ने भी दीक्षा ग्रहण की। उनकी यह दीक्षा यतिवर्ग (शिथिलाचारी त्यागी) की दीक्षा थी, न कि मुनिवर्ग (शुद्ध आचार वाले साधु) की। यति धर्मसिंह को धीरे-धीरे शास्त्रों का अच्छा अभ्यास हो गया। उनके विषय में प्रसिद्ध है कि वे दोनों हाथों से ही नहीं, दोनों पैरों से भी लेखनी पकड़कर लिख सकते थे। ज्यों-ज्यों धर्मसिंह का शास्त्रज्ञान बढ़ता गया त्यों-त्यों उन्हें प्रतीत होने लगा कि हमारा आचार शास्त्रों के अनुकूल नहीं है। हमें यह भीख माँगने वालों का वेष त्याग कर शुद्ध मुनिव्रत का पालन करना चाहिए। उन्होंने अपना यह विचार अपने गुरु शिवजी के सामने रखते हुए बड़ी नम्रता से कहा :—

"कृपालु गुरुदेव! भगवान् महावीर ने भगवती सूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) के बीसवें शतक में स्पष्टरूप से फरमाया है कि २१००० वर्ष तक यह मुनिमार्ग चलता रहेगा। ऐसा होते हुए भी हम लोग पंचम काल (वर्तमान काल) का बहाना कर मुनिमार्ग के अनुकूल आचार का पालन करने में शिथिलता का परिचय दे रहे हैं। यह किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। मनुष्यभव अमूल्य चिन्तामणि है। हमें कायरों का मार्ग छोड़कर सूरों का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। आप जैसे समर्थ और विद्वान् पुरुष भी यदि पामर प्राणियों की भाँति साहसहीन हो जाएँ तो अन्य लोगों का तो कहना ही क्या? आप सर्व प्रकार के आलस्य का त्याग कर सिंह की भाँति अपने अतुल पराक्रम का परिचय दीजिए। आप स्वयं सच्चे मुनिमार्ग पर चलिए एवं औरों को चलाइए। ऐसा करने से ही जिन-शासन की शोभा एवं स्वात्मा का कल्याण है। सिंह कायर नहीं होता, सूर्य में अंधकार नहीं रहता, दाता कृपण नहीं होता। जिस प्रकार अग्नि में कभी शीतलता नहीं होती उसी प्रकार ज्ञानी में कभी राग नहीं होता। आप मुनिमार्ग पर चलने के लिए तैयार हो जाइए। मैं भी आपके पीछे-पीछे उसी मार्ग पर चलने के लिए तैयार हूँ। संसार को छोड़ने के बाद फिर मोह कैसा?"

धर्मसिंह का यह कथन सुनकर शिवजी सोचने लगे कि धर्मसिंह का कहना अक्षरशः सत्य है किन्तु मैं वैसा आचरण करने में असमर्थ हूँ। दूसरी ओर वैसा

न करने पर ऐसा विद्वान् और विनयी शिष्य गच्छ छोड़कर चला जाएगा और इससे गच्छ की असह्य हानि होगी। इन दोनों दृष्टियों का सन्तुलन कर शिवजी कहने लगे कि मैं इस समय अपने पद का त्याग करने में असमर्थ हूँ। तुम धैर्य रखो और निरन्तर ज्ञानार्जन करते रहो। थोड़े समय बाद गच्छ की समुचित व्यवस्था करके अपन दोनों सब उपाधि छोड़कर पुनः नवसंयम धारण करेंगे। इस समय जल्दी न करो।

गुरु के ये वचन सुनकर धर्मसिंह विचार करने लगे कि यदि गुरुजी आदर्श संयम धारण करें तो और भी अच्छा क्योंकि ये मेरे ज्ञानोपकारी हैं अतः मुझे इन्हें साथ लेकर नवमार्ग ग्रहण करना चाहिए। ऐसा सोच कर धर्मसिंह ने धैर्य रखा। इसी बीच उन्हें विचार आया कि मुझे अपने अवकाश का उपयोग विशेष ज्ञानवृद्धि में करना चाहिए। मुख का उपदेश तो थोड़े से मनुष्य ही सुन सकते हैं और वह भी एक ही जगह किन्तु लिखा हुआ उपदेश सर्वत्र एवं सर्वदा काम आ सकता है। यही सोचकर उन्होंने आगम-ग्रन्थों पर टबा (टिप्पण) लिखने का काम शुरू किया। धर्मसिंह ने कुल २७ सूत्रों के गुजराती टबे लिखे। ये टबे इतने सरल एवं सुबोध हैं कि आज भी कई साधु इन्हीं के आधार पर शास्त्रों का अभ्यास करते हैं। गुजरात और राजस्थान में तो इनका उपयोग होता ही है, पंजाब के साधु भी इनका पूरा उपयोग करते हैं। ये अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं।

दिन पर दिन बीतने लगे। धर्मसिंह के गुरु में शुद्ध चारित्र-पालन के कोई लक्षण दृष्टिगोचर न हुए। धर्मसिंह का धैर्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। उन्होंने गुरु से कहा कि इतने दिन तक धैर्य रखने के बाद भी यदि आप विशुद्ध चारित्रमार्ग पर चलने के लिए तैयार नहीं हैं तो मुझे ही आज्ञा दीजिए। मैं अकेला ही उस पथ का पथिक बनने के लिए तैयार हूँ। यह सुनकर गुरु ने गद्गद हृदय से शिष्य को आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर होने की अनुमति प्रदान करते हुए कहा कि हे धर्मप्रिय ! मैं तुम्हें आत्मकल्याण के लिए अन्तःकरण से आशीर्वाद देता हूँ। तुम जिस मार्ग पर चलने जा रहे हो वह बहुत ही कठिन एवं कँटीला है। यदि तुम इस पथ पर सफलतापूर्वक बढ़ सकोगे तब तो ठीक अन्यथा तुम्हारे साथ मुझे भी अपयश का भागी बनना पड़ेगा। अतः नया मार्ग ग्रहण करने के पूर्व मैं तुम्हारी परीक्षा लेना चाहता हूँ। आज रात को तुम अहमदाबाद के उत्तर की ओर उद्यान में जो दरयाखान नामक यक्षायतन है उसमें रहो। प्रातःकाल मुझसे अन्तिम आज्ञा लेकर नया मार्ग ग्रहण करना।

गुरु को वन्दन कर यति धर्मसिंह दरयाखान की ओर चले। आज्ञा के अनुसार धर्मसिंह ने उस स्थान के रक्षक से वहाँ ठहरने की अनुमति माँगी। मुसल्मान रक्षक ने उत्तर दिया : "यतिजी! क्या आपको दरयाखान पीर की शक्ति का ज्ञान नहीं है? क्या आपको मालूम नहीं कि हमारे चमत्कारी पीर के इस स्थान पर रात में कोई मनुष्य नहीं रह सकता? इन्होंने सैकड़ों मनुष्यों को पछाड़ कर परलोक में पहुँचा दिया है। यतिजी! क्या आप भी इनकी संगति करना चाहते हैं?"

"भाई! तुम्हारा कथन कदाचित् ठीक है किन्तु मुझे तो मेरे गुरु की आज्ञा है, अतः यहाँ रहना ही पड़ेगा। तुमने मुझे आनेवाले संकट से सावधान किया इसके लिए धन्यवाद किन्तु भय किसे कहते हैं इसे मैं जानता ही नहीं। 'भय' शब्द मेरे कोश में ही नहीं है।" धर्मसिंह ने प्रत्युत्तर दिया।

"मरने दो इसे! अपनी आयु कम होने से ही यह ऐसा करता हो तो कौन जाने!" एक अन्य मुसल्मान ने उस मुसल्मान के कान में सलाह दी। धर्मसिंह को वहाँ रहने की अनुमति मिल गई।

जैसे-जैसे सन्ध्या व्यतीत होती गई वैसे-वैसे दरयाखान का स्थान निर्जन होता गया। अन्ततोगत्वा उस पूरे प्रदेश में अकेले धर्मसिंह ही रह गये। उन्होंने रजोहरण से भूमि स्वच्छ कर अपना आसन बिछाया और स्वाध्याय में मग्न हुए। एक प्रहर रात्रि व्यतीत हुई होगी कि दरयाखान का यक्ष वहाँ आया। धर्मसिंह उस समय स्वाध्याय में लीन थे। उनके मुख से अश्रुतपूर्व शब्दोच्चारण सुनकर यक्ष को कुछ आश्चर्य हुआ। उसे वह पुरुष अन्य पुरुषों से कुछ विलक्षण प्रतीत हुआ। वह अपने क्रोधी स्वभाव को भूल कर भक्तिपूर्वक धर्मसिंह की सेवा में प्रवृत्त हो गया। इतना ही नहीं, उनके उपदेश से उसने उस समय से किसी भी मनुष्य को न सताने का संकल्प किया। यक्ष चला गया। धर्मसिंह अपने स्वाध्याय-ध्यान में संलग्न रहे। थोड़ी नींद लेने के बाद पुनः उसी कार्य में प्रवृत्त हुए। धीरे-धीरे प्रभात हुआ।

आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त हो धर्मसिंह अपने गुरु के पास पहुँचे। वन्दना आदि करने के बाद सारी घटना गुरु को सुना दी। शिष्य के इस शौर्यपूर्ण आचरण से गुरु बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें विश्वास हो गया कि धर्मसिंह बड़ा पराक्रमी और बुद्धिशाली है। यह अच्छी तरह संयम का पालन कर सकेगा। इससे जैन शासन का उद्योत होगा। यह सोचकर उन्होंने धर्मसिंह को शुद्ध संयम धारण

कर विचरने की अनुमति प्रदान की। धर्मसिंह अपनी विचारधारा के अन्य यतियों को साथ में लेकर दरियापुर दरवाजे के बाहर ईशानकोण के उद्यान में पहुँचे तथा नवसंयम ग्रहण किया। यह घटना वि० सं० १६८५ की है।[1] धर्मसिंह का धर्मोपदेश प्रायः दरियापुर दरवाजे में ही हुआ करता था अतः उनका सम्प्रदाय भी 'दरियापुरी सम्प्रदाय' के रूप में ही प्रसिद्ध हुआ।

मुनि धर्मसिंह गुजरात और काठियावाड़ में ही विचरा करते थे। गठिया से पीड़ित होने के कारण उनके लिए दूर-दूर का विहार अति कठिन था। ४३ वर्ष तक नई दीक्षा का पालन करने के बाद वि० सं० १७२८ की आश्विन शुक्ला चतुर्थी के दिन उनका स्वर्गवास हुआ।

मुनि धर्मसिंह ने २७ सूत्रों के टबों के अतिरिक्त निम्नलिखित गुजराती ग्रंथों की रचना की है: १. समवायांग की हुंडी, २. भगवती का यंत्र, ३. प्रज्ञापना का यंत्र, ४. स्थानांग का यंत्र, ५. जीवाभिगम का यंत्र, ६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का यंत्र, ७. चन्द्रप्रज्ञप्ति का यंत्र, ८. सूर्यप्रज्ञप्ति का यंत्र, ९. राजप्रश्नीय का यंत्र, १०. व्यवहार की हुंडी, ११. सूत्रसमाधि की हुंडी, १२. द्रौपदी की चर्चा, १३. सामायिक की चर्चा, १४. साधु-सामाचारी, १५. चन्द्रप्रज्ञप्ति की टीप। इनके अतिरिक्त उनके लिखे हुए और भी कुछ ग्रन्थ हैं। अभी तक इन ग्रन्थों का प्रकाशन नहीं हो पाया है।

हिन्दी टीकाएँ:

हिन्दी टीकाओं में मुनि हस्तिमलकृत दशवैकालिक-सौभाग्यचन्द्रिका,[2] नन्दीसूत्र-भाषाटीका,[3] उपाध्याय आत्मारामकृत दशाश्रुतस्कन्ध-गणपतिगुण-प्रकाशिका,[4] उत्तराध्ययन-आत्मज्ञानप्रकाशिका,[5] दशवैकालिक-आत्मज्ञान-

---

१. संवत सोल पचासिए, अमदावाद मझार।
शिवजी गुरु को छोड़ के, धर्मसि हुआ गच्छबहार॥
—एक प्राचीन कविता.

२. रायबहादुर मोतीलाल बालमुकुन्द मूथा, सतारा, सन् १९४०.

३. रायबहादुर मोतीलाल बालमुकुन्द मूथा, सतारा, सन् १९४२.

४. जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, सन् १९३६.

५. जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, सन् १९३९–१९४२.

प्रकाशिका,[1] उपाध्याय अमरमुनिकृत आवश्यक-विवेचन (श्रमण-सूत्र)[2] आदि विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनेक आगमों के अनुवाद एवं सार भी प्रकाशित हुए हैं।

---

१. (अ) ज्वालाप्रसाद माणकचन्द जौहरी, महेन्द्रगढ़ (पटियाला), वि० सं० १९८९.
   (आ) जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, सन् १९४६.
२. सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा, वि० सं० २००७.

अनुक्रमणिका

ख

३४

सहायक ग्रन्थों की सूची

ऐतिहासिक नोंध—वाडीलाल मो० शाह–हिन्दी संस्करण.
कर्मग्रंथ (पंचम तथा षष्ठ)—आत्मानंद जैन ग्रन्थमाला, भावनगर, सन् १९४०.

गणधरवाद—दलसुख मालवणिया–गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, सन् १९५२.

जिनरत्नकोश—हरि दामोदर वेलणकर–भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मंदिर, पूना, सन् १९४४.

जैन आगम—दलसुख मालवणिया–जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस, सन् १९४७.

जैन गुर्जर कविओ—जैन श्वेताम्बर कॉन्फरेन्स, बम्बई, सन् १९३१.
जैन ग्रन्थावली—जैन श्वेताम्बर कॉन्फरेन्स, बम्बई, वि० सं० १९६५.
जैन दर्शन—अनु० पं० बेचरदास; प्रका० मनसुखलाल रवजीभाई मेहता, राजकोट, वि० सं० १९८०.

जैन सत्यप्रकाश—अहमदाबाद.
जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास—मोहनलाल दलीचंद देसाई–जैन श्वेताम्बर कॉन्फरेन्स, बम्बई, सन् १९३३.

जैन साहित्य संशोधक—अहमदाबाद.
तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति–भारत जैन महामण्डल, वर्धा, सन् १९५२.
प्रभावकचरित—प्रभाचन्द्र–सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९४०.
प्रशस्तिसंग्रह—अमृतलाल शाह–श्री शांतिनाथजी ज्ञानभंडार, अहमदाबाद, वि० सं० १९९३.

प्राकृत और उसका साहित्य—मोहनलाल मेहता–बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९६६.

ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३२.
महावीर जैन विद्यालय : रजत महोत्सव ग्रन्थ—बम्बई, सन् १९४०.

मुनि श्री हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ—ब्यावर, सन् १९६५.
मुनिसुव्रतचरित—श्रीचंद्रसूरि.
विविधतीर्थकल्प—जिनप्रभसूरि–सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९३४.

विशेषणवती—जिनभद्र.

श्रमण भगवान् महावीर, भाग-३—सं० मुनि रत्नप्रभविजय; अनु० प्रो० धीरूभाई पी० ठाकुर; प्रका० जैनग्रन्थ प्रकाशक सभा, पांजरापोल, अहमदाबाद, सन् १९५०.

सार्थवाह—मोतीचन्द्र–बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५३.
हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ दी जैन्स—हीरालाल रसिकदास कापड़िया–सूरत, सन् १९४१.